शिवदृष्टिः



डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी

वाराणसेय संस्कृत संस्थान ग्रन्थमालायाः
पञ्चत्रिंशः पुष्पम्

श्रीमहामाहेश्वरसोमानन्दनाथविरचिता

शिवदृष्टिः

श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितवृत्त्या
श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिविरचितवृत्ति-चिन्मयीति
संस्कृतहिन्दीव्याख्यया चोपेता

सम्पादकः
डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी
प्राध्यापक–संस्कृतविभाग
कलासंकाय
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००५



प्रकाशकः
वाराणसेय संस्कृत संस्थान
जगतगंज, वाराणसी

वैक्रमाब्दः २०४३] [ख्रैष्टाब्दः १९८६

प्रकाशक:
वाराणसेय संस्कृत संस्थान
सी० २७/६४ जगतगंज, वाराणसी

संस्करणम् : प्रथमम्

वि० सं० २०४३

मूल्य : ७०.०० रुपये (अजिल्द)
१००.०० रुपये (सजिल्द)

मुद्रक:
आनन्द प्रिंटिंग प्रेस
सी० २७/१७० ए० जगतगंज
वाराणसी

THE ŚIVADṚṢṬI

OF

ŚRI SOMĀNANDA NĀTHA

With the VRITTI of ŚRI UTPALADEVA

Edited
With the SAṄSKRITA COMMENTARY
&
HINDI TRANSLATION

By

Dr. RADHESHYAM CHATURVEDI
Lecturer
Department ot Saṅskrita
Faculty of Arts
Banaras Hindu University
Varanasi—221005

Publishe by
VARANASEYA SANSKRIT SAṄSTHAN
Jagatganj, Varanasi
1986

Published by
Varanaseya Saṅskrit Sansthan
C. 27/64 Jagatganj, Varanasi

First edition
1986

Price Rs. 70/
Library edition 100/ Rs.

Printed at
Anand Printing Press
C. 27/170A Jagatganj
Varanasi—221005

शुभाशंसन

'शिवदृष्टि' काश्मीर शिवाद्वैतदर्शन का, दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाला प्रथमतम ग्रन्थ है। सोमानन्द की यह कृति खण्डनमण्डन की प्रक्रिया को अपना कर शैवदर्शन की दार्शनिक सूक्ष्मता और विलक्षणता को स्पष्ट करती है। नवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्त्तमान इस विद्वान् ने प्रत्यभिज्ञादर्शन की नींव डाली और इनसे ही शिष्यों की एक परम्परा चली जिनमें उत्पलदेव, अभिनवगुप्त आदि सुप्रसिद्ध हैं।

'तर्कस्य कर्त्ता' के रूप में सम्भावित सोमानन्द की यह कृति निःसंशय दुरूह है। इस पर स्वयं सोमानन्द की वृत्ति तो अनुपलब्ध है पर उनके योग्य शिष्य उत्पलदेव की वृत्ति पायी जाती है। दुर्भाग्यवश वह भी अपूर्ण ही है। यथास्थित इसी दिशा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन काश्मीर से हुआ था जो आज सर्वथा अप्राप्य बन चुका है। अतः इस ग्रन्थ के लिए विद्वानों की जिज्ञासा दीर्घकाल से अपरितृप्त रही है।

हमारे सहयोगी डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी ने शिवदृष्टि को सारस्वत श्रम से निर्मलीकृत कर प्रकाशित करने का संकल्प किया है। मूलपाठगत अशुद्धियों का निराकरण करते हुए इस उत्साही विद्वान् ने उत्पलदेवकृत वृत्ति के अनुपलब्ध अंश को स्वयं पूरा करने और सर्वोपरि इदंप्रथमतया हिन्दी में समग्र ग्रन्थ का तात्पर्यानुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण बन गया है। साथ ही प्रारम्भ में उपनिबद्ध तीन खण्डों की भूमिका ने इस संस्करण के सौष्ठव को परिपूर्ण बना दिया है।

डॉ० चतुर्वेदी दर्शनविद्या के जागरूक सेवक हैं। उनकी सारस्वत साधना विद्वानों के परितोषविधान में सफल होगी—ऐसी प्रत्याशा स्वाभाविक है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण शिवदृष्टि के यथार्थस्वरूप और महत्त्व को प्रमाणित करने की दिशा में अपरिहार्य सिद्ध होगा। हम डॉ० चतुर्वेदी को साधुवाद देते हुए उनके इस प्रयास के प्रति विद्वानों के साग्रह मनोयोग की प्रार्थना करते हैं।

दार्शनिक साहित्य में काश्मीर शैव-दर्शन की प्रतिष्ठा को सप्रमाण उपन्यस्त करने वाली इस कृति का हम सर्वान्तःकरण से स्वागत करते हैं।

अध्यक्ष
संस्कृतविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००५

विश्वनाथ भट्टाचार्य
निदेशक
संस्कृत शोध एवं प्रकाशन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००५

३१ मार्च, १९८६

PREFACE

The ŚIVADṚṢTI of Ācārya Somānandanātha (c. 9th Century) is the first exposition of the philosophical word-view of the Kashmir Śaivism and as such is the most important and fundamental work of the Monistic Śaiva School of Indian Philosophy.

In this treatise (Prakaraṇa) Ācārya Somānanda has laid the foundation and established the tenets of Kashmir Śaivism, by juxtaposition of rival Schools both theistic and atheistic, in the light of his genious and extraordinary critical acumen.

Ācārya Somānanda wrote the text to which the commentary was written by Śri Utpaladeva, the worthy disciple of Somānanda. The book was published in the Kashmir Series of Text and Studies in 1934. That edition although giving the full text, was printed only with an incomplete gloss and as such a complete critical edition of the book was urgently needed.

Thanks to Dr. R. S. Chaturvedi who took up the Herculean task of providing a correct reading of the text and commentary, a supplement to the incomplete commentary of Utpaladeva, a comprehensive exposition in Hindi, our natianal language and a satisfactory introduction to the present edition. I congratulate Dr. Chaturvedi for his painstaking labour and am confident that this edition will satisty the longfelt need of the Scholarly world and bring a worm appreciation to him.

(L. N. Sharma)
Director
Centre of Advanced Studies
in Philosophy
Faculty of Arts
Banaras Hindu Univrsity
Varanasi–221005

निवेदन

निगमागम की गंगा यमुना अनादिकाल से इस देश की आध्यात्मिक वसुन्धरा को सींचती चली आ रही हैं। उनसे सिञ्चित नैगमिक दर्शनों की भाँति आगमिक दर्शनों की भी अनेक वाटिकायें हैं। काश्मीर शैवदर्शन उन्हीं वाटिकाओं में से एक अद्वितीय पुष्पवाटिका है और शिवदृष्टि उस वाटिका का एक प्रफुल्ल सुमन। नवीं शती ईस्वी में आविर्भूत आचार्य सोमानन्दनाथद्वारा रचित इस शिवदृष्टि की आधार-शिला पर काश्मीर शैवदर्शन के भव्य प्रासाद की रचना हुई है।

बाल्यकाल से ही शिद्धमहात्माओं के जीवनवृत्त के श्रवण की बलवती स्पृहा से उद्वलित मैंने जब अपने दीक्षागुरु श्री ६ शिवचैतन्यवर्णी जी से एतदर्थ निवेदन किया और उनके निर्देशानुसार 'मनीषी की लोकयात्रा' का अवलोकन किया तब महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की अन्य कृतियों के अध्ययन की उत्कण्ठा प्रबल हो उठी। फलस्वरूप प्रो० लक्ष्मीनिधि शर्मा (अध्यक्ष, दर्शनविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के परामर्शानुसार मुझे कविराज जी के 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' के अध्ययन का सुअवसर मिला। तत्पश्चात् परमशिव के स्वातन्त्र्य-वश मेरे मन में आगमिक विषय पर कार्य करने की अभिलाषा उठी और जब मैंने इस विषय में पुनः प्रो० शर्मा जी विचारविमर्श किया तो उन्होंने ने 'शिवदृष्टि' को संस्कृत एवं प्रकाशित करने का परामर्श दिया।

शिवदृष्टि का प्रथम संस्करण काश्मीर संस्कृतग्रन्थावली के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण मद्रास पुस्तकालय में उपलब्ध पाण्डुलिपि के अनुकरण के आधार पर मुद्रित किया गया था। इसमें दो न्यूनतायें थीं। प्रथम न्यूनता मूलग्रन्थ में वर्त्तमान अशुद्धियों की थी। चतुर्थ आह्निक से सप्तम आह्निक तक का मूल कारिका भाग अनेक स्थलों पर सन्दिग्ध एवं अशुद्ध था। दूसरी त्रुटि महामाहेश्वर उत्पलदेवाचार्य कृत वृत्ति के सन्दर्भ में थी। यह वृत्ति चतुर्थ आह्निक के ७४वें श्लोक तक ही उपलब्ध और मुद्रित थी। इन दोनों न्यूनताओं को दूर करना अपना प्रथम पुनीत कर्त्तव्य समझ कर एतदर्थ मैंने जब प्रत्यभिज्ञादर्शन के तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० रामेश्वर झा जी से निवेदन किया तो उन्होंने इस विषय में प्रकारान्तर से अपनी असमर्थता व्यक्त की। अन्य किसी विद्वान् के उपलब्ध न होने से चार पाँच वर्षो तक मै हतोत्साह होकर इस दिशा में इधर उधर भटकता रहा। बीच-बीच में काश्मीर शैवदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित श्री बलजिन्नाथ

शास्त्री से पत्राचार द्वारा जिज्ञासाओं की शान्ति के प्रयत्नशील रहा। अन्त में महाशक्ति के लीलावैचित्र्य के फलस्वरूप मेरा सम्पर्क विद्या और हृदय के उदात्ततम निदर्शन श्रद्धेय पं० रुद्रधर झा जी से हुआ और उन्होंने इस विषय में स्नेह और सौहार्द के साथ मेरी सहायता की। अपनी अन्तर्दृष्टि और आदरणीय पं० झा जी की यथावसर उपलब्ध सहृदयता के आधार पर मैंने इस पुस्तक की अशुद्धियों को दूर करने का प्रयास किया है। शुद्ध पाठों को बड़े कोष्ठको [.] में रखा गया है।

जहाँ तक वृत्ति को पूरा करने का प्रश्न है इस विषय में कहाँ तो शैवी साधना के सफल अभ्यासद्वारा चरम तत्त्व का साक्षात्कार कर उसके रस का पूर्ण आस्वादन करने वाले शास्त्रपारदृश्वा महामाहेश्वर उत्पलदेवाचार्य और कहाँ मैं ? वृत्ति को पूर्ण करने की चेष्टा मेरे लिये 'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः' के सदृश थी। तथापि 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' उक्ति को चरितार्थ करते हुए मैंने यथासम्भव आचार्य उत्पलदेव की शैली को ध्यान में रखकर ग्रन्थ की अवशिष्ट वृत्ति को पूरा करने का दुस्साहस किया है। प्रथम संस्करण में उत्पलदेव की वृत्ति को प्रतीकरहित मुद्रित किया गया था। प्रस्तुत संस्करण में मैंने मूलकारिकाओं के प्रतीकों का वृत्ति में समावेश करने का प्रयास किया है।

वृत्ति के नीचे टिप्पणी मुद्रित है। प्रथम संस्करण में इसे अङ्कों से संकेतित किया गया था। इस संस्करण में इस टिप्पणी को कारिकाओं तथा मूलग्रन्थ एवं वृत्ति में आये प्रतीकों से संकेतित किया गया है।

संस्कृतभाषा के अल्पज्ञ किन्तु शैवदर्शन के रहस्याभिलाषी व्यक्ति भी इस पुष्प-पराग का आनन्द ले सकें एतदर्थं कारिकाओं की हिन्दी व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के साङ्गोपाङ्ग संक्षिप्त परिचय के लिये भूमिका में इस दर्शन के उद्भव और विकास तथा दार्शनिक विषयवस्तु का संक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत है। साथ ही भूमिका के अन्तिम भाग में शिवदृष्टि के वर्ण्यविषय का अल्पपरिचय भी उपनिहित है।

इस संस्करण के प्रकाशन में जिन लोगों से सहयोग मिला उनमें सर्वप्रथम पं० रुद्रधर झा जी हैं। मैं उनका शाश्वत ऋणी हूँ। प्रो० डॉ० लक्ष्मीनिधि शर्मा जी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने यथासमय यथासम्भव सहायता देकर इस दिशा में मेरा उत्साहवर्धन किया। अपने विभाग के प्राध्यापक डॉ० श्री नारायण मिश्र जी ने इस प्रकाशन में जो स्नेहपूर्ण सहयोग किया, मै इसके लिये उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। हिन्दी व्याख्या और भूमिका की पाण्डु-

लिपि तैयार करने में मेरी पुत्री कुमारी क्षमा चतुर्वेदी ने मेरी सहायता की अतः वह भी मेरे स्नेह और आशीः की अधिकारिणी है। इस पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन के लिये मैं वाराणसेय संस्कृतसंस्थान का भी आभारी हूँ। और सबके अन्त में मैं उस विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय परमशिव का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने अन्तःप्रेरणा दे देकर इस कार्य को निर्विघ्न पूरा कराने की कृपा की।

विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत मेरा यह प्रयास सर्वथा समीचीन सर्वाङ्गीण और निर्दुष्ट है, यह कहने का साहस मैं नहीं कर सकता। 'श्रेयसि केन तृप्यते' के अनुसार इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में अभी बहुत कुछ करणीय है।

इस संस्करण में शुद्धिपत्र देने का अवसर न मिलने के कारण पाठकों से निवेदन हैं कि वे ट-ठ, ड-ङ, घ-ध, भ-म, ब-व तथा अनुस्वार आदि के अशुद्ध मुद्रित पाठों को स्वयं शुद्ध कर लें।

मेरे इस तुच्छ प्रयास से यदि मनीषीवर्ग को किञ्चित् सन्तोष हुआ तो मैं स्वयं को धन्य तथा श्रम को सार्थक समझूँगा।

श्री रामनवमी
वि० सं० २०४३

विद्वद्विधेय
राधेश्याम चतुर्वेदी

विषय-सूची

●

संकेत-सूची

अ० प्र० सि०	अजडप्रमातृकासिद्धि
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई० प्र० वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
उ० स्तो०	उत्पलस्तोत्रावली
छां० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
तं० आ०	तंत्रालोक
पा० यो० सू०	पातञ्जलयोगसूत्र
पा० शि०	पाणिनिशिक्षा
पा० सू०	पाणिनिसूत्र
प्र० वा०	प्रमाणवार्त्तिक
प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्र० हृ० सू०	प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र
ब्र० सू० भा०	ब्रह्मसूत्रभाष्य
भ० गी०	भगवद्गीता
म० मं०	महार्थमंजरी
मा० वि० तं०	मालिनीविजयतंत्र
मा० वि० वा०	मालिनीविजयवार्त्तिक
मां० का०	माण्डूक्यकारिका
मां० का० वृ०	माण्डूक्यकारिकावृत्ति
वा० प०	वाक्यपदीय
वि० भै०	विज्ञानभैरव
शि० दृ०	शिवदृष्टि
शि० म०	शिवमहिम्नस्तोत्र
शि० सू० वा०	शिवसूत्रवार्त्तिक
शि० सू० वि०	शिवसूत्रविमार्शनी
ष० त्रि० त० सं०	षट्त्रिशत्तत्त्वसन्दोह
ष० त्रि० त० सं० वि०	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्धोहविमर्शिनी
स० द० सं०	सर्वदर्शनसंग्रह
स्त० चि०	स्तवचिन्तामणि
स्प० का०	स्पन्दकारिका

●

भूमिका

[१]

काश्मीर शैवदर्शन : उद्भव और विकास

परमात्मा, जीवात्मा और जगत् इन तीन के बारे में किये जाने वाले विचार का नाम दर्शनशास्त्र है। प्रमाण आदि अवान्तर विषय भी इसी विचार का पूरक होने के कारण दर्शनशास्त्र की परिधि में आ जाते हैं। इस प्रकार के विचार का सर्वप्रथम साक्षात्कार हमें वेदों में होता है क्योंकि वे विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इसी कारण भारत का प्रत्येक आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों में ही अपनी परम्परा का उत्स खोजता है और उन्हीं को अपनी परम्परा का मूल मानता है। शैव दर्शन इसका अपवाद नहीं। ऋग्वेद के 'इमा रुद्राय तवसे' 'त्र्यम्बकं यजामहे' छान्दोग्योपनिषद् का 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्', तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय', तथा बृहदारण्यक का 'स वै नैव रेमे'; 'स द्वितोयमैच्छत्' इत्यादि वचन वेदोपनिषद् को दार्शनिक तत्त्वों का मूल सिद्ध करते हैं। धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि वचन सृष्टि की अनादिता को सिद्ध करते हैं और वेद भी अनादि हैं, अतः यह मानना अस्वाभाविक नहीं कि दार्शनिक विचारों की परम्परा भी अनादि है भले ही वह लिखित या अन्य रूप में परवर्ती मानवसमाज को मिली हो। अस्तु।

शैवदर्शन दार्शनिक अनादिता के प्रवाह की एक प्रमुख धारा है। चूंकि भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन एक दूसरे के सहगामी और पूरक रहे हैं क्योंकि धर्म के विना दर्शन शुष्क है, निष्प्राण है और दर्शन के विना धर्म अन्धा है; अतः शैवदर्शन को भी शैव धर्म से पृथक् करके देखना अनौचित्यपूर्ण है। इस दृष्टि से जब हम शैवदर्शन के स्थूल प्रमाणों का अन्वेषण करते हैं तो सर्वप्रथम हमें सिन्धु घाटी के प्रागैतिहासिक युग के अवशेषों का साक्षात्कार होता है। ये अवशेष इस तथ्य के प्रमाण हैं कि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के निवासी शैवधर्मानुयायी थे। मूर्त्तियों के अवशेष शैवधर्मसम्मत लिङ्गपूजा, योनिपूजा, मातृदेवी और पशुपति की पूजा तथा शाम्भवी मुद्रा की साधना के ज्वलन्त और सजीव प्रमाण हैं। परवर्त्ती काल में बौद्धों का योगाचार वज्रयान आदि, मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ आदि का नाथपन्थी योग आदि तो भारत में शैवधर्म की प्रधानता के द्योतक हैं ही, अजन्ता एलोरा आदि अत्यन्त प्राचीन मन्दिरों में उट्टंकित विभिन्न

शृङ्गारिक मुद्रा की प्रतिमायें और चित्र भी सुदूर प्राचीन काल में शैवधर्मसम्मत चर्याक्रम के प्रचलन की मूकसाक्षी है।

जिस प्रकार निगम अर्थात् वेदोपनिषत् को भारतीय आस्तिक दर्शनों का मूल-श्रोत माना जाता है उसी प्रकार आगम अर्थात् तन्त्रशास्त्र को शैवदर्शन के मूल उत्स की मान्यता प्राप्त है। वेदोपनिषद् से द्वैत द्वैताद्वैत तथा अद्वैत वेदान्त की भाँति आगमशास्त्र से भी तीन शैवदार्शनिक धाराओं का आविर्भाव माना गया है—वे हैं–भेदवादी—शैव सिद्धान्त (तमिलनाडु का), भेदाभेदवादी—वीरशैव (कर्नाटक का) और अभेदवादी—अद्वैतशैवदर्शन या त्र्यम्बकशैवदर्शन (काश्मीर का)। कुछ विद्वानों की यह धारणा, कि आगमशास्त्र काश्मीर शैवदर्शन का ही एक भाग है, शैवदर्शन के सिद्धान्तसम्बन्धी उनके गम्भीर अध्ययन के अभाव को प्रदर्शित करती है। इसी प्रकार काश्मीर शैवदर्शन के स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को उस शैवदर्शन का दूसरा और तीसरा भेद मानना भी न तो युक्तिसंगत है और न शास्त्रसम्मत।

कोई भी दार्शनिकसम्प्रदाय परिपूर्ण तभी माना जाता है जब उसका व्याव-हारिक पक्ष भी उतना ही सशक्त हो जितना कि सिद्धान्त पक्ष। बिना व्यावहारि-कता के सिद्धान्त की चर्चा कोरी बकवास है। इसीलिए प्रायः हर दार्शनिक सम्प्रदाय साधना उपासना या भक्ति किसी न किसी व्यवहारमार्ग का उपदेश देता ही है। काश्मीर शैवदर्शन के भी इसी प्रकार के दो पहलू हैं। सिद्धान्त पक्ष का पूर्णस्वरूप प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में देखने को मिलता है। यहां लेखकों ने नैयायिक दार्शनिकों की शैली के अनुसार विषयों का प्रतिपादन पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की रीति से किया है। यद्यपि अत्यल्प मात्रा में कहीं-कहीं साधना पक्ष का भी निर्देश है। इसी प्रकार स्पन्दशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतया साधना है। सिद्धान्तों की ओर केवल संकेत मिलते हैं। इस प्रकार आगम, प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्दशास्त्र काश्मीर शैवदर्शन के क्रमशः मूल श्रोत, सिद्धान्त पक्ष एवं व्यवहार पक्ष या साधना पक्ष के प्रतिपादक हैं यह कहना अनावश्यक है।

विकास की दृष्टि से शैवदर्शन को दो भागों में बाँटना उचित होगा—

१. आगम काल   २. दार्शनिक काल।

आगमकाल—

पहले यह कहा जा चुका है कि आगमशास्त्र शैवदर्शन के मूल श्रोत हैं। जिस प्रकार उपनिषदें द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत आदि वेदान्तों की साझी सम्पत्ति हैं उसी प्रकार आगमशास्त्र भी त्रिविध शैवदर्शनों की सम्मिलित मूलराशि है। ये आगम प्रायः

शिवपार्वती के संवाद होते हैं। जिनमें अभिचारकृत्य आदि बहुत सी बातें होती हैं। दार्शनिक तत्त्व इनमें इतस्ततः विकीर्ण रहते हैं। उन्हें एकत्रित कर क्रमबद्ध रूप देना दार्शनिकों का काम होता है। यद्यपि आगमों की संख्या बहुत अधिक थी तथापि अवशिष्ट आगम निम्नलिखित हैं—

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्द तन्त्र, रुद्रयामल तन्त्र, नेत्र तन्त्र, मृगेन्द्र तन्त्र, विज्ञानभैरव, परात्रीशिका और शिवसूत्र। इनके अतिरिक्त उच्छुष्मभैरव, आनन्दभैरव, मातंग, नैःश्वास तथा स्वायम्भुव तन्त्रों की भी चर्चा मिलती है। इनमें से काश्मीर शैवदर्शन के मूल आधार के रूप में **मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्द, शिवसूत्र, विज्ञानभैरव** और **परात्रीशिका** के ही नाम आते हैं।

यद्यपि उक्त ग्रन्थों के रूप में शैव आगमों की चर्चा लिपिबद्ध है तथापि जैसा कि आचार्य सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि के अन्तिम आह्निक के उपसंहार में कहा है कि शैव आगम के रहस्य सुदूर अतिप्राचीन काल से ही ऋषियों के मुख में थे— इत्यादि-इत्यादि; इससे यह समझना चाहिए कि उपनिषदों के समान इन आगम शास्त्रों का भी काल अनादि है यद्यपि मालिनीविजयोत्तर आदि तन्त्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। अस्तु, जो भी हो शैवी-साधना के द्वारा आगमशास्त्र का साक्षात्कार, तत्पश्चात् आगम ग्रन्थों का यथार्थ ज्ञान करने के बाद ही दार्शनिक शास्त्रों की चर्चा या रचना हो सकती है। **आचार्य सोमानन्द**, जिनका नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रथम आचार्य या प्रवर्तक के रूप में लिया जाता है, इसी कोटि के महापुरुष या मुक्त पुरुष रहे होंगे। उनके शिष्य **आचार्य उत्पलदेव** तथा उनके शिष्य **लक्ष्मण** गुप्त और लक्ष्मण गुप्त के शिष्य **आचार्य अभिनव गुप्त** भी समान कोटि के साधक तथा विद्वान् प्रतीत होते हैं यद्यपि लक्ष्मण गुप्त द्वारा रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

दार्शनिककाल—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आगमशास्त्र प्रायः शिवपार्वती के संवाद होते हैं, अतः आगमग्रंथों के कर्ता का नाम नहीं मिलता। **शिवसूत्र** के निर्माता स्वयं भगवान शिव हैं ऐसी मान्यता है। श्रीकंठ नामधारी भगवान शिव की कृपा से आचार्य वसुगुप्त को, जो कि नवीं शती ई० के प्रारम्भ में वर्तमान थे, स्वप्न में आदेशद्वारा इन सूत्रों की उपलब्धि हुई।[1] **शिवसूत्रविमर्शिनी** के अनुसार इन

१. श्रीमन्महादेवगिरौ वसुगुप्तगुरोः पुरा।
सिद्धादेशात् प्रादुरासन् शिवसूत्राणि तस्य हि॥ (शि० सू० वा० १-३)

सूत्रों की संख्या ४५ है। **श्री वसुगुप्त** त्र्यम्बक मठिका के एक प्रधान गुरु थे। शिवसूत्रों में त्रिकसाधना के द्वारा शाक्त समावेश, आणव समावेश आदि विविध विषयों पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डाला गया है। वसुगुप्तरचित **स्पन्दामृत, सिद्धान्तचन्द्रिका** आदि ग्रन्थों की भी चर्चा यत्र-तत्र मिलती है पर ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

वसुगुप्त के बाद इस शास्त्र की दो धाराएँ निकल पड़ीं—एक धर्मप्रधान और दूसरी तर्कप्रधान या दार्शनिकविचारप्रधान। पहली शाखा के आचार्यों में पहला नाम **भट्ट कल्लट** का लिया जाता है। ये वसुगुप्त के शिष्य थे। इनका काल नवीं शताब्दी का मध्य था। इन्होंने ५० श्लोकों मे शिवसूत्रों की व्याख्या की जो **स्पन्दकारिका** के नाम से प्रसिद्ध है। यह बात **उत्पलभट्टकृत स्पन्दप्रदीपिका** की ५३वीं कारिका से स्पष्ट होती है।[1] किन्तु क्षेमराज वसुगुप्त को स्पन्दकारिका का कर्त्ता तथा कल्लट को उस कारिका का टीकाकार मानते हैं। इस प्रकार यह विषय आज भी अनिर्णीत है। इसके अतिरिक्त कल्लट को **शिवसूत्रवृत्ति, स्पन्दसर्वस्व, तत्त्वार्थचिन्तामणि** आदि ग्रन्थों का भी रचयिता कहा गया है।[2] इस स्पन्दकारिका पर भी परवर्त्ती आचार्यों द्वारा टीकाएँ लिखी गयीं। श्री कल्लट के बाद इस परम्परा के उत्तरवर्त्ती पुरुष **भट्ट प्रद्युम्न** हुए जो भट्ट कल्लट के मातुलेय एवं शिष्य थे। इनके पुत्र एवं शिष्य **प्रज्ञार्जुन,** प्रज्ञार्जुन के शिष्य **महादेव भट्ट** और उनके पुत्र तथा शिष्य **श्रीकंठ भट्ट** हुए। श्रीकंठ भट्ट के शिष्य तथा दिवाकर के पुत्र **भास्कर** हुए जिन्होंने **शिवसूत्रवार्त्तिक** लिखकर अपनी परम्परा के आदि गुरु वसुगुप्त को और देदीप्यमान कर दिया। भास्कर का काल ११वीं शती है। भट्टकल्लट की आगमप्रधान या धर्मप्रवण परम्परा यहीं आकर समाप्त हो जाती है। भास्कर के पुत्र एवं शिष्य **लक्ष्मण गुप्त** पुनः उस दार्शनिक परम्परा से जुड़ जाते हैं जिसे सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने प्रवाहित किया था।

आचार्यवसु गुप्त के द्वारा उद्भावित त्र्यम्बकशास्त्र की **तर्कप्रधान या दार्शनिकविवेचनप्रधान** शाखा के प्रवर्तक के रूप में आचार्य **सोमानन्द नाथ** का नाम लिया

---

१. वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः॥

२. सरहस्यान्यतः सोऽपि प्रादाद् भट्टाय सूरये।
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःखण्डानि तान्यथ॥
व्याकरोत् त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकैस्ततः।
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम्॥
(शि० सू० वा० १-४-५)

जाता है। जे० सी० चटर्जी के अनुसार ये भी सम्भवतः वसुगुप्त के शिष्य थे, परन्तु बलजिन्नाथ पण्डित का कथन है कि सोमानन्द के पिता का नाम आनन्दाचार्य था और वे ही उनके गुरु भी थे।[1] इसकी पुष्टि शिवदृष्टि के सप्तम आह्निक के श्लोक सं० १२० से होती है।[2] आचार्य सोमानन्द भट्ट कल्लट के समकालीन न होकर उनके किञ्चित् परवर्त्ती थे। इस प्रकार इनका काल नवीं शती का अन्तिम भाग था। आचार्य सोमानन्द का जन्म सिद्ध संगमादित्य के वंश में हुआ था। सिद्ध संगमादित्य श्री त्र्यम्बकादित्य की पन्द्रहवीं पीढ़ी की सन्तान थे और इनकी पाँचवीं पीढ़ी के वंशज थे—आचार्य सोमानन्द। इनके पिता का नाम आनन्दाचार्य था जो इनके गुरु भी थे। सोमानन्द मठिकागुरु थे। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ **शिवदृष्टि** की रचना की थी। जे० सी० चटर्जी के अनुसार इन्होंने अपने ग्रंथ पर स्वोपज्ञ टीका 'वृत्ति' भी लिखी थी जो अभी तक अनुपलब्ध है। कुछ लोग 'परात्रीशिकाविवृति' को भी इनकी रचना मानते हैं। सोमानन्द की 'शिवदृष्टि' ही सर्वप्रथम ऐसा ग्रन्थ है जो प्रत्यभिज्ञादर्शन की सांगोपांग पृष्ठभूमि के रूप में लोगों के सामने आया और जिस पर त्र्यम्बकशैवदर्शन या काश्मीर शैवदर्शन का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ।

आचार्य सोमानन्द के प्रधान शिष्य **आचार्य उत्पलदेव** के ग्रन्थ—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, सिद्धित्रयी, अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरासिद्धि, सम्बन्धसिद्धि, स्तोत्रावली** तथा इन पर लिखी वृत्तियाँ हैं। आचार्य सोमानन्द की शिवदृष्टि पर भी इनकी **'वृत्ति'** है जो अंशतः उपलब्ध है। आचार्य उत्पलदेव श्री उदयाकर के पुत्र थे। सोमानन्द के समय को ध्यान में रखते हुए इनका काल नवीं शती का अन्तिम दशक और दशवीं शती का प्रारम्भ रहा होगा ऐसा समझ में आता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये राजानक उत्पलदेव उन उत्पलभट्ट से या राजानक उत्पल वैष्णव से भिन्न हैं जिन्होंने स्पन्दकारिका के ऊपर प्रदीपिका नामक टीका लिखी थी। ये सम्भवतः आचार्य उत्पलदेव के परवर्त्ती रहे। राजानक उत्पल वैष्णव के शिष्य **राजानक श्री रामकण्ठ** थे जिन्होंने स्पन्दकारिका पर 'विवृति' नाम की टीका लिखी।

आचार्य उत्पलदेव के बाद आगमप्रधान और तर्कप्रधान दोनों धाराएँ मिलकर एक हो गई और **लक्ष्मण गुप्त** उन दोनों धाराओं के संगम के रूप में आविर्भूत हुए। इनके द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की चर्चा नहीं है किन्तु ये आचार्य

---

१. का० शै० द०—भूमिका—प्रचलित अयथार्थ मान्यतायें। —पृ० २०।

२. आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः॥

अभिनव गुप्त के शैवसम्प्रदायसम्बन्धी अध्ययन के गुरु रहे—यह निश्चित है। आचार्य अभिनवगुप्त की लेखनी प्राप्त कर काश्मीर शैवदर्शन अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया। अभिनवगुप्त के पिता का नाम नरसिंह था जो इनकी व्याकरण-शिक्षा के गुरु भी थे। इनके कौलमत के गुरु श्री शम्भुनाथ, वेदान्त के गुरु श्री मूर्तिराज और ध्वनिसिद्धान्त के गुरु सिद्धिचेल के शिष्य भट्टेन्दुराज थे। बहुमुखी-प्रतिभासम्पन्न आचार्य अभिनवगुप्त का काल दशवीं शती का अन्तिम भाग या ग्यारहवीं शती का प्रारम्भ माना जाता है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार इन्होंने चालिस ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं— (शैव-दर्शन)—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, परात्रीशिकाविवरण, मालिनीविजय-वार्त्तिक**। (स्तोत्र)—**क्रमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अनुत्तराष्टिकास्तोत्र, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र**। (साहित्य)—**लोचन** (ध्वन्यालोक पर टीका) **अभिनवभारती** (नाट्यशास्त्र पर टीका)।

आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा को आगे बढ़ाने का कार्य उनके प्रधान शिष्य **क्षेमराज** ने किया। जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त के कालनिर्णय से अनुमित होता है, आचार्य क्षेमराज भी ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में रहे होंगे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी—**प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, विज्ञानभैरवोद्योत, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्तवचिन्तामणिटीका, पराप्रावेशिका, तत्त्वसन्दोह**। क्षेमराज के शिष्य **योगराज** ने अभिनवगुप्त के परमार्थसार पर टीका लिखी थी। **जयरथ** और **शिवोपाध्याय** भी इस परम्परा के प्रतिष्ठित विद्वान् हो चुके हैं। महाराष्ट्र निवासी **महेश्वरानन्द** की **महार्थमञ्जरी** और उसकी **परिमल** टीका, कश्मीर के **शितिकण्ठ** का **महानय-प्रकाश**, **पुण्यानन्दनाथ** का **कामकलाविलास**, **स्वतन्त्रानन्दनाथ** का **मातृका-चक्रविवेक**, **वातूलनाथ** का **सूत्र**, **चक्रपाणिनाथ** का **भावोपहार**, **कालिदास** की **चिद्गगनचन्द्रिका**, **विरूपाक्षनाथ** की **विरूपाक्षपञ्चाशिका** भी प्रशंसनीय ग्रंथ हैं। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कश्मीरमण्डल और भी अनेक ग्रंथों से परिपूर्ण रहा है जिनके अन्वेषण, मुद्रण और प्रचार आदि की आवश्यकता का अनुभव अब जिज्ञासु मनीषीवर्ग को हो रहा है।

[२]

काश्मीरशैवदर्शन : संक्षिप्तपरिचय

अपौरुषेय वेदों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय दार्शनिकविचारपरम्परा को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) अवैदिक, (२) अर्धवैदिक और (३) पूर्णवैदिक। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत बौद्ध जैन और चार्वाक दर्शनों की गणना की जा सकती है। शैव पाञ्चरात्र आदि दर्शनों को अर्धवैदिक परम्परा की कोटि में रखना उचित है क्योंकि ये दर्शन वेदविरोधी नहीं है प्रत्युत बाह्यरूप में वैदिक होते हुए आन्तरिक रूप से या तत्त्वतः आगमिक हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त इन छ दर्शनों को पूर्ण वैदिक दर्शन की मान्यता प्राप्त है। उक्त वर्गीकरण के अनुसार काश्मीर शैवदर्शन द्वितीय श्रेणी में आने वाला दर्शन है क्योंकि यह दर्शन वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए अपनी आगमिक स्वभावता को अक्षुण्ण बनाये रखता है। तभीं तो आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> "गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च।
> तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक्॥
>
> (तं० आ०, ३.५.२७८)

परमेश्वर—

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार परमेश्वर या परमशिव ही एक मात्र परमसत्य है। वह शुद्धप्रकाशस्वरूप है। वह प्रकाश सूर्य या मणि के प्रकाश जैसा जड नहीं अपितु चैतन्यस्वरूप है अर्थात् परमशिव को अपनी सत्ता का 'अहम्' रूप में सतत आभास होता रहता है। इस परमेश्वर के दो स्वरूप हैं—(१) विश्वोत्तीर्ण और (२) विश्वमय। परमेश्वर एक ही साथ अपने दोनों स्वरूपों में शाश्वत एवं सतत-रूपेण विराजमान है यह कहना अनावश्यक है। पहली स्थिति में वह केवल प्रकाश-मय है; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यद्यपि मयूराण्डरसन्यायेन यह विश्व उस समय भी उसके अन्दर अवस्थित रहता है पर इस विश्व का उसे आभास नहीं रहता। इस प्रकार यह अवस्था केवल असीम शुद्ध 'अहम्' स्वरूप की अवस्था है। पूर्ण तत्त्व की इस गम्भीरतम स्थिति में सत् चित् आनन्द की कल्पना भी असम्भव है। यह अव्यक्त, अव्याकृत, निरंश, सन्मात्र, चिरनिगूढ सत्य की वह परमगहन स्थिति है जिसका किसी भी माध्यम से निर्वचन नहीं हो सकता। परमशिव का

दूसरा स्वरूप विश्वमय है। यह सच्चिदानन्दस्वरूप है। परमशिव जब अपनी सत्ता का स्वयं विमर्श करता है; जब उसके अन्दर शक्ति का उल्लास या स्पन्दन होता है तब पूर्ववर्णित गभीरतम सन्मात्र की स्थिति में ही आत्मप्रकाश रूप में उसकी एक कला या सूक्ष्मतम शक्ति आविर्भूत होती है जिसे चित् कहते हैं। यह चित् उस पूर्ण सत्य की बहिर्मुखता का प्रथम प्रकाश है। यही विमर्श, प्रत्यवमर्श, परावाक्, शक्ति आदि नामों से पुकारी जाती है। तान्त्रिक शब्दावली में यह अनुत्तर के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिस स्पन्दन के कारण सत् से चित् का आविर्भाव हुआ वह स्पन्दन एक ओर तो सत् को पकड़े रहता है दूसरी ओर वह चित् को भी स्पन्दित करता है। फलस्वरूप वहाँ अर्थात् चित् में आनन्द का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार चित् भी आन्तरिक रूप से सत् के साथ रहते हुए भी बाह्य रूप से आनन्द के साथ वर्त्तमान है। इस दृष्टि से चित्, सत्परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति है और आनन्द उसकी बहिरंगा शक्ति। यह भेद केवल समझने समझाने के लिए है, वस्तुतः पृथक् कुछ नहीं। सब उस परमेश्वर की ही सत्ता है। जब परमेश्वर अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा इन तीनों रूपों में बहिर्मुख होता है तब यह उसका विश्वमय रूप कहलाता है। यह परम शुद्ध प्रकाशस्वरूप होते हुए भी परम शुद्ध विमर्शरूप भी है। विश्वमयता की स्थिति में प्रकाशविमर्श साथ-साथ चलते हैं। सच पूछा जाय तो विमर्श कोई पृथक् वस्तु नहीं, वह प्रकाश का स्वभाव है।[1] तात्पर्य यह है कि प्रकाश की प्रकाशता ही विमर्श है। इसी प्रकार विमर्श की विमर्शता ही प्रकाश है। यदि प्रकाश में विमर्श न हो तो वह स्फटिक आदि के समान जड हो जायगा।[2] इस प्रकार अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा वह स्वयं सभी रूपों में भासित होता है। विश्वमयता की स्थिति में वह शुद्धसंविद् रूप है। जड चेतन सब कुछ वह संविद् ही है। उस अनुत्तर संविद् में देशकालआकारकृत कोई भी संकोच नहीं। वह सदा पूर्ण है। तिल में तेल, दधि में घृत आदि के समान समग्र विश्व उस शुद्ध संविद् में सदैव पड़ा रहता है।

स्वातन्त्र्य—

स्वातन्त्र्य काश्मीर शैवदर्शन का मूल सिद्धान्त है। परमेश्वर के जिन दो रूपों का संक्षिप्त परिचय पहले दिया गया, उसके वे स्वरूप उसके स्वातन्त्र्य के ही कारण हैं। स्वातन्त्र्य शब्द का अर्थ है—अपनी अधीनता। परमेश्वर अपने अधीन है,

---

१. प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना। (ई० प्र० १.५.२.)

२. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः॥ (ई० प्र० १.५.११.)

किसी दूसरे के नहीं। इसके विपरीत सारा विश्व उसके अधीन है। परमेश्वर अपने मूल रूप में एक मात्र असीम परिपूर्ण प्रकाशस्वरूप है और कुछ नहीं। इस 'अहम्'-स्वरूप पूर्णप्रकाश के ही विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दो रूप हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि परमेश्वर एक ही साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है क्योंकि वह असीम और परिपूर्ण है। उसका इस प्रकार का होना उसके स्वातन्त्र्य के कारण है या उसका ही स्वातन्त्र्य है। यद्यपि दीपक स्फटिक दर्पण आदि भी प्रकाशस्वरूप हैं किन्तु वह शुद्ध 'अहम्' रूप असीम प्रकाश इन सबसे भिन्न है, कारण दीपक आदि को न तो स्वनिष्ठ स्वप्रकाशता का और न ही स्वनिष्ठ परप्रकाशकता का ज्ञान रहता है पर इस शुद्ध 'अहम्' को ऐसी प्रतीति सदा बनी रहती है कि 'मैं हूँ' 'मैं विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों हूँ' 'मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं है' इत्यादि-इत्यादि। यह प्रतीति ही विमर्श या स्वातन्त्र्य कहलाती है। स्पष्ट समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि प्रकाश ज्ञानस्वरूप है और विमर्श या स्वातन्त्र्य क्रियास्वरूप है, परन्तु वह प्रकाश या ज्ञान क्रिया से और क्रिया या स्वातन्त्र्य ज्ञान से पृथक् नहीं है; दोनों एक हैं। क्योंकि उस परमेश्वर में ज्ञान और क्रिया दोनों परस्पर ओत प्रोत भाव से अभिन्न, समरस तथा एकरूप में रहते हैं। इस प्रकार सविमर्श-प्रकाश या सप्रकाश-विमर्श का ही एक नाम स्वातन्त्र्य है।[1]

आभास—

श्री जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि कुछ विद्वानों का मत है कि सर्जन की दृष्टि से यह सृष्टि महेश्वर का स्वातन्त्र्य है तथा उसकी अभिव्यक्ति या आविर्भाव की दृष्टि से यही सृष्टि उसका आभास है। मयूराण्डरसन्याय से यह सृष्टि या समग्र विश्व उस महेश्वर में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। आ का अर्थ है—ईषत् या संकुचित, और भास का अर्थ है—प्रकाशन। इस प्रकार यह विश्व उस पूर्ण संवित् का संकुचित प्रकाशन मात्र है। आभास दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारों के समान है; अर्थात् यह प्रतिबिम्बरूप आभास दर्पणरूप शिव से भिन्न नहीं है।[2] समुद्र में तरंग, आवर्त्त, बुदबुद की भाँति चेतना में भी आभास उठते हैं : जिस

१. अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत्।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता॥ (बो० पं० ७)

२. दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरप्रासादचित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि।
अन्योऽन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्॥ (प० सा० १२–१३)

प्रकार तरंग आदि से समुद्र को, उसी प्रकार आभासों के उत्थान-पतन से परम-चेतना को कोई लाभ-हानि इत्यादि नहीं है। आभास प्रकट और लीन होते हैं किन्तु उनकी अधिष्ठानरूपी चेतना में कोई विकार या परिवर्त्तन नहीं होता।

आभास महेश्वर की कल्पनाओं का बहिःप्रक्षेप मात्र है।[1] इस सृष्टि के लिए उसे किसी बाहरी उपादान की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी इच्छा द्वारा ही ऐसा करने में समर्थ है। जो पदार्थ महेश्वर के ज्ञानस्वरूप हैं वे ही उसकी इच्छा से ज्ञेय रूप में प्रकट होते हैं। ये पदार्थ महेश्वर के 'अहम्' रूप हैं पर उसकी इच्छा से जीवों को बाह्य रूप में आभासित होते हैं। महेश्वर के ज्ञानस्वरूप होने के कारण ये आभास सत्य हैं मिथ्या नहीं। साथ ही ये आभास महेश्वर की पूर्णता में कोई अन्तर नहीं ला सकते। यह आभासवाद सांख्य के परिणामवाद के विपरीत है।

पं० बलजिन्नाथ शास्त्री का विचार है कि आभासवाद शैवदर्शन का कोई वाद या सिद्धान्त नहीं। इस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त स्वातन्त्र्य है जो कि कोई वाद नहीं बल्कि वस्तुस्थिति का कथन है।

स्पन्द—

आगमशास्त्र में स्पन्द शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों में विभिन्न अर्थों में किया गया है। कश्मीर शैवदर्शन में परमशिव की इच्छारूपिणी शक्ति ही स्पन्द शब्द का वाच्य है। शुद्ध प्रकाश या ज्ञानस्वरूप शिव जब अपनी प्रकाशात्मकता या ज्ञानात्मकता का विमर्श करता है तो यह विमर्श (awareness) ही स्पन्द कहलाता है। अवाङ्मनसगोचर परमशिव का स्वरूपनिर्वचन करते हुए यह कहा जा चुका है कि सन्मात्र उस परमसत्ता की दो शक्तियाँ हैं—चित् और आनन्द। पहली शक्ति अन्तरंग है और दूसरी उसकी अपेक्षा बहिरंग। विश्वोत्तीर्णता की स्थिति में ये दोनों शक्तियाँ उसमें सुप्तप्राय, अविभक्त रहती हैं। उस समय वह केवल चिदानन्दस्वरूप रहता है।[2] उसकी इच्छा ज्ञान और क्रिया ये तीनों शक्तियाँ उस समय पृथक्अस्तित्वशून्य होकर शिवरूप में ही वर्त्तमान रहती हैं। परमेश्वर उस

---

१. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ (ई० प्र० १.५.७.)

२. सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्त्तते।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा॥ (शि० दृ० १.४)

समय शान्त समुद्र की भाँति अवस्थित रहता है ।[1] चेतना के उस असीम परिपूर्ण सागर में उसी के स्वातन्त्र्यवश जब आनन्दस्वरूप एक हलचल उत्पन्न होती है या यों कहिये कि उसके आनन्द की अनुभूति के अन्दर चमत्कार या गतिशीलता जैसी कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसका स्वातन्त्र्य वैचित्र्यमय विलास की ओर उन्मुख हो जाता है, उस समय की यही गतिशीलता स्पन्द कहलाती है। परमशिव के स्वरूप में ही क्रमरहित चमत्कारात्मक उच्छलत्ता या तान्त्रिक शब्दावली में मत्स्योदरी नाम से प्रसिद्ध इसी गति को स्पन्द कहते हैं ।[2] शुद्ध संवित् अपने स्वरूप से रंचमात्र भी विचलित नहीं होती परन्तु बौद्धिक स्तर पर मानो वह कुछ हिलती सी लगती है। वह प्रकाश भी अभिन्न एक होते हुए भेदाभास, भेदयुक्त सा प्रतीत होता है। यह प्रतीति स्पन्द का ही माहात्म्य है ।[3] ऊपर जिस स्वातन्त्र्य की चर्चा की गई है यह स्पन्द उसी असीम परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की छलकन है ।[4] आचार्य उत्पलदेव ने इस स्पन्द को परमशिव की स्फुरत्ता अर्थात् फड़कन कहा है ।[5] अनन्त कोटि विश्व ब्रह्माण्ड परमशिव की इसी छलकन, इसी फड़कन का समुल्लास है ।[6] जब शिव शक्त्युन्मुख होते हैं तथा शक्ति शिवोन्मुख होती है उस समय की अवस्था को तान्त्रिक भाषा में यामल कहते हैं। इस अवस्था में शिव

---

१. तदा तस्मिन् महाकाशे प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ (स्प० का० २.९)

२. तस्मात् स्वरूप एव क्रमादिपरिहारेण चमत्कारात्मिका उच्छलत्ता, ऊर्मिरितिमत्स्योदरीतिप्रभृतिशब्दैरागमेषु निदर्शितः स्पन्द इत्युच्यते ।
(प० त्री० वि० पृ० २०७)

३. स्पन्दनं च किञ्चिच्चलनम् । एषैव च किञ्चिद्रूपता यदचलमपि चलमाभासत इति । प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते, अतिरिच्यत इवेति । तदचलभेदाभासभेदयुक्तमिव च भाति । (ई० प्र० वि० १.५.१४)

४. निम्नं तडागपानीयं कः प्रवर्त्तयितुं क्षमः ।
परिपूर्णे पुनस्तस्मिन् प्रवाहाः सर्वतोमुखाः ॥
(मा० वि० वा० १.२४५.४६)

५. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ (ई० प्र० १३.१५)

६. स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे, तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥
(शि० स्तो० १३.१५)

शक्तिहीन नहीं और शक्ति शिवहीन नहीं। यही अवस्था संघट्ट, स्फुरत्ता, घूर्णन अथवा स्पन्द के नाम से जानी जाती है। और स्पष्ट समझने के लिए इसे परमशिव की इच्छा का पूर्व भाग कह सकते हैं।

तत्त्वावलोकन—

१. शिव—ऊपर यह कहा जा चुका है कि अनुत्तर मूर्ति परमशिव का प्रथम स्वरूप विश्वोत्तीर्ण है। यह उनका मौलिक रूप है। इस अवस्था में परमशिव स्वरूपानन्द में मग्न तो रहते हैं परन्तु इस रूप में उन्हें आनन्द का आस्वादन नहीं होता। क्योंकि उस स्वरूप का प्रसरण नहीं होता। यह स्थिर आनन्दरूप वस्तु ही निर्वृत चित् है। जब इसके अन्दर शुद्ध स्पन्द होता है तब उसके प्रभाव से उनके बहिरुन्मेष तथा अन्तर्निमेष होते हैं। आचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टि के प्रारम्भ में यही कहा है।[1] परमशिव का पहला स्पन्द ही शिवतत्त्व कहलाता है।[2] यह शिव पुराणों में वर्णित कैलाशवासी या सर्वत्र लिङ्गरूप में प्रतिष्ठित शिव नहीं; यह विमर्शयुक्त प्रकाश या यों कहिये कि शक्तिसंवलित परमशिव का ही स्वरूप है जिसे एकमात्र 'अहम्' का ही आभास होता रहता है। इस तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी अकल कहलाते हैं क्योंकि उनके अन्दर माया की एक भी कला नहीं रहती। साधना आदि के द्वारा इस स्तर पर पहुँचे हुए प्राणी शुद्धसंविद्रूप मात्र अहं-स्वभाव वाले होते हैं।

२. शक्ति—परमशिव का अहं-विमर्श ही शक्ति है। इसे 'निषेधव्यापाररूपा' कहा गया है। शिवतत्त्व में जो केवल 'अहम्' का आभास होता है वहाँ 'इदम्' का निषेध करने वाली यही शक्ति है जबकि शिव के पूर्ववर्त्ती परमशिव या परासंवित् में 'अहम्' और 'इदम्' दोनों समरस अवस्था में रहते हैं, ऐसा कहा जा चुका है। इसी शक्तितत्त्व के कारण निर्वृतचित् परमेश्वर 'अहम्', 'इदम्' अथवा वेत्ता और वेद्य के रूप में विभक्त हो जाता है। शक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए एक आचार्य का कथन है—"तत्तत्सृष्टयादिभेदानुद्वमन्ती संहरन्ती च सदा पूर्णा च कृशा चोभयरूपा चानुभयरूपा चाक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।" इस प्रकार यह शिव से अभिन्न शिव की सर्जनोन्मुखतामात्र है। जब परमशिव स्वातन्त्र्यवश अपने हृदय में वर्त्तमान इच्छाज्ञानक्रियारूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास के द्वारा

---

१. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥ (शि० दृ० १.२)

२. यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥ (ष० त्रिं० त० सं० १.१)

अपने ही हृदय में बीजरूपेण वर्त्तमान अर्थतत्त्व को बाहर करना चाहते हैं तब वह शक्ति की संज्ञा से अलंकृत होते हैं।[1] यह शक्ति चित्तत्त्व की क्रियाशीलता है। क्षेमराज ने शक्तिस्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—"आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।"[2] इस प्रकार शिवतत्त्व में परमशिव के ज्ञान या चित्तत्त्व का प्राधान्य है और शक्तितत्त्व में उनके आनन्द की प्रधानता है। किन्तु आचार्य सोमानन्द नाथ का कथन है कि परमेश्वर की इच्छा का प्राधान्य ही शक्ति है आनन्द तो उस इच्छा का उद्वेलकमात्र है।[3] इस शक्ति तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी भी अकल ही कहलाते हैं क्योंकि माया की कला से शून्य इन्हें भी केवल 'अहम्' का ही बोध रहता है।

३. सदाशिव—परमशिव की पाँच शक्तियों के सामरस्य का भङ्ग तथा उनमें से एक-एक शक्ति का प्राधान्य होने पर क्रमशः एक-एक तत्त्व का आविर्भाव होता हैं। इस प्रकार चित् तत्त्व का प्राधान्य होने पर शिव या अनाश्रित शिव का तथा आनन्द का प्राधान्य होने पर शक्ति तत्त्व का स्फुरण होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। ठीक इसी प्रकार जब उस परमशिव में इच्छा का प्राधान्य होता है तब वही परमेश्वर सदाशिव या सादाख्य तत्त्व कहलाता है। इस सदाशिव तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव होते हैं। तान्त्रिक वाङ्मय के अनुसार इनका कमलाकार आसन सातकरोड़ मन्त्रों से परिवेष्टित, वामा आदि शक्तियों से युक्त तथा तारा आदि शक्तियों से सेवित है। वहाँ सर्वशक्तिसम्पन्न असंख्यकरोड़ रुद्र विराजमान हैं। ये अपने शुद्ध प्रकाशात्मक विमर्श या विमर्शात्मक प्रकाश के अन्दर 'इदम्' अर्थात् प्रमेयता की धुँधली झलक के साथ 'अहम्' का अनुभव करते रहते हैं। सोमानन्द के अनुसार इच्छा का प्राधान्य शक्तितत्त्व में होता है; सदाशिवतत्त्व में परमेश्वर की ज्ञानशक्ति का प्राधान्य रहता है।[4] जो भी हो सदाशिव तत्त्व परमेश्वर का अन्तर्निमेष है; अर्थात् इस अवस्था में परमशिव अपने द्वारा अपने ही भीतर अपने से भिन्न किसी प्रमेय को देखते हैं जिसके पीछे उनका अपने द्वारा अपने ही पूर्णरूप का अंशतः गोपन काम करता रहता है। इस अनुभव का स्वरूप

---

१. स एको विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः॥ (म० मं०)

२. उ० स्तो०।

३. तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके।
बिभर्त्ति रूपमिच्छातः.................॥ (शि० दृ० १.२९)

४. ....कदाचिज्ज्ञानशक्तितः। सदाशिवत्वमुद्रेकात्....(शि० दृ० १.३०)

है—'अहम् इदम्'। इसमें 'इदम्' का अस्तित्व बहुत हलका, धुँधला है जिसके चारो ओर 'अहम्' छाया हुआ है।[1] राजानक आनन्द ने इस स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि 'इस अवस्था में 'इदम्' अंश उसी प्रकार अस्फुट रहता है जैसे कि भविष्य में उल्लिखित होने वाले चित्र की चित्रकार के मन में कल्पना।[2] इस तत्त्व में ठहरे हुए प्राणियों को मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है। इनका भी अनुभव भगवान् सदाशिव के अनुभव जैसा ही होता है।

४. ईश्वर—यदि सदाशिव तत्त्व परमेश्वर का अन्तर्निमेष है तो ईश्वर तत्त्व उनका बहिरुन्मेष है।[3] आचार्य सोमानन्द का कथन है कि इस ईश्वर तत्त्व में परमेश्वर को क्रिया शक्ति का प्राधान्य रहता है।[4] किन्तु राजानक आनन्द इसमें ज्ञानतत्त्व की प्रधानता स्वीकार करते हैं।[5] भगवान् सदाशिव के द्वारा परमेश्वरता की जिस बहिर्मुखी लीला का कार्य बिलकुल नहीं हुआ था, केवल मनोनिष्ठ था, वह कार्य क्रियाप्राधान्य के कारण ईश्वर तत्त्व में अब अधिक अभिव्यक्त हो उठता है। इनका विमर्श है—'इदम् अहम्'। ये ईश्वरभट्टारक माया से दो स्तर और प्रकृति से नव स्तर ऊपर के तत्त्व हैं। अतः वे दोनों इनका स्पर्श तक नहीं कर पातीं। इस स्तर में रहने वाले प्राणी मन्त्रेश्वर कहलाते हैं। इनका अनुभव भी ईश्वरके अनुभव जैसा ही होता है। यह विश्व के भेदाभेदात्मक अनुभव की दशा होती है।

५. शुद्धविद्या—शुद्धविद्या ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा ईश्वर, सदाशिव, शक्ति तथा शिव अपने-अपने स्वरूपों का संवेदन करते हैं क्योंकि इस शुद्धविद्या या सद्‌विद्या के अतिरिक्त इस विश्व ब्रह्माण्ड में ज्ञान, संवेदन या अनुभव का कोई दूसरा साधन ही नहीं रहता। इस तत्त्व में समाधृततुलापुटन्यायेन 'अहम्' और 'इदम्' दोनों का परामर्श एक समान होता है। इस अवस्था में क्रियाशक्ति का प्राधान्य रहता है। सोमानन्द यहाँ स्थूलवेदना का प्राधान्य मानते हैं।[6] यह

---

१. सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं विश्वम्। (प्र० हृ०)

२. तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्यास्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्।
(ष० त्रि० त० सं० वि०)

३. ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

४. ····कदाचिदैश्वरीं स्थितिम्। क्रियाशक्तिसमायोगात्········।
(शि० दृ० १.३०-३१)

५. अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनाज् ज्ञानशक्तिसमुद्रेकः।
(ष० त्रि० त० सं० वि०)

६. कदाचित् स्थूलवेदनात् विद्यात्व········(शि० दृ० १.३१)

वेदना भी क्रिया ही है किन्तु यह स्थूल है जबकि ईश्वरतत्त्व में वर्त्तमान क्रिया सूक्ष्म है, सूक्ष्म इसलिये कि वहाँ वेद्य विश्व की वेदक ईश्वर से एकान्त भिन्नता का आभास नहीं है; और यहाँ एकान्त भिन्नता का स्पष्ट आभास है। इस दशा में पदार्थो की भिन्नता और उनके वास्तविक सम्बन्धों का परामर्श होता है। फिर भी अहं तत्त्व अंगी और 'इदम्' तत्त्व भिन्न होते हुए भी उसका अङ्ग मालुम पड़ता है। इस तत्त्व में ठहरे प्राणी विद्येश्वर कहलाते हैं। इनका दूसरा नाम मन्त्र भी होता है। इनके निदेशक भगवान् अनन्तनाथ होते हैं।

सच पूछा जाय तो मन्त्र प्राणी तथा उनके निदेशक अनन्तनाथ शुद्धविद्या में नहीं रहते। इनका स्थान शुद्धविद्या से थोड़ा सा नीचे और माया तत्त्व से थोड़ा सा ऊपर अर्थात् दोनों के बीच का होता है। यह स्थान महामाया कहलाता है। इसी शुद्धविद्या के अन्तर्गत वर्त्तमान महामाया के किञ्चित् अविकसित रूप में भी एक प्रकार के प्राणी रहते हैं जिनमें विद्यात्मक प्रकाश तो रहता है पर विमर्शात्मक परमेश्वरता का आभास नहीं रहता। फलस्वरूप ये प्रकाशमात्र को ही आत्मा मानते हैं। ऐसे प्राणी विज्ञानाकल या विज्ञानकेवली कहलाते हैं।

यहाँ तक शुद्धअध्वा या शुद्धविद्या के तत्त्व कहे गये। इन तत्त्वों के कर्त्ता धर्त्ता साक्षात् शिव हैं। इस अध्वा में रहने वाले प्राणियों या उनके निदेशकों को अपने स्वरूप के विषय में विपरीत अध्यास नहीं रहता। वे अपने को शरीर आदि न समझ कर शुद्ध संवित् ही समझते हैं। शुद्ध अध्वा की समग्र सृष्टि जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति दशा को छोड़कर केवल तुरीय दशा में ठहरती है। यहाँ तक परमेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं होता।

उपर्युक्त शिव या शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या और महामाया तत्त्वों में ठहरे हुए क्रमशः अकल, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र या विद्येश्वर तथा विज्ञानाकल या विज्ञानकेवली नाम वाले पाँच प्रमाताओं के अतिरिक्त दो प्रकार के प्राणी और होते है। उनमें से छठों श्रेणी के प्राणी हैं—प्रलयाकल जो जडात्मक शून्य को ही 'अहम्' मान बैठते हैं। इस प्रकार के प्राणी मायीय मल से आवृत रहते हैं, आणव मल तो उनमें रहता ही है। इन प्राणियों की तुलना न्यायवैशेषिक के अप-वर्गदशा वाले या सांख्ययोग की कैवल्यभूमि को प्राप्त या बौद्धों की निर्वाणदशा वाले प्राणियों जैसी होती है। इसके अतिरिक्त एक भिन्न प्रकार के भी प्राणी प्रलया-

---

१. अत एवेयं प्ररोहासहिष्णुं यत इदन्तां भासयति ततः शुद्धा, भासनाच्च विद्येति। तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वात् महामायेयं श्रीरौरवादिगुरुभिरुपदिष्टा।

(ई० प्र० वि० ३.१.६)

कल कहलाते हैं। जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ अवान्तर प्रलय के प्रारम्भ में सभी कार्यतत्वों और करणतत्वों को मूल प्रकृति में विलीन कर देते हैं, और उस समय से उस भगवान् की रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है तब उस रात्रि में जो समस्त बद्ध प्राणी सुषुप्ति में विलीन होकर पड़े रहते हैं वे भी प्रलयाकल कहलाते हैं। सातवीं या अन्तिम श्रेणी के प्राणी सकल नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें संसार को भेद दृष्टि से देखने का स्वभाव होता है। ये पूर्णविकसित त्रिविध मलों से घिरे रहते हैं। स्वर्ग मर्त्य पाताल लोकों के समस्त स्थावर जंगम प्राणी इसी कोटि में आते हैं।[1]

६. **माया**—मायातत्त्व की सृष्टि का मूल कारण परमशिव की इच्छा ही है। यह एक वस्तुभूत तत्त्व है जो परमेश्वर के स्वरूप के ऊपर पर्दा डालकर उसे छिपा देती है। और इस प्रकार अभेदस्वरूप शिव में भेद का स्फुट अवभास इस माया के द्वारा उत्पन्न कर दिया जाता है। शुद्ध अध्वा के तत्त्वों का स्रष्टा स्वयं परमेश्वर या परमशिव होते हैं किन्तु माया से लेकर आगे अशुद्ध सृष्टि का रचयिता परमशिव नहीं बल्कि भगवान् अनन्तनाथ होते हैं। ऊपर जिस महामाया तत्त्व की चर्चा की गई है भगवान् अनन्तनाथ उसी महामाया तत्त्व के भीतर ठहरे हुए रहते हैं। इस अशुद्धसृष्टि के विकास में ये भगवान् केवल माध्यम का काम करते हैं; मूलकारण तो शिव की इच्छा तथा संहारकाल की अवधि में गाढ़ निद्रा की तुल्य अवस्था में सुषुप्त होकर पड़े हुए भोगलोलुप प्राणियों की भोगवासना होती है। चूंकि यह अशुद्धसृष्टि सापेक्ष है अतः यह स्वातन्त्र्यलीलामयी नहीं है।

भगवान् अनन्तनाथ माया में क्षोभ उत्पन्न कर उसको विस्तृत कर पाँच तत्त्वों के रूप में बना देते हैं। ये तत्त्व माया के कञ्चुक कहलाते हैं। इनके नाम हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति।

७. **कला**—जीव वस्तुतः शिवस्वरूप होने के कारण अनन्तकर्तृत्वयुक्त है किन्तु माया के इसी कञ्चुक के कारण उसका स्वरूप जब सीमित हो जाता है तब वह अल्पक्रियाशक्ति वाला होकर किञ्चित्कर्तृत्व से युक्त हो जाता है। अतः परमेश्वर की सर्वकर्तृत्वसंकोचिनी शक्ति का नाम कला है।

८. **विद्या**—इसे अशुद्धविद्या भी कहते हैं। जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर अल्पज्ञत्व में बदल जाता है। परमेश्वर की ज्ञानशक्ति का संकोचक माया का वह कञ्चुक विद्या कहलाता है।

---

१. देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्॥ (ई० प्र० ३. २. १०)

९. **राग**—परमेश्वर की पूर्णतृप्ति के संकोचक तत्त्व का नाम राग है; इसके ही कारण प्राणी भोगों में आसक्त होते हैं और उनके मन में भोग के साधन इन्द्रिय आदि के स्थायित्व की कामना सदा बनी रहती है। इस कञ्चुक को अन्तःकरण के धर्म-सुखानुशयी राग–से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये।

१०. **काल**—माया का यह कञ्चुक परमेश्वर के नित्यत्व का संकोचक है। इसी तत्त्व के कारण जीव भूत वर्त्तमान और भविष्य की क्रमरूपता में फँस जाता है। इस प्रकार कालकृत देशकृत और अवस्थाकृत परिच्छिन्नत्व का कारण एकमात्र यह कालतत्त्व है।

११. **नियति**—मायीयप्रमाता के स्वातन्त्र्य का सर्वाधिक अपहरण नियतितत्त्व के द्वारा होता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में विशिष्ट कार्यकारण सम्बन्ध की नियामिका नियति ही है।

इसप्रकार इन पाँच कञ्चुकों और माया, जो कि स्वयं एक कञ्चुक है, को मिलाकर कुल छ कञ्चुक होते हैं जो कि परमेश्वर का स्वरूप छिपा देते हैं।

१२. **पुरुष**—परमेश्वर असीम शुद्धसंवित्स्वरूप है। जब वह उपर्युक्त छ कञ्चुकों से अपने को लपेट कर संकुचित कर लेता है तब वह पुरुषतत्त्व की संज्ञा प्राप्त करता है। इसप्रकार अतीव संकुचित 'अहम्' का नाम पुरुष है। उस समय इसके अनेक नाम पड़ जाते हैं। जीव, अणु, मायाप्रमाता, पशु, नर, पुंस्तत्त्व आदि शब्दों से इसी का ज्ञान होता है। यद्यपि पुरुष मूलतः शुद्धसंवित् है तथापि संकोच के कारण यह कहीं प्राण को, कहीं अन्तःकरण को, कहीं इन्द्रिय और कहीं शरीर को ही 'अहम्' या आत्मा मान बैठता है।

१३. **प्रकृति**—जो तत्त्व मायाप्रमाता को 'इदम्' के रूप में भासित होता हैं उस प्रमेयतत्त्व का नाम प्रकृति है। त्रिकमत के अनुसार प्रकृति या प्रधानतत्त्व कला का वेद्यरूप कार्य है।[1] त्रिकमतावलम्बी का कथन है कि प्रत्येक पुरुष की प्रकृति भिन्न है न कि सांख्य की मूलप्रकृति एक और सामान्य है। यह प्रकृति शिव की शान्ता शक्ति है और सत्त्व रजस् तथा तमस् उन्हीं शिव की ज्ञान इच्छा और क्रिया नामक त्रिविध शक्तियों के स्थूल रूप हैं।

१४. **बुद्धि**—तीनो गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। जब इन गुणों में क्षोभ अर्थात् उपमर्द्य उपमर्दक भाव उत्पन्न होता है तब प्रकृति का अग्रिम विकास होता है। यद्यपि सांख्य इस क्षोभ का कारण बतलाने में मौन है तथापि उस

१. वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला। (तं० आ०)

दर्शन में प्राणियों के सुप्त अदृष्ट या कर्माशय ही उस क्षोभ का कारण माने जाते हैं। काश्मीर शैवदर्शन में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा आगे के तेईस तत्त्वों की सृष्टि करने वाले भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही हैं। उन्हीं के कारण क्षुब्ध प्रकृति सबसे पहले सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि या महत् तत्त्व के रूप में प्रकट होती है। बुद्धि-तत्त्व स्वच्छ तथा जड होता है। इसमें मायाप्रमाता तक का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। यह प्रथम अन्तःकरण है; द्वितोय और तृतीय अन्तःकरण अहंकार तथा मन हैं।

१५. **अहंकार**—'मै हूँ' इसप्रकार का अभिमान करनेवाला तत्त्व अहंकार कहलाता है। यह भी 'अहम्' ही है; पर 'पूर्ण अहम्' स्वाभाविक है, और बुद्धि का विकास यह 'अहम्' कृत्रिम है। इसे रजोगुणप्रधान कहा गया है। इसीलिये इसका नाम अहंकार है। मन और बुद्धि का स्फुट व्यवहार जाग्रत् और स्वप्नावस्था तक ही रहता है किन्तु अहं की गति सुषुप्ति तक रहती है।

१६. **मन**—नाम और रूप इन दो समुदायों का मनन करने वाली, जीव की मननशक्ति का नाम मन है। यह अहंकार का परिणाम है। यह मन आन्तरविषयों का ज्ञान स्वतंत्र रूप से तथा बाह्य विषयों का ज्ञान इन्द्रियों के सहयोग से करता है।

(१७–२६) **इन्द्रियाँ**—प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः इसके समस्त विकास त्रिगुणात्मक हैं। फलतः अहंकार भी त्रिगुणात्मक है। इस त्रिगुणात्मक अहंकार के सत्त्व अंश से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उसके रजस्‌भाग से पाँच कर्मेन्द्रिया आविर्भूत होती हैं। ये सभी इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं तथा मायाप्रमाता के विषयभोग के साधन हैं।

(२७–३१) **पंचतमात्रायें**—अहंकार के तामस अंश से पाँच स्थूल महाभूतों के सूक्ष्म अंशों का विकास होता है। इनके नाम शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्रायें है। ये भी द्रव्य हैं किन्तु सामान्य जन के अनुभव से परे हैं।

(३२–३६) **पंचमहाभूत**—ये उपर्युक्त पंचतन्मात्राओं के विकसित स्थूल रूप हैं।

लोक—पृथिवी तत्त्व तक की सृष्टि पूरी हो जाने पर परमाणु और आकाश आदि नित्य द्रव्य उत्पन्न हो जाते हैं। इसके बाद ब्रह्मा जो दक्ष कश्यप मनु आदि प्रजापतियों की सहायता से परमाणुउपादानक धरती चाँद सितारे आदि से भरे लोकों की सृष्टि करते हैं।

उपर्युक्त छत्तीस तत्त्वों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है।

१. आत्मतत्त्व—पृथिवी से माया तक के तत्त्व इस श्रेणी में आते हैं।

२. विद्यातत्त्व—शुद्धविद्या से सदाशिव तत्त्व तक की गणना इस श्रेणी में की जा सकती है।

३. शिवतत्त्व--शक्ति और शिव को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

षडध्वा—

सृष्टि के मूल में एक असीम शक्ति का अटूट क्रम है। यह नाद कहलाता है। जिस प्रकार रेखा बिन्दु की क्रमिक गति का परिणाम है और मूल में बिन्दु है उसी प्रकार यह नाद भी एक क्रम है। इसका क्रियात्मक घनीभूत मूलरूप है बिन्दु। यही सृष्टि की परावस्था या मूल है जहाँ वाच्यवाचक या अर्थ और पद एक होकर रहते हैं। यह परम शिव की विश्वोत्तीर्ण निष्कल अवस्था है। उसकी विश्वमय अवस्था सकल कही जाती है। बिन्दु में जब क्षोभ उत्पन्न होता है तब नाद की उत्पत्ति होती है। नाद के साथ ही कला का भी सम्बन्ध है। तत्त्व की सबसे सूक्ष्म अवस्था को कला कहते हैं। यह वह अवस्था है जहाँ एक के अनन्तर असादृश्य या भेद प्रकट होने लगता है। वाचक और वाच्य जो परावाक् में एक थे, अब द्वन्द्व-भाव में भिन्न-भिन्न भासित होने लगते हैं और यहीं से काल का प्रारम्भ होता है। काल की गणना क्षण से शुरू होती है। क्षण की अवधि का नियामक ज्ञान होता है। ज्ञान सदैव शब्दात्मक ही होता है अतः काल की धारणा शब्दमयी है। शब्द पररूप वर्ण होता है। यहाँ वर्ण से तात्पर्य है—अर्थ से सम्बद्ध प्रक्रियारूप (Functions form) का विशिष्ट मानअभिसूचक (measure index) इन्हीं वर्णों के संयोग से मन्त्र अर्थात् बीजमन्त्र और मन्त्रों के समाहार से पद बनते हैं।

षट् का अर्थ है--छ ; अध्वा का अर्थ है--अपने शिवभाव को पहचानने का आणव मार्ग। मूलतः अध्वा दो प्रकार का है–शब्द और अर्थ। इन दोनों के तीन तीन भेद हैं। इस प्रकार कुल संख्या छ होती है।

शब्द	अर्थ
वर्ण	कला
मन्त्र	तत्त्व
पद	भुवन

त्रिकशास्त्र में इन दोनों को क्रमशः कालाध्वा और देशाध्वा कहते हैं। वर्णाध्वा प्रमास्वरूप है; प्रमाता प्रमाण और प्रमेय का विश्रान्तिधाम है। वर्ण दो प्रकार का है—मायीय और अमायीय। अमायीय वर्ण अकृत्रिम नित्य संकोचरहित और अनन्त हैं। इनसे ही मायीय वर्णों की उत्पत्ति होती है। इन मायीय वर्णों में

अमायीय वर्णों की शक्ति छिपी रहती है । कला आदि का वर्णन आगे किया जायगा ।

पाँच कलाएँ—

कश्मीर के त्रिकशास्त्र में जिस प्रकार तत्त्वों की संख्या तीन मानी गई है और वे हैं—(१) नर (जीव और जड़ तत्त्व) (२) शक्ति तथा (३) शिव; उसी प्रकार वहाँ पर छत्तीस तत्त्वों का वर्गीकरण भी दो प्रकार से किया गया है—(१) पञ्च-कलात्मक (२) अण्डचतुष्टयात्मक । तत्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं और स्थूल रूपों को भुवन । एक-एक कला प्रायः कई भुवनों को व्याप्त करके रहती है । ये कलायें निम्नलिखित हैं—

१. निवृत्तिकला—यह पृथिवीतत्त्व को व्याप्त करके रहती है ।

२. प्रतिष्ठाकला—जलतत्त्व से लेकर प्रकृतितत्त्व तक के प्रपञ्च को व्याप्त करके रहने वाली कला का नाम प्रतिष्ठाकला है ।

३. विद्याकला—पुरुषतत्त्व से मायातत्त्व तक व्यापक भाव से ठहरने वाली कला को विद्याकला कहते हैं ।

४. शान्ताकला—शुद्ध विद्या से लेकर शक्तितत्त्व तक व्याप्त होकर ठहरने वाली कला को शान्ताकला की संज्ञा दी गयी है ।

५. शान्त्यतीताकला—उपर्युक्त कला के भी पार जाकर ठहरी हुई शिवतत्त्व रूपी कला को शान्त्यतीताकला के नाम से विभूषित किया गया है ।

अण्डचतुष्टय—

ब्रह्माण्ड—निवृत्तिकला का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड है । एक सूर्य और उसके परि-वार तथा तारे, पर्वत, समुद्र आदि को मिलाकर एक ब्रह्माण्ड कहा जाता है । इसके अधिष्ठातृदेव ब्रह्मा होते हैं । इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वीलोक वरुणलोक आदि कई लोक-लोकान्तर होते हैं । जिस प्रकार इस पार्थिवलोक में वर्त्तमान हमलोगों के शरीर में पृथ्वीतत्त्व की प्रधानता है उसी प्रकार वरुणलोक आदि में रहने वालों का शरीर जल आदि की प्रधानतावाला होता है । इस प्रकार एक ब्रह्माण्ड की रचना समझनी चाहिये । मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन और देवताओं के चौदह करोड़ चालीस लाख वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन होता है । इस हिसाब से ब्रह्मा की आयु एक सौ वर्ष की होती है । जब एक ब्रह्मा मरते हैं तब एक ब्रह्माण्ड नष्ट होता है । इसी एक ब्रह्माण्ड का नष्ट हो जाना पुराणों में वर्णित महाप्रलय कहलाता है ।

प्राकृताण्ड—प्रतिष्ठाकला को प्राकृताण्ड कहते हैं । जिस प्रकार एक पपीते या गूलर के फल के अन्दर अनेक बीज होते हैं । उसी प्रकार एक प्राकृताण्ड के अन्दर

असंख्य ब्रह्माण्ड छिपे होते हैं। इस प्राकृताण्ड के अधिष्ठातृदेव विष्णु होते हैं। विष्णु के आधिपत्य में अनन्त ब्रह्मा ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते रहते हैं। ब्रह्मा की आयु का एक सौ वर्ष विष्णु की आयु का एक दिन होता है। और इस प्रकार एक प्राकृताण्ड के अधिष्ठाता विष्णु की आयु एक सौ वर्ष की होती है। जब एक विष्णु मरते हैं तब एक प्राकृताण्ड का प्रलय होता है।

मायाण्ड—विद्याकला को मायाण्ड कहते हैं। जिस प्रकार एक पपीते या गूलर के वृक्ष में असंख्य पपीते या गूलर के फल लटकते रहते हैं उसी प्रकार एक मायाण्ड में अनन्त प्राकृताण्ड लटके होते हैं। इस मायाण्ड के अधिष्ठातृदेव रुद्र होते हैं। विष्णु की एक सौ वर्ष की आयु का रुद्र का एक दिन होता है। एक रुद्र के अधीन असंख्य विष्णु असंख्य प्राकृताण्ड को संभाले हुए हैं। जब एक रुद्र मरते हैं तो एक मायाण्ड का प्रलय होता है।

शाक्ताण्ड—शान्ताकला को शाक्ताण्ड कहते हैं। मायाण्ड या मायाराज्य के ऊपर चिन्मय, शुद्धसत्त्वमय, आनन्दमय, कालातीत, विशुद्ध महामाया का राज्य है। यह राज्य भी पूर्वोक्त तीन अण्डों के समान अण्डरूप में ही कल्पित है। यह अण्ड अत्यन्त विशाल है जिसमें धूल के कण की भाँति असंख्य मायाण्ड तैरते रहते हैं। यही शाक्ताण्ड कहलाता है। इस चिन्मय शाक्ताण्ड के भीतर स्वरूपतः कोई विभाग न होने पर भी समझने के लिये इसमें परस्पर मिश्रित दो विभागों की कल्पना की गई हैं। एक भाग के अधिष्ठाता ईश्वर और दूसरे के सदाशिव हैं। ईश्वर परम शिव के तिरोधान या निग्रह शक्ति के तथा सदाशिव अनुग्रह शक्ति के प्रतीक हैं। अतः यह समझना चाहिये कि परमेश्वर के मुख्यकृत्य निग्रह और अनुग्रह के व्यापार इसी शाक्ताण्ड में होते रहते हैं।

जीव—

काश्मीर शैव दर्शन में जीव की धारणा विचित्र है। पञ्चमहाभूतमय स्थूल शरीर वाले इस जीव में बुद्धि अहंकार और मन से युक्त एक अन्तःकरण भी होता है। अन्तःकरण और पञ्चतन्मात्राओं को मिलाकर एक पुर्यष्टक बनता है। यही जीव का सूक्ष्म शरीर है। मृत्यु के उपरान्त जीव इसी सूक्ष्म शरीर के साथ रहता है। इसके भीतर प्राणशक्ति भी होती है। यह ईश्वरीय शक्ति है जो जीव और विश्व दोनों में काम करती है। मानव के भीतर कुण्डलिनी शक्ति भी रहती है जो सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। इन सबका केन्द्रभूत शिव या चैतन्य है। यही चैतन्य आणव मल के कारण अणु या जीव कहलाता है।

बन्धन—

शैवदर्शन की दृष्टि में सब कुछ स्वयं परमेश्वर ही है। विद्या-अविद्या, द्वैत-अद्वैत, बन्धन-मोक्ष आदि की कल्पना केवल व्यावहारिक है। यह द्वन्द्व तथा अन्य समस्त आभासों का व्यवहार उस परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का विलासमात्र है। उस विलास के दो मुख्य भाग होते हैं—एक पूर्वाङ्ग या पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तराङ्ग का उत्तरपक्ष।[1] यह द्वन्द्व उसका पूर्वपक्ष है फलतः बन्धन भी पूर्वपक्ष ही है।

जीव का बन्धन जन्मजात अख्याति या अविद्या के कारण है। यह अविद्या जीव का आणव मल है जिसके द्वारा सर्वव्यापी चैतन्य एक अणु या परिसीमित दशा में आ जाता है। यह दशा उसकी इच्छाशक्ति के संकोच के कारण होती है। इसी अविद्या या संकोच के कारण जीव अपने को उस सर्वव्यापी चैतन्य से पृथक् अल्पज्ञानक्रियाशक्ति से युक्त समझता है।

शैवदर्शन में बन्धन का लक्षण अज्ञान है। यह अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं अपितु ज्ञान का संकोच है। इस अज्ञान के दो आश्रय होते हैं जिनके कारण यह अज्ञान दो प्रकार का हो जाता है। प्रथम तो आणव आदि मलों का पात्रभूत यह पुरुष या जीव होता है। यह मल ही उस जीव का अज्ञान होता है। अज्ञान का दूसरा आश्रय होता है—पुरुष की बुद्धि। पौरुष अज्ञान से प्रभावित जीव की बुद्धि ज्ञानसंकोच का आश्रय बनकर तदनुसार ही अशुद्ध विकल्पों की कल्पना करती रहती हैं। वस्तु को शिवरूप समझना शुद्धविकल्प और प्रमेयरूप में समझना अशुद्ध विकल्प कहलाता है। अशुद्ध विकल्पों को करते रहने का यह स्वभाव पुरुष का बौद्ध अज्ञान है। बौद्ध अज्ञान समझ का अज्ञान है, पौरुष अज्ञान मूल अज्ञान हैं। मानव का सारा व्यवहार मूल अज्ञान के आधार पर होता है। बौद्ध अज्ञान या लौकिक दृष्टि से जिसे ज्ञान कहा जाता है केवल कहने-सुनने, पढ़ने-लिखने, समझने-समझाने आदि के काम आता है। ये दोनों प्रकार के अज्ञान बन्धन है।

मोक्ष—

काश्मीर शैवदर्शन में मोक्ष का अर्थ है—अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा।[2] दूसरे शब्दों में अकृत्रिम अहंविमर्श का उदय ही मोक्ष है। यह एक अव्यवहित अपरोक्षानुभूति है। जब इस प्रकार की अनुभूति होती है तभी अपने

---

१. पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः।
अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुमः शिवम्॥ (ई० प्र० वि० १.२.१.)

२. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्। (तं० आ० १)

वास्तविक स्वरूप का बोध होता है और यही मोक्ष है। वास्तविक शुद्ध अहंविमर्श का लाभ होने से शिवचेतना का उदय होता है जिसमें सारा विश्व शिवमय या शुद्ध अहंमय प्रतीत होता है। ऊपर जिस बौद्धज्ञान की चर्चा की गयी है वह केवल व्यवहार के लिये है। पौरुष अज्ञान के नाश का स्वरूप पौरुष ज्ञान है। यह पौरुषेय ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक कार्म, मायीय और आणव मलों को धोया न जाय। ये मल केवल गुरुकृपा से ही धुले जा सकते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सर्वोच्च आनन्द जगदानन्द है जिसमें सारा विश्व चित् या शिव प्रतीत होता है। यह आनन्द या मोक्ष, तर्क या बौद्धिक आतिशबाजी से मिलने वाला नहीं है, इसके लिये गुरुकृपा या शक्तिपात या अनुग्रह चाहिये। गुरु के द्वारा सिखाये गये रहस्यमय उपायों के अभ्यास से ये मल धीरे-धीरे शिथिल होकर शनैः शनैः पूर्णतया धुल जाते हैं।

शक्तिपात—

परमशिव यह जानते हैं कि किस प्राणी को किस समय किस प्रकार के साधन-मार्ग द्वारा कितनी तीव्र गति से चरम लक्ष्य की ओर चलकर अन्तिम छोर पर पहुँचना है। इसलिये वे जिसको जैसी अन्तःप्रेरणा देते हैं वह वैसे ही चलता है। परमशिव द्वारा दी गई इस अन्तःप्रेरणा को शक्तिपात कहते हैं। यह शक्तिपात मुख्यतया तीन प्रकार का होता है—तीव्र, मध्य और मन्द। जो जीव पूर्वजन्म के संस्कारवश उन्नत अवस्था को प्राप्त हुए रहते हैं वे तीव्र शक्तिपात के अधिकारी होते हैं। उन्हें बिना किसी साधना के मोक्षलाभ हो जाता है। जो जीव अपेक्षाकृत कम विकसित होते हैं वे मध्य शक्तिपात के पात्र होते हैं। मोक्ष के लिये उन्हें किसी गुरु की आवश्यकता होती है। उस गुरु से दीक्षा प्राप्त कर वे साधक साधना करते हैं और उचित समय पर मुक्त हो जाते हैं। जो जीव सबसे कम विकसित होते हैं उनके ऊपर मन्द शक्तिपात होता है। इस शक्तिपात से उनके अन्दर आध्यात्मिक मार्ग, साधना और मोक्षलाभ के लिये उत्कण्ठा जाग्रत होती है और वे भी साधना द्वारा इस जन्म या जन्मान्तर में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

ऊपर जिन तीन प्रकार के शक्तिपातों की चर्चा की गई है उनमें से प्रत्येक के पुनः तीव्र मध्य और मन्द भेद से तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार कुल नव भेद हुए। इन नव प्रकार के शक्तिपातों में भी प्रत्येक की गति त्वरित मध्य और मन्द होती है। अतः गतिभेद के कारण शक्तिपात के सत्ताईस भेद हो जाते हैं। फिर उनमें भी अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होता है तभी इस संसार की लीला अतिविचित्र है। सिद्धान्ततः यह समझना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी शक्तिपात के

अन्दर रह रहा है। चूंकि सब कुछ स्वयं शिव ही है अतः पारमार्थिक दृष्टि से स्व और पर ऐसा विभाग उनकी दृष्टि में नहीं है ; इस कारण उनके शक्तिपात में वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोष नहीं रहते ऐसा आचार्य अभिनवगुप्त का सिद्धान्त है।

शैवीसाधना—

मल—काश्मीर शैवदर्शन में मल का अर्थ है—अज्ञान।[1] अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं अपितु संकुचित या अधूरा ज्ञान है। जिस भूमिका में आत्मा के ज्ञान-संकोच का स्फुट आविर्भाव हो जाता है उस भूमिका में वह संकोच मल कहलाता हैं। यह मल या अज्ञान सूक्ष्मतर आकार में प्रकट होकर सृष्टि क्रम में आगे-आगे विकास को प्राप्त करता हुआ विकास की तीन भूमिकाओं में तीन मलों का रूप धारण करता है। ये तीन मल हैं—आणव, मायीय और कार्म। अणु का अर्थ है—छोटा या संकुचित। जब परमेश्वर अपनी पूर्णता और शुद्धसंवित्स्वरूपता को भूलकर संकुचित होता हुआ संकुचित वस्तु को ही अपना आप समझ बैठता हैं तो वह आणव मल से युक्त हो जाता है। ज्ञान तथा क्रिया के द्विविध संकोच से आणव मल भी दो प्रकार का होता है।[2] जब कोई प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के प्रभाव से संसार को परमेश्वर को तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझने लगता है तब प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच मायीय मल कहलाता है।[3] संकोच के विकास के कारण जीव को जब अपने किये गये विशेष कर्मों के प्रति अपनी कर्त्तृता का अभिमान हुआ करता है फिर उन कर्मों के संस्कार का भी वह पात्र बना रहता है उससे उसमें परिमित कर्मों की वासनायें भी छायी रहती हैं और ये वासनायें उसे भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने को बाध्य करती हुई संसार के चक्कर में फँसाये रखती हैं तो यह संकुचितकर्त्तृत्व का अभिमान तथा यह कर्म-वासना जीव का कार्म मल कहलाता है।[4] शैवी साधना इन्हीं मलों से मुक्ति पाने का मार्ग है।

---

१. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्। (मा० वि० तं० १.२३)

२. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाऽऽणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ (ई० प्र० २.२.४)

३. भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यं....(ई० प्र० २.२.५)

४. एवमेवैतदायुष्मंस्तथा ह्येवं विजानताम्।
न किञ्चन फलं क्वापि शुभाशुभसमुद्भवम्॥
इत्थं ये तु न जानन्ति भुञ्जते तेऽविपश्चितः।
तदेव कर्मसंज्ञं तु मलमज्ञानमूलकम्॥ (मा० वि० वा० १–३१४–३१५)

समावेश—जिस अवस्था में जीव अपनी परतन्त्रसत्ता की परतन्त्रता को दबा लेता है और अपने में शिवरूपता को समाविष्ट कर लेता है, अर्थात् अपने भीतर अटल शिवात्मकता को ले आता है उस अवस्था को समावेश कहते हैं ।[1] यह एक विशेष प्रकार का अभ्यास है । तीव्र इच्छाशक्ति के निर्विकल्पक प्रयोग से तथा सुदृढ़ कल्पनामय भावना के सविकल्पक प्रयोग से इसकी प्राप्ति होती है । सिद्ध योगी इच्छाशक्ति के प्रयोग से इसे तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । यह निम्नलिखित रूप से मुख्यतया चार प्रकार का होता है—

१. **अनुपाय**—जब गुरु किसी उत्कृष्टतर अधिकारी को—'तुम प्रकाशपरिपूर्ण स्वयं शुद्धसंवित् हो; समस्त उपाय तुम्हारी अपेक्षा मलिन हैं; वे तुम्हें प्रकाशित नहीं कर सकते । अतः बिना किसी उपाय के अपने अन्दर स्वयं परमेश्वरता का विमर्श करो ।'—ऐसा उपदेश सुनकर शिष्य, गुरु के अनुग्रह, दृष्टिपात, हस्तस्पर्श, दिये गये भोज्यपदार्थ के खाने इत्यादि से शिवभाव के समावेश का अनुभव करने लगता है । यही अनुपाय समावेश है । इसे आनन्दयोग भी कहते हैं । यह सर्वोत्तम योग है ।

शाम्भव उपाय—इस उपाय का दूसरा नाम इच्छायोग, इच्छोपाय या अभेदोपाय है । इसमें शरीर मन, बुद्धि या प्राण के द्वारा कोई साधना नहीं की जाती क्योंकि उस अवस्था में चित्त का भी प्रायः लय हो हो जाता है । यहाँ सभी क्रियायें शान्त रहती हैं और चित्त निश्चल रहता है । इस अचल स्थिति में रहकर स्वयं अपने में ही–स्वस्थिति में ही–ठहरने का अभ्यास किया जाता है । फलस्वरूप शिवभाव का अपने में झट समावेश हो जाता है ।[2] यही शाम्भवोपाय है । इसकी पूर्णपरिपक्वता अनुपाय की पृष्ठभूमि होती है ।

इस शाम्भवोपाय का एकप्रकार और है । जिसमें इच्छाशक्ति को ज्ञानशक्ति की थोड़ी सी सहायता मिलती है । इस साधना में यह विमर्श करना होता है कि 'यह समस्त जगत् मुझमें प्रतिबिम्बित होकर ठहरा है । यह प्रतिबिम्ब मेरे से अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है ।'—ऐसा विमर्श करते हुए ही अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों के इस प्रतिबिम्बन का साक्षात् अनुभव करना होता है । उन शक्तियों का आकार इस अभ्यास में 'अ' से लेकर 'ह' तक की वर्णमाला, जिन्हें मातृका कहते हैं, के रूप में अभिव्यक्त हो उठता है और उनके प्रतिबिम्ब शिव से लेकर पृथ्वी तक के समस्त

---

१. मुख्यत्वं कर्त्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः ।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ॥ (ई० प्र० ३. २. १२)

२. अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥ (मा० वि० तं०२.२३)

तत्त्वों के रूप में प्रकट हो जाते हैं। सोलह स्वर वर्ण शिवभाव के ही विविध चमत्कृत रूप हैं। आरोहावरोह क्रम से इन्हीं स्वरव्यंजनरूप मातृकाओं के अभ्यास के द्वारा समस्त जगत् की अपरोक्षानुभूति होती है और आगे चलकर ये मातृकायें ही शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में अभेदभाव से स्वयं अपनी ज्योति से चमकती हुई स्वयं प्रकाशित हो जाती हैं। इन मातृकाओं के साक्षात्कार का अभ्यास व्युत्क्रम से भी होता हैं जिसमें अभ्यास को 'न' से प्रारम्भ करते हैं और 'फ' पर उसकी समाप्ति करते हैं। इस प्रकार मातृका अक्षुब्ध और मालिनी क्षुब्ध वर्णमालायें हैं। उपर्युक्त दोनो प्रकार की वर्णमालायें परमेश्वर की विशेष शक्तियों की अभिव्यंजिका हैं। इनके अभ्यास को भी शाम्भवोपाय कहा जाता है।

शाक्तोपाय—शाक्तोपाय को शाक्तयोग, ज्ञानयोग, ज्ञानोपाय, भावनोपाय या भेदाभेदोपाय नाम दिया गया है। इस योग में शुद्ध विकल्पात्मक ज्ञान का अभ्यास करना पड़ता है। 'मै शुद्धसंवित्, सर्वतः परिपूर्ण, विश्वमय, विश्वाधार, विश्वाप्लुत हूँ। समस्त जागतिक प्रपञ्च मेरी ही शक्तियों की चित्रमयी अभिव्यक्ति है।'—यह भावना ही शुद्ध विकल्प है।[1] संक्षेप में यह जानना चाहिये कि शुद्धविद्या के अनुकूल जो कोई विकल्पज्ञान हो उसका पुनः पुनः अभ्यास हो ज्ञानयोग है। इस अभ्यास से शुद्धविकल्पात्मक ज्ञान साधक की बुद्धि पर इतनी दृढता से आरुढ हो जाता है कि उसकी सत्यता पर उसे अपने और मातापिता के बीच वर्त्तमान सम्बन्ध जैसा पक्का विश्वास हो जाता है। शाम्भवोपाय में साधना निरालम्ब होती है इस योग में चित्त सालम्ब होता है। उपर्युक्त शुद्धविकल्पात्मक ज्ञान को चित्त पर अंकित करने के विविध प्रकार हैं जिनके प्रतीकात्मक अथवा पारिभाषिक नाम याग, होम, व्रत, योग आदि हैं। यह शाक्तोपाय परिपक्व होने पर शाम्भवोपाय की पृष्ठभूमि बन जाता है।

आणवोपाय—इस उपाय के दूसरे नाम आणवयोग, क्रियायोग, क्रियोपाय भेदोपाय आदि हैं। अत्यधिक मल के कारण जो साधक शाम्भव और शाक्त उपायों के योग्य नहीं होते, काश्मीर शैवदर्शन के त्रिक आचार में उनके लिये आणवोपाय का उपदेश किया गया है। इसमें चित्त को अपने से भिन्न किसी भी वस्तु या अनेक वस्तुओं पर स्थिर कर भावना के द्वारा उन वस्तुओं को आत्मपरमेश्वर के रूप में समझने का अभ्यास किया जाता है। इसमें प्रमय वस्तु के प्रति धारणात्मक क्रिया का ही अंश प्रधान रहता है और ज्ञान का अंश अप्रधान होकर रहता है। इस

---

१. उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमभ्येति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ (मा० वि० तं० २.२२)

उपाय में अपने स्वरूप और अपने स्वभाव से भिन्न जो पदार्थ चित्त के आलम्बन बनते हैं वे मुख्यतया चार होते हैं–(१) साधक की बुद्धि। (२) साधक के प्राण (३) साधक का शरीर। (४) बाह्य प्रमेयजगत्। इस ध्यानयोग नामक आणवोपाय में साधक पहले प्रमाता प्रमेय और प्रमाण इन तीनों को भावना द्वारा संघट्टात्मक एकरूपता में देखता है। बाद में भावना द्वारा तीनों का एक रूप में साक्षात्कार करना पड़ता है[१] इस योग की परिपक्व अवस्था से शाक्तयोग साधना की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

शाक्त दृष्टि—

परमशिव की परमेश्वरता के, विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय, दो रूप हैं—यह पहले कहा जा चुका है। विश्वोत्तीर्णता परमशिव की अचलत्ता और कूटस्थता आदि होती है जबकि विश्वमयता उसकी स्पन्दमानता चलत्ता ईश्वरत्ता आदि हैं। इन दोनों प्रकारों की अस्तिता का अनुपम और परिपूर्ण सामरस्य ही परमशिव या परमेश्वर होता है। किसी भी दशा में न तो शिव शक्ति से रहित है और न शक्ति ही शिव से शून्य है।[२]

शिव की तीन भूमिकायें हैं—अभेद, भेदाभेद और भेद। इन्हीं तीन भूमिकाओं में शिव का अवरोहण और आरोहण होता रहता है। जिस स्वभावभूत शक्ति से वह अपनी इस लींला का सम्पादन करता है वह शक्ति मानो शिव का मुख है।[3] इसलिये शिव की जो कोई भी उपासना की जाय वह उसकी किसी न किसी शक्ति की उपासना होती है। उपासना का लक्ष्य बनने वाली समस्त देवतायें पारमेश्वरी शक्ति के ही भिन्न भिन्न व्यक्त रूप होते हैं। परिपूर्ण परमेश्वर में एक ओर परम शिव तत्त्व है और दूसरी ओर वह चित् शक्ति भी कहलाता है। इस प्रकार शिवतत्त्व आनन्दशक्ति और शक्ति तत्त्व इच्छाशक्ति का दूसरा नाम है।[४]

उस परमेश्वर की मुख्य शक्तियाँ पाँच हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। आचार्य सोमानन्द की शाक्त दृष्टि के अनुसार इनमें से चित् और आनन्द

---

१. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणवमुच्यते ॥ (मा० वि० तं० २.११)

२. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। (शि० दृ० ३.२)

३. शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदाऽसौ शिवरूपी स्याच्छैवीमुखमिहोच्यते ॥ (वि० भै० २०)

४. तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके ।
बिभर्ति रूपमिच्छातः.... .... ॥ (शि० दृ० १.२९-३०)

का सामरस्य परमेश्वर का स्वरूप है; इच्छा उसका स्वभाव है और ज्ञान तथा क्रिया उसके स्वभाव का विकास या फल हैं। ये मुख्य पाँच शक्तियाँ ही शिव के पाँच मुख हैं। परम शिव की इन अन्तरंग शक्तियों के स्पदन से ही उसी के भीतर सदैव शिवतत्त्व से लेकर महामाया तक के तत्त्वों के, शिवनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक के तत्त्वेश्वरों के और शाम्भव प्राणियों से लेकर मन्त्र प्राणियों तक के प्रमातृवर्गों के उदय और प्रलय अविरत गति से होते ही रहते हैं। यही कारण है कि इस शुद्ध सृष्टि के स्रष्टा और संहर्त्ता स्वयं परमशिव ही बने रहते हैं।

विद्या—विद्या परमेश्वर की छठीं शक्ति है। शैवदर्शन में विद्या के दो रूप हैं—शुद्ध विद्या और अशुद्ध विद्या। भेदमय प्रमातृप्रमेयप्रपञ्च में भी जो 'अहम् इदम्' इस प्रकार की अभेद दृष्टि है उसका नाम शुद्ध विद्या है। मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर आदि की यही दृष्टि होती है। जीव की वह संकुचित शक्ति, जिसके द्वारा वह अपने से भिन्न प्रमेय विषयों को जानता है, अशुद्ध विद्या कहलाती है। इस प्रकार शैव दर्शन में अविद्या या अज्ञान नाम की कोई चीज नहीं है।

महामाया—शुद्ध विद्या से कुछ निम्न स्तर की पारमेश्वरी शक्ति का नाम महामाया है। यह परमेश्वर की सातवीं शक्ति है। विज्ञानाकल प्राणियों का यही अधिष्ठान है।

माया—अवरोह क्रम में परमेश्वर की आठवीं शक्ति का नाम माया है। यह वेदान्त की माया जैसी किसी ब्रह्म आदि की उपाधि नहीं अपितु परमेश्वर की अनिरुद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति का दूसरा नाम है। इसी की महिमा से वह परमेश्वर होता है। इसी के स्पन्दन से शुद्धसृष्टि का अवभासन होता है। शिव के भीतर भेद के अवभासन के प्रति जो उन्मुखता होती है उसे भी मायाशक्ति कहा जाता है। भेदभूमिका में यही प्राणियों की भेददृष्टि बनकर मायामल का रूप धारण करती है। यही प्रमाता की स्वच्छप्रकाशता को छीनकर उसे जडता प्रदान करती है और यही अगली तत्त्वसृष्टि का उपादान कारण भी बनती है क्योंकि यही प्रथम जडतत्त्व होता है। परमेश्वर की माया शक्ति ही इस मायातत्त्व की सर्जिका है।

परमेश्वर की उपर्युक्त पाँच शक्तियों के अतिरिक्त इस भेदमय प्रपञ्च को चलाने वाली परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ हुआ करती हैं। इस भूलोक में जितनी मानव-संख्या है उससे बहुत अधिक परमेश्वर की इन शक्तियों की संख्या है। द्वादशकाली, अघोर, घोर और घोरतर शक्तियाँ सब उसी की निग्रह और अनुग्रह लीला को चलाने वाली हैं। इनके अतिरिक्त प्राणी की इन्द्रियों में काम करने वाली शैवी शक्तियों की भी कल्पना है। उन्हें इन्द्रियदेवता या करणेश्वरीचक्र कहते हैं।

उपसंहार—

काश्मीर शैवदर्शन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि यह दर्शन सिद्धान्तपक्ष और प्रयोगपक्ष दोनों दृष्टियों से पूर्ण विकास को प्राप्त सर्वाङ्गसम्पन्न दर्शन है। क्या वैदिक सम्प्रदाय के छ आस्तिक दर्शन और क्या चार्वाक आदि छ नास्तिक दर्शन, सभी में मनीषीवर्ग को कुछ न कुछ न्यूनता की अनुभूति सदा से होती रही है। निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये पंचविंशति तत्त्वों से लेकर एक आत्मतत्त्व के साक्षात्कार को हेतु मानने वाले आस्तिक दर्शनों की अनेक मार्गों वाली भूलभुलैया में फंसकर मानवमस्तिष्क अपने को खोया खोया सा अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों का सिद्धान्त पक्ष इतने उच्च आदर्शों की स्थापना करता है कि पहले तो उनको व्यवहार में लाना ही दुष्कर है; और यदि तुष्यतु दुर्जनन्यायेन वे सिद्धान्त व्यवहार में आ भी जायें तो सांसारिक प्रगति में बाधा आने लगती हैं। काश्मीर शैवदर्शन इस प्रकार की दुर्बलताओं से अस्पृष्ट है। नवीं शती ईस्वी से लेकर ग्यारहवीं शती ई० के दो सौ वर्षों के अत्यल्प काल में पूर्ण विकास को प्राप्त होने वाले इस दर्शन में अनुभूति और तर्क दोनों दृष्टियों से किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रह पायी है। इस दर्शन के आचार्यों के पास शास्त्रीय पाण्डित्य के साथ-साथ साधनाद्वारा उपलब्ध गम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रचुर भण्डार भी था। अपनी दीर्घ आयु में संस्कृत वाङ्मय का साधिकार अध्ययन कर परिपक्व वय में हृदय और मस्तिष्क दोनों की परमोत्कृष्ट विभूतियों के साथ उन्होंने इस दर्शन का विकास अतीव सुन्दर सरल सुबोध और तर्कसंगत ढंग से किया। फलतः वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों की विसंगतियाँ यहाँ आकर सुसंगत हो गई।

भारतीय दर्शन के ऐसे रहस्य जो अब तक गूढ़ता की गुहा में निद्रित थे कश्मीर शैवदर्शन के घण्टानिनाद से उद्बुद्ध होकर जनमानस के सामने आ गये। तीनों गुणों का स्वभाव; इस स्वभाव का कारण, गुणों की उत्पत्ति तथा विकास और संसार, कर्म; अविद्या प्रभृति को सादिता अनादिता आदि को ग्रन्थियाँ काश्मीर शैवदर्शन में ही आकर खुलती हैं। संसार का मिथ्यात्व या सत्यत्व, देशकाल सम्बन्ध का स्वरूप, स्वभाव और मूलकारण आदि का युक्तियुक्त और समुचित प्रतिपादन इसी दर्शन में हो पाया है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के बारे में यथार्थवाद की दृष्टि का आश्रय लेते हुए पाठक और साधक दोनों को जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के बीच से ले जाकर तुर्या की क्रमशः उच्च उच्चतर और उच्चतम भूमिका में पहुँचाना काश्मीर शैवदर्शन की अपनी विशेषता है। इसीलिये यह दर्शन वाद नहीं

बल्कि सिद्धान्त कहलाता है। काश्मीर शैवदर्शन का स्वातन्त्र्य सिद्धान्त ही सनातन सिद्धान्त है। न्यायवैशेषिक का आरम्भवाद, सांख्ययोग का परिणामवाद, व्याकरण और वेदान्त का विवर्त्त और आभासवाद ये सब परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के विलास की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में ही अभिव्यक्त होते रहते हैं।

काश्मीर शैवदर्शन संसार को यथार्थ मानता है। अतः अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनो इस दर्शन के उच्चतम लक्ष्य हैं। इस दर्शन की एक और विशेषता है, वह यह कि इस दर्शन का अधिकारी ऐसा कोई भी मानव हो सकता है जिसके हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो और तत्त्व की जिज्ञासा हो। देश, जाति, कर्म, समाज, परिवार आदि का बन्धन यहाँ नहीं है। इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—'यस्य कस्य जन्तोरिति नात्र जात्याद्यपेक्षा काचित्'।[1] तथा तंत्रालोक में स्वयं शिव का भी वचन है—

न मे प्रियश्चतुर्वेदो मद्भक्तः श्वपचोऽपि वा।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥

१. ई० प्र० वि० ४. १. १८।

शिवदृष्टि : प्रतिपाद्यविषय

शिवदृष्टि, त्र्यम्बकदर्शन, अद्वैत शैवदर्शन, पराद्वैतदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन इत्यादि अनेक संज्ञा वाले काश्मीर शैवदर्शन का मूल उत्स है। यह एक प्रकरण ग्रन्थ है। नवीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान आचार्य सोमानन्दनाथ ने इस ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है--

"करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्टचभिधानकम् ।"[1]

"तदेवमेतद् विहितं मया प्रकरणं मनाक् ।"[2]

'शिव' शब्द का अर्थ है—परमसत्ता और 'दृष्टि' शब्द का अर्थ है--दर्शन। इसप्रकार 'शिवदृष्टि' शीर्षक अद्वैत शैवदर्शन की उस सम्पूर्णता का द्योतक है जिसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ का एक दूसरा नाम 'त्र्यम्बका' भी है—

"एवमेषा त्र्यम्बकाख्या तेरम्बा देशभाषया
स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता ।"[3]

सम्पूर्णग्रन्थ श्लोकबद्ध है। रचना अनुष्टुप छन्द में है। शिवदृष्टि के ऊपर महामाहेश्वर उत्पलदेवाचार्य विरचित 'वृत्ति' नामक एक टीका चतुर्थ आह्निक के ७४ वें श्लोक तक ही उपलब्ध है। इसमें भी तृतीय आह्निक के ६ठें तथा ९वें श्लोकों; चतुर्थ आह्निक के २४ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक की टीका खण्डित अर्थात् अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्तद्वारा रचित 'शिवदृष्टयालोचन' नामक एक और टीका की चर्चा काश्मीरसंस्करण की भूमिका में मिलती है पर वह अभी तक अनुपलब्ध है।

शिवदृष्टि सात आह्निकों में विभक्त है। उन आह्निकों के विषय निम्नलिखित हैं--

प्रथम आह्निक—समस्त पदार्थों में शिवतत्त्व ही स्फुरित है। उसकी इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपा तीन शक्तियाँ जब समरस अवस्था में रहती हैं तब यह उसकी चिद्रूपाह्लादस्वरूप, निर्विभाग, पर, विश्वोत्तीर्ण अवस्था होती है। अपने वैभव के

---

१. शि० दृ० ७. १२१।

२. वही ७. १२२।

३ वही ७. १२१।

आमोद से जब वह उल्लसित होता है तब उसकी वह स्थिति औन्मुख्य या उच्छूनता कहलाती है। इस उच्छूनता का किञ्चित् विस्तार ही उसकी इच्छाशक्ति है, ज्ञान और क्रिया उसी उल्लास के क्रमशः विस्तृत और स्थूलतर स्वरूप हैं। इच्छाशक्ति से वह स्वयं को रूपवान् बनाता है, ज्ञानशक्ति से सदाशिव, क्रियाशक्ति से ईश्वर और इसी प्रकार अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों से वह मन्त्रमहेश्वर आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उस प्रमोदात्मा परमशिव का यह कृत्य मात्र उसकी क्रीडा है। मूलतः सभी पदार्थ पूर्णशिवस्वरूप हैं। पर अपर आदि का भेद मात्र अविद्या के कारण है। नानात्मक होते हुए भी सब कुछ परमशिवस्वरूप होने के कारण सर्वथा सत्य है।

द्वितीय आह्निक—वैयाकरण लोग पश्यन्ती को ही परमतत्त्व या शब्दब्रह्म मानते हैं। सोमानन्द का कथन है कि पश्यन्ती इन्द्रियमात्र है। उसका पश्यन्ती नाम उसकी सकर्मक क्रियावत्ता को प्रदर्शित करता है। "अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा" इत्यादि वचन सर्वथा असङ्गत हैं क्योंकि पश्यन्ती नाम और उक्त लक्षण दोनों परस्पर विसंगत हैं। पश्यन्ती स्फोटरूप भी नहीं है। सत्य तो यह है कि परमशिव की ज्ञानरूपा शक्ति, जो शैवमत में सदाशिव कहलाती है, वैयाकरण मत में पश्यन्ती है। जिस प्रकार विश्व के अन्य पदार्थ शिवस्वरूप हैं उसी प्रकार वागिन्द्रिय अर्थात् पश्यन्ती भी शिवरूप ही है। यही परमशिव बिन्दु रूप में परावाक्, अनन्त अक्रम नादरूप में पश्यन्ती और अर्थोत्पत्ति के समय मध्यमा तथा भेदमय व्यवहार के समय वैखरी वाणी के रूप में उल्लसित होते हैं।

तृतीय आह्निक—जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है वह शिव शक्ति से तथा शक्ति शिव से रहित कभी भी नहीं होते और न इन दोनों में परस्पर मेल ही है। समस्त ज्ञान में समस्त आकार में सर्वत्र शिव ही अपनी शक्ति से समाविष्ट हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शिव सुवर्ण आदि के समान विकार को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे असीम अनन्त और स्वतन्त्र हैं। योगी के समान उनकी इच्छा शक्ति से ही सब कुछ उल्लसित होता है। भेद की कल्पना तो व्यवहार के लिये है। बन्ध मोक्ष भी परमार्थतः नहीं हैं। व्यवहारजगत् में जो कुछ हो रहा है वह सब उनकी इच्छाशक्ति का लीलाविलास है।

चतुर्थ आह्निक—इस विश्वब्रह्माण्ड में कोई भी पदार्थ शक्ति से शून्य नहीं है। इसप्रकार यदि बहुत से शक्तिमानों की कल्पना की जाय तो सर्वशक्तिमानों के स्वतन्त्र होने के कारण सर्वस्वातन्त्र्यरूप अतिप्रसङ्ग दोष आने लगेगा। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि संसार के सभी शक्तिमान् पदार्थ सापेक्ष हैं। केवल एक

परमशिव ही घट पट आदि अनेक स्वभाव वाली शक्तियों से अभिन्न शक्तिमान् एवं निरपेक्ष या स्वतन्त्र है। समस्त पदार्थों में परमार्थतः वही चित्स्वरूप है। जैसे असत्य कागज के नोट राजाज्ञा के कारण सत्यात्मक व्यवहृत होते हैं उसीप्रकार अन्य दर्शनों के अनुसार मिथ्या भी यह संसार उसी की इच्छा से सत्य प्रतीत होता है। अतः यह भी सत्य है मिथ्या नहीं। यहाँ तक कि शशशृङ्ग आदि भी सत्य हैं क्योंकि पद के रूप में प्रयुक्त वे शब्द निरर्थक प्रतीत नहीं होते। यह संसार न तो ईश्वर के द्वारा परमाणुओं से उत्पन्न किया जाता है और न ब्रह्म का विवर्त्त है। स्वयं शिव ही अपने स्वातन्त्र्यवश नानारूपों में उल्लसित हो रहे हैं। इसी कारण इस संसार का नाश भी नहीं होता। अर्थात् यह संसार न तो क्षणिक है और न स्फोटतत्त्वात्मक ही। शिबिकोद्वाहकन्यायेन समस्त पदार्थों में एकमात्र शिव ही व्यवस्थित हैं।

पञ्चम आह्निक—इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं चूँकि सभी इच्छा ज्ञान क्रिया वाले हैं; चूँकि सर्वत्र निर्वृति का साहचर्य है यहाँ तक कि दुःख में भी धैर्य देखा जाता है और चूँकि घट आदि जड़ पदार्थ भी सत्तारूप क्रिया वाले होते हैं, अतः सर्वत्र चित्सत्ता का ही उल्लास समझना चाहिये। किसी को किसी भी पदार्थ का, अनुमान या शब्द आदि किसी भी प्रमाण से, ज्ञान सम्भव नहीं है। इस विषय में बौद्धों का क्षणभङ्गवाद भी युक्तियुक्त नहीं है। चूँकि सद्योजात शिशु आदि की, अशिक्षित होते हुए भी, स्तनपान आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जड़ चेतन सभी पदार्थ सर्वज्ञ हैं। सभी अपने को जानते हैं। सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं और इसप्रकार शिव ही नानारूपों में अपने को जानते हुए स्थित हैं। अर्थात् सब कुछ शिवरूप ही है।

षष्ठ आह्निक—उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की अनेकरूपता, पाञ्चरात्रों का वासुदेवब्रह्मवाद, श्रीमद्भगवद्गीता का विश्वरूपवाद, जैनों का अनेकजीववाद, सांख्यों का आत्मस्वातन्त्र्यवाद, न्यायवैशेषिक का ईश्वरनिमित्तकारणतावाद, कालकारणतावाद, बौद्धों का विज्ञानवाद तथा क्षणभङ्गवाद इन सबमें अविद्या की कल्पना करनी ही पड़ती हैं। फलतः सर्वत्र भेदवाद स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद, शून्यवाद, क्षणभङ्गवाद आदि में और भी अनेक दोष आते हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि एक ही तत्त्व सर्वत्र स्थित है। अनेक तत्त्व मानने पर अनेक नायकों को मानना पड़ेगा; फिर अनेक नायक अनेक पञ्चकृत्य करेंगे फलतः कोई क्रिया नहीं होगी और संसार की सृष्टि स्थिति ही असम्भव हो जायगी। इसलिए यही परम सिद्धान्त है कि एक ही शिव अनेक रूपों में स्थित हैं और अनेक पदार्थ भी एक

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वरोत्पलदेवाचार्यविरचित-
वृत्तिविभूषिता

शिवदृष्टिः



प्रथममाह्निकम्

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ॥१॥

वृत्तिः

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने ।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे ॥१॥

टिप्पणी—विषमचक्षुष इति—यद्धि प्रमाणप्रमेयलक्षणं विश्वं तद्भेदाभासेन मिथ्यैवेति नेत्रद्वितयेन द्योत्यते भगवता । परमार्थतस्तद्वत्तायामपि स्वात्मस्फुरत्तामात्ररूपत्वादस्य विश्वस्य न कापि भेदकलङ्कदोषकल्पनेति तृतीयनेत्रेण द्योत्यत इति । तच्च भगवत एव अन्यस्य तु न, भेदाविष्टातृत्वादिति । ततश्च तत्रैव नमस्कारो युक्तः । अन्यत्र तु किं फलमिति **वाक्यार्थसमन्वयदीपिकायां** निर्णीतमिति । तदेव

चिन्मयी

यस्याः पद्ममुखादजायत विधिर्विश्वस्य कर्त्ता प्रभु-
यामद्यापि भुवः सुराः प्रतिदिनं ध्यायन्ति कालत्रयम् ।
मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायाननां तामहं
वेदानां जननीं स्मराम्यवनतो निर्विघ्नतावाप्तये ॥

अस्मद् अर्थात् नमस्कर्त्ता रूप में समाविष्ट शिव, स्वयं अर्थात् वाणी, मन आदि करण रूप के द्वारा, स्वयं अर्थात् विघ्न के निवारणार्थ, अपनी शक्ति से आत्म-विस्तार करनेवाले शिव को नमस्कार करें । (यहाँ नमस्कारकर्त्ता, नमस्कार के करण, विघ्न और नमस्कार्य सब कुछ शिव ही हैं—इस संकेत के द्वारा शैवदर्शन का मूलतत्त्व भी संकेतित है) ॥१॥

विश्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदितः ।
पद्मानन्दाभिधानेन तथा सब्रह्मचारिणा ॥२॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुर्निर्मिते ।
शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि षदसङ्गतिम् ॥३॥

प्रकृतशास्त्रानुसारेणेष्टदेवतानमस्कारं करोति शास्त्रकारः **अस्मद्रूपेति**—

योऽहं नमस्करोमि स शिवोऽस्मद्रूपेणैक्यं प्राप्तः । वस्तुस्थित्या हि सर्वतत्वविग्रहो वक्ष्यमाणनीत्या शिवः । स संसारार्थं मायाशक्तिकृतैक्याख्यात्या भावाननात्मस्थानाभासयति **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा**प्रपञ्चितन्यायेन । ततस्तान् प्राणादीन् पुनः कांश्चिल्लोक-

---

समर्थयति—**स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने** इति । स्वाङ्ग इति न तु व्यतिरिक्ते क्वचन । यदुक्तं पूर्वगुरुणा—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तमै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ इति ।
(स्त० चि० ५)

भगवता वीरेण व्यासेनापि—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ इति ।
(भ० गी० १४.१)

कालिकाकारविश्वचित्रेणापि नास्य स्वरूपान्यथाभाव इत्याकाशसाम्यं व्यतिरेकध्वनिश्च । निर्भित्तावेव चित्रविधानमिति महदाश्चर्यम् ।

स ब्रह्मचारिणेति—"एकब्रह्मव्रताचारा मिथः स ब्रह्मचारिणः" इति कोशः । **प्रकृतशास्त्रेति**—प्रकृतशास्त्रं शैवाद्वैतनयः । अयमत्र सूक्ष्मार्थः—शास्त्रादौ 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।' इति नयेनावश्यं तदुत्पुंसनार्थं नमस्कारो विधेयः । येन प्रस्फुरत्तन्महौजसा विघ्नाः कुण्ठशक्तयो न प्रभवन्ति । तत्र सर्वस्याप्रकाशत्वेनासिद्धया कि केन कस्य निरसनमित्याशयेनाह—**प्रकृतेत्यादि** । तथा च विश्वात्मनो विततरूपस्यानन्तशक्तेर्नमस्करणीयत्वम् । संकुचितसदाशिवादिज्ञानशक्तिस्वरूपपश्यन्तीधामासूत्रितस्वातन्त्र्यहानिस्वातन्त्र्यबोधात्मकस्य परोस्ततत्कर्तृत्वं तस्यैव संकुचितस्यापि तद्गुणोकारस्वरूपेण विश्रमेण गृहीतस्पन्दस्वरूपशाक्तमहिम्नोऽपि करणत्वमिति ।

स इति—मायाशक्तिकृतैक्याख्यातिभाजनभूतास्मद्रूपप्रमातृभूमौ समाविष्टः । **तत इति**-अनात्मस्थत्वे । **लोकेति**—प्रमेयभेदेनैव प्रमातृभेद इत्याशयं सूचयति **लोकयात्रासु** इत्यादिना । **यात्रा** = व्यवहारः । **अनयैवेति**—यथाभिन्नी-

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥२॥

यात्रासु अस्मद्रूपप्रमातृभेदेन स्थापयिष्यन् भिन्नीकृतान् प्रमेयानपि घटपटादि-वैलक्षण्येनात्माभेदेन पश्यन् समाविशति इत्युच्यते। यावत्या च मात्रया समावेशस्तावन्मात्रसिद्धिसम्भवः। प्रथमस्तावत् कर्त्तृतानुसारी ज्ञानक्रियायोगः। यथोक्तं **स्पन्दशास्त्रे**—

न हीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्त्तते।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ इति।
(स्प० का० १.८)

तथाऽन्यत्रोक्तम्––'ऐश्वरी प्रवृत्तिः' इति। अनयैव दृष्टया तत्तदृद्ध्यर्थ-मधिकतरः समावेशोऽभ्यसनीयः स्वप्रयत्नेनापीत्येतदपि सूचितम्। **समाविष्टश्च** शिवोऽपीत्युच्यते देवदत्तादिरपि च, उभयोरैक्यगमनाविशेषात्। स तथाविधः **शिवः** **ततात्मने** = परापररूपभगवत्सदाशिवादिप्रसरणमुखेनानन्तविस्ताराय निजस्वरूपाय परमशिवसंज्ञाय **नमस्करोतु**। लोट् निमन्त्रणादौ नमस्तेऽस्तु इतिवत्। वयं शिवात्मानः परमेश्वराय नमस्करवामेत्यर्थः। परत्वेन प्रथमपुरुषप्रयोगोऽकिञ्चिद्रूपत्वेन कृत्रिमाहंभावस्य कर्त्तृतामात्रं तत्त्वमिति दर्शनार्थः। सर्वं च शिवमयमिति नमस्कारे वाङ्मनसादिकरणमपि शिव एव। तदाह—**स्वात्मनेति**।

कृतानपि प्राणादीन् प्रमेयानात्माभेदेन पश्यति तथैव सर्वमपि व्याप्यमित्यर्थः। **निमन्त्रणादाविति**—नियोगकरणं निमन्त्रणम्, आवश्यके प्रेरणा इत्यर्थः। ततश्चा-प्रवृत्तप्रैष इति फलितोऽर्थः। तेन प्रेवणानवकाश एवेत्यर्थः। तदुक्तं **हरिणा**—

अप्रवृत्तस्य हि प्रैषे पृच्छ्यादेर्लोड् विधीयते।
प्रवृत्तस्य यदा प्रैषस्तदा स विषयो णिचः ॥ इति।

तेन '**करोतु**' इत्यत्रान्यप्रेरकत्वमिति न भ्रमितव्यम्।

एतेनेति––अयं श्लोको नमस्कारैकपरमार्थोऽपि प्रयुक्त इहोदाहरणीकृत एव मन्तव्य इत्याह––**गमनभोजनादिका** इति। तेनाभ्यवहारगमनजल्पसंवेशनादिकं कारकैर्भेदप्रथाभासकं फलेन च कार्यकारणभावाभासकं तत्सर्वं तस्यैव ततात्मनः स्फुरणमात्रमेव मन्तव्यमिति भावः। **सयुक्तिकमिति**––अनुभवानुसारी तर्को युक्तिः।

समस्त भावों में आत्मस्वरूप शिव का ही व्यवहार होना चाहिए क्योंकि वे निर्वृतचित्स्वरूप हैं। वे ही सर्वत्र इच्छा ज्ञान और क्रिया रूप में भासमान हैं। और इस प्रकार वे शिव ही अव्याहत इच्छाप्रसार वाले तथा ज्ञान और क्रिया के प्रसार वाले हैं ॥२॥

विघ्ना अपि तदात्मान एव निवार्याः तदाह—**आत्मनिवारण** इति। नमस्कारे चास्मदीयेच्छादिशक्तिः शैव्येवेत्याह—**निजया शक्त्या** इति। एतेन सर्वा एव क्रियाः सकारकाः सफलाश्च गमनभोजनादिका एवमेवानुगन्तव्या इति दर्शितम् ॥१॥ इदानीं समस्तशास्त्रार्थं संक्षेपेण सयुक्तिकं प्रतिजानीते—**आत्मैवेति**।

सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्त्तव्यमिति प्रतिज्ञा। **निर्वृतचिदित्यादि**-विशेषणकलापो हेतुः। **स्फुरन्** इति धर्मिणो हेतोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणम्। अत एव **स्फुरन्** इति पृथक् पदम्। निर्वृतचित्त्वाद्येव च शिवत्वमित्यर्थाच्छिवलक्षण-मपि दर्शितम्। तस्मिंश्च सिद्धे विषये, शिवत्वव्यवहारमात्रं तद्विषयं साध्यत **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञोक्त**क्रमेण। यथा च चिन्निर्वृतीच्छाज्ञानक्रिया घटपटपर्यन्तसर्वभावेषु भास-

---

चिद्विभुरिति—स्वप्रकाश एवेत्यर्थः। **अनिरुद्धेति**—अहंप्रथात्वेन स्वातन्त्र्यात्। **प्रसरदिति**—घटादीनां यत् पार्यन्तिकं पारमार्थिकं रूपं स एव। **शिव इति**—अयमर्थः—सर्वभावानां य आत्मा वेद्यताख्यः स एव शिव इति। तं विना "प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्।" (ई० प्र० १.५.२) इति नीत्या सवन्ध्यप्रसङ्गः। अत एव च न बाह्यं नाम किञ्चन परमार्थतो विद्यते। एवं चार्थस्य प्रकाशत्वे प्रकाशोऽप्यर्थोऽर्थोऽपि प्रकाश इति भावगर्भीकारेण **व्यासमुनिना गीतासूक्तम्**—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। (६.३०) इति। तथा—सर्वभूतस्थ-मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि (६.२९) इति च। वृत्तिकृता चान्यत्रोक्तम्—अर्थानां प्रकाशात्मतया परमात्मत्वेन विश्वरूपत्वात्।' अन्यत्रोक्तम्—एकैकत्र च तत्त्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता विद्यते।' इति। तथा वेदान्तिनोऽप्याहुः—'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तोऽविकल्प्यश्च।' इति। अत एव च शरीरमेव च ये षट्-त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति, अर्चयन्ति, तेऽपि सिध्यन्ति घटादिकमपि वा तथाभिनिविश्य पश्यन्तीति नास्त्यत्र विवादः।

प्रतिज्ञेति—परप्रतीत्यै पञ्चावयवं वाक्यमुदाहरणीकरोति प्रतिज्ञेति। ससाध्यं पक्षकथनं प्रतिज्ञा। **हेतुरिति**—लिङ्गवाचको हेतुः। **धर्मिणः** = स्वात्मैव शिव इत्यस्य। **हेतोश्च** = निर्वृतचिदित्यस्य। **प्रमाणमिति**—अनुमानं हि प्रत्यक्षमूलम्। **निर्वृतचित्त्वाद्येवेति**—निर्वृतिः = स्वप्रकाशस्वरूपविश्रान्तिः, आनन्दलक्षणा, तत्र नित्ययोगे मत्वर्थेऽच्प्रत्ययः। तेन चितः समासकरणं वृत्तौ पदानामेकार्थीभावात् अत्यन्तावियोगमेकार्थीभूततां च प्रकाशानन्दयोर्दर्शयद् विज्ञानानन्दरूपस्य भगवतो धर्मित्वं कथयति। उक्तं **चेश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्**—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं　प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥ (२.१.३) इति।

स यदाऽऽस्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः ।
तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा ॥३॥

मानेषु स्फुरन्ति तथाऽग्रतो वक्ष्यते । शक्तिशक्तिमतोरभेदात् शक्तिमतश्चैक्यात् शक्तिपञ्चकं परापराद्यवस्था व्यवहर्तृप्रमात्रपेक्षयेतीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या पुरस्ताद् वक्ष्यते । निर्वृता = वेद्यनिराकांक्षा = पूर्णा चिद् यस्य सः, तथा **विभुः**, आत्मसात्कृतसमस्तवेद्यार्थः । अनिरुद्धः इच्छाप्रसरो यस्य । प्रसरन्त्यौ दृक् = ज्ञानं क्रिया च यस्य स, तथालक्षणः **शिवः** सर्वेष्वात्मैव ॥२॥

एवं सर्वं शिवरूपमिति स्वसंवेदनसिद्धे व्यवहारमात्रं साध्यमिति स्थिते वाद्यन्तरविमतिं निराकरिष्यन् परदशातः प्रभृति घटपटादिस्थितिपर्यन्तमेवंरूपशिवताऽवस्थितिसादृश्यप्रतिपादनं प्रस्तौति—स यदेति । शिवैक्याख्यातिरूपभ्रान्तिमयसंसारावस्था यावन्नोन्मिषति तावदपि तावत्येवोक्तरूपशिवता । तथा च शक्तिपञ्चकमपि तदानीमेकरूपमपि व्यवहारापेक्षया कार्यसम्भवादस्त्येव । तथा हि—परापरावस्थायां योऽहमिति सहजप्रत्यवमर्शात्मा प्रकाशः स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो निर्वृतचिन्मयः स्थित एव । सैव स्वतन्त्रा मुख्या शिवता । तदुक्तम्—**चिदाह्लादेति** । पूर्णचिदानन्दमात्रेऽनुभवः = प्रकाशनं न तु बाह्ये, तत एव तत्रैव**लयो यस्य** स तथा । अनेन निर्वृतचित् कथिता । इच्छाज्ञानक्रियास्तु भिन्नविषयाद्य-

तथाऽग्रत इति—**'घटादिग्रह'** इत्यादि श्लोके । **शक्तिशक्तिमतोरिति**—अत्र शक्तिपञ्चकेनैव भेदमाशङ्क्याह—शक्तिशक्तीत्यादि । **शक्तिमतश्चेति**—तस्य स्वात्मन्यपि भेदमाशङ्क्याह—**शक्तिमतश्चेत्यादि** । **परापरेति—सदाशिवत्वमुद्रेकादित्यादि**-श्लोके ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञेति—ऐक्ये सिद्धे पूर्णत्वस्य बलादेव लाभ इति व्यतिरिक्ताकाङ्क्षावैकल्यात् ।

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्त्तितः ।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ॥
स्वातन्त्र्यमथकर्तृत्वं मुख्यमीश्वरताऽपि च ॥ इति ।

(अ० प्र० सि० २३)

परमानन्द स्वभाव इत्यर्थः । **अनिरुद्धेति**–यतः सर्वभावेषु 'आत्मा 'अहम्' इति स्वतन्त्रः तत एव । **दृक्ज्ञानमिति**—प्रकाशो विमर्शश्च ।

जब वे शिव पूर्ण चिदानन्दमात्र में (न कि बाहर) प्रकाशित होते रहते हैं और उसी में उनका लय होता रहता है तो उस समय उनकी समस्त इच्छा सारा ज्ञान और सम्पूर्ण क्रिया सब कुछ उनमें लीन रहती है ॥३॥

सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्त्तते ।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ ४ ॥

पेक्षया स्फुटीभवन्ति । परावस्थायां पुनः 'पूर्णोऽहम्' इत्येव स्वस्वभावः प्रकाशते । तावत्प्रकाशत्वात् तदेव ज्ञानम्, संरम्भरूपत्वात् सैव क्रिया । तत्स्वभावेन तदभ्युपगमादिच्छाऽपि स्थितैवेत्याह—**तदिच्छा तावतीति** । तावच्च स्वरूपं क्रियेति योज्यम् । अथवा **तावज्ज्ञानमिति** तावच्छब्दः क्रियायां स्त्रीलिङ्गः परिणमनीयः । द्वितीयस्त्वन्ते तावच्छब्दः क्रमार्थः परापराद्यवस्थापेक्षः ॥३॥

अत एव भिन्नविषयाभावेऽपि अभ्युपगमप्रकाशसंरम्भाणां सर्वदा प्रकाशमयत्वेनाविचलनादिच्छादिव्यवहारयोग्यतैवेत्युक्तम्—**सुसूक्ष्मेति** । सुसूक्ष्मत्वमेषितव्याद्यभावेन विभागापरिकल्पनात् । अत एव शक्तिसामरस्यं पूर्णचिन्मात्रप्रकाशनात्मत्वात् **चिद्रूपाह्लादपरत्वं** चोक्तम् । सैव च निर्विभागता परावस्था यदैवमास्ते **परस्तदे**त्युक्ता ॥ ४ ॥

अन्यदशायामपि सा तथाभूतज्ञेयादिशून्यशुद्धपरशिवावस्थाऽस्तीत्याह—**न परमिति** ।

वाद्यन्तरेति—वेदान्तानां भिन्नवेद्यवादिनां च । **तावतीति**—कथितव्यापिका । **कार्येति**—कार्येण कारणानुमानम् । **तथेति**—तत्रादौ परापरावस्थायाश्चिदानन्दतां समर्थयति । **तत** इति—चिदानन्दमात्रव्यतिरिक्तस्य भिन्नज्ञानवदभावात्तत एव प्रकाशस्तत्रैव लयश्च ।

भिन्नेति—तेन न भिन्नविषयाप्रविभागदशायां व्यभिचार इति भावः । अनेन संविदानन्दमात्मनः सर्वत्रैकरूपत्वेनानपायित्वेन धर्मिरूपेण शक्तिमदात्मनाऽवस्थितस्य भगवतः स्वातन्त्र्योद्रेकबलेनोन्मेष्यमाणानां चेच्छादीनां शक्तित्वं द्योतितम् । **परिणमनीय** इति—तावती क्रियेत्यर्थः । **परापरेति**—परावस्थायां क्रमाभावात् । अभ्युपगमः = इच्छा । प्रकाशः = ज्ञानम् । संरम्भः = क्रिया । **सर्वदेति**—अव्यभिचारेणेत्यर्थः । **सुसूक्ष्मेति**—सुसूक्ष्मतयैवात्र स्थूलदर्शिनां विशुद्धबोधात्मवादिनां विकल्पपक्षीकृतविमर्शानां भ्रान्तिरित्यर्थः ।

अन्यदशेति—घटपटादिरूपभेदप्रथारूपायामित्यर्थः ।

न परमिति—ननु पूर्वम् **'आत्मैव सर्वभावेषु'** इत्यनेन सर्वपदार्थानामात्माकार एव

उस समय इच्छा ज्ञान और क्रिया ये तीनों सूक्ष्म शक्तियाँ समरस अवस्था (equilibrium) में रहती हैं । और इसीलिए वह चिद्रूप आह्लादस्वरूप परमशिव की निर्विभाग अवस्था होती है । वही परावस्था है ॥४॥

न परं तदवस्थायां व्यवस्थैषा व्यवस्थिता ।
यावत्समग्रज्ञानाग्रज्ञातृस्पर्शदशास्वपि ॥ ५ ॥

न केवलं परापराद्यनाविर्भाव एवैवं नियमः, यावदपरावस्थायामपि । सर्वविकल्पादिज्ञानानामग्रत उत्पित्सावस्थायां ज्ञानज्ञेयानाविलज्ञातृस्वरूपसंस्पर्शोऽवश्यं भावीति तदवस्थास्वपि परव्यवस्था । यद्यपि तदा पुर्यष्टकलक्षणज्ञात्रवस्थानात् सौषुप्तवत् न परावस्था, तथापि यदा ज्ञानाग्रभागेषु विश्राम्यति क्वचित् तदा परता । न च प्रमाणभूमौ विश्रान्तिः, तत्रापि प्राणस्पन्दात्मकज्ञेयव्याकुलितत्वात् । ततः प्राणादिज्ञेयज्ञानस्याप्यग्रतो विश्रान्तिः । वस्तुतः सौषुप्ताग्रभागिनी परता स्थितैव, लक्ष्यते च, प्रकाशस्यालक्ष्यमाणत्वाभावात् । तथा फलेऽपि मयैतज्ज्ञातमिति प्रमाणफलभूतज्ञानान्तरोदये तदा ज्ञानमात्रे निर्वृतिमति विश्रान्त्या । अथवा यथा समग्रज्ञानानामारम्भे, तथा फले परिसमाप्तौ तत्रैव विश्रान्त्या । तद्विश्रान्तिं विना अर्थो ज्ञात एव न भवति ।

समग्रत्वमनेकप्रकारकत्वेन ज्ञानानां मध्यदशायामेव प्रत्यगात्मत्वेन । पूर्वापरकोटयोस्तु एकविशुद्धशिवतैव सर्वेषाम् । एतच्चे**श्वरप्रत्यभिज्ञायां** परीक्ष्यम् ॥५॥

वेद्यताख्योऽस्ति शिव इति स्थापितं तदेव समर्थनीयम्, कृतमनयोक्त्या **'स यदाऽऽस्ते'** इत्यादिकया; यतः प्रकृतमपहायान्यद् ब्रुवत उन्मत्तभाषणमिति प्रकृतविघाताख्यं दोषमाशङ्क्याह—**न परमिति** । तत्रादौ शक्तिमत्स्वरूपमेव व्यवस्थापितम्, तस्मिंश्च सिद्धे मूलकारणेऽन्यद्वर्ण्यमानं निर्भित्तिचित्रन्यायेनान्यथा घटमानं सेत्स्यतीति भावः ।

नियम इति—सर्वशक्तिसामरस्यस्वरूपशक्तिमदवश्यंभावः । **उत्पित्सेति**—उत्पतितुमिच्छा उत्पित्सा । यद्यपीति—ननु चास्तु तत्र ज्ञानज्ञेयानाविलज्ञातृस्वरूपस्पर्शस्तथापि कथं परव्यवस्था ? नहि तेनैव तद्भावः, अस्ति च तादृक्स्वरूपं सौषुप्तम्, यतो मलेन न्यक्कृतः कलया तु प्रबुद्धः इवात्र तन्न्यक्कारेण सुष्ठु सुप्त इति तत्रापि ज्ञात्रवस्थानेऽपि सुषुप्त इति कथ्यत इत्याशयेनाह—**यद्यपीति** । का पुनरपरावस्था इत्याह—**समग्रत्वमिति** । **एवमिति**—अपूर्वप्रक्रियया सिद्धेऽर्थे सति । समर्थनादिति—तथा हीत्यादिना। । **निगमितः** = निगमावयवेन निश्चायितः । **अनुवादेनेति**—परावस्थायां पुनरित्यादिना ।

यदा त्विति—इत्थं शुद्धबोधस्वरूपात्मनि शिवतत्त्वे शक्तिपञ्चकमैक्यापादनाय समर्थितम्, तत्प्रसङ्गेन चापरावस्थायामपि तस्य तादृग्रूपताप्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थं पुनरपि

यह (ज्ञेय ज्ञातृ ज्ञान आदि से शून्य) शिवावस्था केवल परावस्था में ही नहीं होती बल्कि समस्त ज्ञान ज्ञातृ ज्ञेय की प्रथमप्रथमोन्मेषावस्थाओं में भी शिव की वही परावस्था रहती है ॥५॥

स्थितैव लक्ष्यते सा च तद्विश्रान्त्या तथा फले ।
एवं न जातुचित् तस्य वियोगस्त्रितयात्मना ॥६॥
शक्त्या निर्वृतचित्त्वस्य तदभागविभागयोः ।
यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ॥७॥

सर्वत्र शक्तिपञ्चकस्वभावमुपसंहरन्नाह—**एवं** नेति । **एवम्** = उक्तप्रकारेण, **त्रितयात्मना** = इच्छाज्ञानक्रियारूपया, **शक्त्या**, न **वियोगः** कदाचिदपि । **निर्वृतम्** = निर्विवादम्, **चित्त्वम्** = चिद्रूपत्वम् यस्य, तथा चिदानन्दशक्त्योः परापराद्यवस्थास्वपि समर्थनात् । केवलं परावस्थायामेषितव्याद्यभावादिच्छाद्यभावशङ्कायां तत्संभवो निगमितश्चिदानन्दानुवादेन । तासां शक्तीनामविभागविभागयोः परत्वापरत्वावस्थाभेदेषु ज्ञेयादिसद्भावे शक्तीनां विभागव्यवहारात् तस्य प्रमातुरिच्छादिशक्तिभिर्न विरहः ॥ ६-६½ ॥

विभागे यथा शक्तिपञ्चकस्थितिस्तथा वक्तव्यम्; तत्क्रमेणाह—**यदा त्विति** । चिद्रूपस्य शिवभट्टारकस्य **धर्मः** = स्वभावो यो **विभवः** = पञ्चविधकृत्यनिर्वृतियोग्यता, तस्य **आमोदः** = चमत्कारः तथास्वरूपपरामर्शरूपः, तस्य **जृम्भा** = विश्वात्मतया विकसनम् । यदुक्तं मया स्तोत्रे—

समर्थितमिति सिद्धं परशिवापरनरावस्थायां शक्तिपञ्चकसामरस्यात्मकं पूर्णमेवानन्दमयं चित्स्वरूपमास्त इति । तत्र या पुनः परापरा स्पन्दात्मिका शक्तिलक्षणावस्था, तत्रापीच्छादिपञ्चकसम्भवं साधयति—**यदात्वित्यादिना** । **सृष्टीति**—अयमेव ह्यस्यान्यवादिभ्यो विशेषः—

सर्गसंहृतिकर्त्तारं प्रलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं वन्देऽहं भक्तवत्सलम् ॥ इति ॥

जिस प्रकार प्रथमोन्मेषावस्था में, उसी प्रकार समस्त ज्ञान आदि की फलोपलब्धि ('मैंने जान लिया' इत्यादि) में भी प्राणादि की विश्रान्ति के कारण शिव की वही अवस्था होती है । इस प्रकार इच्छा ज्ञान क्रिया रूपात्मक तीन शक्तियों का तथा चित् और आनन्दात्मक शक्तियों का अर्थात् इन पाँचों का उस प्रमाता से वियोग नहीं होता क्योंकि उन पाँचों शक्तियों को अभागावस्था तथा विभागावस्था का परापरावस्था में भी समर्थन रहता है ॥६॥

जब उस परमभट्टारक शिव का चैतन्य अपने स्वभाव के वैभव अर्थात् पंञ्चविध[1] कार्य करने की योग्यता के स्फुरण का प्रारम्भ होने के कारण अनेक प्रकार की सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है तो वह उसकी इच्छा का प्रथम सर्वसूक्ष्मकाल होता है ॥७-८॥

१. सृष्टि स्थिति प्रलय अनुग्रह और तिरोधान ।

विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्त्तने ।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाःप्रथमा तुटिः ॥८॥
सा च दृश्या हृदुद्देशे कार्यस्मरणकालतः ।
प्रहर्षावेदसमये दरसन्दर्शनक्षणे ॥९॥
अनालोचनतो दृष्टे विसर्गप्रसरास्पदे ।
विसर्गोक्तिप्रसङ्गे च वाचने धावने तथा ॥१०॥

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥
(उ० स्तो० १३.१५) इति ।

घूर्णनं जृम्भा उक्ता तया **जृम्भया** हेतुभूतया, स्थितिस्वरूपस्यैव मायीयाभेदाख्यातिवैचित्र्यरचनोपलक्षिता, तत्स्वभावा या **नानाकार्यसृष्टिः**, तत्प्रवर्त्तने यदा **उन्मुखिता** = उन्मुखवदाचरिता, वस्तुतो द्वितीयाभावात् नैरपेक्ष्येणान्तर्मुखित्वात् । **चित्ता** = चैतन्यमेव, तदा सा **तुटिः** = सूक्ष्मकालपरिच्छिन्न इच्छाप्रथमभागः । अत्र चैतावच्छक्तिकलापो व्यवहर्त्तॄणां परमार्थपदमारुरुक्षतां संभाव्यत इत्येवं निर्दिश्यते, न तु मायातत्त्वादूर्ध्वं कालविभागसंस्पर्शः । अथवा मायोर्ध्वेऽपि परापररूपत्वादवस्थाविशेषस्य कालविभागोऽपि स्यादित्यत एव तुटिरित्युक्तम् । सर्वं चैतत्प्रत्यभिज्ञायामुक्तम् ॥८॥

अत्रेति—सक्रमत्वं हि लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव ॥
(ई० प्र० २.१.२)

इति नीत्या यथा प्रभोः सक्रमत्वमसंभाव्यम्, तथा तच्छक्त्या अपि स्वातन्त्र्येच्छारूपाया इत्याशङ्क्याह—**अत्र चे**त्यादि । कालयोगाद्धि तस्या अनित्यताऽपि भवेदित्यर्थः । अथवा पक्षान्तरेण तां युक्त्याङ्गीकरोति—**मायोर्ध्वेऽपीति** । तेन परापरतयेदन्तोन्मेषे तत्रावश्यं सूक्ष्मकालशक्तिरस्त्येवेति भावः । **कालविभागोऽपीति**—अपिशब्देन विद्युदाभासवदस्यावस्थानं द्योतयति ॥८॥

जिस प्रकार हृदय में पूर्व चिकीर्षित कार्य के स्मरण के समय या आनन्दात्मक समाचार सुनने के समय, भय का कारण दिखलाई पड़ने पर, अश्रुतपूर्व आश्चर्यात्मक वस्तु के दृष्ट होने पर, अत्यन्त कष्टप्रद मल का त्याग होने के समय, किसी को अन्तिम विदाई देते समय, शीघ्र पतन धावन इत्यादि में सम्पूर्णशक्ति का मिश्रण हो जाता है पूर्वापर का ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार परमशिव की इच्छा का प्रथमोन्मेषकाल समझना चाहिए ॥९-१०॥

सा च सूक्ष्मोन्मुख्यशक्तिरूपा लक्ष्या हृत्प्रदेशे पूर्वचिकीर्षितविस्मृतकार्यस्मरणे; तथा प्रहर्षहेतुपुत्रजन्माद्यावेदनकाले; दरस्य = भयस्य, संदर्शनप्रारम्भक्षणे; **अनालोचनतः** = सहसैव इष्टे **दृष्टे**; चरमधातुविसर्गस्थाने तथा विसर्जनीयभाषणप्रसङ्गे; त्वरितग्रन्थवाचने; धावनविधौ चेति। एतेष्वेवावसरेषु सा पूर्वोक्तक्रमेण सर्वशक्तीनां **विलोलता** = मिश्रीभावः ॥ १०॥

दृश्या = स्फुटं लक्षणीया। **प्रहर्षेति**—प्रियतमपुत्रमृतोत्थितिवार्त्ताश्रवणकाले। **दरेति**—भयारम्भप्रथमक्षणे। **अनालोचनत** इति—अश्रुतपूर्वाश्चर्यवस्तुनोऽकस्माद् दर्शने। **विलोलतेति**—एवं या निर्मातृतामयी अभ्युपगमलक्षणा प्रमातृता सैवेच्छा। सा च सहृदयानां स्वसंवेदनसिद्धत्वादनपह्नुतस्वभावैव स्थिता। यथा 'गच्छामि' इत्यादौ सामान्यरूपत्वेन यद्गन्तव्यादिकं ग्राह्यं शरीरेन्द्रियप्राणबुद्ध्यादि, विशेषानुल्लेखेन च यद् ग्राहकम्, तदन्योऽन्याभासासामान्यलक्षणं पश्यन्तीशब्दवाच्यमिच्छालक्षणं प्रसरं विविच्य, तत्प्रत्यभिज्ञोपायं प्रबुद्धान् प्रति विषयाभिव्यक्तिपूर्वमाह—**सा चेत्यादि**। एतच्च—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वाऽऽमृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत् तत्र स्पन्दः प्रकीर्त्तितः॥ (१.२२)

इत्यादिना **स्पन्दे** संगृहीतम्। तथा—

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते॥ (वि० भै० १०१)
आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात्।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत्॥ (वि० भै० ७१)
क्षुताद्यन्ते भये शोके वारणे विद्रुते रणे।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगा॥ (वि० भै० ११८)

इति। अयमत्र भावः—सर्वशक्तिपरिपूर्णतात्मकं चितो यद्रूपं तद् यदा स्वातन्त्र्यात्संवित्स्वभाव आमृशति, तत उन्मुखीभूतायां चिद्रूपतायां तत्प्रसरप्रथमविकासलक्षणायामिच्छाकलिकायां स्थितः सर्वाविभागेन स्थितिं भाविन उपयोगिरूपस्य प्रमातृप्रमाणप्रमातव्यवर्गस्य विमृशन् भाविभेदाः शक्तीरभेदकल्पेनैव पिण्डीकृताः सतीर्गोलकशिम्बिकादिविकल्पेनोत्थापयति। तत एव च भाविनियतक्रमककार्यं जायते। यथा—श्लोकं स्मरेयममुकमिति सुस्मूर्षयैकयैव मध्यवर्त्तिषु वर्णपदादिषु प्रत्येकस्मृतिसन्ततिप्रबोधकारणमेषणमन्तरेणैव नियतक्रमकस्मरणपरम्परोदय इति।

धावनेति—यदि हि धावनादौ अभिन्नस्य प्रमातृप्रमेयरूपस्यानिर्दिशितविभागस्यापि वस्तुतः प्रकाशो न स्यात्, तत्त्वरितं लिपिपाठे वेगसरणे त्वरिताभिधाने

एतेष्वेव प्रसङ्गेषु सर्वशक्तिविलोलता।
कुत्सितेऽकुत्सितस्य स्यात्कथमुन्मुखतेति चेत् ॥११॥

सुखदुःखात्मकत्वेनाशुद्धत्वाद्धेयेऽस्मिन् कार्ये कथमौन्मुख्यमित्याशङ्कां निवारयन्नाह—**कुत्सितेत्यादि**। मायाशक्तिकृतपूर्णस्वरूपाख्यातिमयचित्रकार्यतापन्नस्वरूपप्रसरणरसात् प्रभोरस्य तद्रूपस्य कार्यभेदस्य कुत्सितत्वमयुक्तम्। तथा हि—परापरावस्थायां सदाशिवेश्वररूपत्वे 'विश्वमहम्' इति विश्वरूपत्वमेव संविदि स्फुरति। अपरावस्थायामपि 'अहं घटमिमं वेद्मि' 'घटोऽयम्' इति वा द्वैतदृष्टौ चिदात्मकतां विना प्रकाशमानतैव नोपपद्यत इति तद्रूपतैव। किन्तु मायाशक्तिवशादभेदापरामर्श इति

रेखातो रेखान्तरं देशाद्देशान्तरं स्थानकरणादेः स्थानकरणान्तरं च गच्छतस्तांस्तांस्त्यक्तव्यांस्त्यक्तवतोऽपरामर्शतस्तयोस्त्यागादानयोः कर्त्तारमनभिमृशतस्तानि विचित्राणि त्यागोपादानानि कथं भवेयुः परामर्शपूर्वकतयैषां दृष्टत्वात्। तदिमानि भवन्ति स्वकारणमनुमापयन्ति, न चासौ भेदेनैव परामर्श एषामिति। भेदेन हि परामर्शे वाचिकमानसपरिस्पन्दपरम्परातोऽभिलापसंकेतस्मरणप्रबन्धसद्भावे त्वरिततैव न निर्वहेत् ॥१०½॥

अकुत्सितस्य = स्वस्वरूपानन्दविश्रान्तस्य। **रूपेति**—स्वरूपप्रसरणमेवास्यानन्दास्वाद इत्यर्थः। **अयुक्तिमत्** = अयोग्यम्। **मायेति**—मीनाति पशुप्रमातॄन् इति माया, सा चासौ शक्तिः। तेन परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यमेव यच्चिकीर्षालक्षणम्, तेनाहमित्यखण्डितेऽपि स्वरूपे भासमाने या तत्रैवेदमिति प्रतीतिः स्वरूपप्रसरणरूपा, सैव मायाप्रमातॄन् प्रति मायाशक्तिः। **अख्यातीति**—तेन शक्तिमता स्वस्वातन्त्र्यरूपया मायाशक्त्या कृता या पूर्णस्याख्यातिरिदमहमिति। **तद्रूपस्य** = स्वरूपप्रसरणरूपस्य। **परापरावस्थायाम्** = सदाशिवेश्वररूपत्वे। यद्यप्यत्र शुद्धविद्यास्वरूपोन्मीलनं न कृतम्, तथापि तदभावोऽपरावस्थात्वं तस्या न मन्तव्यम्, यतो यथा शिवतत्त्वस्य यदौन्मुख्यं सा शक्तिरिति भण्यते न परावस्थायां शिवतत्त्वात् पृथग् गणनीयतां गता; तथा सदाशिवेश्वरयोरपि बहिरौन्मुख्यं विद्येति भण्यत इति न तस्याः पृथगिह निर्देशः।

स्फुरतीति—तेनात्र न कापि कुत्सितत्वशङ्केत्यर्थः। **अपरेति**—अत्रेमं घटमिति यदि प्रमातृविश्रान्तः प्रकाशस्वरूपो न स्यात्, तर्हि 'अहम्' इत्यत्राहन्ताश्लिष्टः कथं भासेत। **चिदात्मकतामिति**—नन्वस्तु सूक्ष्मो विमर्शोऽहन्ताविश्रान्तत्वात्

यदि कोई यह प्रश्न करे कि स्वस्वरूपानन्द में विश्राम करने वाले निर्मल सदाशिव की, सुख-दुःखात्मक होने के कारण अशुद्ध एवं घृणास्पद इस संसार की रचना में प्रवृत्ति क्यों होती है? तो इसका उत्तर है कि सदाशिव अपनी माया-

रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत् ।
पञ्चप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वान्निजकर्मणे ॥१२॥

सर्वदा स्वरूपप्रसरणमेवेति कथं गर्हित्वम् ? अभेदापरामर्शनमेव भ्रान्तिरूपं कुत्सितम्; तच्च न किञ्चित्; अख्याति-रूपमात्रत्वात् । नत्वपूर्वस्य कस्यचित् प्रथा । विश्वात्मत्वं च चिन्मयस्य प्रतिबिम्बानामिव दर्पणपरमार्थत्वेन भावानां स्वच्छचिन्मात्रसतत्त्वतयाऽवस्थानात् । एतच्च सर्वमीश्वरप्रत्यभिज्ञाटीकायां निपुणमालोचितम् । सर्गस्थितिप्रलयानुग्रहतिरोधानलक्षणपञ्चप्रकारं कृत्यं यस्य तस्य **उक्तिः** = पञ्चविधकृत्यम्, यदुच्यते तच्छिवत्वम्; ततः **निजकर्मणे** = तत्त्वादिरूपप्रसरणरूपाय, **प्रवृत्तस्य**; **निमित्तानाम्** = दयादीनाम् **क्व मार्गणम्** = निमित्तान्वेषणप्रसङ्गस्यैवाभावात् कथमेवं प्रसरतीति न चोद्यम् इति तावदकुत्सितविषयमेवौन्मुख्यमिति समर्थितम् ॥१२½॥

तदिदानीं निदर्शनेन स्फुटीकर्तुमाह—**गच्छतः** इति । यथा **जलस्य** पूर्वं **निस्तरङ्गस्य अतितरङ्गितां गच्छतः** सूक्ष्मः **पूर्वः कम्प** औन्मुख्यरूपः, **पाणेश्च**

'अहं घटमिमं वेद्मि' इत्यत्र प्रकाशस्वरूपावेश्येव, यत्राहन्ताविश्रान्त्यभावात् स्थूलत्वेन 'घटः' इति 'अयम्' इति च विकल्परूपता, तत्र शब्दोऽपि नीलवत् पृथगेव प्रतिभासते तत्र कथं प्रकाशात्मता ?—इत्याशयगर्भीकारेणाह—चिदात्मकतामित्यादि । उक्तं च **प्रत्यभिज्ञायाम्**—

घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणो ।
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया ॥ (१.५.२०) इति ।

तद्रूपता = चिद्रूपता । यद्येवं तर्हि केयमपरा नाम वराकीत्याशयेनाह—**किन्त्विति** । **अभेदेति**—इदन्तया भेदेनैव परामर्शः । **सर्वदा** = परापरादौ । **तत्** = कुत्सितत्वम् । तथा च कुत्सितं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वात् स्यादिति । **प्रथा** = प्रसरणम् । **प्रतिबिम्बेति**-यथोक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्त्तते ॥ (१.५.१०) इति ।

प्रलयेति—बीजाङ्कुरादौ यो मायीयो व्यवहारो लौकिकदृशा भासते, स तिरोधिकृतः । यस्तु तत्रापि पारमार्थिकतयैव स्थितः सोऽनुग्रहशक्तिकृतः । एतदेव

शक्ति के द्वारा अपने पूर्वस्वरूप को इस विचित्र कार्यात्मक संसार के रूप में प्रसारित करना चाहते हैं । इस प्रकार यह संसार भी उन्हीं का रूप होने के कारण गर्हित नहीं है । सृष्टि स्थिति आदि पाँच प्रकार का कार्य करने के कारण शिव कहलाने वाले उस सदाशिव को अपने शिवात्मक कार्य में प्रवृत्त होने के लिए किसी अन्य कारण का अन्वेषण करने की क्या आवश्यकता है ॥११-१२॥

प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम् ।
गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्याततितरङ्गिताम् ॥१३॥
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते ।
व्रजतो मुष्टितां पाणेः पूर्वः कम्पस्तदेक्ष्यते ॥१४॥
बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रति निर्वृतिः ।
तदास्थाप्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते ॥१५॥
किञ्चिदुच्छूनता सैव महद्भिः कैश्चिदुच्यते ।
तस्येच्छा कार्यतां याता यया सेच्छः स जायते ॥१६॥
औन्मुख्यस्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता ।
न चौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवः स्थूलत्वभाक् क्वचित् ॥१७॥

मुष्टितां गच्छतः, पूर्वः = सुसूक्ष्मः, कम्पो दृश्यते; तथा बोधस्य स्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचनायोग्यताया यः प्रथमो विकासः = प्रवृत्त्यारम्भः, तदौन्मुख्यं प्रचक्षते । प्रवृत्त्यारम्भश्च निर्वृतावप्यभेदाख्यातिधर्मत्वेन तस्याः प्रथनात् । यदेतदौन्मुख्यं सैव किञ्चिदुच्छूनता कथ्यते भट्टप्रद्युम्नेन तत्त्वगर्भे । अन्यैरपि तरङ्गोर्म्यादिशब्दैरपि । तस्यौन्मुख्यस्य इच्छा = कार्या । तस्य हि

हि अस्यान्यवादिभ्यो विशेषो यत् सततमेव पञ्चकृत्यविधानमिति । यदुक्तम्—

मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः ।
कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥ (स्त० चि० ११२)

इति । तत्त्वादीति—सृष्ट्यादिरूपेण तत्त्वादिप्रसरणम्, तत्र पारमार्थिककाल्पनिककार्यकारणभावादौ तिरोध्यनुग्रहशक्ती । निमित्तानामिति—यदाहुरेके—ईश्वर; स्वात्मन्यवाप्तसर्वकामः, किमस्य सृष्ट्यादिना फलम् ?—इति । सर्वो हि यः कश्चित्

जिस प्रकार निस्तरङ्ग सागर में तीव्र लहर उठने के समय प्रथम कम्प होता है; अथवा हाथ में जब मुट्ठी बाँधी जाती है तो पूर्णमुट्ठी बँधने के पहले प्रथम कम्प होता है उसी प्रकार चित्स्वरूप परमशिव के अन्दर वर्तमान चैतन्य जब सृष्टिरचना के प्रति प्रथम-प्रथम प्रवृत्त होता है तो उस आस्था के प्रथम विकास को औन्मुख्य कहते हैं । कुछ महान् विचारक लोग उस औन्मुख्य को किञ्चिदुच्छूनता कहते हैं । इसी प्रकार जब शिवभट्टारक की वह इच्छा कार्यरूप में परिणत होती है तो उसके कारण वह सेच्छ (इच्छासहित) हो जाते हैं । उस शिव का जो आभोग अर्थात् ज्ञान आदि कार्य को उत्पन्न करने का सामर्थ्य, वही इच्छा का व्यवस्थित होना है । इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल होकर शिव स्थूलतावाले होते हैं । पारमार्थिक रूप में स्थूल नहीं है ॥१३-१७॥

गोः स्तनाद् पाततः क्षीरे विकारस्तत एव हि ।
न च न क्षीरमित्येष व्यपदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ॥१८॥
यत इच्छति तज्ज्ञातुं कर्त्तुं वा स्वेच्छया क्रियाम् ।
तस्याः पूर्वापरौ भागौ कल्पनीयौ पुरा हि [यौ] ॥१९॥

योऽसावाभोगः = ज्ञानादिकार्योत्पादनसमर्थो विस्तृतो दार्ढ्यमय उत्तरो भागः, अत एव रचनास्थाविकासदार्ढ्यात् **स्थूलः, सेच्छा व्यवस्थिता ।** न चोच्छूनतादिव्यपदेश्यौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवो बीजमिव स्थौल्यभाक् । इच्छाद्यसद्भावे वाऽन्यत्र क्वचित् वस्तुतो न स्थौल्यम्, चिदात्मनः प्रतिबिम्बकल्पैर्भावैरनाधिक्यात् । नापि तदात्मता प्रथा भ्रान्तिरिति सर्वमुक्तं टीकायाम् ॥१७॥

व्यावहारिकोऽपि नास्त्येवमादौ भेदः, तथा परामर्शानिवृत्तेरित्याह—**गोरित्यादि** । **गोः स्तनात्** पातात् **क्षीरे विकारः, तत एव** = तदनन्तरमेव । **न च तत्क्षणं** तत्र न क्षीरपरामर्शः, यावत्परामर्शैक्यं तावत् सर्वदैक्यमेव ॥१८॥

एवमौन्मुख्यमिच्छाया उक्तमिदानीमुपपादयन्नाह—**यत** इति । यस्मा**दिच्छति** ईश्वरो **ज्ञातुं वा कर्त्तुं** वा इति यदुच्यते, तदाख्यातपदमिच्छया इच्छालक्षणां क्रियामाह । **तस्याः** = इच्छायाः, **पूर्वापरौ भागौ कल्पनीयौ,** पूर्वापरीभूतावयवत्वात् क्रियायाः । इच्छायाः क्रियात्वाभिधानेन इच्छादीनामन्योऽन्यात्मता शक्त्यवस्थायां सुतरां स्यात् । ततश्च परमार्थत एकैव शक्तिः शक्त एवास्तीति प्रतिपादितम् ।

प्रवृत्तिकारो प्रयोजनमुद्दिश्यैवाभिमुखी भवति; तच्चास्यावाप्तकामत्वान्न संभाव्यम्' इति भगवांल्लोकानुग्रहार्थमेव प्रवर्त्तत इति कथने दुःखमयीं कस्मात् सृष्टिं कुरुते, दयालुत्वात्तस्येति दयादीनां निमित्तानां क्वास्मिन्नये पर्येषणा । **समर्थितम्** = अशक्यसाधनमपि साधितम् ॥ १२ ॥ **तस्याः** = निर्वृतेः । **इच्छाद्यसद्भावे** = निराकाङ्क्षतादशायाम् । **भ्रान्तिरिति**—आभासमानत्वात् ॥ १७ ॥

इच्छाया इति—तदुक्तम्—

गुणभूतैरवयवैः समूहः, क्रमजन्मनाम् ।
बुद्धचा प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ इति ।

औन्मुख्यमिति—पूर्णानन्दस्वरूपभेदाख्यातिरित्यर्थः ॥१९॥

गाय के स्तन से दूध निकलने के बाद तत्काल वह गो का विकार कहलाता है । लेकिन जैसे वह प्रथमक्षण में ही दूध की भिन्न संज्ञा प्राप्त करता है उसी प्रकार शिव की इच्छा से यह संसार उन्हीं में से उत्पन्न होकर भिन्न प्रतीत होता है । परमार्थतः जैसे दूध गो से अतिरिक्त नहीं है उसी प्रकार संसार शिव से अतिरिक्त नहीं है ॥१८-१९॥

तत्कर्मनिर्वृतिप्राप्तिरौन्मुख्यं तद् विकासिता।
अनन्तरं हि तत्कार्यज्ञानदर्शनशक्तिता ॥२०॥
ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थूलः समुच्चयः। समुद्गमः
सा क्रियाशक्तिरुदिता ततः सर्वं जगत् स्थितम् ॥२१॥

उत्पत्तिकथायां तु इच्छायाः पुरोभागे या तस्मिन् कर्मणि तत्कर्मनिष्ठा **निर्वृतिप्राप्तिः**, तदौन्मुख्यम्—कर्मविच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम्, अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति यावत्। तदौन्मुख्यं विकासिता = **चिदास्थाप्रविकास** इत्युक्तम् ॥१९॥

परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं तत् प्रकाशनशक्तिरूपता चिदात्मनः सर्वप्रतिपत्तॄणामवेद्यमन्तःकरण इव प्रकाशमानं तत्कार्यं यतः सा ज्ञानशक्तिः। अनन्तरं सर्वप्रमातृवेद्यस्थूलकार्याकारसम्पत्तिफलः **समुद्यम** इच्छाविषय एव क्रियाशक्तिः। तत एव परिसमाप्तिः, व्यवहार्यकार्यलाभात्—इत्युक्तम्—**ततः सर्वं जगत् स्थितम्**—इति ॥२१॥

तावदिति—नात्र व्यभिचारः। **विशेषनिर्वृतेः** = औन्मुख्यरूपायाः। **बोधस्य**—अभाव इति शेषः। **पूर्वमिति**—तत्कर्मनिर्वृतिप्राप्तिरित्यत्र ॥२२॥

ईश्वर अपने स्वरूप को जानने की या स्वात्मरूपा सृष्टि करने की इच्छा करता है अतः इच्छा करने के कारण 'इच्छति' इस पद में तिङ् यह अंश इच्छालक्षणवाली क्रिया को बताता है। चूंकि इच्छा एक क्रिया है इसलिये क्रमशः उत्पन्न होनेवाले व्यापार में उनके पूर्वापरभाग की कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार इच्छारूपा क्रिया की उत्पत्ति का प्रथमक्षणात्मक भाग भी औन्मुख्य है और इसी प्रकार कर्मनिष्ठ निर्वृति की प्राप्ति भी औन्मुख्य है तथा कर्मविच्छिन्ना निर्वृति भी औन्मुख्य है और अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्र आनन्द भी औन्मुख्य है। इस प्रकार आद्योपान्त सब कुछ औन्मुख्य ही है। इच्छा का पूर्णविकास भी औन्मुख्य ही है।

इच्छाशक्ति के विकास के बाद कार्य का ज्ञान होता है। फिर उस कार्य का बुद्धिस्थत्वेन दर्शन होता है और फिर समस्त ज्ञाताओं के लिए ज्ञेय बनाने की जो शक्ति है वही उसकी ज्ञानशक्ति है। वह इस ज्ञानशक्ति को स्थूलरूप देता है। अर्थात् समस्त संसार को सर्वजनवेद्य बनाने के लिए स्थूलरूप में इसे प्रकट करता है। यही उसकी क्रियाशक्ति है। इस क्रियाशक्ति के प्राकट्य के परिणामस्वरूप सारा संसार स्थूलरूप में स्थित होता है। इस प्रकार जगत् का निर्माण होता है ॥२०-२१॥

एवं सर्वसमुत्पत्तिकाले शक्तित्रयात्मता ।
न निवृत्ता, न चौन्मुख्यं निवृत्तम्, नापि निर्वृतिः ॥२२॥
यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते ।
तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम् ॥२३॥
घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया ।
जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेदनक्षतिः ॥२४॥
औन्मुख्याभावतस्तस्य निवृत्तिर्निर्वृतिं विना ।
द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेत्ति विना चितम् ॥२५॥

न केवलं जगन्निर्माण एवैवम्, यावदेकैकघटकरणकालेऽपि एवं शक्तिरूपता इत्याह—एवं सर्वेति । इच्छाज्ञानक्रियात्मता तावत् सिद्धा घटादिकरणकाले । औन्मुख्यमपीच्छापूर्वभागोऽस्ति कर्मावच्छिन्नविशिष्टनिर्वृतिरूपः । अन्याप्यनवच्छिन्नानन्दरूपा निर्वृतिरनिवृत्ता, तदभावे विशेषनिर्वृतेरभावात्; यथा बोधाभावे विशिष्टघटादिबोधस्य । अत एव निर्वृतेर्विशिष्टरूपताप्राप्तिरिति प्राप्तिग्रहणं पूर्वं कृतम् । यदि वा निर्वृतिशब्देन पूर्णचिच्छक्तिरूपात्ता शक्तिपञ्चकाय ॥२२॥

एकशक्त्यभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्न स्यादित्याह—यदेकतरेति । यस्मादेकतरस्य

निर्माणे = अपगतौ । सामरस्यमिति—सर्वपदार्थानामुत्पत्तौ शक्तिमदात्मकं स्थितमेव ॥२३॥

इस प्रकार समस्त संसार की उत्पत्ति के समय भी शिवभट्टारक की तीनों शक्तियां निवृत्त नहीं होतीं और अनवच्छिन्न आनन्दरूप निर्वृति की भी निवृत्ति नहीं होती अर्थात् उत्पत्ति के बाद भी सबके सब वर्तमान रहते हैं । ॥२२॥

इच्छा ज्ञान और क्रिया में से एक का भी अभाव होने पर कभी भी किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती यह अनुभवसिद्ध है । इस कारण समस्त पदार्थों की उत्पत्ति के समय तीनों शक्तियों की समरसता बनी रहती है तथा औन्मुख्य और निर्वृति भी अवश्य रहते हैं । ॥२३॥

जब घट आदि का ज्ञान होता है उस समय जानने की क्रिया भी होती है ज्ञान भी उसी समय रहता है और इच्छा भी रहती है । क्योंकि इच्छारहित व्यक्ति को ज्ञान ही नहीं हो सकता । यदि औन्मुख्य न हो तो भी प्रमाता को ज्ञान नहीं होगा । और यदि निर्वृति अर्थात् परमआनन्द की उपलब्धि न हो तो आदमी कभी भी द्वेष्यकार्यों में प्रवृत्त नहीं होगा । इसी प्रकार अभेदप्रत्यवमर्शशक्तिरूपा चित् के विना पूर्णशुद्धबोधस्वरूप कर्त्ता घट आदि को जान नहीं पायेगा । ॥२४-२५॥

बुद्धिं विना कथं बोधः सा बुद्धिः प्रकृतेः प्रजा।
न च तस्य तया योग इति चेदपरस्थितौ ॥२६॥
सा बुद्धिर्यत् पुनः सूक्ष्मं सर्वदिक्कं व्यवस्थितम्।
ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा ॥२७॥

शक्तिभेदस्य **निर्माणे** = अपाये **कार्यं** न कदाचित् स्यात्–इत्युक्तम्, **तस्मात् सर्वपदार्थानाम्** उत्पत्तिकाले सर्वतत्त्वमयशिवतत्त्वोपयोग इति न कदाचनापि शिवरूपसंस्पर्शविरहिता, महासर्गप्रारम्भ इव भावानामेकैकस्य **निर्माणे**ऽपि परमेश्वरस्पर्शरसोऽखण्डित एवेति **साभरस्यत्**। कुम्भकारस्यापि घटकरणे सर्वशक्ति शिवात्मता; तदपरिज्ञानात्तु कुम्भकारतेत्यर्थः। **एकतरेति** तरप्पाठ औन्मुख्यनिर्वृतिद्वित्वापेक्षया ॥२३॥

न केवलं घटादिकरणकाले सर्वशक्तिसम्भवः, यावद् ग्रहणकालेऽपीत्याह—**घटादिग्रहकालेऽपीति**। घटादिज्ञानकाले यत् घटं जानाति–चिदभेदाख्यातिवैचित्र्यभिन्नघटदेवदत्तात्मकवेद्यवेदकाभासनं नाम यद् क्रमिकमपूर्वं रूपं सा ज्ञानलक्षणा क्रिया पूर्वापरीभूतावयवा, न तु जानामीति वचनप्रवृत्तिकाल एव। जानातिरूपत्वाज्ज्ञानमत्रैव क्रियात्मनि स्थितम्। **निरिच्छोः** = अव्यवधानरहितस्य वेदनं न भवेत्; मनसाऽनधिष्ठानात्। अवधानवद्दर्शनमेवेच्छा। तत्र चेच्छाक्रियापूर्वभाग औन्मुख्यं तत्कर्मनिर्वृतिः। **तदौन्मुख्याभावतः तस्य** = प्रमातुर्वेदनस्य वा निवृत्तिः। न हि औन्मुख्यरूपां तत्कर्म**निर्वृतिं विना द्वेष्ये प्रवर्त्तते**। न च चितमभेदप्रत्यवमर्शशक्तिरूपां विना पूर्णशुद्धबोधात्मा कर्त्ता वेत्ति घटादीन् संविन्निष्ठत्वाद् विषयव्यवस्थितीनाम्। सैव चिच्छक्तिः सामान्या निर्वृतिशक्तिरानन्दरूपा ॥२५॥

जानामीति—जानामीत्यविच्छिन्नाभासः, जानातीति तु विच्छिन्नाभासः ॥२६॥

नन्वत्यल्पमिदमुच्यते यज्जानातीत्यपरज्ञानकालेऽभेदाख्यातावपि वेद्यवेदकक्षोभे सर्वशक्तिसंपूर्णपूर्णानन्दविश्रान्तशिवतत्त्वोपयोग इति यावता **घटादिग्रहकाल** इति **ज्ञानमत्रैवे**त्युक्तम्; तथा च सति कोऽयं घटादिग्रहकालो नामेति। तथा यदि तत्रापि

यदि कोई यह कहें कि बोध तो बुद्धि के विना होगा नहीं और वह बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होती है इसलिए जड़ है तो फिर उस जड़ बुद्धि से शिव का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? तो उत्तर यह है कि अपरावस्था में जब अभेद का का ज्ञान नहीं रहता तब तो वह प्रमाता के लिए बुद्धि होती है किन्तु जब पूर्णपरावस्था की प्राप्ति होती जाती है, वेद्यवेत्तृभाव समाप्त हो जाता है, सूक्ष्मावस्था आ जाती है तब अभेद होने पर वही सार्वदेशिक सार्वकालिक अखण्ड बोधमय ज्ञान हो जाता है। यही उस शिव का सहजस्वरूप है। ॥२६-२७॥

न्यायादिभिर्न तुल्यत्वं तर्हि या प्राकृती मतिः।
तस्या एवात्मधर्मत्वमिष्टं न परबोधके ॥२८॥

ज्ञानकाले शिवत्वाभावमाशङ्कमान आह—**बुद्धि** विनेति। ननु 'जानाति' इति ज्ञानं **बोधः** = बुद्धिवृत्तिः कथं वृत्तिमतीं बुद्धिं विना स्यात्। बुद्धिश्च प्रकृतेः प्रजाता जडा। **न च तया तस्य** = सर्वशक्तेः शिवतत्त्वस्य निर्मलस्य सम्बन्ध इत्येव चेत्? तन्न। अपरावस्थायामभेदाख्यातावेकरसायां पुर्यष्टकप्रमातॄणां सा **बुद्धिः**। **यत् पुनः** पूर्णताया परावस्थस्य अत एव **सूक्ष्मम्** = अभिन्नम्—वेद्यतामनुपयातम्, अत एव सर्वदिक्कम् = दिक्कालाखण्डितम्, **ज्ञानं** बोधमात्रम्—अबोध्यरूपम्, तत् **तस्य**

शुद्धमेव ज्ञानम्, तर्हि कृतं विषयव्यवस्थाकल्पितेन बुद्ध्यादिना। यदि च तत्राप्यस्त्येव तत्तत्त्वोपयोगः; तर्हि कथं तस्य नैर्मल्येन सम्भव इति परव्यामोहदलनायाह—**बुद्धिमित्यादि**। यदत्र केचनात्यल्पदृशो विप्रतिपन्नाः—तस्मिन्नपि शुद्धबोधे स्वप्रकाशे यदि स्वात्मोच्छलत्तात्मकं ज्ञानमङ्गीकृतमनुभूयते, तत् बुद्धिव्यापारात्मकत्वात् सर्वथा बुद्धिविलासास्तमयस्यैव स्वरूपप्राप्तिलक्षणत्वाद् विकल्पनमेव। यत्तु सर्वथा तदभाव एव स एव सत्यस्वरूपप्राप्त्या परमार्थमोक्ष इति तद्व्यामोहेन मा व्यामुहोरन् इत्याक्षेपपूर्वमाहानुग्रहपरः श्रीमानाचार्यः—**बुद्धिं** विनेत्यादि। कुतः? इत्यत्र हेतु-माह—**से**ति। तथापि किम्?—इत्यतः—**न चे**ति। **अपरस्थितौ** = भेदग्रह एव। **सूक्ष्ममिति**—सूक्ष्मम् = बुद्धिज्ञानाद्यविषयम्, तत्र बुद्धिज्ञानात्मनो भेदस्य विगलनात्। **व्यवस्थितम्**—इत्यनेन विशिष्टस्य प्रमातुः कादाचित्कत्वं ध्वनितम्। **सदा** = अपर-परापरपरासु ॥२७॥

लब्धावकाशं वितण्डावादिनं प्रतिवादिनं प्रत्याह—**न्यायादिभिरिति**। इच्छा मनोधर्म इति वैशेषिकमतमाशङ्क्याह—**एष इति**। **बुद्धिवृत्तिरिति**—अविगलितस्वरूप-सतत्त्वस्यैव भावस्य धर्मकल्परूपान्तरच्छायाधारणं घटस्येवोदकाहरणं चैत्रस्येव गमनं वृत्तिरुच्यते। तथा तद्वृत्तिभेदान्न वृत्तिभेदो भवति, तेनैव रूपेण।बाधितप्रत्यभिज्ञा-विषयत्वात्। **वृत्तिमतीमिति**––तत्त्वभेदाभावात्। **न चेति**––नन्वस्तु तस्या जाड्यम् यथा तत्र विषयः प्रतिबिम्बमर्पयति तथा पुंस्प्रकाशोऽपि समर्पयति अन्यथा विषयव्यव-

प्रश्न होता है कि तब तो आपका यह सिद्धान्त नैयायिक और वैशेषिक के सिद्धान्त जैसा हो गया क्योंकि वे लोग भी ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं और आप भी ज्ञान को शिव (आत्मा) का कर्म जानते हैं? उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वे लोग व्यावहारिक दशा में आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते हैं। वहाँ गुणगुणी का भेद नहीं है। इच्छा के बारे में भी ऐसा ही समझना चाहिये। ॥२८॥

एष एव हि विज्ञेयो न्याय इच्छां प्रति स्फुटम् ।
तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके ॥२९॥

शिवस्य सहजं सदा प्राकृतबुद्ध्युल्लासेऽपि तत्सद्भावात् तद्विना तदभावात् । नन्वेवमपि न्यायवैशेषिकादिसाम्यमायाति ज्ञानस्य शिवाश्रितत्वोपगमे, ज्ञानं हि तेषामात्मसमवेतमिष्टं शिवश्चात्मरूप इत्युक्तम्—**न्यायादिभिरिति । तैर्न तुल्यत्वम्,** प्राकृत्यां भेददशायां बुद्धियोगात्मनो ज्ञानस्य तथाऽभिधानात्; नत्वीश्वरे पररूपे ज्ञातरि । तदुक्तम्—**एष एव न्याय इच्छां प्रति स्फुटं ज्ञेयः ।** इच्छा चितेः प्रत्यगात्माऽऽश्रिताऽभेदमय्येवोक्ता, याऽन्यैर्मनःसंकल्परूपा, न तु परमेश्वरस्वभावभूता परापरावस्थास्थिता वा ॥२८½॥

सर्वतत्त्वमयतया शिवतत्त्वावस्थानमाह—तदेवमिति । तस्मात् **एवम्** = उक्तेन क्रमेण, स्वरूपानुप्रविष्टचिन्निर्वृतिरूपशक्तिद्वयः प्रकाशानन्दमयः पूर्णः परमेश्वरः शिवः **प्रसृतः कदाचित्** = प्रथमतः । शक्तिमात्रक औन्मुख्ये विषयाननुषक्ते निर्वृतिमये

स्याऽपि तथा न सिध्येत् तथा च चैतन्यम् ? **न चेति** चकारेणैतत्परिहरति । **सर्वदिक्कम्** = सर्वासु दिक्षु वर्त्तमानम्, न तु तेनावच्छिन्नम्, तथा सति व्यापकत्वं विघटेत् । उपलक्षणमेतत् । तेन सार्वकालिकमित्यपि बोध्यम् । तदाह–**दिक्कालेति । बोधमयम्**–इत्यत्र प्रकृत्यर्थे मयट्; बोधस्वभावमित्यर्थः । तदाह–**बोधमात्रमिति ।** तदेव बोधमात्रत्वं यदन्याविषयत्वम् । तदाह—**अबोध्यरूपमिति । सहजम्** = स्वरूपप्रत्यवमर्शस्वभावम्; नान्यत् । तदेव स्वाभाविकत्वं यत् तत्प्रच्युतावपि भेदावभासे न तद्धानिरित्याह—**सदेति** ॥२८॥

विशेषस्य क्षोभाकारस्य सामान्यं विनाऽस्थितेः । **तेषाम्** = न्यायवादिनाम् । **न्यायादिभिरिति**—

"न चास्य बाह्यैः करणैः सिद्ध्यन्ति सकलाः क्रियाः ।
न हि स्मृतिसुखेच्छादौ चक्षुरादीनि साधनम् ॥"
"तेनेच्छास्मृतिसुखदुःखवेदनानामाधारो न खलु मनो न चेन्द्रियाणि ।
देहोऽपि व्रजति न तत्समाश्रयत्वं तेभ्योऽन्यं पुरुषमतः प्रकल्पयामः ॥"

सूत्रकारश्च—"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।" इति । **अन्यैः** = न्यायवादिभिः । **सर्वतत्त्वमयतयेति**—यथोक्तम्–'यदिदं किञ्चिद्गर्भीकृतानन्तविचित्र-

---

इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से स्वरूप में अनुप्रविष्ट ज्ञानरूप और आनन्दरूप दो शक्तियों वाला पूर्ण परमेश्वर शिव पहले पहल विषयाननुषक्त आनन्दमय शक्तिमात्र औन्मुख्यस्वरूप इच्छा के पूर्वभाग के अनुसार अपना रूप धारण करता है जो योगियों के ध्यान का विषय है ।

बिभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः ।
सदाशिवत्वमुद्रेकात् कदाचिदैश्वरीं स्थितिम् ॥३०॥

इच्छापूर्वभागे परापरावस्थारम्भदशायां तदनुरूपं **रूपं बिभर्ति** ध्यायिनां ध्येयम् । कदाचि**दिच्छातः** = इच्छाशक्तिरूपत्वात् निमित्तात् । अथवा इच्छारूपमासाद्य तदनुरूपं पूर्ववद्रूपं बिभर्ति । कदाचित् पुनः ज्ञानशक्तिरूपत्वात् सदाशिवरूपं बिभर्ति । क्रियातो ज्ञाने तु प्रागुक्तनयेनाधिक्यात् । ऐश्वरीं तु स्थितिं कदाचित् क्रियाशक्तेः समाभोगात् पर्यन्तप्राप्तविस्ताराद् बिभर्ति । कदाचित् परापराऽवस्थान्तरभिन्नाशेषवेद्यवेदकरूपबोधात्मप्रमात्रवस्थया मन्त्रादिरूपतां बिभर्ति । प्रमातॄणां च बोधात्मत्वेऽपि शिवेच्छातो भेदापत्तेः स्थूलत्वम् । अतो वेदनस्यापि स्थूलत्वम्; इदं तु विद्यात्वम् । अन्ये चैनां विद्यां भेदोल्लासात् महामायामिच्छन्ति । कदाचिदात्मप्रच्छादनात्मकाभेदाख्यातिमयीं संसाररूपां भ्रान्तिं क्रीडामेव कथंचन तथास्वभावत्वात् कुर्वतो मायाशक्तिरपरावस्था बीजभूता

भोक्तृभोग्यं विभवात्मकं भुवनजातमुक्तं तत्र यदनुगतं महाप्रकाशरूपं तन्महासामान्यकल्पं शिवतत्त्वमिति । उक्तं च **तन्त्रालोके**—

यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परप्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ।
तत्स्वातन्त्र्यरसात् पुनः शिवपदात् भेदे विभाते परं
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ॥ (९.२)

इति । **उद्रेकात्** = ज्ञानशक्तेरुद्रेकात् । शिवादिमन्त्रमहेशान्तात्मत्वेनेदन्ताभासस्याहमात्मन्येव विश्रान्तेर्न किञ्चन स्वरूपान्यथाभाव इति द्योतयितुम्—**आत्मप्रच्छादने**त्यादि मायारूपमित्युक्तम् । **कथंचन** = केनापि गणनानर्हेण रूपेण । **बिभ्रद्बिभर्ति**—इत्यनेनैतादृक्स्वरूपाभासनायामपि न तेषां स्वात्मनि किञ्चन स्वातन्त्र्यमिति द्योतनार्थम् । अथवा शक्तिमच्छक्तिरूपतोभयविधत्वमागमेष्वेषां सूचितमेव । **प्रथमतः**—उत्तरतत्त्वापेक्षयाऽत्रापि क्रमः । **रूपम्** = अधिष्ठातृरूपम् । **इच्छातः**—इति निमित्तपञ्चमी । **इच्छारूपम्**—इत्यत्रार्थे ल्यब्लोपे पञ्चमी । **पूर्ववद्रूपम्**—ध्यायिनां ध्येयम् । **नयेनेति**—अन्तःकरण इव वेद्यमितिनयेन । **परापरेति**—परा-

कभी इच्छाशक्तिरूप निमित्त के द्वारा, कभी ज्ञानशक्तिरूप निमित्त के द्वारा वह सदाशिव[1] हो जाता है तथा जब क्रियाशक्ति के प्राधान्य से ऐश्वर्यमयी स्थिति

१. स्थूल रूप से प्रत्येक प्राणी में रहने वाला शिवतत्त्व ही आत्मा है । यह चैतन्य स्वरूप है । परासंवित्, परमशिव, परमेश्वर इत्यादि इसी के अनेक नाम

क्रियाशक्तिसमाभोगात् कदाचित्स्थूलवेदनात् ।
विद्यात्वविद्येशानत्वमन्त्रमन्त्रेश्वरात्मताम् ॥३१॥

रूपमिति चोक्तानि तत्त्वानि आदिभूतानि येषां षट्त्रिंशतस्तत्त्वानाम्, तद्रूपतां सामान्येन बिभ्रत् तद्विशेषरूपाण्यपि बिभर्ति, तावता प्रसिद्धव्यवहारनिष्पत्तेः । अप्रसिद्धव्यवहारान्तरमस्तु ईश्वरस्य कार्याणामनियमात्, तदात्मता तु तेषामपि युक्तियुक्ता न

पराऽवस्थायां सदाशिवेश्वररूपत्वेऽन्तरभेदेनैव केवलमिच्छाद्यनुगुणविशेषविशिष्टं वेद्यवेदकरूपं बोधात्मैव भासते; तत्रैव सर्वस्मिन् प्रमात्रुन्मीलनेन मन्त्रादिरूपता; तत्रापि चानुन्मीलितोन्मीलितन्यायेन विशेषः । ननु च किमिदमत्र स्थूलवेदनं नाम ? तत्राह– **एकान्तभिन्नतेति** । सा च प्रमात्रभिनिवेशेनेति बोध्यम् ।

ननु चास्या वेद्यवेदकबोधात्मकप्रमात्रवस्थाया अविशेषात् कथं तत्रानेकप्रमातृते-

को प्राप्त होता है तब ईश्वर कहलाता है । कभी परा और अपरा दोनों अवस्थाओं से भिन्न स्थूल आभोग के द्वारा वह विद्या और विद्येश्वर तथा मन्त्र और मन्त्रेश्वर

हैं । सूक्ष्मदृष्टि से जड़चेतन सब कुछ यही है । इसके अतिरिक्त ग्राह्य ग्राहक ग्रहण इत्यादि करके कुछ भी नहीं है । इच्छाज्ञानक्रियात्मक यह शिव पूर्णानन्दस्वरूप है । विमर्शशक्ति इसका स्वभाव है । इस शक्ति के बिना यह अनीश्वर और जड़ हो जायेगा । ऐश्वर्य कर्तृत्व आदि से इसी शक्ति को इंगित किया जाता है । इस विमर्शशक्ति के पाँच स्वरूप महत्त्वपूर्ण हैं–इच्छा, ज्ञान, क्रिया, चित् और आनन्द । इसके बिना शिव और शिव के बिना यह शक्ति नहीं रह सकती । दोनों का अभेद होने पर ही परमशिव पूर्ण है । इस शक्ति में जब उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और निमेष होने पर प्रलय होता है । इसी उन्मेष के कारण सदाशिव तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है । यह शक्तितत्त्व का प्रथम उन्मेष है । एक प्रकार से यह अन्तर्वर्ती निमेष है । इस अवस्था में इच्छाशक्ति प्रधान रहती है और अहं-अंश अस्फुट रह कर इस इच्छाशक्ति को आवृत किये रहता है । इसीलिए 'मैं हूँ' बस इतनी ही अनुभूति होती है । जगत् का भान अव्यक्त रूप से होता है । यही आत्मा सदाशिव कहलाता है ।

१. जब विमर्श शक्ति में 'इदम् अहम्' यह प्रतीति उल्लसित होती है तो वहाँ ज्ञानशक्ति की प्रधानता होती है । अहं अंश गौण और इदम् अंश प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है और इस प्रकार जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ होती है । यही ईश्वरतत्त्व है सदाशिव में 'अहम् अस्मि' प्रतीति और यहाँ 'इदम् अहम्' प्रतीति होती है । यही अन्तर है ।

आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन।
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ॥३२॥

बाधितुं शक्या; इत्येतावत् प्रतिजानीमहे। षट्त्रिंशत्संख्या पूर्यते यावत्पार्थिवं तत्त्वम्, तदनन्तरं नोपलभ्यते तथा। पार्थिवं तत्त्वं स्थूलत्वात् पर्यन्तवर्त्ति। अनेकसहकारिसंपाद्यविशेषं कारणात् कार्यं स्थूलं भवति व्यक्ततरत्वात् न तु सूक्ष्मम्। महत्त्वेऽपि प्रधानादेः कारणस्य सौक्ष्म्यमेव। तथा चिन्मयत्वात् सर्वस्य यावत्प्रकाशान्वयः। सत्त्वात् प्रभृति जलतत्त्वेऽपि शुक्लप्रकाशवर्णे तावत्कारणता संभाव्या। पार्थिवेऽपि तु यावत् तदस्ति चित्प्रकाशैक्याख्यातिमात्रात् पृथक् प्रकाशात्मत्वेऽपि। तदुक्तम्—जडाभासं कार्ण्यात् जडः = अप्रकाशः, आभासः = रूपम्, अस्येति

त्याह—शिवेच्छात इति। अतः = प्रमाणप्रमेययोरधीनत्वात्। स्थूलत्वम् = विद्यात्वविद्येशानत्वमन्त्रमन्त्रेश्वरात्मकम्। महामायामिति—मायाया हि भेद उल्लसितः, अत्र तदुल्लास एवेति। यदुक्तमागमे 'मायोपरि महामाया' इति। तेनात्र पर्यायभेद एव न परमार्थभेद इति। आत्मप्रच्छादनेति—स्वातन्त्र्यधनस्यात्मनः प्रकर्षेणाच्छादनम् = तद्धानिरूपणम्। अभेदाख्यातीति—अभेदस्याप्यख्यातिरात्मनोऽप्याच्छादनम्। भ्रान्तिम् पुनः पुनर्लौलिकया जननमरणस्वरूपां न तु व्यतिरेकेणाभासनात् व्यतिरिक्ताम्। रूपमिति—अपरैव रूपं रूपप्रसारः। तद्रूपताम् = कतिपयकतिपयभेदानुगतं रूपम् तत्त्वम्। ननु किमेतान्येव तत्त्वानि उतापराण्यपि सन्ति? तत्राह—तद्विशेषरूपाणीति। ननु यद्यन्यान्यपि सन्ति तत्किमिति नोपदिष्टानि? इत्याह—तावतेति। अप्रसिद्धम् = सामान्यलोकाविषयम्।

"परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते॥"

इति नीत्याऽपरिच्छिन्नत्वमेव। यत्पुनः षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रत्—इत्युक्तम् तन्नियमनमव्यवस्था मा भूदिति। अनियमादिति—अपरिच्छिन्नशक्तेः कः कुर्याच्छक्तिपरिच्छिदम्।' इति नीत्या। तेषाम् = कार्याणाम्। प्रतिजानीमहे = प्रतिज्ञां

बन जाता है। कभी अभेदज्ञानमयी संसाररूपभ्रान्ति की क्रीड़ा करने की इच्छा से वह आत्मप्रच्छादनात्मक मायारूप धारण कर ३६ रूपों को प्राप्त होता है। वे ३६ रूप है—

५. पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश।

१०. पञ्चतन्मात्रा—पृथ्वीतन्मात्रा, जलतन्मात्रा, तेजतन्मात्रा, वायुतन्मात्रा, आकाशतन्मात्रा।

१५. पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा।

बिभ्रद्बिभर्ति रूपाणि तावता व्यवहारतः।
यावत् स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम् ॥३३॥
तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा तथा।
विसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम् ॥३४॥

तत्। आकाशादिमहाभूतमयतन्मात्रपञ्चकव्यूहनात्मतया संहतम्; अनन्तरं सम्पर्कान्तरासम्भवादन्त्यकार्यम् अत एव बहूनां संघातात् घनं स्वदेशान्तरप्रतिबन्धकमत्यन्तपरसंमिश्रणासहं परिपुष्टद्वैतदृष्टिपर्यन्तनिविष्टम् ॥३३॥

अत ऊर्ध्वं यानि भुवनादीनि कार्याणि तान्येषामेव भूतानां विभवभूतानि

कुर्महे। **यावदिति**–यावच्छब्दस्यावधारणावधिवाचकत्वादिति भावः। **व्यक्ततरत्वादिति**—पञ्चत्रिंशत्तत्त्वकारणं हि पार्थिवं तत्त्वम्। तथा च तत्तत्सहकारिकारणोपस्कृतत्वात् कारणादपि कार्यस्य व्यक्ततरत्वात् स्थूलत्वम्, कार्यस्य कारणेऽन्तर्भावात्। **महत्त्वेति**—सर्वानुस्यूतत्वात्। सौक्ष्म्यम् इति—अव्यक्ततरत्वात्। पृथगिति—तत् पार्थिवं तत्त्वं '**नाप्रकाशः प्रकाशते**।' इति न्यायेन प्रकाशात्मत्वेऽपि चित्प्रकाशैक्याख्यातिमात्रात् पृथगेवास्ति। **जडाभासम्** = पार्थिवं तत्त्वम्। **आभास** इति—जलेऽपि शुक्लवर्णाभासादस्त्येव प्रकाशान्वयः; पार्थिवे कार्ष्ण्याभासान्नास्तीत्यर्थः। **तन्मात्रेति**—विशेषाणां सामान्यमूलत्वात्सामान्याकारं तन्मात्रपञ्चकम्। **व्यूहनम्** = विशेषरचना। **संहतम्** = निविडम्—मिलितम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यो व्यूढेभ्यः पार्थिवं तत्त्वम्। **अत्यन्तेति**—जलादिषु ह्येतानि सर्वाणि असंभाव्यानि। तानि ह्यन्यसम्पर्कसहनशक्तानि, अघनानि। स्वदेशान्तराप्रतिबन्धकानि अत्यन्तपरसंमिश्रणासहानि, अत एव न द्वैतदृष्टिपरिपोषकाणि ॥३३॥

ननु किमिदं **षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रत्** इत्युच्यते यावताऽन्यदपि विभवात्मकं

२०. पञ्चकर्मेन्द्रियाँ–हाथ, पैर, मुख, मल-मूत्र द्वार।

२१. मन २२. अहंकार २३. बुद्धि २४. प्रकृति २५. पुरुष ३०. माया के पाँच कञ्चुक–कला, विद्या, राग, काल तथा नियति। ३१. माया ३२. शुद्धविद्या ३३. ईश्वर ३४. सदाशिव ३५. शक्ति ३६. परमशिव।

इस प्रकार ३६ संख्यात्मक रूपों को धारण करते हुये परमशिव तब तक अनेक रूप धारण करते हैं जब तक कि यह परसंमिश्रणासह स्वदेशान्तरप्रतिबन्धक घनीभूत जड़ जगत् स्थूल रूप में प्रकट होकर व्यवहार के योग्य नहीं बन जाता ॥२९-३३॥

जिस प्रकार वह परम शिव उपर्युक्त ३६ तत्त्वरूपों को धारण करता है। उसी प्रकार उन ३६ के बाद उन्हीं से स्वयं ऊर्ध्वाधः वर्त्तमान तीनों लोक चौदह

स्थानानुरूपतो देहान् देहाकारेण भावनाः ।
आददत् तेन तेनैव रूपेण प्रविभाव्यते ॥३५॥

अपरिसंख्येयानि स एव निर्मिमीत इत्याह—**तथेति** । एवं यथा विश्वप्रपञ्चतननक्षमं तत्त्वरूपं षट्त्रिंशत्संख्यं कार्यं रूपेण बिभर्ति, तथा तैरेव तत्त्वैर्जनकसंसारिपुरुष-रूपेण निर्वर्त्तनीयानि न तु साक्षात् विधातुर्देवादिशरीराणि कार्याणि, केवलं प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या परस्याकिञ्चित्करत्वात् स एव स्वकमातापितृभूतादिरूपेण देवादीन् भुवनानि च तन्निवासरूपाणि विसृज्य, **प्रोत्कृष्टादिदेवमनुष्यतिर्यग्योनिरूपं** गृह्णाति ॥३४॥

भुवनजातमस्त्येवेत्याशङ्क्याह—अत इत्यादि । **शरीराणि** = भोगसाधनानि । **भुवनानि** = भोग्यानि । भोक्तारं देवतिर्यङ्मनुष्यरूपम् । **प्रोत्कृष्टेति**—अयमत्र तात्पर्यार्थः-आदौ ह्यपूर्णम्मन्यतारूपः परिस्पन्दोऽकर्मकमभिलाषमात्रं भविष्यदवच्छेद-योग्यतेति । ततोऽपि रागः कर्मावच्छिन्नोऽभिलाषः । कर्म तु तत्र कर्ममात्रम् । ततोऽपि कर्मभेदविचित्रो बुद्धिधर्मो राग इति । तदिदं मलोपोद्बलितं कर्म संसार-वैचित्र्यभोगे निमित्तमिति तद्भोगवासनानुविद्धानामणूनां भोगसाधनार्थं शरीराणि स एव सूयत इत्युक्तम्— नानेति । शरीरस्य भोगसाधनार्थं तानि तान्यनेकविधानि वासनानुसारेण भुवनानि, तदनुसारेण च भोगभुक्त्यन्तं तद्रूपतापरिग्रह इत्युक्तम्—प्रोत्कृष्टेति । **विधातुः** = परमेश्वरस्य-सर्वकर्त्तुः । **प्रत्यभिज्ञोक्तेति**—संवेदन-स्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वर एव विश्वभावशरीरः परमार्थतः सर्वजनकः । कथं तर्हि मातापित्रादेस्तदभिमान इति चेत् तर्हि इदं वक्तव्यम् किं शरीरेन्द्रियाणां तत्सामर्थ्यम् ? उत तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्य कस्यचित् ? शरीरेन्द्रियाणि हि जडस्वरूपत्वाद् भावराशि-मध्य एव निक्षितानि कथं तेषामुत्पत्त्यभिमानः ? या पुनस्तद्व्यतिरिक्ता संविन्नाम, तस्याश्च परमेश्वरसंविदोऽनधिकत्वमिति निर्णेष्यामः । तस्माद्यदत्र केचन शरणं सामग्रीवादमभ्युपागमन् सोऽपि परमेश्वरस्यैव कर्त्तृतोपोद्बलक इति । **परस्य** = तत्तत्प्रमातुः कर्त्तुश्च ।

"अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥"

इति तत्तदवान्तरभेदेऽपि त्रिविधत्वमेवेति बोध्यम् ॥३४॥

भुवनों को, एवं देव मनुष्य तिर्यक् प्राणी के रूप में उत्तम मध्यम अधम शरीरों की संरचना करता है या यह कहिये कि स्वयं उसी-उसी रूप को ग्रहण कर लेता है । ॥३४॥

वह परमशिव, जैसा-जैसा स्थान अर्थात् लोक या भुवन होता है वैसा-वैसा ही

क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः ।
संभत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे ॥३६॥
निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः ।
यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ॥३७॥
क्रीडन् करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः ।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥३८॥

शरीरभुवनवासना अन्योऽन्यानुरूपा गृह्णाति इत्याह—**स्थानानुरूपत** इति । अन्योऽन्यानुरूप्येणैवैषां देवादीनां विलक्षणव्यवहारनिर्वृत्तिः । स च शरीरादि **आददत् तेनैव** = **मायीयेनैव रूपेण** उपलक्ष्यते प्रसिद्धः ॥३५॥

स्वस्वरूपाख्यातेर्नरकादावपि स एवास्तीत्याह—**क्रीडये**ति । विश्वरचनामयक्रीडास्वभावेन, दुःखरूपतया वेदयिष्यमाणानि नरके, अथवा दुःखं वेदयिष्यमाणं नरके येषु तानि मायात्मकनियतिशक्तिवशात् पापकर्मकारीणि इह **शरीराणि गृह्णाति**; तथा नरक एवार्णवः तत्कुक्षावगाधभीषणे निवासीनि सन्ति तत्कर्मफलैः सम्बन्धमागमिष्यन्ति । परमेश्वरो नरकेऽपि स एवास्ते, न तु तदतिरिक्तः कश्चिदस्तीत्यैक्यमेव स्थिरीकृतम् ॥३६॥

एतदेव लौकिक दृष्टान्तेनाह—**यथे**ति । यथैश्वर्यचमत्कारवासितः **सार्वभौमी**

क्रीडयेति—उक्तमिदं यत्किञ्चिदेतद् भासते तत्सर्वं परमाद्वयनयोपदेशेन परस्वभावमयमेवेति । तत्र मा कश्चिदेवं निषिद्धाचरणेन स्वात्मानमज्ञानी नरके निमज्जयेदित्यत आह—**क्रीडयेति** । अज्ञानी हि चर्यैकायत्तभोगमोक्षः, अतस्तदुल्लङ्घनेनावश्यं नरकपातमर्हतीति । तथा परमानन्दघनोऽपि कथं नरकादावास्त इति यत् केचन भ्रान्तास्तान् प्रत्यद्वयप्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थमाह—**क्रीडयेति** ॥३६॥

शरीर धारण करता है और फिर जिस-जिस प्रकार का शरीर होता है उसी-उसी प्रकार की उसकी भावना भी होती है। फल यह होता है कि उसी-उसी रूप में वह इन लोकों में प्रसिद्धि को प्राप्त होता है । ॥३५॥

यह सम्पूर्ण विश्व उसके क्रीडास्वभाव की अभिव्यक्ति है इसलिए दुःखात्मकरूप में वेदनीय कर्म करने वाले एवं उस कर्म के फलस्वरूप नरकरूपी समुद्र में निवास करने वाले पापात्मक शरीरों को भी धारण करने वाला वह परमेश्वर ही है । जिस प्रकार समस्त ऐश्वर्य के आनन्द का भोग करने वाला राजा आनन्द की भावना से प्रेरित होकर पैदल चलने वालों जैसा आचरण करता है उसी प्रकार समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण होते हुए भी परमेश्वर आनन्दोल्लास के कारण भिन्न-भिन्न प्राणी के रूप में प्रकट होकर वैसा-वैसा आचरण करता है ॥॥३६-३८॥

इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः ।
सैव चोन्मुखतां याति सेच्छाज्ञानक्रियात्मताम् ॥३९॥
सैव शाक्तशरीरादिनारकान्तं हि भूतता ।
प्रसूयते स्वचिद्रूपप्रमुखं पार्थिवान्तकम् ॥४०॥
पदार्थत्वेन भगवान् सर्वत्रैव तदात्मता ।
स्वशिवत्वमिवाजानन् पश्चात्मव्यपदेशतः ॥४१॥

राजा निरर्गलतया क्रीडया तल्लक्षणस्वभावापत्तेः पदातिसम्बन्धिचेष्टितान्याचरति, तथा परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैर्भूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति । हर्षानुसारी स्पन्दः—क्रीडा ॥३८॥

पूर्वोक्तशक्त्यादितत्त्वमुपसंहर्तुमाह—**इत्थमिति** । अनेनोक्तप्रकारेण **शिवो** भगवान् बोधमात्रस्वरूपः पूर्णो निरपेक्ष आनन्दात्मा सदैव । तथा मायाशक्तिवशादात्माख्यातित आनन्दातिरिक्त इव तत्त्वतामेति जगन्निर्माणेच्छारूपेण स्थातुम् । तस्याः क्रियात्वात् तत्पूर्वभागात्मको**न्मुखतां** याति । सा च क्रमेणेच्छाज्ञानक्रियात्मतां याति । एतावता निर्मातृत्वेन शाक्तशरीरप्रभृतिनारकशरीरान्तरूपं **प्रसूयते** = स एव जायते । सा च **भूतता** = भूतसर्गः । निजचिन्मात्ररूपशिवतत्त्वादिपार्थिवतत्त्वान्तं रूपं पदार्थत्वेन तैस्तैरुच्यमानं **भगवान्** प्रसूयते । ततः **सर्वत्रैव तदात्मता** । युक्तिश्च वक्ष्यते ॥४०॥

इत्थमिति—'**आत्मैव सर्वभावेषु**' इति नयेन । **परनिर्वृतिः** = निर्वृतचिदित्यादिना । **सैवेति**—यदा तु तस्येत्यादिना । **सेच्छेति**—तस्येच्छेत्यादिना । **सैवेति**—कदाचित् स्थूलवेदनात् विद्यात्वेत्यादिना । **नारकान्तम्**—क्रीडयेत्यादिना । **तस्याः** = इच्छायाः । **प्रसूयते** = स एव तादृशो जायते ॥४०॥

इस प्रकार वह भगवान् परमशिव ही निरपेक्ष अखण्ड ज्ञानस्वरूप परनिर्वृति अर्थात् आनन्दात्मा है । वही निर्वृति मायाशक्ति के कारण स्वयं उससे आवृत होकर जगन्निर्माण की इच्छा के पूर्वभागरूप उन्मुखता को प्राप्त होती है । फिर वही आनन्दस्वरुप परनिर्वृति इच्छा ज्ञान और क्रिया के रूप में प्रकट होती है । फिर वही शक्त्यात्मक शरीर से लेकर नारकीय शरीर तक भौतिक रूप में आविर्भूत होती है । और पृथिवीपर्यन्त पदार्थ की सृष्टि के रूप में वही आनन्दज्ञानघन भगवान् प्रसूत होता है । इस प्रकार सर्वत्र मूलरूप में वही आत्मस्वरूपेण स्थित है ॥३९-४०॥

इस भूतात्मक सृष्टि में परमशिव पाँच रूपों में ज्ञान का अधिकरण बनकर रहते हैं । १. कहीं वे अपने शिवत्व का मानों ज्ञान ही नहीं रखते अर्थात् यह

तद्रूपत्वेन वा पश्यन् स्थितः शान्त इव क्वचित् ।
केवलेशदृढत्वेन क्वचित् केवलशंभुता ॥४२॥

भूतसर्गे प्रमातृपञ्चकं निदर्शयन्नाह—**स्वशिवत्वेति । स्वशिवत्वमजानन् इव पशवात्मव्यपदेशमासाद्य स्थितः ।** स्वरूपाभेदाख्यातिरेव हि मायाशक्तिकृता ग्राह्य-ग्राहकरूपसंसारात्मतयाऽवतिष्ठते । तत्र ग्राहकः पशुः पुर्यष्टकावाच्छिन्नं चैतन्यम् । स एव परिमितत्वादणुः, चैतन्यात्मतया नित्योऽमूर्त्तश्च; विश्वात्मतात्यागेनाज्ञः; अस्वातन्त्र्यात् क्रियागुणरहिताऽनीश्वरश्च; वेद्यपुर्यष्टकात्मनि भिन्न इव रागितया भोगोपायविचिन्तकः; मायाकृतत्वान्मायोदरान्तःस्थः । स्वशिवत्वाज्ञानं शिवभट्टा-रकस्यायुक्तम्, नित्यनिर्मलस्वभावत्वात्, तद्विना मलानामेवानुत्पत्तेस्तदधिष्ठानात्तेषाम् । ततस्तदज्ञानभागणुस्तदैव मायाशक्तिवशाद् उत्तिष्ठतीत्याणवमायामलद्वयोद्भवः । कार्ममलश्च तत्प्रभवः । **स्वशिवत्वमिवेति** इवग्रहणं **व्यपदेश**ग्रहणं चाज्ञानात्मकमेतत्, न वस्तुतः कश्चिद् ग्राह्यग्राहकभेद इति वक्तुम् । एतच्चेश्वरप्रत्यभिज्ञायां निपुण

तद्रूपत्वेन = शुद्धशिवत्वेन । **शान्तः** = ग्राह्यग्राहकक्षोभरहितः । **केवलेशेति**—तत्तन्निर्माणचतुरस्तत्तदुपादाननिमित्तकारणान्युपादाय स्वतन्त्रं चतुर्दशविधभूत-सृष्टिकारी कलेशकर्मविपाकाशयैः स्वयमपरामृष्टोऽन्यांश्च तत्र योजयन् स्वकर्मानुसारेण फलदाता पुरुषविशेष ईश्वर इति । **अप्रबुद्ध** इति—स्वरूपबोधेन हि पशुत्वम्लानिः, तदभावे भिन्नग्राह्यशून्यतायामपि न पाशच्छेदः । **प्रलयेति**—प्रलयाकलः कार्माणवमलद्वयभाजनम्, विज्ञानाकलः स्वातन्त्र्यहानिरूपाणवमलभाजनम् । **विक-लवत्** = स्वातन्त्र्यहान्या । **पशुः** नाम किल चिदचिद्रूपावभास एव । अचिद्रूपत्वं पुनर्मललक्षणम् । तद्रूपमप्याह—अज्ञ इत्यादि ।

भूतात्मक सर्ग अपने स्वरूप से अभिन्न है ऐसा मानों उन्हें ज्ञान ही नहीं रहता और ज्ञाता ज्ञेय के रूप में संसाररूप में वह रहते हैं। यहाँ ज्ञाता ही जो कि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन बुद्धि अहंकार इन आठ से युक्त है पशु है और वह नित्य अमूर्त्त अणु अज्ञ अनीश्वर, योग के साधनों के संग्रह में लगा हुआ माया के उदर में वर्त्तमान है । २. कहीं महामाया नामक विद्याशक्ति के कारण शिव के रूप में शान्तभाव से पड़े हुए तटस्थ होकर सब कुछ देखते रहते हैं । ३. और कहीं उसी विद्याशक्ति के तारतम्य के कारण वैशेषिक आदि के मतानुसार केवल ईश्वर या शंभु की सज्ञा धारण करते हैं । ४. अन्यत्र अवस्थाभेद से केवलविज्ञानमय होकर निर्मलप्रभुत्व को प्राप्त होकर माया के द्वारा उपस्थापित ग्राह्यता से शून्य होकर प्रलयकेवली कहलाते हैं । ५. और कहीं उक्त आठ अंगों से रहित

अप्रबुद्धो निष्कलश्च क्वचित् प्रलयकेवली ।
आत्मबोधी विकलवत् क्वचिद् विज्ञानकेवली ॥४३॥
योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता ।
न चास्ति साधनं किञ्चिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः ॥४४॥

विवेचितम् । क्वचिन्महामायाऽपरपर्यायविद्याशक्तिवशात् तद्रूपत्वेनात्मानं पश्यन् सर्वथा विश्वात्मतामनुगतः शान्त इव । अत्रापीवशब्दो ज्ञानविशेषेण शान्तता न तु वस्तुतः सार्वात्म्यविरह इति वक्तुम् । उत्तरत्रापीव शब्दस्तदर्थं योजनीयः । विद्याशक्तितारतम्यतश्च भेदात् क्वचिद् वैशेषिकादिमतकेवलेश्वरमात्रदृढाभिमानेन स्थितः; क्वचित् केवलशम्भुसंज्ञा शिवभेदेन । क्वाप्यवस्थाभेदावस्थितविज्ञानमय एवाम्लानपशुभावः मायाख्यमलोपस्थापितभिन्नग्राह्यशून्यः **प्रलयकेवली** भवति । अन्यत्र **आत्मबोधी** न तु पुर्यष्टकस्थः, प्रलयाकलवच्च ग्राह्यरहितः, कार्ममलास्पर्शी **विज्ञानकेवलिरूपः** ॥४३॥

मायाकृतत्वादिति—अनेनास्या द्विरूपता साधिता । तथा हि—तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयम्, तत एव च नित्यं स्रक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जडतयाभासयिष्यमाणत्वाज्जडम्; सकलकार्यव्यापारादिरूपत्वाच्च व्यापकं मायाख्यं तत्त्वमुपादानकारणम्; तदवभासकारिणी च परमेश्वरस्य मायाशक्तिस्ततोऽन्यैवेत्यभिनवगुप्तपादाः । न च मलसम्बन्धेनेत्याह—**तद्विनेति** । **तदधिष्ठानादिति**—परमेशेच्छामयत्वात् । **मलद्वयोद्भव** इति—तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाऽऽणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्त्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम् ॥ इति ।

तत्प्रभवः = मायोद्भवः । **तद्रूपत्वेन** = शिवत्वेन ॥४३॥

कर्मकृत मलों से असंस्पृष्ट विज्ञानकेवली होकर रहते हैं । अर्थात् प्रथम अवस्था में ग्राह्यग्राहकरूप भेदज्ञान रहता है जो कि सामान्यमनुष्य की स्थिति है । दूसरी अवस्था शुद्ध शिव की है जिसमें ग्राह्यग्राहक का क्षोभ नहीं रहता । तीसरी अवस्था में वह क्लेश कर्म विपाक आशय से अपरामृष्ट योग का ईश्वर होकर दूसरों को अपने जैसा होने की प्रेरणा देता है । चतुर्थ अवस्था में स्वरूपबोध होता है । प्रभुत्वभाव हट जाता है किन्तु बन्धन रहता ही है । पञ्चम अवस्था विज्ञानात्मक है ॥४१–४३॥

जिस प्रकार योगिजनों की अपनी इच्छा से अनेक प्रकार की रूपात्मक वस्तुयें

तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते ।
दृश्यन्तेऽत्र तदिच्छातो भावाः कामादियोगतः ॥४५॥

इच्छावशेनैवमवस्थानमिति बहुतरवाद्युपेतदृष्टान्तमाह—**योगिनामिति** । योगिनामिच्छामात्रेण नानागृहादिरूपाणां **उपपत्तिता** = क्रियात्मत्वम्, आसाद्यत इति शेषः । न च मृत्काष्ठादि तेषां तक्षादीनामिव किञ्चित्साधनमस्ति परमेश्वरेच्छातिरिक्तम् । तद्रूपताऽऽपत्त्या हि ते निर्मिमते । तथा भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरूपत्वं सम्पद्यते ॥४४॥

दृष्टमुदाहरणमाह—**दृश्यन्त** इति । कामशोकभयादियोगाच्च ते ते **भावाः पुरः** स्फुरन्तो दृश्यन्ते । तत्र भगवदिच्छैव कारणम्, तावत्यंशे भावनावशादीश्वरताऽऽवेशात् । न च तत्र चौरादयो मिथ्यारूपा भान्ति—यतोऽग्रे सत्यत्वमीदृशानामवश्यं स्थापनीयम् ॥४५॥

बहुतरवादीति—

न दृश्यते त्वत्प्रतिभासशक्तेः स्वप्नेऽर्थवैचित्र्यनिमित्तमन्यत् ।
तद्दृष्टसामर्थ्यतया सदैषा विश्वप्रपञ्चप्रथनैकहेतुः ॥

इति भट्टदिवाकरवत्सोक्तनयेन यद्यपि स्वप्नसंकल्पकामशोकादिविषयपरिदृष्टभावाभासनिर्माणसामर्थ्यं संविद एवानुभूयते, तथापि घटादेः प्रसिद्धमृदादिकारणपरम्परापराकरणेन तदत्रासत्यं घटादीति केचन विप्रतिपन्नास्तान् प्रति योगिदृष्टान्तेनेच्छानिर्माणं समर्थयति । **योगिनामिति**—योगी हि पुरसेनादिनिर्माणमिच्छावशादेव करोतीति सिद्धम् । तत्र हि तदिच्छया झटिति सङ्घटिताः परमाणव उपादानमित्युच्यमाने यदि प्रसिद्धो घटसम्पादकः समस्तकर्मशिक्षाधर्माधर्मदण्डादिसहकारिसहितः स्वोपादानोचितः कपालादिकारणकलापोऽभ्युपेयते, तत्कुलालविशेष इवायं योगीत्यायातम् । अहो तर्हि तस्य योगिनो योगित्वमिति तत्र तदुल्लङ्घनमेवेत्याह—**इच्छामात्रेणोपपत्तिता क्रियात्मत्वमासाद्यत** इति । **त** इति—योगिनश्च शरीरप्राणाद्यारूषितमपि चैतन्यं तावन्नैर्मल्यान्निर्मातृस्वशरीरप्राणादिसहितप्रमात्रन्तरापेक्षया बाह्यत्वेन तस्यार्थस्य चित्तत्त्वमेव सर्वत्र निर्मातृ । **दृष्टम्** = प्रत्यक्षसिद्धम् । **पुरः** = प्रत्यक्षत एवार्थक्रियाकारित्वात् । **भगवदिच्छेति**—चित्तत्त्वं यतः स्वात्मरूपमह-

घर द्वार इत्यादि बन जाती हैं वहाँ परमेश्वर की इच्छा के अतिरिक्त मिट्टी आदि कोई दूसरा साधन नहीं रहता उसी प्रकार भगवान् की इच्छामात्र से यह विश्व प्रकट होता है ॥४४॥

अथवा काम शोक भय आदि के होने पर उसी-उसी तरह के पदार्थ सामने दिखलाई पड़ते हैं । कारण वहाँ वैसी भावना होने पर ईश्वरत्व के आवेश से वैसी

तत्र मिथ्यास्वरूपं चेत्स्थाप्याऽग्रे सत्यतेदृशाम् ।
एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता ॥४६॥
नीरूपता निर्वृतिर्वा शक्तित्रितययोगिता ।
सचित्त्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाऽग्रतः ॥४७॥
एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता ।
परापरादिभेदोऽत्र श्रद्धानैरुदाहृतः ॥४८॥

एवमेतदप्यग्रे वक्ष्यते इत्याह—एवमिति । उक्तं तावत्—

"पदार्थत्वेन भगवान्........." । (शि० दृ० १.४१)

इत्यादिना तत्त्वभूतमुखेन सर्वस्य शिवरूपत्वम् । इदानीं यथा घटपटादिष्वपि भावेषु शिवता, तद्रूपत्वाच्च परिमितरूपैर्नीरूपत्वम्, निर्वृतिः, इच्छादियोगिता, सचित्त्वम् = अजडत्वं च सम्यगेव स्थितम् = उपपन्नम्, तथाऽग्रतोऽवश्यं कथनीयम् ॥४७॥

एवं स्थिते यद्भवति तदाह—एवं सर्वेति । परमशिवात् प्रभृति घटाद्यन्तानामपि पदार्थानां समैव = अन्यूनानतिरिक्ता च शिवता पूर्णचिद्रूपानतिरेकान्नियता सर्वेषां

मित्यनन्यापेक्षप्रकाशविमर्शं ततस्तस्य यदाभासनं तत्तावदुपपन्नं न प्रयत्नसाध्यं तदभेदिनश्च भावराशेः प्रकाशात्मत्वादुपपन्नमाभासनमित्यर्थः ॥४५॥

तत्र सर्वेषां भावानां तथा शिवता भवति यदि तद्धर्मयोगस्तत्रापि भवति, नान्यथा—इत्यतः सर्वं तत्समर्थकं समर्थयति—तद्रूपत्वाच्चेति । निर्वृतिः—कर्मावच्छिन्ना औन्मुख्यरूपा । उपपन्नम् = युक्त्याऽनुभूतम् । सर्वपदार्थानां सर्वशक्तिसंपूर्णशिवत्वे स्थिते । ननु यदि संपूर्णैव तेष्वपि शिवता, तत्किमित्यागमेषु परापरादिभेदो नियमेन कथ्यते ? इत्याशङ्क्याह—परापरेत्यादि । नियता = सर्वस्य पदार्थजातस्यावश्यंभाविनी । ननु च भवतु सर्वत्र पूर्णशिवतत्त्वोपयोगस्तथापि स्वात्मनि

वस्तुयें पैदा हो जाती हैं और काम शोक भय आदि के कारण स्त्री भृत्य चोर आदि सत्य प्रतीत होते हैं क्योंकि इसकी सत्यता को प्रमाणित किया जायेगा । तो सब जगह भगवान शिव की इच्छा ही कारण है ॥४५–४६॥

इसी प्रकार सभी जड़ चेतन सर्वत्र सभी तत्त्व शिव रूप ही है । वही नीरूप भी है । वही निर्वृति अर्थात् कर्मावच्छिन्ना औन्मुखता भी है । वही इच्छा ज्ञान और क्रिया तीनों शक्तियों की योग्यता है । सर्वत्र चैतन्य रूप में वही है यह आगे कहेंगे ॥४६–४७॥

इस प्रकार परमशिव से लेकर घट पट मठ आदि पर्यन्त समस्त पदार्थों में समानरूप से शिवत्व वर्तमान है । वहाँ पर अपर इत्यादि भेदों का वर्णन श्रद्धा-

एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम् ।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता ॥४९॥

तथा सामरस्यासादनात् कापि स्थितिः स्यादित्यर्थः । एवं च सर्वस्य शिवरूपसामरस्यात् तदरव्यातिमयशुद्धचशुद्धिरूपपरापरादिभेदो भावानामुक्तः । तत्र श्रद्धामात्रेणोपपत्तिरहितेन जन्तूनाम्, न तु वस्तुनः शुद्धिरशुद्धिर्वा काचित् ॥४८॥

एवं सर्वेषां सत्यत्वमाह—एवमिति । उक्तक्रमेण भेदात्मकं न तु भावभेदपृथग्भूतम् । भेदा अपि तदात्मकाः, अत एव तदनन्तकम्, भिन्नार्थसद्भावे सति अन्तः स्यात्, तद्रूपानाक्रमणात् । एवं व्यवस्थानस्वभावत्वात् **तस्य** = परमेश्वरस्य, **नानारूपेऽपि** विश्वस्मिन् **सत्यतैवेति** ॥४९॥

इति श्रीशिवदृष्टौ श्रीमदुत्पलदेवप्रभुपादनिर्मितायां वृत्तौ प्रथममाह्निकम् ॥

स्थितत्वात् कश्चमत्कारातिशय इत्यत आह—**स्थितिरिति** । योगिनो हीदृशी यदि स्थितिस्तदा सर्वचमत्कार एवेत्यर्थः ॥४८॥

उक्तक्रमेण = **रूपप्रसाररसत** इत्यादिना । **न त्विति**—अनेन न तेषां स्वकीयं रूपं किञ्चिदिति द्योतितम् । ननु भेदोऽपि भाति, किं चात्र शरणम् ? इत्याह—**तदात्मका** इति ।

वालों की अपनी सूझ-बूझ है । वस्तुतः न तो कोई वस्तु शुद्ध अशुद्ध है और न शिव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की पारमार्थिक स्थिति है ॥४८॥

इस प्रकार यदि भेद मानते हैं तो भेदात्मक शिवतत्त्व अनन्त है और वस्तुतः वह अभेदात्मक है । इसीलिए उसकी व्यवस्थारूप स्वभाव के कारण नानारूपों में वर्त्तमान होते हुए भी वह सत्य है ।

●

द्वितीयमाह्निकम्

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ॥१॥

वृत्तिः–ईश्वराद्वयवाद एव युक्तियुक्तः, न तु शब्दपरब्रह्माद्वयवाद इति वक्तुम्, वैयाकरणोपेतशब्दाद्वैतं तावन्निराकर्त्तुमुपक्रममाण आह—**अथेति** । पश्यन्ती यद्यपि नादरूपतया-विश्वमामृशन्ती क्रियाशक्तिरूपतया समन्विता, तथापि 'पश्यन्ती' इति दर्शनप्राधान्यात् उपचरितज्ञानशक्तिरूपत्वेऽप्याश्रीयमाणे परमशिवरूपताया अत्यन्तदूरवर्त्तिनी न तु पर्यन्तदशाऽसौ, ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूपत्वात् परापरव्यवस्थाऽत्र । तेषां पुनः सा पराऽवस्था मता । सदाशिवरूपत्वे च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता । यदुक्तम्—

"ज्ञानक्रिये सादाख्यम्" इति ।

शक्तिशक्तिमतोरभेदात् ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः; उद्रिक्तक्रियाशक्तिरीश्वर इति । अत एवेच्छाशक्तिमयः शिवो यावत्चित्स्वातन्त्र्यशक्तिमान्, पर्यन्ते परमशिवः । अत्रान्तरे चौन्मुख्यनिर्वृत्यपेक्षयाऽधिकतत्त्वसम्भवः । तदस्तु मा वा भूत्, नैतदिह मुख्यवृत्त्या प्रतिपाद्यम् । अत एवाधिकशक्तिप्रदर्शने कृतेऽप्युक्तं **"षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रत्"** इति । शिवाभेदतात्पर्यं तु न खण्ड्यत इति नियमः । मायोत्तीर्णेऽप्यध्वनि

टि०–तदेवंमियतासर्वशासनार्थसंक्षेपार्थसूचकेन पीठिकाबन्धरूपेणोपोद्घातपरेणानेन प्रथमाह्निकेन परमेश्वर एक एव तावत् स्वरूपप्रसारेण परापरादिरूपतया भासते, तथात्वेऽपि न खण्डितव्यपदेशव्यवहार्यः । तथा हि—परावस्थायां तावत् पूर्णानन्द-स्वभाव एव, परापरायामपि रूपप्रसाररसादेव न काचन विकल्पकलङ्ककल्पना, अपरावस्थायां पुनः प्राकृतप्रजायामपि च तस्य सहजप्रकाशबोधोऽस्तीत्यपि समर्थितम् । तदेतत्त्रिधात्वमप्यन्यवादिमतेऽनुपपत्त्या समर्थितमपि शिथिलितमिव भाति । तस्मिन् हि निरसिते सर्वमिदं मेघावरणविगमेनेव स्वप्रकाशभानुकिरणवृन्दमत्यन्तस्वच्छं भासते नान्यथा, पांशुपातेन हि न मणेर्महार्घताऽपगच्छति, परं मलिनो भाति । तत्र प्राधान्येनेह परब्रह्माद्वयवाद एव निरसनीयः; प्रसङ्गागतस्य च शब्दब्रह्माद्वयवादस्य निरसनं तावत् तण्डुलशुद्धाविव कणनिरसनमिति तन्निरसनायाह—**शब्दब्रह्मे**त्यादि । **युक्तीति**—अनुभवानुवर्त्ती सत्तर्कप्रकारो युक्तिः । **अथेति** स्वसिद्धान्तकथनानन्तरं

चि०–हम शैवमतावलम्बियों की जो ज्ञानशक्ति सदाशिव के स्वरूप में स्वीकृत है वही वैयाकरणों के मत में पश्यन्ती या परब्रह्मरूप परावाक् है । ॥१॥

विद्योन्मेषेऽपि कार्ममलानुल्लासात् संसारासम्पर्केऽपि परमेश्वरभेदाख्यातेः सर्वथैवाविच्छेदादागमावगतेश्वरेच्छावशोत्थपरापरदशाव्यपदेश्योक्ततत्त्वोपगमः । **वैयाकरणसाधूनामिति** साधुग्रहणमेषां जाड्यख्यापनाय । परमपि हि रूपं यदि पश्यन्त्याः यदुक्तम्—"प्रतिलब्धसमाधाना च ।" इति, "विशुद्धा च ।" इति; "प्रशान्तप्रत्यवभासा च ।" इति । अन्यद्वाऽपि अतोऽधिकतरं प्रकृष्टरूपमस्याः स्यात्; तथाऽपि 'सरो' 'रसः' इति मध्यमायामुन्मिषतः क्रमस्य कारणभूतायां तत्क्रमशक्तिरस्त्येव ।

परप्रक्रियारम्भे । ज्ञानशक्तौ हीच्छायां यद् बीजतयाऽवस्थितं तदेव विकसितम् । ततश्चात्रामर्शासम्भवात् कथं ज्ञानशक्तित्वमिहाप्युक्तम् ? ज्ञानदर्शनयोग्यतेत्यत्र योग्यतेति ? ततश्च कथमुक्तं ज्ञानशक्तिः पश्यन्ती ? इति मत्वाह—**यद्यपीति** । **अप्याश्रीयमाण** इति—अपिशब्दोऽत्रोपरोधेनैव ज्ञानशक्तित्वं न तु वस्तुत इति द्योतयति । ननु यदि भवद्भिः पश्यन्त्या नादशक्तिरूपतया क्रियाशक्तिरेवाभ्युपगता येन **यद्यपी**त्याद्युक्तं सूत्रकारेण, कथं ज्ञानशक्तिः सदाशिवरूपतेति महानयं स्वकटकक्षोभ सम्पन्न इत्याशङ्क्याह—**सदाशिवरूपत्वे चेति** । ज्ञानशक्तियोग्यता क्रियाशक्तिप्रारम्भः सदाशिवत्वमित्यर्थः । ननु ज्ञानशक्तिः सदाशिवतेति कोऽयं निर्देश इत्यत आह—**शक्तीति** । प्रसङ्गागतमाह—**अत एवेति** । ननु किं तर्ह्यत्र प्रतिपाद्यम् ? सर्वथा हि निःशेषतः कथिते प्रकृतं साध्यं सिध्यत्यत आह—**शिवाभेद** इति । सर्वथा हि शिवाभेदतात्पर्यमिह साध्यमिति नियमः । तच्च, अस्तु वाधिक्यं माऽस्तु वा, न खण्ड्यत इत्यर्थः । ननु च सर्वत्र हि मायाया उच्छेद एवाङ्गीकृतः, स च ज्ञानशक्तावप्यस्ति ततोऽलमनेन, ज्ञानशक्तिरस्माकं तेषां परा स्थितिरिति शङ्कित्वाऽऽह—**मायोत्तीर्ण** इति । **तत्त्वोपगम** इति—तेन नात्र परतत्त्वस्थितिरित्यर्थः । **साध्विति**—यथा लौकिकेऽपि अत्यन्तमूर्खेऽपि 'साधुरयम्', इति व्यवहारः । **समाधाना** = केवलशब्दार्थरहितस्वरूपसमाहितिः । **विशुद्धा** = ग्राह्यग्राहककल्लोलरहिता । **प्रशान्तप्रत्यवभासा** = गलितबाह्यविकल्पावभासा । **सर** इति—**तथापीति** मूलभूतत्वात्तस्याः । यदि तस्यां सूक्ष्मक्रमकलना न स्यात् तर्हि सरो रसः इत्यत्र क्रमस्मरणे निमित्ताभावादुत्क्रमणेन स्मरणं मन्तव्यम्, तत्र हि एकस्मृत्युपारूढानां वर्णानामर्थावबोधकत्वमुक्तम्, तच्च सति कारणे तादृक् प्रतिभासे भवति नान्यथेत्यर्थः । **पूर्णा**—अन्तःसमाविष्टक्रमत्वात् । ननु च पश्यन्ती तादृश्यस्तु तस्याः कथं तत्र विवादः ? ततोऽन्याऽपि काचिदस्त्यक्रमा इत्यत आह—**एवमिति** । पश्यन्त्या एव परब्रह्मरूपतेत्यर्थः । अक्षयम् = अन्तरहितम् । **अक्षरम्** = कल्पनोज्झितम् । **परेति**—सर्वतः पूर्णत्वात् सूक्ष्मा । ननु वाचः प्राणस्पन्दात्मकत्वात्कथं शब्दरूपमेव परं ब्रह्मेत्यत आह—**वाग्रूपतामिति** ।

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम् ।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥२॥
स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्त्तते ।
अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ॥३॥

यदुक्तम्—"प्रतिसंहृतक्रमाऽप्यन्तःसत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती ।" इति । ततो न सा पूर्णा पर्यन्तदशेति कथं तस्याः परस्थितिरूपता = परब्रह्मरूपता = शब्दब्रह्मरूपता ? ॥१॥

तथा च त एवमाहुरित्याह—इत्याहुरिति । यदनाद्यनन्तं च परं ब्रह्म चिद्रूपं तदक्षरं निर्विकारं शब्दरूपम् । सैव च पश्यन्तीसंज्ञा परा वाक् । वाग्रूपतां विना परब्रह्माख्यश्चित्प्रकाशोऽपि न प्रकाशेत । सा हि प्रत्यवमर्शिनी । प्रत्यवमर्शनमेव च प्रकाशनमुच्यत इत्याहुस्ते ॥२॥

स एव चात्मेत्याह—स एवात्मेति । या अन्तःपश्यदवस्था भोक्तृतारूपा ज्ञेयरूपशून्यं चिद्रूपत्वम् = चैतन्यमात्रं स एवात्मा कथ्यते । सर्वदेहव्यापकस्तद्भोगायतनावस्थितो भोग्यं भुङ्क्ते ॥३॥

"वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
नाप्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥"
(वा० प० १.१२४) इति भर्तृहरिपादाः ।

यद्यपि परं ब्रह्म चित्प्रकाश एवाभ्युपगतस्तथा चात्र कथं शब्दरूपता ? तथात्वे हि तत्प्रकाशतैव न कथंचन सिध्यति इति कैवोक्तिर्वाग्रूपतां विनेत्यादि ? न, चिद्रूपस्य यच्चिद्रूपत्वं तदेव वाग्रूपतेति यतस्तन्मतमित्याह—प्रत्यवमर्शनमेवेति ॥१॥

नन्वस्त्वेतादृग्लक्षणं शब्दब्रह्मानाद्यन्तं पूर्णं तथापि कस्य बन्धः कस्य मोक्षः, तदर्थमेव व्यवहारप्रवृत्तिरिति तावद् भोक्तारम् बन्धमोक्षाधिकारिणमविद्योपरागात् स्वतः स्वच्छं समर्थयति—स एवेति । वर्त्तते = भोग्यं प्रति प्रवर्त्तते । अरूपकम् = ज्ञेयदन्ताविषयम् । अन्तःपश्यदवस्थेति—भोक्तृरूपत्वेन तस्यावस्थितिः, तेनावस्थैव तावज्जीवता सिद्धा। तद्भोगेति—तस्य = भोक्तुः । स एवेति—अवस्थाया अवस्थातु-

इस प्रकार जो अनादि अक्षय परमब्रह्म है वही अक्षर शब्दरूप है वही पश्यन्ती नामक परावाक् है ॥२॥

वही अन्तःपश्यदवस्था वाला अर्थात् भोक्ता के रूप में ज्ञेयरूप से रहित चैतन्यमात्र आत्मा समस्त शरीरों में व्यापकरूप से रहता हुआ शरीरों के अन्दर रहकर भोगों को भोगता है ॥३॥

तावद्यावत्परा काष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम् ।
अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम् ॥४॥
सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम् ।
ब्रह्मतत्त्वं परा काष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥५॥

स एव परमात्मा सर्वज्ञ इत्याह—**तावदिति** । अभ्यासप्रकर्षात्तथा **काष्ठा** प्राप्ता सा पश्यन्त्येव भवति । यथाऽनन्तं सर्वमेव विश्वं पश्यति येन दर्शनक्रियार्थोऽस्याः पूर्यते । तदैवाविद्योपशमात् परमार्थोऽसावित्याह—**अक्षादीत्यादि** । तदाऽर्थप्रकाशनव्यापारः इन्द्रियाद्यालोचनाद्युपायोपयोगो नास्ति; देशकालजात्यवच्छेदश्च । अत एव सर्वतो देशात् कालाच्च यः क्रमस्तदुपदेशमात्रं ब्रह्मतत्त्वं क्रमस्यैव संसाररूपत्वात्, अतश्च सर्वग्राह्यग्राहकाकारवर्जितम्, ततः परतरस्याभावात् **परा काष्ठा** प्राप्तं तत् स एव च **परमार्थः** = पश्यन्तीरूपः ॥५॥

रव्यातिरिक्तत्वाद् भोग्यरूपावस्थानिवृत्तौ पुनरपि केवलमवस्थातैवावशिष्यत इत्याह—**स एवेति** । **तावदिति**—अत्र **परा काष्ठा** इत्यावृत्तिपक्षेण योजनीयम् । तथा च यावत् परा काष्ठा प्राप्ता तावदेवानन्तकं पश्यन्तीमयमेव सर्वं विश्वं पश्यति । **यावदि**त्यवधारणे; ततः परा काष्ठा पश्यन्त्येव भवतीत्यर्थः । **काष्ठेति**—भोग्यप्रवृत्तिरहिता । अविद्यालक्षणं तदवस्थारूपं भोक्तृतालक्षणं संसारिणं जीवमुपपाद्य तदनुषङ्गेण च शुद्धमपि परमात्मलक्षणं सर्वज्ञमुपपाद्य परमुपेय इत्याह—**परमार्थोऽसावित्यादि** । **हीनम्**—सर्वतोऽवच्छेदविरहात् । **आकारेति**—ग्राह्यग्राहकाकारेण, नियतस्वरूपत्वस्यादिना गृहीतत्वात् । **तदेवेति**—एवकारो भिन्नक्रमः, **स** इत्यनन्तरं योज्यः । **देशकालेति**—देशकालादयः शून्या अत्रेति **देशकालादिशून्यकम्**, तेषामपि तदनतिरिक्तवृत्तिकत्वादत एव वृत्तौ **देशकालजात्यवच्छेदश्चे**त्युक्तम् । **क्रमस्यैवेति**—क्रम एव संसारः, तेन तदात्मत्वेऽपि क्रमाभावाद् तच्छून्यत्वम् । **परतरस्य** = अन्यस्य = अधिकस्य ।

स एवेति—अथेदानीमादौ पारमार्थिकं पश्यन्तीस्वरूपमुक्त्वा, तदनन्तरं जीवपरमात्मपरस्थितीर्निगमय्य, पुनस्तत्प्रसरक्रमेण व्यावहारिकीं संसारस्थितिं प्राह, येनायं

वही परमात्मा अभ्यास के प्रकर्ष से अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर समस्त विश्व का एक साथ दर्शन करने में समर्थ हो जाता है । ॥४॥

और उस समय उसके विषय में इन्द्रियों का व्यापार रुक जाता है, देश काल की सीमा समाप्त हो जाती है, उपक्रम और उपसंहार, ग्राह्य और ग्राहक इत्यादि द्वन्द से रहित वह ब्रह्मतत्त्व पराकाष्ठा अर्थात् अन्तिम स्थिति को प्राप्त हो जाता है और वही अन्तिम तत्त्व अर्थात् पश्यन्तीरूप है ॥५॥

आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया ।
मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥६॥
संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठादिस्थानभागशः ।
वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात् ॥७॥

स एव च पुनरेवं भवतीत्याह—आस्त इति । स एव पश्यन्तीरूपः शब्दोऽर्थ-प्रतिपादनेच्छारूपया विवक्षयोपलक्षिते मनोविज्ञानरूपत्वे **आस्ते । सैव च मध्यमा वाक् कथ्यते** क्रमेण बिन्दुनादसंज्ञप्राणापानवायूल्लासात् 'प्राणापानान्तरे नित्यमेका सर्वस्य तिष्ठति ।' इति ॥६॥

पुनरप्येवमास्त इत्याह—**संप्राप्तेति** । अत्रापि बिन्दुनादमरुत्क्रमात् सा पश्यन्ती **संप्राप्ता वक्त्रकुहरमिति** योज्यम् । तदुक्तम्—

'प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेव प्रलीयते ।' (वा० प० १.११६) इति । ततो वक्त्रोदरं प्राप्ता कण्ठादिस्थानभागेषु विभक्तककारादिवर्णरूपा वैखरी वर्ण्यते ।

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तनिबन्धना ॥ इति ।

परतोऽपि बाह्यार्थवासनया अविद्यारूपया क्रमेण घटपटाद्याकारैर्विवृत्ता सैव वाक् चक्षुरादीनां ग्राह्यभावमापद्यते ॥७॥

ग्राह्यग्राहकाडम्बरो विवर्त्तमान आस्त इति **स एवे**त्याशङ्कापूर्वकम् । **मनोविज्ञानरूपत्व** इत्यनेन पश्यन्तीरूपस्य शब्दस्य यैवार्थप्रतिपादनेच्छा विवक्षारूपा तदेव मनोविज्ञान-रूपत्वम्, स एव पश्यन्त्यामभेदस्थितौ सत्यामपि क्रमोल्लासः, सैवान्तःसंजल्परूपा मध्यमेति सूचितम् । **आस्ते** = स्थितिं भजते । **क्रमेणेति**—तेन प्राणापानवायूल्लास एव क्रमाभास इत्यर्थः । **एका** = पश्यन्तीरूपा सुषुम्णा । **कण्ठादीति**—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ (पा० शि० १३)

शब्दतत्त्वमिति—शब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च **शब्दतत्त्वम्**, तथा हि—सर्व-प्रत्यय उपजायमानो नानुल्लिखितशब्दक उपजायते, तदुल्लेखविरहिणोऽनासादित-

---

वही पश्यन्तीरूप वाला आत्मतत्त्व जब अर्थबोध कराने की इच्छा से युक्त होता है तब मनोविज्ञान के रूप में वर्त्तमान वह प्राण और अपान वायु, जिनका दूसरा नाम क्रमशः बिन्दु और नाद है, के उल्लास से मध्यमावाक् कहलाता है ॥६॥

और फिर वही मुख में वर्त्तमान कण्ठ तालु आदि स्थानों में पहुँचकर जब बाहरी पदार्थों को प्रकट करने की इच्छा से प्रयुक्त होता है तब घट पट आदि आकारों में परिवर्तित वही चक्षु आदि का विषय बन जाता है । ॥७॥

घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षुरादिना।
यस्मात्तैरुच्यते सद्भिरेवं वस्तुप्रवृत्तये ॥८॥
"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" ॥९॥
"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते"।
"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" ॥१०॥

तथा ते प्राहुरित्याह—**यस्मात्तैरिति**। यस्मात् **तैः** = वैयाकरणैः **सद्भिः** = साधुभिर्बुधैः **एवम्** = उक्तरूपम् प्रतिपादितम्, पश्यन्तीरूपं **शब्दतत्त्वमक्षरमनाद्यन्तं ब्रह्म** विश्वार्थभावेन **विवर्त्तते** = तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति; असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्त्तः, तस्यास्तद् विवर्त्तते, यतः = विवर्तनात्, **प्रक्रिया** = भावभूतभुवनादिविन्यासवैचित्र्यम्—इति। तथा न स घटपटादिप्रत्ययो लोकव्यवहारेऽस्ति यो वाचकशब्दानुगमवर्जितः। वाग्रूपतां विना न ब्रह्मतत्त्वप्रकाशोऽपि प्रकाशेत, **'सा हि प्रत्यवमर्शिनी'** इति। तथैवंभूते पश्यन्तीरूपे शब्दाख्ये **ब्रह्मणि** यो

प्रकाशस्वभावस्य निर्विषयत्वात्, इदमीदृशमित्यादिपरामर्शः मुषितवपुषि वेदने वेदनात्मकतैव न भवेत्। अतः शब्दोन्मेषप्रभावप्राप्तप्रकाशस्वभावत्वात् सर्वप्रत्ययानां शब्दानुविद्धबोधकत्वमिति सर्वं शब्दतत्त्वमिति निश्चयः। ततश्च शब्दतत्त्वमेवार्थभावेन विवर्त्तते। तथा हि—शब्दाख्यविशेषानुवेधवन्ध्यबोधविशेषाननुभवात् सर्वं निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा ज्ञानं शब्दविशिष्टमर्थं भासयति ? गौः शुक्लो गच्छति—इति जातिगुणक्रियाऽवच्छिन्नविषयावभासिनि प्रत्यये शब्दविशिष्ट एवार्थः परिस्फुरतीति। शब्दाख्यविशेषानुरक्तस्य तस्य विशेषस्य स्वरूपं पृष्टः शब्दमेव दर्शयति। शब्दापरित्यागलब्धप्रकाशस्वरूपयैवानुभूत्याऽनुभवामीति सोऽपि विशेष्यः शब्दस्वरूप एवेति। तदेवं शब्द एवार्थोपारूढः प्रतिभातीति व्यवतिष्ठते। यदुपारूढः शब्दः प्रकाशते तस्य पृथक् प्रदर्शयितुमनुभवितुं चाशक्यत्वाच्छब्द एव तथा तथा प्रतिभातीति शब्दविवर्त्त एवायमर्थो नान्यः कश्चिदिति। अतश्च शब्दब्रह्मेदमेकमविद्योपाधिदर्शितविचित्रभेदमविद्योपरमे यथाऽवस्थितस्वरूपं प्रकाशत इति स्थितम्। **विवर्त्तत** इति—शब्दब्रह्मैवेदमनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानभेदम्, **अर्थभावेन विवर्त्तते**; न तु वाचका-

---

इस प्रकार वस्तुओं के व्यवहार के लिए वैयाकरणों का यह कथन है कि आदि-अन्तरहित अक्षरशब्दतत्त्वरूप ब्रह्म समस्त संसार के पदार्थो के रूप में अतात्त्विक भाव से परिणत होता रहता है और इसी से संसार का सृष्टिक्रम चलता है। संसार के व्यवहार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो वाचक शब्द के विना भी निष्पन्न होता हो। फलतः वाग्रूपता के विना ब्रह्मतत्त्व का भी प्रकाश सम्भव नहीं

"अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा"।
इत्यादिवाक्यरचनैस्तैरेवं प्रतिपादितम् ॥११॥
तद्विचाराय राद्धान्तः सम्प्रत्येष विधीयते।
आदौ तावदिन्द्रियत्वे स्थिता वाक् कर्मसंज्ञिते ॥१२॥

निष्णातः, तेन **परं ब्रह्म** अधिगतं भवतीति। तथा तच्च पश्यन्तीरूपं ग्राह्यग्राहक-विभागक्रमरहितम्, **अविभागा तु पश्यन्ती** देशकालक्रमसंहारवती चेति, आदि-ग्रहणात् प्राक् प्रदर्शितमध्यमावैखर्यादिवाक्यैरुक्तमिति ॥११॥

तदिदानीं विचार्यत इत्याह—**तद्विचारायेति**। वैयाकरणोक्तविचारार्थं सिद्धान्तो वक्ष्यमाणो युक्तियुक्तत्वात् यः स परिनिष्ठां प्राप्यते। तथा चेत्याह—**आदाविति**।

दपि विभक्तं वाच्यमपि नाम किञ्चिदस्ति; काल्पनिक एव वाच्यवाचकविभागोऽय-मविद्यैव विद्योपाय इत्याश्रीयते। वाग्रूपता तु तत्त्वम्, सर्वत्र प्रत्यये तदनपायात्।

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायनी ॥
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते ॥ इति।

उपगच्छति = अङ्गीकरोति। **शब्दाख्ये** = शब्दस्वरूपे **ब्रह्मणि निष्णातः** = अभ्यास-प्रकर्षात् परधारारूढः, तेन **परं ब्रह्म** अधिगतम् = स्वतोऽवगतम्, भवति, न शब्द-ब्रह्मपरब्रह्मणोर्भेद इत्यर्थः। यथोक्तम्—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इति। (ब्र० वि० उ० १७) **निष्णातः** = कृताभ्यासः। **वैखर्यादीति**—विखरः = शरीरः, तत्र वर्त्तमाना ॥११॥

तद्विचारायेति—एवं स्वसिद्धान्तस्थापनार्थं शब्दाद्वैतब्रह्मवादिमतमुपन्यस्तम्, तत्र तु प्रथममेव तदनुपपत्तिः सूचिता—**अथास्माकम्**'—इत्यादिना। अधुना तत्तादृशमपि न युक्तियुक्तमित्येतदर्थमारम्भः। **राद्धान्तः** पूर्वप्रसिद्ध एव, न तु स्वबुद्धिकौशलेनापूर्वतया कल्पित इत्यर्थः। यदि च स सिद्धान्तः स्वयमेव, तर्हि तत्राक्षेप्तव्यनिराकर्त्तव्यायोगात् कृतमनेनेत्यत आह—**विधीयत** इति। पूर्वसिद्ध एव

है इसलिए शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परमब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। 'पश्यन्ती वाणी विभागरहित तथा देशकाल के क्रम से रहित है।' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उन्होंने शब्दब्रह्माद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है ॥११॥

वैयाकरणों के उसी विषय पर विचार करने के लिए अब इस सिद्धान्त का

तस्यात्मता ब्रह्मता वा वक्तुं शक्या न साधुभिः ।
इन्द्रियत्वेऽपि सामान्ये पाण्यादेर्ब्रह्मता न किम् ॥१३॥
तत्र चेत् सूक्ष्मकलना — सर्वत्र कलनाऽग्रतः ।
अन्तःक्रमो हृदादेश्चेत् प्राणादेः किं न सत्यता ॥१४॥

प्रथमं तावद् वाचोयुक्तिरेवैषा विरुद्धा । तथा हि—वाक् स्थिताऽतिस्थूलकर्मेन्द्रियत्वे, बुद्धीन्द्रियस्य बोधोपयोगोऽपि भवेत्, तस्य = पर्यन्तवर्त्तिन आत्मनो ब्रह्मतत्त्वस्य वा सम्बन्धी स्वभावो भवेत् । तस्मात् तैः पूर्ववत् साधुभिस्तद्रूपत्वं वक्तुं न शक्यम् ॥१२॥

तस्या अविद्यायां स्थितत्वात् पाणिपादादिव्यावृत्त्या परमार्थत्वं न युज्यत इत्याह—**इन्द्रियत्वेऽपीति** । वाचः सूक्ष्मपश्यन्तीरूपतया ब्रह्मताऽस्ति, तेनैषोक्तेति चेत्, सा सत्यरूपता सर्वत्र पाण्यादौ घटादावपि चाग्रे कलयिष्यते ॥१३॥

अथ वाग्व्यपदेशेऽपि ध्यानावस्थायां हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यादिस्थानान्तराक्रमणात्

वादिविप्रतिपत्त्याऽसिद्धकल्पः, तन्निरसनेन परिस्थाप्यत इत्यर्थः । **युक्तियुक्तत्वादिति**—युक्तियुक्तत्वमेव सिद्धान्तत्वम् । **परिनिष्ठाम्** = पर्यन्ततः स्थितिम् । **आदावीति**—इत्थमत्र सम्बन्धः—तस्यात्मनो ब्रह्मणो वा आत्मता = आत्मनो भावः = स्वभावः तथा ब्रह्मता तत्स्वभावो वक्तुं न शक्या । अत्र हेतुरतिस्थूलकर्मेन्द्रियरूपत्वात्तस्याः । तत्र यद्वाचस्त्रैविध्यं तैरुक्तम् तदननुमत्यैकत्वमेव वैखरीरूपमाश्रित्य प्रत्याचष्टे—**आदौ तावदित्यादिना** । तथा हि—एकैव वैखरी वाक् वागिति लोके प्रसिद्धा, अन्यत्र ह्यन्ययोर्द्वयोरपि निरसनमुक्तम् ।

"अन्तःसंजल्पो वर्ण्यते मध्यमा वाक् सेयं बुद्ध्यात्मा नैव वाचः प्रभेदः ।
बुद्धिर्वाच्यं वा वाचकं वोल्लिखन्ती रूपं नात्मीयं बोधभावं जहाति ॥" तथा
"पश्यन्तीति तु निर्विकल्पकमतेर्नामान्तरं कल्पितम् ।
विज्ञानस्य हि न प्रकाशवपुषो वाग्रूपता शाश्वती ॥" इति ।

प्रारम्भ किया जाता है । सबसे पहली बात यह है कि वाणी कर्मेन्द्रिय है, वह अतिस्थूल है । कोई भी बुद्धिमान् उसे आत्मा या ब्रह्म नहीं कह सकता ॥१२॥

इसके अतिरिक्त जो इन्द्रियत्व वाणी में है वही हाथ पैर आदि में भी है । फिर वे हाथ आदि भी ब्रह्म क्यों नहीं होंगे ? यदि यह कहिये कि वैखरी के अतिरिक्त पश्यन्ती अत्यन्तसूक्ष्म है इस कारण वह ब्रह्म है ? तो सूक्ष्मरूप में पारमार्थिक सत्यता पाणि पाद घट पट सबमें है, यह हम आगे चलकर प्रतिपादित करेंगे, फिर वे सभी ब्रह्म हो सकते हैं ॥१३॥

यदि यह कहा जाय कि वाणी तो केवल व्यवहारार्थ एक नाम मात्र है । चूंकि हृदय भ्रूमध्य तालु आदि स्थानों में सूक्ष्मरूप से आक्रमण करने के कारण

सर्वस्यान्तःपरामर्शपूर्णताऽस्ति प्रवर्त्तने ।
अत्रोपासनया सिद्धिर्देवतायोगितेति चेत् ॥१५॥

तस्या उत्कर्षः, न तु पाण्यादेरेवमस्तीत्याह—अन्त इति । प्राणापानसमानोदानादेरपि हृदाद्याक्रमणात् सत्यता स्यात् । सर्वस्य चार्थस्य प्रवृत्तिकालेऽन्तःपरामर्शोऽस्ति । नहि पश्यन्त्यभिमतावस्थायां शब्दस्यैव शब्दार्थस्यापि न परामर्शः केवलमभेदेनेति सर्वं तथा स्यात् ॥१४॥

अथ वाचः सिद्धिप्रदत्वादिनोत्कर्ष इत्याह—अत्रोपासनयेति । ये वै वाचमुपासते, तेषां तद्विदां सिद्धिरुक्ता, वागीश्वरी चाधिष्ठातृदेवता तत्रास्तीति सा, सत्या, इत्येतदपि न, योगशास्त्रादिषु अधिष्ठातृदेवताः । करणानां महाभूतानां च धारणावशाद् सिद्धयोऽपि । ततस्तत्रापि प्रसङ्गः ॥१५॥

वाचोयुक्तिः—ब्रह्मत्वनिरूपणात्मिका । तस्याः = वाचः । अयमत्र भावः—यदि वाचः पाण्यादिसामान्यत्वेन वर्त्तमानाया ब्रह्मता, तदा तत्र किमाधिक्येनान्यत्र कथं नेति ? यदि तद्व्यावृत्त्या विशेषरूपत्वेन, तदपि नेत्याह—परमार्थत्वं न युज्यते इति । सूक्ष्मकलनेति—ततश्चात्मता ब्रह्मता वा । पाण्यादाविति—ततश्चैतदुक्तं भवति—किमिति तत्रैव ब्रह्मता ? न पाण्यादौ ? नापि घटादौ ? सा हि सत्यता सर्वत्रास्तीत्यतः किमत्रैव हेतुः ?—इत्यर्थः ॥१३॥

अथेति—कर्मेन्द्रियसमानत्वेऽपि चास्याः शक्तित्वादौदृक्त्वं पाण्यादेस्तदभावान्नेदृक्त्वमित्याशयेनाह—अथेति । शब्दार्थस्यापीति—यथा तत्र शब्दस्य परामर्शोऽस्त्येव, न नास्तीति, तथा शब्दार्थस्याप्यस्त्येवेत्यर्थः ॥१४॥

अथेति—पुनरपि कर्मेन्द्रियसाम्यतायामपि वाच एव ऐवंविधत्वादुत्कर्षः, न पाण्यादेरिति तथात्वमस्याः, न परस्येत्याशङ्कापूर्वकं प्रत्याचष्टे—अथेति । प्रसङ्गः = सत्यतापत्तिः । मन्तव्यमिति—यतो भवन्मते तिलशोऽपि युक्तिसाधिते न कथंचनो-

---

वह ब्रह्म है क्योंकि पाणि आदि में यह उत्कर्ष नहीं है ? तो हम यह पूछते हैं कि फिर प्राण आदि पांच वायु भी हृदय आदि में सूक्ष्मरूप से आक्रमण करते रहते हैं फिर वे सब भी ब्रह्म क्यों नहीं ? क्योंकि प्रवृत्तिकाल में सभी वायु का अन्दर-अन्दर परामर्श होता है ॥१४॥

जो वाणी की उपासना करते हैं उनको वाणी की अधिष्ठात्री देवता वागीश्वरी सिद्धि प्रदान करती है ऐसा कहना भी उचित नहीं । क्योंकि योगशास्त्र में समस्त इन्द्रियों के महाभूतों के धारण करने से सबकी अधिष्ठात्री देवतायें हैं । फिर सबके सब ब्रह्म होने लगेंगे ॥१५॥

योगशास्त्रेषु सर्वेषां देवतासिद्धियोगिता ।
तस्माद्धिरण्यगर्भादियोगसांख्येतिहासताम् ॥१६॥
विहाय शास्त्ररचना जातुचिन्न विराजते ।
पाण्यादीन्द्रियवन्नैतद् ब्रह्म वागिन्द्रियं भवेत् ॥१७॥
अथोच्यते प्रक्रियाऽसौ सांख्यादिरचिता न सा ।
तत्त्वोन्मेषप्रसरणे भवेत् सम्बन्धभागिनी ॥१८॥
विमर्शानुभवेनैव यथा वाक् प्रथमं श्रिता ।
लक्ष्यते बोधरूपेण न तथा चरणादिकम् ॥१९॥

तेनैतन्मन्तव्यमित्याह—**तस्मादिति** । तस्माद् ब्रह्मादिप्रणीतयोगशास्त्रसांख्यानामितिहासस्वरूपं तदुक्तमर्थं च प्रपञ्चयत् शास्त्रं कार्यम्, तदितिहासात्मतां विहाय स्वमनीषिकया **शास्त्ररचना** न शोभते । एवं च यथा पाण्यादीन्द्रियमनादिशास्त्रसिद्धत्वान्न ब्रह्मरूपेण युक्तं विरच्यते, अपि तु तदनुसारेणैव तथा वागपि ॥१७॥

सांख्यादेरपि कथमनादित्वमित्याह—**अथोच्यत इति** । सांख्यादिसिद्धान्तेषु रचना वाक्कर्मेन्द्रियमिति प्रणेतृसम्बन्धिकल्पनामात्रमेतत्, न तु परमार्थसंवित्पर्यालोचनस्पर्शोऽस्ति । न च प्रक्रिया परमार्थविचारेषु सम्बद्धतां याति । तथा हि—

पपत्तिरूपलभ्यते, तस्माद् भवद्भिरेतदस्मत्कथनमादर्त्तव्यम्—इत्यर्थः । **शास्त्ररचना**—नवप्रपञ्चरूपा । **शास्त्रमिति**—तेन तस्यैव तदुक्तस्य, विविच्य सविस्तरं कथनं शास्त्रमित्यर्थः । ततोऽपि किमित्याह—**एवं चेति** । **विरच्यते**—नवीनैस्तस्येन्द्रियत्वेन कथितत्वात् । **वागपीति**—वागपि ब्रह्मरूपतया न विरचनीयेत्यर्थः ॥१७॥

ननु चास्तु ब्रह्मप्रणीतत्वाद् वेदस्य प्रामाण्यम्, तत्र च वाग्ब्रह्मेति कथितम्, ततश्च कथमत्र विरोधः ? सांख्यादेः पुनः कपिलादिप्रणीतत्वादस्मदीयशास्त्रवदादिमत्त्वमेव, कथं तदुक्तं प्रामाण्यं भजेत् ? तत्र हि सर्वत्र वाच इन्द्रियत्वमेव समर्थितमित्याशङ्कां गर्भीकृत्याह—**सांख्यादेरपीति** ॥१८॥

यद्यपि 'शास्त्रतो गुरुतः स्वतः ? इत्यास्ते त्रिधा नियमस्तथापि स्वत इत्यस्य तयोरुपायभूतत्वात् तथेह तस्यैव प्रधानभूतत्वात् तेनैव कथनीयमित्याह—विमर्शानु-

---

इसलिए ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रणोत योग सांख्य की ऐतिहासिक परम्परा में विहित शास्त्ररचना को छोड़कर आपकी अपनी बुद्धि से शास्त्ररचना उचित नहीं है। और इस प्रकार जब उन शास्त्रों में पाणि आदि इन्द्रिय को ब्रह्म नहीं माना गया है तो आप वागिन्द्रिय को ब्रह्म मत मानिये ॥१६-१७॥

यदि आप यह कहें कि सांख्य आदि सिद्धान्तों में यह कथन, कि वाणी कर्मेन्द्रिय है कल्पनामात्र है, न कि वस्तुतः सत्य कथन है, क्योंकि परमतत्त्व का जब

इति चेच्चर्च्यतां तावत् पश्यन्ती युज्यते यथा ।
वर्त्तमानसमारूढा क्रिया पश्यन्त्युदाहृता ॥२०॥
दृशिः सकर्मको धातुः किं पश्यन्तीति कथ्यताम् ।
यद्याभासान् बहिर्भूतांस्तत्सतोऽप्यसतोऽपि वा ॥२१॥

सर्वेऽर्थाः संविदि प्रतिष्ठामुपयान्ति, असंविदिता असन्त एव । संविच्च विमर्शशून्या संविदेव न भवति । ततश्च समस्ततत्त्वसारस्वरूपोऽयं विमर्शोऽनुभूयमानोऽभिलापमय एवेति वाचा सह का स्पर्धा पाण्यादीनाम् । बोधमयो हि अर्थसत्ताप्रारम्भः । बोधश्च विमर्शात्मा प्रथमं वाचैवानुविद्धो न तु पाणिपादादिनेति चेत् तदेवमपि बोधो विमर्शात्मा वाङ्मय एवेति । आस्तामन्यदेतत्, पश्यन्ती तावत् स्वरूपाभिधानाभ्यां विचार्यतां यथा पश्यन्ती भवति पश्यन्तीत्वेन युक्तैवेत्यर्थः ॥१९॥

स्वरूपमभिधानं च तस्याश्चर्चयितुमाह—**वर्त्तमानेति** । वर्त्तमानकालारूढा दर्शनक्रिया हि वागात्मककर्त्तृनिष्ठा पश्यन्ती शब्दस्यार्थः । **दृशिश्चधातुः सकर्मकः** = सकर्मकक्रिय इति दृश्यमत्र कर्म निरूपणीयम् ॥२०॥

तदेव पर्यालोचयन्नाह—**यद्याभासानिति** । **यद्याभासान्** = घटपटादिरूपान् इदन्तया पश्यति, तत् तेषां सत्यासत्यताविचारे सत्यता तावदसत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि-

---

भवेत्यादि । ननु तथापि बोध एव संवित् परमार्थोऽर्थसत्ताप्रारम्भरूपत्वादस्यालमनेन वागात्मनेति तत्राह—**तदेवमिति** । अन्यदेतदिति—अन्यदशान्तरमित्यर्थः ॥१९॥

क्रियायाः कर्त्तृरूढिता सिद्धैवान्यथा स्वभावकथने तद्वतोऽनुद्देशो दोषावह इति समर्थयति—**वागात्मकेति । सकर्मक** इति—तदेवमत्र कर्त्तृक्रियाकर्मेति त्रिधा

उन्मेष होता है तो उसका स्वभाव, जिसका दूसरा नाम, विमर्श है, उसे अनुभूत होने लगता है और यह अनुभूतमात्र विमर्श वाणी के रूप में स्फुटित होता है इस प्रकार यह विमर्शानुभव ही प्रथमावाक् है, हाथ पैर आदि वैसे नहीं हैं, इस प्रकार वागिन्द्रिय परमतत्त्व है ? तो हम कहते हैं कि आप वैयाकरण जिसको पश्यन्ती कहते हैं वह पश्यन्तीत्व से युक्त होनी चाहिए ॥१८-१९॥

अर्थात् पश्यन्ती पद वर्त्तमानकालिक क्रिया को बताता है और दृश् धातु सकर्मक है तो यह बताइये कि इस पश्यन्ती धातु का कर्म क्या है ? ॥२०½॥

यदि बाहरी घट पट आदि आभासमान पदार्थ कर्म हैं तो वे पदार्थ सत् हैं ? या असत् ? यदि सत्य हैं तो आपका उन्हें विवर्त्त कहने का सिद्धान्त खण्डित होगा । क्योंकि दर्शन तो अदृष्ट का होता है । जो सत्य है वह अदृष्ट कैसे ? इस प्रकार उसका दर्शन ही नहीं होगा और यदि वे पदार्थ असत्य हैं तो असत्य पदार्थों का दर्शन कराने वाली पश्यन्ती सत्य कैसे होगी ॥२१½॥

सत्यत्वे दर्शनभ्रंशो ह्यसत्ये सत्यता कथम् ।
गृह्णात्यथाऽविद्यया वा साऽप्यस्याः कथमास्थिता ॥२२॥
सत्या ह्यसावसत्या वा सत्यत्वे दर्शनक्षतिः ।
असत्ययाऽपि सत्यस्य सम्बन्धोऽस्तीव दुर्घटः ॥२३॥
असत्या यदि पश्यन्ती पश्यन्ती ब्रह्म चित्रता ।
बहिर्भावान् विसृज्यादौ पश्चात् पश्यति साऽथ किम् ॥२४॥

तात्मकं विवर्त्तमिच्छद्भिः दर्शनभ्रंशभयान्न वाच्या । असत्ये पुनर्दृश्ये नासत्यार्थदर्शित्वे पश्यन्त्याः सत्यतायोगः ॥२१॥

अविद्यावादोऽपि न युक्त इत्याह—**गृह्णात्यथेति** । अनाद्यविद्यावशादपि असत्यदर्शने मिथ्यात्वं तावदस्याः स्थितम् । अविद्ययाऽपि च सम्बन्धो न तस्या घटते । अविद्या हि अविद्यात्वाभ्युपगमादेवासत्या, न चासत्यया सम्बन्धो रूपश्लेषमयो युक्तः ॥२३॥

न च पश्यन्त्यप्यसत्या युक्तेत्याह—**असत्येति** । **पश्यन्ती यद्यसत्या** तत् पश्यन्ती ब्रह्मतत्त्वमित्याश्चर्यरूपताऽस्यार्थस्य । अन्यच्चाह—**बहिर्भावानिति** । किं तत्त्वान्तराभावाद् विश्वे भावाः पश्यन्त्यैव स्रष्टव्याः, तांश्च सृष्ट्वा लब्धस्वरूपान् सा पश्चात् पश्यति, एतदेव हि युक्तम् ? तत्र सा **सत्या** सती असत्यानि रूपाणि सृजतीत्येतत् तु असम्भवादाश्चर्यम्, सत्कार्यवादोपपत्तेः कारणस्य कार्यव्यतिरेकेणासत्यताप्राप्तेः । असत्यसर्गेऽप्यसमञ्जसकारित्वेन मालिन्यप्रसङ्गात् ॥२४॥

वस्त्ववस्थितम् । **तदेवेति** = किं कर्मेत । **बहिर्भूतान्** = विवर्त्तरूपतया बहिरिष्टान् । **दर्शनभ्रंशः** = स्वमतप्रच्युतिः ॥२२॥

पश्चात् = सृष्टिसमनन्तरम् । **युक्तमिति**–किमित्यनेन सम्बन्धः । सत्कार्यवादोपपत्तेः—असतः कारणत्वे सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः ॥२४॥

यदि यह कहें कि अनादि अविद्या के कारण यह पश्यन्ती असत्य पदार्थों का असत्य दर्शन करती हैं तो यह पश्यन्ती सत्य है ? या असत्य ? यदि सत्य है तो भी दर्शन असम्भव है क्योंकि सत्य का असत्य से सम्बन्ध असम्भव है ॥२२-२३॥

और यदि वह असत्य है तो असत्य पश्यन्ती ब्रह्मतत्त्व है यह कथन आश्चर्ययुक्त है । इसके अतिरिक्त यह बताइये कि क्या वह पश्यन्ती पहले बाहरी पदार्थों की रचना करती है और फिर उनको देखती है ? यदि ऐसा है तो पश्यन्ती सत्य होते हुए असत्य पदार्थों की रचना करती है यह विचित्र बात है ॥२४½॥

सत्या सृजत्यसत्यानि विचित्रमभिधीयते ।
ज्ञातान् सृजत्यसौ तान्वा नेति ज्ञातेष्वदर्शनम् ॥२५॥
अज्ञातेषु न सृष्टिः स्यादिष्टं क्रीडादिकं न च ।
तानि दृष्ट्वाऽनुसृजति सृष्ट्वा वाऽनुप्रपश्यति ॥२६॥
पश्यन्त्याः सत्यरूपायास्तत्सत्यत्वे न दर्शनम् ।
असत्ये सत्यदृष्टयैव पश्यन्त्यां मलिनात्मता ॥२७॥

न च क्रीडार्था वाऽन्यथा वा सृष्टिरित्याह—**ज्ञातानिति** । सृष्टिश्च ज्ञातपूर्वाणाम् ? उताज्ञातानाम् ? तत्र सृष्टेः पूर्वमलब्धस्वरूपत्वे कस्य दर्शनम् ? अतोऽपरिदृष्टानेव सृजेत्, तज् ज्ञातेषु सृष्टिरिति पक्षो नोपपन्नः । अथवाऽज्ञातेषु सृष्टिरिति न भवतां दर्शनं नाभ्युपगम इत्यर्थः । अज्ञातेस्वपि बुद्धिमतामबुद्धिपूर्वा वा कथं सृष्टिः ? निष्प्रयोजना च कथं स्यात् ? क्रीडैव स्रष्टुः सृष्टिः सृष्टिस्वभावत्वं वेति हि भवतां नेष्टम् ॥२५॥

पुनर्विकल्पयन्नाह—**तानीति** । **तानि** = तानि वस्तूनि, **दृष्ट्वा** = ज्ञात्वा वा सृजति, **सृष्ट्वा वा** प्रपश्यति इत्येतद्यथाऽस्तु । अनुशब्दोऽत्र पश्चादर्थः मनु शब्दो वा

तत्र = पक्षद्वयमध्ये ।

दृष्ट्वा = अवबुध्य । उभयमपि मिथ्यात्वेन कथयति—**पश्यन्त्या** इति । **दर्शनम्** = भवदभिमतशासनम् । **कल्यताम्** = समर्थ्यताम् । **यथाऽस्तु** = स्वरूपेण स्थीयताम् । '**ज्ञातान् सृजत्यसौ तान् वा**' इति पूर्वमेव तन्निरसनप्रकारस्योक्तत्वात् । **अनुशब्दोऽत्रेति**—तानि तान्यादौ ज्ञात्वा = स्वविमर्शेनाकलय्य, **अनु** = पश्चात् सृजतीत्यर्थः । ननु च 'अत्रासवं पीत्वा गायति' इत्यादौ यथाऽऽदौ तत्पानं ततश्च गानम् पूर्वकाल-

---

यदि आप यह कहते हैं कि पश्यन्ती पहले जान लेती है तब पदार्थों की सृष्टि करती है ? तो यह बताइये कि ज्ञात पदार्थों की सृष्टि करती है या अज्ञात की ? यदि अज्ञात की सृष्टि करती है तो अज्ञातस्वरूप पदार्थों का सर्जन कैसा ? और ज्ञातस्वरूप पदार्थों का दर्शन भी निष्प्रयोजन है। और आप यह तो मानते नहीं कि स्रष्टा केवल क्रीडा के लिए सृष्टि करता है ॥२५½॥

इसके अतिरिक्त चाहे वह देखकर सृष्टि करती है या सृष्टि करके देखती है आपका पश्यन्ती वाणी का पश्यन्तीत्व ही अयुक्त है । क्योंकि यदि वह सत्य है तो उसका दर्शन नहीं हो सकता और यदि असत्य है तो सत्य की दृष्टि से वह मलिन है। इसके अतिरिक्त क्रीडाद्यर्थक न होने से और अन्य प्रयोजन भी न होने से वह सत्य या असत्य पदार्थों की सर्जना कैसे करती है यह विचार कीजिये ॥२६-२७½॥

असत्यान् सत्यरूपान्वा कथं सृजति कल्प्यताम् ।
अविद्याऽस्याः स्वधर्मः किं परधर्मोऽथवा भवेत् ॥२८॥
स्वधर्मत्वेऽस्या मालिन्यं परधर्मेऽपि कस्य सा ।
परस्य शास्त्रानिष्टस्य स्वतन्त्रा वा तथाऽपि सा ॥२९॥

वितर्के । पश्यन्तीत्वमेव न युक्तम् । तथा हि सत्यरूपा सा, तद्दृश्यानां च सत्यत्वे न दर्शनं नाभ्युपगमः, द्वैतप्रसङ्गात् । अथ तेषामसत्यत्वम् ? ततो यथैव सत्यसर्गे मलिनता, तद्वदसत्यसृष्टौ मुख्यैव भ्रान्तिरूपता । पुनरपि चासत्यानर्थान् सत्यान् वा पश्यन्ती क्रीडाद्यभावेऽपि केन प्रयोजनप्रकारेण सृजति ?–इति विमृश्यताम् ॥२७॥

असत्यसत्यसर्गदर्शने प्रागुक्तेऽप्यविद्यापर्यालोचनाप्रसङ्गदानाय पुनर्विकल्पिते प्रयोजनं विनैवाविद्याकृतः सर्ग इति पर्यालोचयन्नाह—**अविद्याऽस्या** इति । **अविद्या** किं पश्यन्त्याः **स्वधर्मः** ? उत **परधर्मः** ? स्वधर्मत्वे तस्या अविद्यास्वभावत्वे मालिन्यं स्यात्; परधर्मत्वे वा कस्य परस्यासौ धर्मः ? नह्यद्वयवादे ब्रह्मणः कश्चिदर्थः परोऽस्तीति शास्त्रेऽभीष्टः । अथाविद्या **स्वतन्त्रा** एव न तु कस्यचिद्धर्मभूता ? तथापि सा दुरुच्छेदैव स्वातन्त्र्याद्धेतोः स्यात् । स्वतन्त्रो हि केनान्येन निवार्यते ? केन वा प्रवर्त्यते ? तथा हि स्वतन्त्र एव न स्यात् । अतः प्रवृत्तौ स्वतन्त्रा निवृत्तिः

द्योतकत्वात् क्त्वान्तत्वेनैव प्रतीयते, न तत्र पश्चाच्छब्दादिनोपयोगः, ततश्च किमर्थमनुशब्दप्रयोगः ?–इत्याशङ्क्याह–**नु शब्दो** वेति । वा शब्दः पक्षान्तरे । नु शब्दो वितर्के । उभयकोट्यवलम्बी वितर्कः । **सत्यानिति**—ततश्च न भ्रान्तिरूपता ॥२७॥

सर्ग इति—एतदेव ह्यविद्याया अविद्यात्वं यदनपेक्ष्यैव प्रयोजनं सृष्टिः । **पर्यालोचयन्** = विवेचयन् । **स्वधर्मः** = धर्मः = स्वभावः, स्वभावश्च स्वभाविनोऽव्यतिरिक्तः । **अस्याः** = पश्यन्त्याः । **सा** = अविद्या । पक्षद्वयथोरनुपपत्त्याह—परश्च तस्या नाम न कश्चिदित्याह—**शास्त्रानिष्टस्येति** । **शास्त्रानिष्टस्य** = शास्त्रेऽ-

---

दूसरी बात यह है कि वह पश्यन्ती जिस अविद्या से सृष्टि करती है वह अविद्या उसका अपना धर्म है ? या किसी दूसरे का ? यदि उसका अपना धर्म है तो वह स्वयं मलिन है, फिर उसे आप सत्य कैसे कहते हैं ? यदि दूसरे का धर्म है तो किसका धर्म है ? क्योंकि अद्वैतवाद में ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की सत्ता मानी नहीं जाती । यदि 'वह किसी का धर्म नहीं है बल्कि स्वतन्त्र है'–ऐसा आप कहते हैं तब तो उसका उच्छेद सम्भव नहीं (और आप उसका उच्छेद मानते हैं) क्योंकि स्वतन्त्र का निवारण कौन कर सकता है ? जो करेगा वही उसकी स्वतन्त्रता का बाधक होगा ॥२८-२९½॥

स्वातन्त्र्याद् दुर्निवारैव स्वतन्त्रः केन वार्यते।
तत्त्वान्यत्वैरवाच्या वा यद्यविद्याऽभिधीयते ॥३०॥
पश्यन्त्या लक्षिताऽसौ वा न वा यदि न लक्षिता।
पश्यन्ती जाड्यमायाति लक्षिता तर्हि लक्षिता ॥३१॥

पुनरस्याः परकार्याऽपि स्यात्। तन्निवृत्तिकारणाभावमुखप्रेक्षिप्रवृत्तिकत्वेनास्वातन्त्र्यापत्तेः ॥२९॥

अवाच्यत्वमविद्याया विमृशन्नाह—**तत्त्वान्यत्वैरिति**। वस्तूनि हि तत्त्वान्यत्वनित्यत्वानित्यत्वादिभिर्वस्तुधर्मैर्वाच्यानि। अवस्तु पुनरविद्या निःस्वभावा कथं स्वभाववत्तया व्यपदेशार्हा स्यादिति चेत्? तदवस्तुभूता सा पश्यन्त्या दृष्टा? न वा? यदि न दृष्टा, तर्हि **पश्यन्ती जाड्यमायाति** = सर्वदर्शनाभावादपश्यन्ती स्यादित्यर्थः। अथ तया दृष्टा, तत् दृष्टैवोपलक्षितैवापरविवेकेनैव प्रतिभातत्वात् तदनुसारितया वाच्याऽपि भवेदिति यावत्। **तत्त्वान्यत्वैरिति** बहुवचनं शौण्डार्धर्चादिन्यायेन ॥३१॥

नभिहितस्य। **स्वतन्त्र** इति—एतदेव हि स्वतन्त्रस्य स्वातन्त्र्यं नाम यदन्येनानिराकरणम्। **न ह्यद्वयवाद** इति—अस्तु परो नाम, तथापि किम्?—इत्यत आह—**न** हीति।

ननु अत एवेयमविद्या सत्त्वासत्त्वतदन्यत्वादिनाऽनिर्वचनीयेति कथ्यते। यद्येतादृग्विचारयोग्या स्यात्, तदा केनानिर्वाच्यत्वं स्यादयोग्यत्वे त्वनिर्वाच्यता सिद्धेत्यपि समर्थयति—**अवाच्यत्वमिति**। अविद्या हीयमवस्तुरूपा माया मिथ्याऽवभासस्वभावाऽभिधीयते। तत्त्वाग्रहणं यतोऽविद्या, अग्रहणं च नाम कथं वस्तुधर्मविकल्प्येत? तदेतदाह—**तत्त्वान्यत्वैरिति**। अत्राश्रयगतं बहुत्वमपेक्ष्य बहुवचनं ततस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां नित्यत्वानित्यत्वव्यापकत्वाव्यापकत्वपरिग्रह इत्यर्थः। **आवाच्या,** अवस्तुरूपत्वात्। **जाड्यमायाति**—स्वभावप्रच्युतत्वात्। **शौण्डेति**—सप्तमी शौण्डैः (पा० सू० २.१.४०) अर्धर्चा पुंसि च (पा० सू० २.४.३१) इति पाणिनीये यथा बहुत्वेनाश्रयगतं बहुत्वं लक्ष्यते। यथा शौण्डादय अर्धर्चादय इति च ॥३१॥

यदि आप यह कहें कि तत्त्व अन्यत्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों से वस्तुओं का निर्वचन होता है अविद्या तो अवस्तु है उसका कोई स्वभाव नहीं है जिससे उसको 'इदम्, इत्थम्' ऐसा कहा जाय? तो यह बताइये कि पश्यन्ती ने उसे देखा है या नहीं? यदि नहीं देखा तो उसका पश्यन्ती होना झूठा है; वह जड़ है। और यदि देखा है तो जिस अपरपार्थक्य के कारण उसे देखा गया है उसी अपरपार्थक्य से वह वाच्य भी हो जायेगी इसलिए अवाच्य कहना असंगत है ॥३०-३१॥

अवाच्यत्वेन भवतां तस्या रूपं कुतो गतम्।
अलक्षितस्वरूपाया अविद्यात्वं कथं स्थितम् ॥३२॥
भेदबुद्ध्यनुमानाच्चेल्लक्षिता तर्हि लक्षिता।
न चानुमानमिष्टं तेऽप्यवस्थेत्यादिदूषणात् ॥३३॥

अवाच्यत्वेनाप्यव्यवहार्यता तस्याः स्यादित्याह—अवाच्यत्वेनेति। अलक्षितत्वे सति अवाच्यत्वेनापि तदीयं रूपं कुतः प्रमाणाद् भवतामवगतम्? तस्याप्यलक्षितत्वात्? अलक्षितस्वरूपत्वे चावाच्यत्ववदविद्यात्वमपि कथं व्यवस्थाप्येत? ॥३२॥

अनुमानसिद्धतां कल्पयन्नाह—भेदेति। भावभेदसिद्ध्यन्यथाऽनुपपत्त्या तथात्वेनाविद्या यदि लक्षिता = अनुमिता, इत्यर्थः। एवं तर्हि लक्षितैव; तत्किमित्यलक्षितत्वमुच्यतेऽस्याः? अवाच्यत्वं वा? एवमपि न सिद्ध्येत्याह—न चेति। न चापि भवतोऽनुमानं सम्यग्ज्ञानमिष्टम्—

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥
(वा० प० १.३२) इति।

गतमिति—अत्र 'बुध अवगमने' इति ज्ञापकात् 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इत्यानुशासिकशासनेन ज्ञानार्थतया 'मतिबुद्धि' (पा० सू० ३.२.१८८) इत्यादिना क्तप्रत्यये भवतामिति कर्त्तरि षष्ठी। अलक्षितत्व इति—यद्धि भवद्भिर्विभीषिकयाऽवाच्यत्वमिति तस्या गीयते, तदलक्षितत्वे कथम्? लक्षित एव तद्व्यपदेशोऽपि युक्तः। अलक्षितस्वरूपत्वे = नामस्वरूपयोर्द्वयोरलक्षितत्वे निरासः—इत्यर्थः। कथम् = केनानुभवप्रकारेण ॥३२॥

अनुमानसिद्धतामिति—ननु केनेदमुक्तं कुतः प्रमाणादिति? अस्ति हि प्रत्यक्षतो बलवत्तरमनुमानं नाम प्रमाणम्। तथा हि नदीपूरवेगेनालक्षिताया अपि वृष्टेरनुमानं यथा, तथाऽक्रमेऽखण्डितशब्दात्मकज्योतिःस्वरूपे भावभेदक्रमान्यथाऽनुपपत्त्या भवितव्यमेवानुमानेनात्रापीति समर्थयति। भेदबुद्धीति—भेदज्ञानं

यदि आप उसे अलक्षित और अवाच्य मानते हैं तो यह बताइये कि आपने उसका रूप कैसे जाना? यदि उसका स्वरूप अलक्षित है तो वह अविद्या कैसे? क्योंकि वह वस्तु जिसका स्वभाव ज्ञेय न हो और जब तक उसका स्वभाव जाना न जाय तब तक वह अविद्या है, यह निश्चय कैसे होगा? ॥३२॥

यदि यह कहिये कि अविद्या के बिना भेदज्ञान सम्भव नहीं; इसलिये भेदज्ञानान्यथानुपपत्त्या अविद्या की सिद्धि होती है? तो भी अविद्या का स्वरूप कह दिया गया। इस प्रकार वह लक्षित होने से अवाच्य कहाँ रही?

सत्या वा स्यादसत्या वा न मध्यायाः समन्वयः ।

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥

(वा० प० १.४२) इति ।

चान्यच्च वदतः । न हि वस्तुव्यवस्थापने शक्ततायां प्रत्यक्षात् न्यूनता तस्य स्यात्, अशक्ततायां तु अप्रामाण्यमेव ॥३३॥

सत्या सति सत्ये साधुः सती वा स्यादविद्या, **असत्या** तद्विपरीता वेत्यर्थः ।

हि कुतोऽविद्यां विना संभवेदिति ह्यविद्या सम्भवत्येव । **तथात्वेन** = तत्कारणतया । **एवम्** = अनुमानकल्पनायामपि । ननु चास्तु तस्याः कार्यावस्थायां लक्षितत्वं यतो भावभेदानुपपत्त्यैव तत् कल्पितम्, कारणावस्थायां च तस्यामलक्षितत्वमेवेति सिद्धेऽपि तत्रालक्षितत्वे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । लक्षितत्वेऽवाच्यत्वहानिरिति । यत्पुनरलक्षितलक्षितत्वं नामानुमानकल्पितं तत्र—

"अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैर्यस्य प्रयोजनैः ।
तस्यानुषङ्गिकेष्वाशा कुशकाशावलम्बनम् ॥" इति ।

नयेनानुमानस्यैव भवन्मतेऽनुपपत्तिता, येनार्धजरतीयन्नायेन लक्षितालक्षितत्वं सिद्धयेदित्याह—एवमपीति ।

बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा तथेति परिनिश्चितः ।
देशकालादिभेदेन दृश्यते पुनरन्यथा ॥

तथा

येतु प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यन्ति हि भवादृशाः ।
किं दिव्यचक्षुषां तेषामनुमानप्रयोजनम् ॥

मध्यमायाः = सदसदुभयात्मिकायाः ।

असत्त्वे च निषिद्धेऽस्याः सत्त्वमेव बलाद् भवेत् ।
सदसद्व्यतिरिक्तो हि राशिरत्यन्तदुर्लभः ॥ इति ॥

उत्तर है कि अनुमान तो आप वैयाकरण को इष्ट नहीं है क्योंकि उसमें अवस्था इत्यादि दोष हैं—

[अवस्था, देश, काल के भेद से शक्तियों के भिन्न होने के कारण अनुमान के द्वारा पदार्थों का निश्चय दुष्कर है । वा० प० १.३२]

[जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति हाथ के स्पर्श की सहायता से ऊँच-नीच मार्ग में दौड़े तो उसका पतन अवश्यंभावी है उसी प्रकार अनुमान के द्वारा पदार्थों का निश्चय भी स्खलन से शून्य नहीं है । वा० प० १.४२] ॥३३॥

विद्या न भवतीत्येवं तत्तुल्या काचिदापतेत् ॥३४॥
सत्यैव यदि विद्यानामभावस्तर्हि शून्यता ।
शून्यया बाध्यते चित्रं पश्यन्ती दर्शनात्मिका ॥३५॥

न मध्यायाः सम्भवः सदसतोः परस्पराभावरूपत्वात् न तृतीयराशिसम्भवो यतः । तथा हि इयमविद्या विद्या न भवति—इत्येवं विद्यापर्युदासेन समस्तविश्वात्मतया प्रथमाना न प्रतिषेधमात्ररूपा । अतश्च विद्यासदृशी काचिद् विश्वात्मिका स्यादविद्या सत्यैव । अतश्च नानिर्वाच्यत्वम्, नाप्यद्वयम् । **विद्यानाम्** = सम्यग्ज्ञानानाम् **अभावः** प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि यद्यविद्या, तत् सा शून्यता निवृत्तिमात्रं न किञ्चिदिति यावत् । ततश्च शून्यया नीरूपया पश्यन्ती नाम सम्यग्ज्ञानात्मकः पक्षो बाध्यत इति चित्रम् । सम्यग्दर्शनबाधेनैव द्वैतभ्रान्तिः, अकिञ्चिद्रूपस्य बाधनशक्त्यभावान्न सम्भवत्येतदित्यर्थः । पश्यन्ती च नेश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तन्यायेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते

विद्येति—सत्या वाऽसत्या वा इति पक्षद्वयमाशङ्क्य निरस्यति । **विद्या नेत्या**दिना सत्यतापक्षम्, यदीत्यादिनाऽसत्यतापक्षम् । प्रतिषेधपक्षमाश्रित्याह—**तर्हीति** । **पर्युदासेनेति**—

प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ् ॥ इति

पर्युदासलक्षणम् । तथा चान्यत्र 'नञ्युक्तं यत्, तदन्यस्मिंस्तत्सदृशे संघटते ।' यथा—'अब्राह्मणमानय' इति वाक्ये ब्राह्मणसदृशस्तत्तुल्योदरपाणिपादनयन एवानीयते, नाश्वो न गर्दभ इति । **प्रसज्येति**—प्रतिषेधमात्रप्रधानः प्रसज्यप्रतिषेधः । तथा चोक्तम्—

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ इति ॥

तथा अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः = श्राद्धे न भुङ्क्ते—इत्यर्थः । उक्तं च वृद्धैः—

चाहे वह अविद्या सत्य हो या असत्य, बीच की अर्थात् सदसदुभयात्मक नहीं हो सकती । क्योंकि सत् और असत् दोनों परस्पर विरुद्ध वचन हैं । यदि यह कहिये कि अविद्या का स्वरूप 'विद्या न भवति' है ? तो यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस अविद्या जैसी कोई चीज इस विश्व के रूप में फैली हुई है वह सत्य है । और इस प्रकार आपका अनिर्वचनीयवाद और अद्वयवाद खण्डित हो जाता है तथा यदि आप उसे विद्याओं का अभाव अर्थात् शून्य मानते हैं तो दर्शनात्मिका पश्यन्ती का भी उससे बाध होगा जो कि आपके सिद्धान्त के विपरीत है ॥३४–३५॥

पाण्यादेश्चेद्धराद्यात्मा वाचो वाय्वात्मता न किम्।
सिन्धुशब्दादिवच्छब्दो न पश्यन्त्यादिके भवेत् ॥३६॥
अथ मध्यमया बाह्या भावा ग्राह्या ह्यविद्यया।
तस्या एव हि संयोगो बुद्ध्या संकल्पनात्मना ॥३७॥

भवद्भिः, ईश्वरोपगमप्रसङ्गात्। अपि तु सूक्ष्मो वाच्याभेदेन स्थितो वाचकः शब्द इत्येवं शब्दात्माऽसौ ॥३५॥

इन्द्रियत्वाभावेऽपि पाण्यादि यथा पार्थिवत्वान्न परमार्थः तथा वायवी वागपीत्याह—**पाण्यादेरिति।** न शब्दमात्रं पश्यन्तीमध्यमादौ स्थातुमुत्सहते, समुद्रघोषादिरिव तथा तत्रादर्शनात् ॥३६॥

न पश्यन्त्याः सत्यभूताया अविद्यया बाधनम्, अपि तु मध्यमाया इत्याह—**अथेति।** मध्यमाख्यया वाचा बाह्यत्वेन भेदेनाभास्यमाना भावा अविद्यावशाद् ग्राह्याः।

अभावे स्वल्पभावे च सादृश्ये च विपर्यये।
कुत्सायामपि नञ् ज्ञेयो रिष्टादौ च शुभोक्तिषु ॥ इति ॥

ईश्वरोपगमप्रसङ्गादिति—भवतां हि नेश्वरोपगमः, अविद्यावादकल्पनात् ॥३५॥

पाण्यादीति—इत्थं वाच इन्द्रियत्वमभ्युपगम्य परवादिमतं निरस्तम्। अथेदानीं कारणानुगमतया तदेव निरस्यति—**पाण्यादेरित्यादिना। पाण्यादेश्चेदिति**—धरादितत्त्वं पाण्यादेरात्मा स्वभावो न ब्रह्मतयाऽभ्युपगम्यते, तथा वागपीति। **पश्यन्त्यादिक इति**—पश्यन्ती आदिः = प्रधानं यस्येति, स्वार्थे कन् ॥ **बाधनमिति**—अविद्याकर्तृका बाधा न पश्यन्तीविषय इत्यर्थः। ततश्च न पश्यन्त्यां काचित् क्षतिः। **अथेति**—तदेवं पश्यन्त्यां न कथंचनापि ह्यविद्यायोग इति समर्थितम्। द्वैतप्रथा चाभासमाना कथं सिद्धा?-इत्यर्थानुरोधेन यतो द्वैतप्रथा मध्यमायामेवाभासते, ततोऽस्या एव तद्योगे न काचनानुपपत्तिर्नाम, तस्याः स्वरूपज्योतीरूपत्वात्, अस्याश्च स्फुटमेव

यदि हस्तपाद आदि पदार्थों का आत्मा या स्वभाव पृथ्वी आदि है परमात्मा या ब्रह्म नहीं; अर्थात् वे पाद आदि पृथ्व्युपादानक हैं न कि ब्रह्मोपादानक, तो वाणी को वाय्वात्मक क्यों नहीं मानते। उसे परमतत्त्व कैसे मानते हैं ? इसके अतिरिक्त जिस प्रकार समुद्र से शब्द की उत्पत्ति होती है अर्थात् समुद्र में शब्द स्थित है उसी प्रकार पश्यन्ती आदि से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार पश्यन्ती परमतत्त्व नहीं है ॥३६॥

आप (शैव) पश्यन्ती को नहीं मानते न सही। मध्यमा को ही अन्तिम तत्त्व मानिये और अविद्या के कारण पृथक् आभासमान बाह्य पदार्थ मध्यमा नामक वाणी से ग्राह्य होते हैं क्योंकि प्राण अपान आदि मार्गों में यही वाणी स्थित है

तत्रापि मध्यमा कस्य कार्यं पश्यन्त्यवस्थया ।
सा जन्या हेतुना केन शबलां जनयेदसौ ॥३८॥

तस्या एव संकल्पनात्मनाऽर्थावसायरूपया बुद्धया सम्बन्धोऽन्तःकरणे प्राणापानपथे तस्या एवावस्थानात्, न तु पश्यन्त्याः ॥३७॥

एतदपि नेत्याह—तत्रापीति । **तत्रापि** = मध्यमाया बुद्धिपदे वेद्यवेदकद्वैतावभासिनि स्थिताया अविद्यायोग इत्यभ्युपगमे, मध्यमा वाक् कदाचिद् भावात् = कार्यभावात्, 'वाच एव च पूर्वस्याः सा कार्या स्यात्.....' इति न्यायेनान्यकारणाभावात् **पश्यन्त्यवस्थयैव** सा जन्या = प्राप्ता । एवं च सति **केन हेतुना** तां मध्यमां **शबलाम्** = भिन्नग्राह्याच्छुरिताम्, **असौ** शुद्धस्वभावा सती जनयेत् ? ॥३८॥

संजल्परूपत्वादित्याह पूर्वपक्षमाशंकमानत्वेन—अथेत्यादि । **बाह्याः** = बाह्यत्वेन भास्यमानाः । अर्थावसायरूपयेति—पश्यन्त्यां हि स्वरूपज्योतीरूपायां सर्वात्मनाऽर्थोऽपि तन्मय एवेत्यतो मध्यमायां पदार्थावसायरूपत्वेनान्तःसंजल्पाकारेणावश्यमविद्यायोग इत्यर्थः । नत्विति—तदुत्तीर्णस्वरूपायाः ॥३७॥

इत्थं पश्यन्त्यसमर्थनया संकुचितेन प्रतिवादिना मध्यमाकृत एवायमविद्यावाद इति गृहीतम्, तदसहमान आह—**एतदपि नेति** । **जन्या**—व्यतिरिक्तकारणाभावात् । **मध्यमेति**—अत्रेत्थं व्याप्तिः—मध्यमा वाक् कादाचित्कावभासमयीत्वात् कार्यैव । यत्किञ्चित् कादाचित्कावभासमयं नास्ति, तत्कार्यमपि नास्ति । अस्ति चेयं कादाचित्कावभासाभावा पश्यन्ती, न ततः कार्यरूपेति । मध्यमा पुनः कादाचित्कावभासा, ततश्च कार्यरूपेत्यर्थः । **अन्यकारणाभावात्** = भवद्भिरपि द्वैतवादाभ्युपगमानभिमतत्वात् । **पश्यन्त्यवस्थयैव**—न त्वविद्यया । **प्राप्ता** = भवदनभिमतावपि बलादेवायाता । **छुरिताम्** = कृतोपरागाम् । **शुद्धस्वभावेति**—शुद्धस्वभावत्वमेवात्राभेदे हेतुः ॥३८॥

और सङ्कल्प के रूप में इसी वाणी का निश्चयात्मिका बुद्धि से सम्बन्ध होता है न कि पश्यन्ती का ॥३७॥

आप (वैयाकरण) का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि मध्यमा, जिसे आप पश्यन्ती के रूप में वर्त्तमान मानते हैं, किसका कार्य है ? क्योंकि आप वैयाकरण मध्यमा को कार्य मानते हैं ? यदि यह कहिये कि उसे पश्यन्ती उत्पन्न करती है तो यह सम्भव नहीं । क्योंकि आपके मतानुसार पश्यन्ती शुद्धस्वभावा है और मध्यमा भेदग्राहिणी होने के कारण अविद्याशबल है । और चूंकि अभेद में शुद्धस्वभावत्व ही हेतु होता है अतः आपके अनुसार मध्यमा पश्यन्ती से अभिन्न नहीं हो सकती ॥३८॥

न हि तस्या निमित्तं वा कारणं समवायि वा।
निमित्तत्वे पृथक्त्वं स्यात् समवाये तदात्मता ॥३९॥
तथाप्यविद्यया योगः पश्यन्त्यात्मानमेव चेत्।
अन्धमूकं जगद्बाह्ये सर्वमेव भविष्यति ॥४०॥

न कथंचित् तज्जननं युक्तमित्याह—**न हीति** । **असौ** इत्यनुवर्त्तते । **असौ** = पश्यन्ती, **तस्या** निमित्तमात्रं कारणं विजातीयम्, नापि समवायिकारणम्, सजातीयतयाऽविभागेन वा स्थितम्; निमित्तमात्रत्वे द्वैतापत्तिः, समवायित्वे तु क्षीरस्येव दध्युपादानकारणत्वे सति उपादानोपादेययोरेकप्रवाहरूपत्वेन अभिन्नयोगक्षेमता प्राप्ता, कालभेदेऽप्यन्यथातथात्वं न स्यात्। पटं प्रति तन्तूनामिव वा समवायित्वे पश्यन्तीमध्यमयोस्तन्तुपटवदभिन्नात्मता, भेदेनाप्रथनात् ॥३९॥

ततश्च दोषमभिधाय द्वये पश्यन्तीत्वमप्यनुपपन्नमित्याह—**तथापीति** । पश्यन्त्या मध्यमया सहैकयोगक्षेमत्वेन ऐक्येन वा मध्यमाया इवाविद्यायोगदोषः शुद्धताहानेः । अथ शुद्धैव पश्यन्ती यतो न भेदेनार्थान् पश्यति अपि त्वात्मरूपान् ततो नाविद्यायोग-

न कथंचिदिति—इत्थं तत्कार्यता न कथंचन मध्यमाया युक्ता, तत्कार्यत्वे कारणसदृशं कार्यमिति नीत्या विलक्षणस्वभावताऽनुपपत्तिः, तदकार्यत्वे कारणान्तरं कथनीयम्, न च तदिष्टम्, तदभावादेव, द्वैतापत्तिर्हि तथा स्यादिति । **तस्याः** = मध्यमायाः । **समवायीति**—पश्यन्ती । तद्बाधामाह—निमित्तेति । **तस्याः** = कार्यत्वेन पूर्वप्रक्रान्तायाः । **निमित्तमात्रमिति**—यत् कार्यसिद्धौ बहूपकारकमसम्बद्धं च, तन्निमित्ताख्यं कारणं यथा पटोत्पत्तौ वेमादि । **विजातीयम्** = कार्येणासदृशम् । **द्वैतापत्तिरिति**—कार्यकारणयोः पृथक् स्थितत्वात् । **समवायित्व** इति—यत् कार्योत्पत्तौ नित्यमेव सम्बद्धं तत् समवायिकारणम् । यथा—घटोत्पत्तौ मृत्तिका । **योगक्षेमता** = स्वरूपेण स्थितिर्योगः, अर्थवत्तया स्थितिः क्षेमः । **अन्यथातथात्वमितिद्वन्द्वान्ते**

इस प्रकार पश्यन्ती न तो मध्यमा का निमित्त कारण हो सकती है और न समवायिकारण। क्योंकि यदि वह निमित्त कारण है तो उसका अस्तित्व मध्यमा से पृथक् होगा और द्वैतापत्ति हो जायेगी। यदि समवायिकारण है तो फिर दोनों अभिन्न हैं फिर आप पृथक् सत्ता कैसे स्वीकार करते हैं ? ॥३९॥

यदि दोनों का एक योगक्षेम या ऐक्य माना जाय ? तो या तो मध्यमा के समान पश्यन्ती को भी अविद्या से युक्त मानना पड़ेगा और इस प्रकार पश्यन्ती की शुद्धता लुप्त हो जायेगी; या अविद्या से रहित जैसे पश्यन्ती शुद्ध है उसी प्रकार मध्यमा को भी यदि शुद्ध मानें तो ऐसा मानने पर बाह्य जगत् में अन्धत्व मूकत्व आदि हो जायेगा क्योंकि अविद्याशबल पदार्थों का ही ज्ञान या दर्शन होता है और

इन्द्रियादेर्मनोवृत्तेः सर्वस्या एव लोपिता।
पश्यन्ती किं शरीरेऽन्तर्बहिः सर्वत्र वा स्थिता ॥४१॥
अन्तरव्यापिता तस्या बाह्ये कि मध्यमादिना।
प्रसरेन्नादबिन्द्वादि सापेक्षा चेदनीश्वरी ॥४२॥

दोषस्तस्या इति ? एवं सति मध्यमाया अपि तदभेदात् तथात्वे बाह्ये भिन्नेऽर्थजाते अन्धम् = अज्ञम्, अश्रवणाच्चोच्चाराद्यव्युत्पत्तेर्मूकमपि **सर्वमेव जगद् भविष्यति** यदि त्वन्मतमाश्रयिष्यति; न तु इदानीमेवमस्ति इति प्रत्यक्षविरुद्धतामस्योपगम्याह— चक्षुरादीन्द्रियम् आदिः = प्रवर्त्तको यस्याः तस्या मनोवृत्तेः सर्वस्याश्चक्षुरादिसहिताया भिन्नार्थविषयाया विलोपिता अनुपयोगिता च प्रत्यक्षविरुद्धाऽपि भविष्यति ॥४०॥

श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति शासनेनान्यथात्वं तथात्वं न स्यात्। क्षीराद् दध्नो नान्यथात्वं नापि तथात्वमित्यर्थः। **तन्तुपटवदिति**—तन्तुपटयोरुभयोरपि कार्योत्पत्तावपि न स्वरूपान्यथाभावोऽत्र। पूर्वत्र तु कार्योत्पत्तौ स्वरूपान्यथाभावः परिणामभावेनास्त्येवेत्यनयोर्विशेषः। द्वये = पूर्वोक्ते पक्षद्वयेऽपि ॥३९॥

तथापि = समवायित्वे। तथा च पश्यन्त्याः शुद्धताहानिः। यदि च पश्यन्त्याः शुद्धत्वमेव तर्हि तेनापि प्रकारेण दोषमाह। **भविष्यति**—भवन्मताश्रयणे। प्रत्यक्षबाधामस्यार्थस्याह—**इन्द्रियादेरिति। जगद् भविष्यतीति**—तदेवं पश्यन्तीमध्यमोभयमुख्यगौणभावेन सम्बन्धो योज्यः। यदि चैक्ये पश्यन्तीमाहात्म्यमेव पोस्फुरीति तर्ह्यविद्याकालुष्ये भेदप्रथायामपि सर्वत्र तज्ज्योतिर्भावात् कथं व्यवहारोपपत्तिः ?

उन्हीं का वाग्व्यवहार भी होता है। इसके अतिरिक्त यह पामरापामरोभय-प्रसिद्ध है कि इन्द्रियों का मन के साथ मेल होने पर बाह्य पदार्थों की वृत्ति मन पर बनती है। यदि आप अविद्याशबलता को नहीं मानेंगे तो आपके मत में बाह्य पदार्थों की वृत्ति ही नहीं बनेगी, फलतः या तो सभी विषय अनुपयोगी हो जायेंगे या उनका लोप हो जायेगा ॥४०॥

और भी, यह बताइये कि आपकी पश्यन्ती शरीर के अन्दर स्थित है ? या बाहर सर्वत्र स्थित है ? प्रथम पक्ष में उसकी सीमा हो गई फिर वह असीम तत्त्व कैसे ? द्वितीय पक्ष में 'अयम्' 'इदम्' करके ज्ञेय मध्यमा एवं वैखरी के विषयक्षेत्र में वह व्याप्त है तो फिर इन मध्यमा आदि की सत्ता को मानने से क्या लाभ ? ॥४१॥

साथ ही यह पश्यन्ती जिसे आप सर्वव्यापक मानते हैं, यदि प्राण अपान रूप बिन्दु और नाद की अपेक्षा रखकर सृष्टि और प्रलय में प्रसारित होती है, तो यह न तो सर्वव्यापी होगी न अद्वितीय। इस प्रकार यह अनीश्वरी हो जायेगी ॥४२॥

प्रतिदेहं पृथक् किं सा सर्वत्रैक्येन वा स्थिता।
नानात्वं तत्पृथक्त्वेन तदैक्यात्समशब्दता ॥४३॥

पुनरन्यत् पर्यालोचयन्नाह–पश्यन्तीति। पश्यन्ती किं शरीरेऽन्तरहन्ताभूमौ, किं वा बहिरपीति सर्वत्र स्थिता? पूर्वस्मिन् कल्पे परिमितत्वम्, द्वितीयस्मिन् मध्यमायां कक्ष्यायामिदन्तावेद्यमय्यामपि व्याप्त्यवस्थानात् किं मध्यमावैखरीरूपवाक्प्रभेदेन? पश्यन्ती अनुवर्तमाना प्राणापानरूपबिन्दुनादसापेक्षा चेत् सर्गसंहारयोः प्रसरेत्, तर्हि तथापि न व्यापिका नाप्यद्वया स्यात्। एतदनीश्वरत्वम् ॥४२॥

सा च पश्यन्ती प्रतिदेहं पृथग्भूता वा स्यात् सर्वदेहेष्वेकैव वा। पृथक्त्वे बह्वयः पश्यन्त्यः स्युः, ततश्च नाद्वैतम्। ऐक्ये सति सर्वदेहिनामेकपश्यन्तीयोगादेकत्रापि

अथाविद्यामाहात्म्यान्न पश्यन्ती स्वरूपमहोरूपा वरीवर्त्ति, किन्तु मध्यमा? तत्पश्यन्त्याः स्वरूपप्रच्युतेर्न तथात्वमित्युभयथाऽपि दोषाभ्युच्चयः। न त्विति–प्रत्यक्षावभासेऽन्धमूकबधिरम्। **चक्षुरादीति**–चक्षुरादिना दृष्टमेव हि मनसा संकल्पगोचरीकरोति। **सर्वस्या** इति–'कादीनि व्यञ्जनानि' इतिवत् तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमाश्रयणेन चक्षुषोऽपि ग्रहणम् ॥४०½॥

पुनरिति–इत्थमविद्यावादकथननिरासपूर्वं मध्यमायास्तत्कार्यत्वं निवार्य इदानीं पश्यन्तीमेव–

"अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायनी ॥"

इति लक्षणे यदेतत्स्वरूपज्योतिरेवान्त इति भागद्वयम्, तत्र दोषोद्भावनायावतारयति–**पुनरन्यदित्यादिना**। **मध्यमादिनेति**–तस्यापि तत्स्वरूत्वेनाप्रच्युतेः। कल्पे= प्रकारे। **व्याप्त्यवस्थानादिति**–अन्यत्राप्यनुसरणं व्याप्तिः। **अनीश्वरीति**–ननु सत्यमेवैतन्मध्यमादिष्वपि पश्यन्तीव्याप्तिरस्ति इति, संजल्पादिसापेक्षत्वात् पश्यन्त्या अपि परं मध्यमादिव्यपदेशः, अत एवास्याः सापेक्षत्वाद्धेतोर्मध्यमेति निर्देशः न तु स्वरूपेण; पश्यन्त्यां तु स्वरूपेण स्फुटमस्त्येवेति शंकापूर्वं निरस्यति–**अनीश्वरीत्यादिना** ॥४२॥

समशब्दतेति–सत्यमेवैतदैक्यमेव परमार्थतः, समशब्दताभावश्च शरीरभेदेनेति भावः। **स्थितिः**=शास्त्रनियमः। **स्फटिकस्येवेति**–यथा स्फटिकरत्नं स्वरूपत

वह पश्यन्ती प्रतिशरीर भिन्न है? या सब शरीरों में एक ही है? यदि प्रतिशरीर भिन्न है तो अनेक पश्यन्ती माननी पड़ेगी और आपका अद्वैतवाद खण्डित हो जायगा। यदि सभी शरीरों में एक ही मानते हैं तो एक शरीर से शब्द निकलने पर सभी शरीरों से अनायास ही शब्द निकलना चाहिये। पर ऐसा प्रत्यक्ष दृष्ट

शरीरैः प्रविभागश्चेत् तान्यसत्यानि ते स्थितिः ।
अविभागेत्यादिकेन लक्षणेन सुलक्षिता ॥४४॥
पश्यन्ती यदि वर्ण्येत लक्षणं तद्विलक्षणम् ।
अविभागा कथं सा स्याद्यतः पश्यन्त्यसौ स्मृता ॥४५॥

वक्तरि तत्पूर्वकप्रयत्नप्रेरितप्राणाभिहतस्थानोत्थितः शब्दविशेषो यः, स एव सर्वेष्वपि तूष्णीमासीनेष्वपि उच्चरितः स्यात् । अन्यथा क्वचित्तादृशकार्याकरणात् तस्य स्वभावभेदापत्तेरैक्यं न स्यात् । अथैकत्वेऽपि शरीरोपाश्रयः **प्रविभागः** स्फटिकस्येवेति ? तन्न, तान्यसत्यानि इति तव दर्शने व्यवस्था । न चासत्यमकिञ्चिद्रूपं क्वचिदुपयोगि भवतीति यावत् ॥४३॥

पश्यन्ती च—'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।'

इत्यादिना लक्षणेन सुष्ठु अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारेण लक्षिता यद्युच्येत, तल्लक्षणमेतद्विलक्षणमतिशोभनमित्युपहासः, यतो विलक्षणं लक्षणस्य यल्लक्षणं तद्विगमात् । तदाह—**अविभागेति** । यत एव **पश्यन्ती असौ** विभक्तदृश्यार्थोन्मुखी स्मृता, ततः कथमविभागा स्यात् यतो लक्ष्यलक्षणपदयोऽन्योऽन्यविरहः ? ॥४५॥

एकमपि तत्तद्रागोपरागेण भेदेनावभासते तथा पश्यन्त्यपीत्यर्थः । **दर्शने** इति—"विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।" (वा० प० १.१) इति नयेन । ननु क एवमाह—**पृथक्त्वे बह्वच** इति ? ऐक्ये वा समशब्दता यतोऽविभागैव पश्यन्ती, तथा च किमिदं पृथक्त्वं नाम, ऐक्यं नाम वेति । न कोऽपि दोषकण इति पूर्वपक्षप्रत्यवस्थानपूर्वमाचष्टे—**अविभागेत्यादि** ॥४४॥

अव्याप्तीति—लक्षणस्य लक्ष्यैकदेशपतनमव्याप्तिः । अलक्ष्ये लक्षणपतनमतिव्याप्तिः । **विलक्षणेति**—विशिष्टलक्षमुपहासेन, तथा परमार्थतो विरुद्धलक्षणं तथा विलक्षणं लज्जावहमिति च ॥४५॥

नहीं होता । यदि यह कहिये कि एक होने पर भी जैसे एक ही स्फटिकमणि, दर्पण, तैल, जल आदि भिन्न-भिन्न आधारों में भिन्न-भिन्न एवं अनेक रूपों में अवभासमान होती है उसी प्रकार एक ही पश्यन्ती आधारभेद के कारण भिन्न प्रतीत होती है ? तो आपके व्याकरणदर्शन में पदार्थ तो विवर्त्तरूप अर्थात् असत्य हैं, तो असत्य अकिञ्चिद्रूप का कहीं उपयोग तो होता नहीं । इतने पर भी यदि आप पश्यन्ती का 'अविभागा' 'सर्वतः संहृतक्रमा' इत्यादि लक्षणों से वर्णन करें तो यह तो विलक्षण अर्थात् लक्षणशून्य तथा उपहसनीय है । ॥४३–४४½॥

चूंकि आप इसे पश्यन्ती कहते हैं और पश्यन्ती का अर्थ है–पृथक्दृश्यमान अर्थ की ओर अभिमुखी । फिर वह अविभागा कैसे ? ॥४५॥

यानि पश्यति किं स्वाक्यरूपदिक्कालभागशः ।
अतथा यदि पश्यन्ती मिथ्या पश्यन्त्युदाहृता ॥४६॥
यथारूपेण पश्यन्ती निर्विभागा कथं भवेत् ।
भविष्यन्तं वर्त्तमानं कथं पश्यन्त्यनागतम् ॥४७॥

तथा हि—स्वकेन स्वकेन रूपदिक्कालभागेन किं दृश्यवस्तूनि पश्यति यानि द्रष्टुं प्रवृत्ता?—इत्यध्याहारः । युक्तं ह्येतत्, यदि पुनरतथा विपर्ययेण पश्यन्ती भवति, तन्मिथ्याऽज्ञानरूपा पश्यन्ती, अथवा **मिथ्या पश्यन्त्युदाहृता** पश्यन्तीत्यर्थः । अविभक्ता तु तदा स्याद् भिन्नदृश्यवस्त्वभावात् । पश्यन्तीत्वानुरोधात्तु यथास्थितरूपेण स्वरूपा-

---

यानीति—यदुक्तं **लक्ष्यलक्षणपदयोर्विरहः**, लक्ष्यपदं पश्यन्ती, लक्षणपदमविभागेत्यादि । लक्षणं हि लक्ष्यसिद्धये प्रयुज्यते, तद्विरहात् प्रत्युत विरोधावहम्, तदाह—**यानि पश्यतीति** । पश्यन्ती सकर्मकत्वाद्धि किञ्चित्कर्माक्षिपत्येव । तच्च कर्मरूपं दृश्यं यदि तद्दृश्यवस्तुस्वरूपतद्देशतत्कालभागमवलम्बते तर्हि तस्य दृश्यस्य सम्यग्ज्ञानरूपत्वात् भवदभ्युपगता पश्यन्ती युक्तैव; परन्तु तत्र लक्षणविगमः, तत्तद्दृश्यदेशकालस्वरूपत्वेन सविभागत्वान्निर्विभागता कथं सम्भवति ?—इत्यर्थः । लक्षणव्यवस्थार्थं पुनराह—**अतथेति** । न स्वकस्वरूपदेशकालसहितानि वस्तूनि पश्यति येन निर्विभागताऽपवादः किन्तु तत्तद्देशकालरहितमेवेति चेत् ? तर्हि लक्षणाविगमेऽपि लक्ष्यस्यैवासम्भवादलं तेन । तथा हि स्वकरूपदेशकालरहितं हि मिथ्याज्ञानं तदुपादानात् सापि मिथ्येत्यर्थः ॥४६॥

यथारूपेण = पश्यन्तीति निर्देशात् । **स्वकेन**—तत्तदृश्यस्य । **युक्तमिति**—सम्यग्ज्ञानस्यैव युक्तत्वात् । **विपर्ययेण** = न स्वकेन रूपदेशकालेन । **तन्मिथ्येति**—प्रथमे नियमे मिथ्येति पृथक् पदम्, द्वितीये समुदायेन । तत्र द्वितीयस्य पश्यन्ती-

---

यह बताइये कि जिन पदार्थों को वह पश्यन्ती देखती है उन्हें उनके रूप दिशा काल इत्यादि विभाग के साथ देखती होगी न ? क्योंकि तभी तो उसका पश्यन्ती नाम सार्थक है नहीं तो वह मिथ्या पश्यन्ती हो जायगी और परमतत्त्व नहीं रहेगी ? लेकिन यदि रूप आदि विभाग के साथ उन पदार्थों को देखती है तो उसे आप अविभागा, कैसे कहते हैं क्योंकि वह तो विभक्त दृश्य वस्तुओं से युक्त हो गयी ? ॥४६½॥

साथ ही जो पदार्थ अनागत हैं उन्हें वर्त्तमान रूप में वह कैसे देखती है ? क्योंकि भिन्न देश काल वाले पदार्थों का भिन्न देश कालों में दर्शन नहीं होता और आप उसे सर्वदर्शनी मानते हैं, यह कैसे ? ॥४७½॥

अन्यदिग्देशगेनान्यदिग्देशे सत्यदर्शनम् ।
अथ साधारणं ज्ञानं तादृक् किञ्चन पश्यति ॥४८॥
तथापि तद्विभेदेन भेदता तदभेदतः ।
न किञ्चन गृहीतं स्यात् तथाऽन्या संहृतक्रमा ॥४९॥

नतिक्रमेण वा **पश्यन्ती** विभक्तदृश्यवस्तुयुक्ता **निर्विभागा कथं भवेत् ?**—इत्युक्तम् । स्वकमेव **स्वाक्यम् ।** योग्यदेशस्थवर्त्तमानार्थानुभवितृत्वेन तावत् सर्वप्रमातृणां स्वात्मन्यनुभवः । तत्र भविष्यन्तमर्थं तदनागतमप्राप्तमेव कथं वर्त्तमानम् ? वर्तमानत्वे पश्यन्ती स्यात् सम्यग्रूपेत्यर्थः । तथा अन्ययोग्यदेशस्थितेऽन्ययोग्यदेशस्थेन **सत्यदर्शनं** सम्यग्दर्शनरूपा पश्यन्तीत्यर्थः । तथाऽन्य**दिग्देश**कालगतेन ज्ञानेनान्यदिक्कालगते सति विद्यमानेऽर्थे न दर्शनम् । ततश्च कथं वर्तमानं योग्यदेशस्थमेव पश्यन्ती **भविष्यन्तम्** = अनागतम् = असम्प्राप्तम् = अन्यदेशस्थितं च पश्यन्ती स्यात् । सर्वदर्शिनी चेष्यते सा । देशकालावत्र परस्परोपलक्षणे । देशकालभिन्नार्थग्राहीणि भिन्नान्येव ज्ञानानि

शब्दस्याध्याहारः कर्त्तव्यः । **तदा** = तत्तद्दृश्यानामस्वीयरूपादिग्रहणकाले । **भिन्नेति**—पश्यन्ती हि ज्योतीरूपत्वात् न मिथ्याज्ञानप्रत्यवमर्शात्मिकेति । **स्वाक्यम्**—स्वार्थे ष्यञ् । **भविष्यन्तमिति**—इदानीं यत् पूर्वमुक्तं—"वर्त्तमानसमारूढा क्रिया पश्यन्त्युदाहृता ।" इति—तत्समर्थयति । तथा यदुक्तं स्वकरूपादिग्रहणे कथं निर्विभागेति यतो भविष्यन्तमेवार्थं वर्त्तमानत्वेन गृह्णाति, ततश्च दृश्यस्य स्वरूपाद्युत्तीर्णत्वेनैव भासनात् तल्लग्नत्वाच्च न सविभागत्वं नापि मिथ्याज्ञानवत्त्वमिति दोषद्वयरहितं पश्यन्तीस्वरूपं सेत्स्यति, अलमनेन मिथ्याऽमिथ्यात्वकथनेनेति यदुच्यते तदपि निर्दलयति—**भविष्यन्तमि**त्यादिना । **वर्त्तमानत्र** इति—अप्राप्तस्य वर्त्तमानत्वे दर्शनं भ्रान्तिरित्यर्थः । **पश्यन्तीति**—नेति पदमत्रापि योज्यम् । **देशकाला**विति—तेन भविष्यन्तं वर्त्तमानमित्यत्र कालनिर्देशेऽपि तथैव देशोऽपि बोध्यः ॥४७॥

अन्यदिग्देशग इत्यत्र देशनिर्देशे च कालनिर्देशोऽपीत्यर्थः । **अथे**ति—अत्राह विशेषज्ञानं हीदं यदत्र भविष्यदादिकालव्यपदेशः, पश्यन्ती तु सामान्यरूपा, न तत्र भविष्यदादिव्यपदेशोऽपि सम्भवतीत्यकालकलितत्वान्न सत्यदर्शनमज्ञातपराशयस्योन्मत्तभाषण-

---

यदि कहिये कि देश काल की उपाधियों के कारण परस्पर भिन्न अर्थ के ग्राही ज्ञानों में सामान्य रूप से वर्त्तमान एक अतिरिक्त ज्ञान है वही पश्यन्ती का विषय है ? तो भी विशिष्ट तत्तद् भिन्न ज्ञानों में रहने से उस सामान्य ज्ञान को भी भिन्न मानना पड़ेगा और यदि आप उसे भिन्न नहीं मानेंगे तो उस ज्ञान का कोई विषय नहीं होगा । ॥४८–४९॥

संहृतः क्रम इत्यस्यां संहर्त्ता जायते परः।
यया क्रमः संहृतो वा किमात्मन्यपरत्र वा ॥५०॥

सा पश्यन्ती, तेषु साधारणमेकं तादृक्सर्वतज्ज्ञानप्रपञ्चनव्यापारक्षमं किञ्चनानियतं परिदृश्यमाननीलपीतादिनियतज्ञानोत्तरमस्ति; तत्पश्यति सर्वं पश्यन्तीत्यर्थः। **तथापि** असाधारणनीलादिनियतज्ञानानां भेदात् तस्यापि **भेदता** = भिद्यमानता स्यात्, न तु सामान्यता; तेभ्यस्तस्याभेदात्। तथा च सति न किंचनानागतादि गृहीतं स्यात्, अनागतार्थज्ञानाविभिन्ना पश्यन्ती तदानीमेव तं ग्रहीष्यतीति। अथवा नीलपीतादिज्ञानवत् भेदताऽस्याः पश्यन्त्याः। तस्या अपि नीलादिकभविष्यद्वर्त्तमानार्थशबलीकृतत्वात्। अथ तस्या न भविष्यदादिशबलता, अपि तु बोधमात्ररूपत्वेनाविभेद एव ? ततस्तदभेदतो न किञ्चन नीलादि तया गृहीतम्, ततः कथं पश्यन्ती स्यादिति ? अथाऽन्या लक्षणान्तरभेदिता तैः पश्यन्ती **संहृतक्रमा** ॥४९॥

संहृतःक्रमोऽस्यामिति। एवम् 'इति' शब्दो भिन्नक्रमो योज्यः। एवं यदि सप्तम्यर्थे पश्यन्त्यात्मनि बहुव्रीहिस्तदा संहर्त्ताऽन्योऽर्थोऽपेक्षणीयोऽत्रेति व्याहतम्।

मित्याशङ्क्याह–अथ **साधारणमिति**। तादृगिति–अत्र यत्तच्छब्दयोरध्याहारः यदीदृशं ज्ञानं तदेव पश्यति। नीलपीतादिविशेषरहितं नियमरहितं सर्वव्यापकं ज्ञानमित्यस्मिन्नपि पक्षे दोषोद्भावनं करोति—**तथापीत्यादिना**। एतद्धि सत्यमेव साधारणं ज्ञानमस्तीति, तथापि दृश्यमत्र विशिष्टमेवेत्याह—**तथापीति**। **तेषु** = भिन्नज्ञानेषु। **किञ्चनानियतम्** = विशिष्टत्वाभावाद्व्यपदेशानर्हम्। **तथापीति**—भवत्वेतत्साधारणमेव किञ्चन सर्वसहं व्यापकं च, अत्र पश्यन्तीस्वरूपनिरूपणमेव सर्वथा सम्पाद्यम्, तच्च कर्मसापेक्षत्वादवश्यं स्वसिद्धये कर्म दृश्यरूपमाक्षिपति, तस्यां हि विशेषरूपत्वेनैव दर्शनसम्भवात् तेषामित्यर्थः। **तेभ्यः** = विशेषेभ्यः। **तस्य** = सामान्यस्य। **तदभेदत** इत्यर्थभागं विवृणोति—**तथा चेति**। अयं भावः—विशिष्टज्ञानोदयेऽपि यदि सा साधारणी तर्हि तदभेदतो विशिष्टज्ञानोदयेऽप्यतीतानागतादिविशेषाभावात्, ततश्च नानागतावेक्षणमिति किमत्र दृश्यं नामेति। **'तथापि तद्विभेदेन'** इत्यादि **'न किञ्चन गृहीतं स्यात्'** इत्यन्तं द्वितीयार्थेन संगमयति—**अथवेत्यादिना**। **कथमिति**—कर्माभावात्। **तैः** = शब्दब्रह्मवादिभिः ॥४९॥

संहृत इति—ननु च पश्यन्ती संहृतक्रमेति ह्यस्याः क्रमसंहार एव निर्विभागत्वे हेतुः, ततश्च केयं कल्पना नीलादिविशिष्टनियतासाधारणज्ञानानां भेदात् तस्या अपि

'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा' इस लक्षण में 'संहृतक्रमा' शब्द की यदि 'संहृतः क्रमो यस्याम्' ऐसा विग्रह करते हैं तो क्रम का संहर्त्ता कोई दूसरा होगा और इस प्रकार द्वैतापत्ति होगी। यदि 'संहृतो यया' ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं

आत्मनः सक्रमत्वं स्यादन्यत्रापरसंगमः ।
किं पूर्वं सक्रमाऽभूत् सा रूपद्वित्वं प्रसज्यते ॥५१॥
अथात्मना सा स्वात्मानं पश्यन्ती निर्विभागशः ।
भागे करणरूपत्वात् पारतन्त्र्यं जडात्मता ॥५२॥

अथवा तृतीयार्थे यया क्रमः संहृतः पश्यन्त्या सा तथा । एवं चाधिकरणापेक्षायां किमात्मनि संहृतः ? अथापरत्र ? इति विकल्पः । तथात्मनि क्रमस्य संहरणे = योजने सति तस्य सक्रमत्वं स्यात् । अथान्यत्र ? तद् द्वितीयवस्तुसम्बन्धः ततश्च द्वैतापत्तिः । अथात्मन्येव पूर्वं सक्रमया भूतया पश्चात् क्रमः संहृतः = निवारितः, न त्वन्यत्र, द्वैतापत्तेः ? तथापि तस्याः सक्रमाक्रमरूपद्वित्वप्रसङ्गः ॥५१॥

"अविभागा कथं सा स्यात्ततः पश्यन्त्यसौ स्मृता ।"

इत्यत्र पश्यन्तीत्वादेव दर्शनक्रियाकरणापेक्षया निर्विभागत्वं दूषितं समर्थ्यमानं परेणाशङ्कते—अथात्मनेति । आत्मनैवात्मानमेव च पश्यन्ती सा स्थिता निर्विभागशः = विशिष्टात् = अत्यन्तपृथग्भूतात् भागान्निष्क्रान्ता, कर्मकरणादिशक्तिमात्रेण स्थितेत्यर्थः । तत्रापि भागे द्वितीये कारकशक्त्यात्मनि करणादिरूपत्वात् तस्या एव पारतन्त्र्यं जडता च प्राप्नोति स्वातन्त्र्यादेव चिद्रूपत्वेति । एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां परीक्ष्यम् ॥५२॥

भेदतेति ?—तन्निर्दलयितुमाह—संहृत इति । त्रितयाधीनं हि संहरणं कर्तृकरणाधिकरणेष्विति । तदेव क्रमेणाह—संहर्त्रेति । केनेत्यपेक्षयाऽवश्यं परेण भाव्यम् । किमिति—कस्मिन्नित्यपेक्षायाम् । योज्य इति—अस्यामित्यनन्तरम् । व्याहतम् = स्ववचनविरोधो व्याघातः । तृतीयार्थे इति—बहुव्रीह्याश्रयणे । आशङ्कत इति—निर्विभागत्वम् 'अविभागा' इत्यादिना दूषितम् । पश्यन्तीत्वमेव तत् यत्स्वयमेव कर्मकरणादिरूपत्वम्' इति परेण समर्थ्यमानमाशङ्कते ॥५२॥

और संहरणकर्त्री उसी को मानते हैं तो यह बताइये कि उसने क्रम का संहरण अपने में किया ? या अन्यत्र ? यदि अपने में किया तो इस संहरण के पहले वह सक्रमा थी बाद में अक्रमा हुई इसप्रकार उसकी द्विरूपता सिद्ध होती है । और यदि दूसरे में क्रम का संहार किया तो दूसरे से समागम होने से भी द्वैतापत्ति होती है ॥५०–५१॥

वह अपने को निर्विभाग रूप से देखती है क्योंकि भाग रूप में उसका दर्शन मानने पर उसकी परतन्त्रता एवं जडात्मकता सिद्ध होगी, यदि ऐसा कहा जाय ? ॥५२॥

आत्मानमात्मना हन्ति देवदत्तो यथा तथा।
भविष्यत्यत्र तत्रास्य स्वाङ्गैरेव विभागिता ॥५३॥
हस्तादेः करणत्वं हि मस्तकादेश्च कर्मता।
कर्त्ता मनः स्वावयवी नामूर्त्ताया इदं पुनः ॥५४॥
पश्यन्त्यदृष्टमात्मानं दृष्टं वाऽदृष्टता कथम्।
पश्यन्त्या दर्शनं दृष्टे न च वा ह्युपपद्यते ॥५५॥

पर आह—**आत्मान**मिति। देवदत्तात्मनि यथा कर्मादिभेदस्तथाऽत्र स्यात्? इत्येतन्न। देवदत्तस्य मूर्त्तत्वेन वितताकारस्य **स्वाङ्ग**ैरेव बहुभिरुपगृहीतात्मशब्दाभिधायकैर्विभागः। तथा हि हस्तस्यान्यस्य वाऽवयवस्य शस्त्रादियुजः करणता, मस्तकस्य हृदयादेर्वा हन्यमानस्य कर्मता, कर्त्ता मनोयुक्तः स्व आत्मा, स एव हस्तादिसम्बद्धोऽवयवीत्युक्तो यत एव तावत्याऽऽत्मभावः। पश्यन्त्याः पुनश्चिन्मात्ररूपत्वेनामूर्त्ताया वैतत्याभावान्नावयवापेक्षोऽयं व्यवहारः, ततस्तस्या एव भागे करणादित्वेन जडताऽऽपत्तिरेव ॥५४॥

आत्मानं च पश्यन्ती किमदृष्टपूर्वं पश्यति? अथ दृष्टम्? तद्द्वयमपि न युक्तं यतः पश्यन्त्याः प्रकाशरूपायाः अदृष्टत्वम् = अप्रकाशता नैव, दृष्टे चात्मनि न पुनः दर्शन-

---

पश्यन्तीति—तदेवं **'अथात्मना सा स्वात्मानम्'** इत्यत्रात्मनेति भागे पारतन्त्र्याज्जडतामुपपाद्य **'आत्मानम्'** इति कर्मभागं विकल्पयति। **आत्मान**मिति निजमेव स्वरूपं कर्मरूपशक्तिमात्रेण स्थितं पश्यन्ती कर्त्तृरूपशक्तिस्थिता पश्यति येन दर्शनक्रियार्थोऽस्या घटते। अत्र पश्यन्त्या इति देहलीदीपन्यायेनोभयत्रापि योज्यम्। तत्र पश्यन्त्या दर्शनम् = दृष्टता तत्कर्मिकेत्यर्थः। द्वितीये पुनः पश्यन्त्या दर्शनं पश्यन्तीकर्त्तृकमित्यर्थः। **दृष्टतेति**—निजरूपस्यैव कर्मशक्तिरूपत्वाददृष्टता = दर्शनक्रियाराहित्यम् = अप्रकाशत्वं कथम्?—इत्यर्थः। **दृष्टे** = प्रकाशिते। **'च वा** शब्दावत्रानुक्तसमुच्चयार्थौ। **अदृष्टत्व**मिति—अदृष्ट एव हि दर्शनं युक्तम्, अदृष्टत्वं च पश्यन्त्या

तो जैसे 'देवदत्त' अपने से अपने को मारता है, इस कथन में अपने अंगों से ही अपना विभाग सिद्ध होता है; हाथ इत्यादि कारण, मस्तक इत्यादि कर्म और मन कर्त्ता माना जाता है; उसी प्रकार उसमें भी मानना पड़ेगा। पर वह तो अमूर्त है उसमें यह सम्भव नहीं ॥५३—५४॥

पश्यन्ती का अर्थ है—'आत्मानं पश्यन्ती' अर्थात् अपने को देखने वाली। यह बताइये कि यह अदृष्टपूर्व अपने को देखती है? या दृष्टपूर्व? यह तो दोनों ही ठीक नहीं है। क्योंकि वह प्रकाशरूप है अतः उसका अदृष्टत्व सम्भव नहीं। और इस प्रकार आत्मा भी दृष्ट हुआ और दृष्ट आत्मा का पुनर्दर्शन असङ्गत है। ॥५५॥

पश्यन्तं सा किमात्मानं पश्यन्ती जडमेव वा।
जडे जडत्वमेवास्याः पश्यतो ह्यनवस्थता ॥५६॥
किञ्चित् पश्यति वा सूक्ष्मं तदस्मद्दर्शनान्वयः।
कर्मत्वे पारतन्त्र्यं स्यात् तस्या एव निजात्मनि ॥५७॥

क्रियाप्रवृत्तिर्युक्ता। न च पश्यन्त्या आत्मा प्रतिक्षणमन्यो येन प्रतिक्षणमेव दर्शनक्रियाया उपयोगेन वर्त्तमानता स्यात्, नापि तस्या आत्मनो दिक्कालावच्छेदः ॥५५॥

सा चात्मानं प्रकाशरूपत्वात् पश्यन्त्यात्मकत्वाच्च किं पश्यन्तं पश्यति? उताप्रकाशरूपं जडम्? जडे तस्मिन् साऽपि जडा स्यात्, अथात्माऽप्यस्याः प्रकाशात्मत्वात् पश्यति, न च भिन्नं पश्यति अपि त्वात्मानमेव, ततस्तस्यापि पूर्वविकल्पयोगादनवस्थता, अवस्थानस्य दर्शनविश्रान्तेरभावात् ॥५६॥

यदि वा भवद्भिर्नान्यिनीलपीतादि स्थूलं विभक्तस्वरूपं दृश्यं पश्यति, अपि तु दृश्यभुवमनापन्नं द्रष्टारमेव किञ्चिदविकल्प्यं सूक्ष्ममपृथग्रूपं पश्यति, न च पश्यति,

अयुक्तम्, पश्यन्तीत्वात्। **दृष्ट** इति--अथ दृष्टतैव पश्यन्त्युपरोधादित्याशङ्क्याह--**दृष्ट** इति। **युक्ते**ति--अनवस्था हि तथा स्यात्। **न चेति--च**शब्दसूचितमनुक्तसमुच्चयार्थत्वं चाह तच्च यदुक्तं **'वर्त्तमानसमारूढा'** (शि० दृ० २.२०) इति तं वर्त्तमानभागमपि विकल्पयति--**न चे**ति। वाशब्दसमुच्चितमाह--**नापी**ति ॥५५॥

पश्यन्तमिति--पूर्वश्लोके **दृष्टता** = दर्शनक्रियायोग्यता, सा च स्वयमचैतन्येऽपि सम्भवति; इह पुनश्चैतन्यमेवोपोद्बलनार्थं शङ्क्यमानत्वेन दर्शयति--**पश्यन्तं से**ति। तदेतदाह--**प्रकाशरूपत्वात् पश्यन्त्यात्मकत्वाच्चे**ति। **पूर्वविकल्पे**ति--दृष्टे दर्शनमिति न्यायेन। **अनवस्थते**ति--सा च मूलक्षतिकारिणीत्युक्तमेव ॥५६॥

पश्यतीति--ननु चात्मानं पश्यन्तं सूक्ष्मं विकल्पकलङ्काकलुषितं पश्यति यतः तत्किमिति ह्यनवस्था, दर्शनं चानुज्झितद्रष्टृभावस्यैव तत्क्रियात्मकं ततोऽपि न किञ्चिनानुपपन्नं नामेति किं दोषाविर्भावेन?--इत्यत आह--**किञ्चिदि**ति। किञ्चिदितीदन्ता-

यह प्रकाशरूप अपने को देखती है या जडरूप अपने को? यदि वह अपने को जडरूप में देखती है तो यह स्वयं जड़ है और यदि प्रकाशरूप अपने को देखती है तो फिर अनवस्था दोष आ जाता है ॥५६॥

यदि आप यह कहें कि यह नील पीत आदि स्थूल विभक्तस्वरूप वाले पदार्थों को नहीं देखती बल्कि सूक्ष्म अपृक्‌रूप अविकल्प्य द्रष्टा को ही देखती है? तो फिर आप हमारे दर्शन का ही अनुगमन करते हैं। क्योंकि वास्तविक कर्मत्व मानने पर वह स्वयं अपने आप में परतन्त्र हो जायेगी ॥५७॥

स्फोट एव हि पश्यन्ती तदन्या वा द्वयं भवेत् ।
तदन्यत्वे तदैक्ये वा तदङ्गुल्यग्ररूपया ॥५८॥
वाक्यगत्याऽत्र सत्यत्वं लभ्यते न विशेषता ।
आप्तानाप्तविचारो वा सर्वथैव निवर्त्तते ॥५९॥

दृश्यार्थमद्रष्टृरूपैव सती प्रकाशते पश्यन्तीति कथ्यते ? ततोऽस्मदीयदर्शनानुगमः स्यात् पश्यन्त्यर्थः क्रियाकर्त्तृकर्मकालविभागात्मा त्यक्तो भवेत् । वास्तवे तु कर्मत्वेऽभ्युपगम्यमाने तदीयसूक्ष्मद्रष्टृरूपात्माधिकरणे सति तस्मिन्नेवैकात्मनि द्रष्टृत्वात् स्वतन्त्रे दृश्यतया पारतन्त्र्यं स्याद् विरुद्धम् ॥५७॥

भवद्भिः स्फोटः पश्यन्ती च नित्यत्वेनाभ्युपगतौ; ततः स्फोट एव वा पश्यन्ती स्यात् शब्दमात्रभेदात्, ततो वाऽन्या, तत्र द्वैतं स्यात् । अन्यत्वपक्षे ऐक्ये वाऽभ्यु-

व्यपदेशानर्हत्वात्स्वरूपत्वादेवानियतम् । **सूक्ष्मम्** = सर्वग्राह्यग्राहकताविभागरहितम् । **अन्वयः** = अभ्युपगमः । ननु च यतः पश्यन्तीत्युच्यते तत एव सकर्मकत्वादस्य स्फुटं पूर्ववदेव दृश्यत्वमापन्नं तत्किमिति तत्र न दोषः ?—इत्यत आह—**न चेत्यादि । दर्शनानुगम** इति—ततश्चैवं सति न कश्चिद् विरोध इत्यर्थः । न चैतद्भवतामिष्टमित्याह—पश्यन्तीति ॥५७॥

स्फोट एवेति—स्फोटात्मैव शब्दोऽर्थप्रतिपादकः । तथा चोक्तम्—

"एको नित्यः क्रमविरहितः कल्पितासत्यभागो
वाक्यस्फोटो जनयति मतिं तादृशि स्वाभिधेये ।
वर्णास्त्वेते प्रकृतिलघवः कल्पनैकप्रतिष्ठा-
स्तस्मिन्नर्थे विदधति धियं नेत्यलं तत्कथाभिः ॥"

तथा हीत्याहुः कुतो वर्णानामर्थप्रत्यायकत्वम् ? ते हि वर्णा गकारादयोऽर्थं प्रतिपादयन्तः समस्ता वा व्यस्ताः ? न तावद् व्यस्ताः, एकैकवर्णाकर्णने सति चार्थ-

आप वैयाकरणलोग स्फोट और पश्यन्ती दोनों को नित्य मानते हैं तो क्या स्फोट और पश्यन्ती दोनों एक ही हैं केवल शब्दमात्र का भेद है ? या दोनों दो हैं ? दोनों परिस्थितियों में द्वैतापत्ति होती है, क्योंकि 'अङ्गुलि की नोक पर एक सौ हाथियों का झुण्ड है ।' इस वाक्य में स्फोट की दृष्टि से अर्थ की प्रतीति तो होती है पर पश्यन्ती तो सर्वदा सत्य अर्थ की प्रतीति कराती है और यहाँ अर्थ असत्य है । इसलिये पश्यन्ती यहाँ अर्थप्रत्यायिका नहीं होगी । इस प्रकार द्वैतापत्ति है । इस प्रकार यदि उपर्युक्त वाक्य भी स्फोट की दृष्टि से ही सही, सत्य समझे जायेंगे तब तो आप्त और अनाप्त व्यक्ति और उनके द्वारा उच्चरित वाक्य का युक्तत्वायुक्तत्व-विचार ही समाप्त हो जायगा ॥५८-५९॥

स्फोटस्यासत्यरूपैर्हि पदार्थैर्व्यङ्ग्यता कथम्।
पश्यन्त्याः सत्यरूपाया असत्यैर्व्यङ्ग्यता न च ॥६०॥

पगते तत्पश्यन्त्याः सम्बन्धि सत्यार्थदर्शित्वं लभ्येत। 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' इत्यनया वाक्यस्फोटप्रतीत्याऽत्र लोके न तु पश्यन्तोसंज्ञसत्यदर्शनरूपत्वेन सर्वस्य स्फोटस्य सत्याभिमताद्वाक्यात् विशिष्टप्रमाणता लभ्यते। अन्यत्वपक्षे तु स्फोटस्य सत्यस्यापि असत्यार्थत्वं न दोषः, पश्यन्त्यात्मनस्तु शुद्धसंविद्रूपस्य मिथ्यात्वं दोष एव पश्यन्त्यैक्येन स्फोटसत्यार्थत्वात्। आप्तप्रणीतानाप्तप्रणीतत्वविचारो वा सर्वथा तदा निवर्तते सर्वेषामविशेषेण सम्यग्रूपत्वात्। पूर्वोक्तपश्यन्तीबहुत्ववन्नित्यस्फोटबहुत्वं ततश्चाद्वयहानिरित्येतदप्यत्र सूचितम् ॥५९॥

स्फोटस्य च कूटस्थनित्यस्य सत्यस्य पदवर्णध्वनिभिरुपप्लुतैरकिञ्चित्स्वरूपैर-शक्तैरत्यन्तविजातीयैः कथं व्यङ्ग्यता सत्यप्रकाशनसामर्थ्ये तेषां सत्यतापत्तेः?

प्रतीतेरनुत्पादात्। सामस्त्यं पुनर्वर्णानां न सम्भवत्येव। तद्धि सत्तया स्यात्, सा चायुक्ता। तथा हि—वर्णप्रयोक्तॄणां प्रयत्नस्थानकरणक्रमापरित्यागादवश्यंभावी क्रमः। क्रमे च सति ह्येकैकवर्णकारणिकार्थप्रतीतिः प्राप्नोति, सा च न दृश्यते इति व्यस्तसमस्तविकल्पानुपपत्तेर्न वर्णा वाचकाः। वर्णविषया अपि बुद्धयस्तथैव कल्प्याः, ता अपि युगपन्न सम्भवन्ति। क्रमे च सत्येकैकवर्णबुद्धेरर्थसम्प्रत्ययः प्रसज्यत इति; तस्मान्न वर्णा वाचकाः। यदि च स्युस्तद्विपरीतक्रमप्रयुक्ता अपि तमर्थमव-गमयेयुः। अस्ति चेयं शब्दादुच्चारितात्तदर्थावगतिः। न चेयमकारणिकैव भवितु-मर्हति, तदस्याः कारणं स्फोट इति सर्वथाऽर्थप्रतीतिलक्षणकार्यवशात् कल्प्यमानं तत्कारणं स्फोट इत्युच्यते। स च निरवयवो नित्य एको निष्क्रमक इति। तस्माद् वर्णाभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थे प्रतिपत्तिमादधाति। भ्राम्यति जनो वर्णैरियमर्थप्रतीति-रुत्पादितेति। न च वाच्यं स्फोटव्यक्तावपि ते व्यस्तसमस्तविकल्पाः सन्तीति, न स्फोटव्यक्तौ विकल्पाः। तथा हि एके तावदाचक्षते प्रथमवर्णश्रवणवेलायां स्फोटोऽभिव्यक्तः। न च द्वितीयादिवर्णवैफल्यं तदनुगतेरेवातिशयकारणात्।

इसके अतिरिक्त स्फोट तो सत्यात्मक है फिर वह पद, वर्ण, ध्वनि आदि अत्यन्त विजातीय अकिञ्चित्स्वरूप असत्य साधनों के द्वारा सत्य अर्थ को कैसे व्यक्त करता है? क्योंकि सत्य अर्थ को प्रकाशित करने पर वे पद आदि भी सत्य होने लगेंगे। यदि स्फोट को पश्यन्तीस्वरूप भी मानें तो भी वह स्फोट असत्य का व्यञ्जक नहीं हो सकता। क्योंकि पश्यन्ती में असत्य अर्थ को व्यक्त करने की अपेक्षा (क्षमता) नहीं है। इस प्रकार असत्य अर्थ का व्यञ्जक अविद्या को मानना पड़ेगा और उसे आप पश्यन्ती कहेंगे तो कहिये ॥६०–६०½॥

तादृग्व्यञ्जनसापेक्षा सा न किञ्चन जायते ।
पश्यन्ती वा प्रमाणेन केनासौ प्रतिपाद्यते ॥६१॥
प्रत्यक्षस्यागोचरत्वादनुमानं प्रदूषितम् ।
भवद्भिरेव नाप्तस्याननुभूतार्थवक्तृता ॥६२॥

पश्यन्त्यात्मत्वेऽपि च स्फोटस्यासत्यव्यञ्जकता तथैव न युक्ता, असत्येनाविद्यात्मना व्यज्यमानालोकेन रूपमिव स्वयं प्रकाशनशक्त्या न किञ्चिदेवाविद्यैव सा स्यात् तावत्प्रपञ्चरूपैवाविद्येति कृत्वा । प्रमाणेन वा केन पश्यन्ती भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते ? प्रत्यक्षं तावदत्र चक्षुरादिमनोगोचरातिक्रमान्नास्ति । अवस्थेत्यादिना **भवद्भिरेव** तस्य दूषणाच्चानुमानं न सम्यगवबोधकम् । आप्तस्यापि **नाननुभूतार्थवक्तृता,** तदपि न प्रमाणम् ॥६२॥

यथा रत्नपरीक्षायां प्रथमदर्शने रत्नममलं प्रकाशमानमपि पुनः पुनः परीक्षायां निरवद्यं रत्नतत्त्वं चकास्ति । एवं प्रथमवर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि स्फोटे स्फुटतरप्रतीतये वर्णान्तराणि प्रयोक्ष्यन्त इति । अपरे त्वाहुः—ध्वनय एव स्फोटस्य व्यंजकाः । तैश्च मरुद्भिरनवयव एष स्फोटोऽभिव्यज्यमानस्ताल्वादिस्थानकरणसंयोगोपाधि-वशोपप्लवमाननानाकारगकारादिभागयोगीव प्रतिभासते । मरुतां चञ्चलत्वात् उच्चारितप्रध्वंसिनस्ते काल्पनिका भागा भासन्ते । दृष्टं हि नादात्मको हि शब्दो वीणावेणुमृदङ्गपटहादिव्यञ्जकभेदेन नानात्वमुपगच्छति । तस्माद् वाक्ये पदानाम-सत्त्वात्तदर्थे च पदार्थानां निरवयवौ वाक्यवाक्यार्थाविति । बाधकं चात्रावयव-कल्पनायां यथा वाक्यस्यावयवाः पदानि, पदानामवयवा वर्णाः, एवं वर्णानामप्य-वयवैर्भवितव्यम्, तदवयवानामप्यवयवान्तरैरित्यानन्त्यात् का व्यवस्था स्यात् ? वर्णान् प्राप्य तु यद्यवयवकल्पनातो विरन्तव्यं तद्वाक्य एव विरम्यताम् । एवं पानकादिवत् पदार्थेभ्योऽन्य एव वाक्यार्थरूपः स्फोट इति । यथा हि पानकं फाणित-नारिकेलमरिचादिभ्योऽर्थान्तरमेव, यथा च सिन्दूरलाक्षाहरितालादिभ्योऽर्थान्तरमेव चित्रमिति सिद्धमेतत् । तत्र तयोः स्फोटशब्दब्रह्मणोरुभयोर्भेदे द्वैतापत्तिः । अभेदमेवमाहुः-यथा पदे वर्णा न सन्ति, वाक्येषु पदानि न सन्ति, तथा महावाक्येष्ववान्तरवाक्यान्यपि

आप पश्यन्ती की सिद्धि किस प्रमाण के द्वारा करेंगे ? पश्यन्ती प्रत्यक्षप्रमाण का विषय हो नहीं सकती क्योंकि वह अतीन्द्रिय है । अनुमान भी उसका साधक नहीं हो सकता क्योंकि आपने स्वतः 'अवस्थादेशकालनाम्' (वा० प० १.३२) इत्यादि वचनों के द्वारा इसकी अनुमितिप्रमाणगम्यता को असम्भव बतलाया है । शाब्द-प्रमाण भी यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो अनुभूत अर्थ को कहता है और पश्यन्ती अनुभवगम्या नहीं है ॥६१–६२॥

अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्य युक्तितः ।
एवं तर्ह्यपरस्यासौ पश्यन्ती कर्मतां गता ॥६३॥

अथ भवन्तो मामाहुः–स्वगतेना**नुभवेन** प्रमाणेन **पश्यन्तीं युक्तितः** = योगात् = समाधेरवधानात्, पश्येति । **एवं तर्ह्यपरस्य** स्वानुभवसंज्ञकस्य प्रमाणस्य **पश्यन्ती** कर्मत्वं प्राप्ता; ततश्च सा परमार्थत्वेनोपगता न तथा स्यात् । यस्मात् **स एव** तदानीं पराकाष्ठाप्राप्तो देवत्वेन सर्वोत्कर्षेण भवतां **मतः** स्यात्, यस्तामपि सर्वदर्शिनीं पश्यति, ततश्च दर्शनत्यागः ॥६३१/२॥

न स्युः, ततोऽपि महावाक्यान्यपि प्रकरणापेक्षया न स्युः; ततोऽपि प्रकरणान्यपि शास्त्रापेक्षया न स्युः ततश्चैकमेवेदं शास्त्रतत्त्वमविभागमद्वयमापततीत्याक्षिप्ते तथाहुः—सत्यमेतत्, शब्दब्रह्मैवेदमद्वयमनाद्यविद्यावासनोपप्लवमानभेदमर्थभेदेन विवर्त्तते । न तु वाचकाद् विभक्तं वाच्यमपि नाम किञ्चिदस्ति । तस्मात् काल्पनिक एवायं वाच्यवाचकविभाग इति स्फोटवादः । तदनुपपत्तिं दर्शयति—**तदैक्ये वेति** । **न दोष** इति—अविद्योपगमात् । **आप्तेति**—आप्तप्रणीतत्त्वेन हि शब्दस्य प्रामाण्यं स्फोटस्य च नित्यत्वेनाप्तप्रणीतत्वम् । अतश्चानित्यत्वं वर्णात्मनः शब्दस्य, नासावर्थप्रतीतिहेतुः, अतो न प्रमाणम् । यश्चार्थप्रतीतिहेतुः स्फोटात्मा शब्दः तस्य नानित्यत्वं न चाप्तप्रणीतत्वमिति सर्वथा व्यवस्थाप्तानाप्तभाषणे नश्येदेव स्फोटाभ्युपगमे । **कृत्वा** = इत्यनेन विचारेण । **पश्यन्तीति**—प्रमाणव्यवस्थापितं हि वस्त्वस्तु, स्वरूपलक्षणाभ्यां मास्तु, तेनैव प्रमाणेन तस्य दृढं व्यवस्थापितत्वात्, इति प्रमाणमेव तावद्विकल्पयति—**पश्यन्ती** वेत्यादिना । **प्रतिपाद्यते** = दृढीक्रियते । **अनुभूतार्थवक्तृता** = अनुभूतमेवार्थमाप्तोऽपि वक्तीत्यर्थः । **अत्र** = पश्यन्तीविवेके । **तदपि** = आप्तवचनमपि ॥६२॥

ननु चानुभवाख्यसुदृढप्रमाणरक्षिते वस्तुन्यलमन्येन प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन बाह्यार्थनिष्ठेनान्तःस्वरूपेऽनभिज्ञातवार्त्तालेशेनापि इति समर्थयति—**अथ स्वानुभवेत्यादि** । **भवन्तः** = पूर्वपक्षवादिनः, **माम्** = उत्तरपक्षवादिनम् । **उपगता** = अङ्गीकृता तथा परमार्थभूता । **स एव** = स्वानुभवः । सर्वोत्कर्षतामेवास्य दर्शयति—**यस्तामिति** । तत्र केचित् प्रतिभां प्रत्यक्षं प्रमाणमित्याहुः । तथा च—

यदि आप मुझ शैवमतानुयायी से यह कहें कि 'स्वयं अनुभव के द्वारा पश्यन्ती का प्रत्यक्ष करो' तब तो वह पश्यन्ती अनुभवक्रिया का कर्म हो जायगी । इस प्रकार वह परमतत्त्व तो नहीं होगी क्योंकि जो उसको देखेगा वही कर्त्ता परमतत्त्व या परमदेवता होगा ॥६३१/२॥

यो हि पश्यति पश्यन्तीं स देवः परमो मतः ।
प्रतिभा कथिता या वा साऽनुमानं न तच्च ते ॥६४॥

अथ पश्यन्त्यां प्रतिभा प्रमाणं तत्प्रतिभाप्रभासनं निर्निमित्तमस्ति, कूपे जलमित्यादिवन्न प्रमाणम् । अथात्मस्थितिरेव विलक्षणा ममैवं शंशतीति प्रतिभा, तदात्मस्थितेर्विशिष्टायाः साध्याव्यभिचारनिश्चयेनार्थान्तरावगमेऽनुमानतैव; तच्च भवतामनिष्टम्; अव्यभिचारानिश्चये त्वनवगमकत्वम्, युक्तिवशाच्चानुभवः कदाचिद् भावी प्रतिभा वा भवेत् । पश्यन्तीं पश्येत्यासेन प्रतिपाद्यमानस्य न तु सदा, ततश्च तस्या विच्छिन्नं दर्शनं स्यात्, न सदा प्रकाशमानता, न चैतत् तत्कालप्रतीक्षणं मतम् ॥६४½॥

अस्ति चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित् ।
प्रमाणं प्रातिभं [श्वो] मे भ्रातागन्तेति दृश्यते ॥
नानर्थजं न सन्दिग्धं न बाधविधुरीकृतम् ।
न दृष्टकारणं चेति प्रमाणमिदमिष्यताम् ॥
क्वचिद् बाधकयोगश्चेदस्तु तस्याप्रमाणता ।
यत्रापरेद्युरभ्येति भ्राता तत्र किमुच्यताम् ॥

तदेतच्छिथिलयितुमाह—**प्रतिभा कथितेति** । अत्र **वा** शब्दोऽस्य स्फुटं प्रत्यक्षानुभवग्राह्यतां द्योतयति । तथा चानर्थजमिदं ज्ञानं भ्रातुः; स्तज्जनकस्य तदानीमसत्त्वात् । अथोच्यते—भावितयैनं गृह्णाति । तत्र भावितया ग्रहणं ह्यघटमानम्, भावित्वं नाम प्रागभावः, अभावस्य च भावेन कः सम्बन्धः ?—इति । यदि मन्यसेऽस्ति कूपे जलमिति प्रतिभा तथा च नानागतानर्थजत्वशंका ? ततश्च प्रमाणमेवेत्यपि निरस्यति—**निर्निमित्तमिति** । तच्च संशयात्मकत्वादस्य यद्युच्यते सोऽपि तदा नानुभूयते । यथा किमिदं

यदि पश्यन्ती के विषय में आप प्रतिभा को प्रमाण मानते हैं तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिभा का प्रकाश कारणरहित होता है । इसलिये वह प्रमाण की कोटि में नहीं आता और यदि आप (वैयाकरण) की आत्मस्थिति ही ऐसी विलक्षण है जो इस प्रकार पश्यन्ती का साक्षात्कार करा देती है तो वह विलक्षण आत्मस्थिति एक प्रकार से अनुमान प्रमाण है, क्योंकि वहाँ साध्य का व्यभिचाराभाव निश्चित है । लेकिन अनुमान प्रमाण आपको इष्ट नहीं । यदि आप प्रतिभा को कभी होने वाला और कभी न होने वाला अनुभव मानते हैं तब तो वह भवत्प्रतिपाद्य पश्यन्ती कदाचित् दृष्ट होगी कदाचित् नहीं । और इस प्रकार इसके दर्शन की निरन्तरता न रहने से इसकी सदाप्रकाशमानता नहीं रहेगी । इस प्रकार इस पश्यन्ती का आपके द्वारा प्रतिपादित स्वरूप ही खण्डित हो जाता है ॥६४½॥

न चापि प्रतिपाद्यस्य कादाचित्कप्रतीक्षणम् ।
स्वात्मनात्मानमथचेत् पश्यन्ती सा भविष्यति ॥६५॥
तदानीं प्रतिपाद्यस्य किमायातं स्ववीक्षणात् ।
वक्तव्यमेव तस्यापि पश्यन्तीं पश्य या स्वयम् ॥६६॥

नानुभवादिना पश्यन्तीदर्शनम्, अपि तु सा स्वात्मना न व्यतिरिक्तेनानुभवेन स्वमात्मानं पश्यन्ती भविष्यतीति यदि मतम्, तदेवं सति प्रतिपाद्यस्य भवद्भिरुपदेष्टृभिः किमपूर्वं कार्यम्, स्वयमेव तस्याः प्रथनात् ? एवं तु अवश्यवक्तव्यं भवद्भिः प्रतिपादकैः सद्भिः प्रतिपाद्यस्य पश्यन्तीमदृष्टपूर्वां त्वं **पश्य** या स्वयमेवात्मानं पश्यति । तथापि चास्याः प्रतिपाद्यसम्बन्ध्यनुभवं प्रति पूर्ववत् कर्मताऽस्त्येव; प्रतिपाद्येन

रजतम् ? उतारजतम् ?–इति । अपि तु रजतमिति प्रतीतिः । न हि संशयानाः प्रवर्त्तन्ते लौकिकाः, किन्तु निश्चिन्वन्त एव विषयमिति किमनुभूयमान एवारोप्यते संशयः, एकतरग्राह्यपि चाय प्रत्ययः तन्निश्चयोपायविरहात् संशयकोटिपतित एव भवतीति निर्निमित्तमेव । **प्रमाणमिति**—यदि हि प्रमाणतयाऽसौ गृह्यते कथं क्वचिद् विसंवदेत् ? अमाणतया तु गृह्यमाणः कथं पुमांसं प्रवर्त्तयेत् ? प्रत्यक्षतायां बाधमुक्त्वाऽनुमानवादी समर्थयति—अथेति । साध्याव्यभिचारेति—अयं भावः—यथा हि पर्वतादौ धूमदर्शनाद् धूमाव्यभिचारादग्न्यर्थान्तरनिश्चयः, ह्रदादौ व्यभिचारदर्शनात् नार्थावगमः तथा विलक्षणयाऽऽत्मस्थित्या पश्यन्त्यर्थसाध्याव्यभिचार इति प्रतिभाऽनुमानपक्षे कैश्चिन्निक्षिप्ता । कदाचिदिति—कादाचित्कोऽनुभवः प्रतिभेत्यन्य इत्यर्थः । **पश्यन्तीमिति**—पश्यन्ती हि भवद्भिः सदा प्रकाशमानतास्वभावाऽभ्युपगतेति विरोधः । **तस्याः** = पश्यन्त्याः ॥६४½॥

तदानीमिति—ननु नास्माभिः कादाचित्केनानुभवेन प्रतिपाद्या पश्यन्ती अभ्युपगता, येन कादाचित्कत्वात् पश्यन्त्या विच्छिन्नदर्शनेऽनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अपि तु स्वात्मना प्रकाशमानेनानुभवितृत्वेनानुभवविषयमेव प्रकाशमानं पश्यन्ती पश्यति । एवं च सततं प्रकाशमानतैवेत्यपि निराकरोति—तदानीमित्यादिना । तथा

वह पश्यन्ती अपने द्वारा स्वयं अपने को देखती है इसीलिये उसे पश्यन्ती कहा गया है यदि आप ऐसा कहते हैं; तो यह बताइये कि उसके स्वयंद्वारा स्व-दर्शन से उपदेश्य को क्या लाभ मिला ? चूँकि उपदेश्य को पश्यन्ती का ज्ञान आप अवश्य कराना चाहते हैं, इसलिये एतदर्थ आपको कहना पड़ेगा कि "हे शिष्यो ! आपलोग इस पश्यन्ती को देखें जो स्वयं के द्वारा स्वयं को देखती है ।" इस प्रकार भी वह पश्यन्ती आपके वचन का कर्म हो जाती है । फलस्वरूप प्रकाशकर्त्ता ही प्रधान होगा न कि पश्यन्ती ॥६५–६६½॥

आत्मानमेव जानाति तथाप्यस्यास्ति कर्मता ।
असत्यः प्रतिपाद्योऽस्मिन्न सत्यः प्रतिपादकः ॥६७॥
असत्यस्योपदेशत्वमसत्येन परीक्ष्यते ।
येन सा वा प्रमाणेन स्थाप्यते तस्य सत्यता ॥६८॥

परिमितत्वात्, पराभिमतायाः पश्यन्त्याश्च्युतत्वात्, परिमितेनैव द्वैतदशोचितेनानुभवेन सा दृश्या स्यात्, न तु तदा प्रतिपाद्यप्रतिपादकपश्यन्तीनामैकध्यं येन कर्मतापत्तिर्न भवेत् । एवं च कर्मतापत्तौ तस्याः स्वयं प्रकाशताक्षतिरिति पुनरपि तत्प्रकाशकमेव प्रधानं भवेत् । अव्यतिरिक्तोऽपि प्रकाशस्तस्या आत्मानमात्मना पश्यन्तीं पश्येति विवर्त्तभूम्यालिङ्गनात् अशुद्धताऽऽपन्नः । **अस्यास्तीति** = पश्यन्तीस्वरूपस्य ॥६६½॥

पश्यन्त्यतिरिक्तः सर्व एव प्रतिपाद्यादिप्रपञ्चोऽस्मिन् दर्शनेऽसत्यः, तत्कृतः

स्वात्मनाऽऽत्मानमेव सा प्रत्यवमृशति परन्तु पश्यन्तीव्यपदेशस्तूपदेश्यजनापेक्षयैव न स्वतः कर्मव्यपदेशोऽत्रेति च समर्थयति । **स्ववीक्षणात्** = तस्याः स्वयं प्रथनात् । **वक्तव्यमेवेति**—उपदेशो ह्यवश्यवक्तव्यत्वाद् विधिलक्षणः, स चाज्ञातज्ञापनलक्षणः । स्वयमेव ज्ञातेऽलमन्योपदेशकथावर्णनया । **स्वात्मनेति**—यदुक्तम्—**अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्य युक्तितः** ।" इत्यस्यैषोऽभिप्रायो यदीष्टः । **प्रतिपादकैः** = अन्योपदेशकैः । **प्रतिपाद्यस्य** = उपदेश्यस्य । **अदृष्टपूर्वामिति**—उपदेशो हि न दृष्टे प्रवर्त्तते । **अस्याः** = पश्यन्त्याः । **कर्मतेति**—त्वं पश्यन्तीं पश्य = स्वानुभवे तां लक्षयस्वेति स्फुटमेव पश्यन्त्याः कर्मत्वमायातम् ॥ ननु पश्यन्त्याः स्वयमात्मदर्शनरूपाया न कथञ्चन कर्मता, अणुसंस्कारलेशमप्यस्पृशन्त्याः कथं पूर्ववत्कर्मेति । तत्र हि पारतन्त्र्यं कर्मता अत्र तु स्वतन्त्रैवेत्यत आह—**प्रतिपाद्येनेत्यादि** । **अव्यतिरिक्तोऽपीति**—अथ प्रकारान्तरेणापि । अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्येति युनक्ति—**अव्यतिरिक्त** इत्यादिना ॥ त्वं तस्या आत्मानमात्मना पश्येति, तथा च न कर्मता, नापि चोपदेशानर्थक्यमित्येतदपि समर्थयति—**विवर्त्तभूम्यालिङ्गनात्** इत्यादिना ॥६६½॥

असत्य इति—ननु च यः प्रतिपाद्यः सोऽपि पश्यन्ती, यश्च प्रतिपादकः सोऽप्य-

---

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि जब पश्यन्तीवाक् से समस्त जगत् आविर्भूत है तो प्रतिपाद्य पश्यन्ती के असत्य होने पर प्रतिपादक, उपदेष्टा, परीक्षक, प्रमाण सब कुछ असत्य ही हैं । असत्य का उपदेश असत्य से परीक्षित होता है ।

यदि यह कहें कि जिस प्रमाण से पश्यन्ती की सत्ता प्रमाणित होती है वह प्रमाण सत्य है ? तब तो द्वैतापत्ति हो जायगी । एक सत्य पश्यन्ती और दूसरा सत्य उसका साधक प्रमाण; एवं च यदि प्रमाण असत्य है तो पश्यन्ती की सत्यता सिद्ध न होने से वह भी असत्य है ॥६७–६८½॥

तत्सत्यत्वे द्विसत्यत्वमसत्यत्वे न किञ्चन।
साधुशब्दसमुच्चारात् कस्य स्वर्गादियोगिता ॥६९॥
पश्यन्त्याश्चेदविद्यात्वं तद्भोगौन्मुख्ययोगतः।
मध्यमादेर्जडायाः किं भोगेन शबलात्मना ॥७०॥
तस्मादसाधुः साधुः स्याच्छब्दविद्याफलप्रदः।
एवं व्याकरणस्यापि समुच्छेद उपैति ते ॥७१॥

पश्यन्त्याः सिद्धिः ? कस्य वा केन वा प्रमाणेन ?? यदि वा येन प्रमाणेन सा व्यवस्थाप्यते तस्य सत्यतेष्टा, तद् द्वयोः पश्यन्तीतत्प्रमाणयोः सत्यता प्राप्ता। प्रमाणस्यासत्यत्वे न किञ्चन स्थितं स्यात् ॥६८½॥

वैयाकरणैः साधुशब्दप्रयोगः स्वर्गापवर्गफल उक्तः। "एकः शब्दः शास्त्रपूर्वं प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" इति। तथा—

साध्वी वाग् भूयसी येषु पुरुषेषु व्यवस्थिता।
अधिकं वर्त्तते तेषु पुण्यं रूपं प्रजापतेः॥
प्राजापत्यं महत्तेजस्तन्मात्रैरेव संवृतम्।
शरीरभेदे विदुषां स्वां योनिमुपधावति ॥ इति।

तत्फलं स्वर्गाख्यं तावत् कस्य स्यात् यः शब्दप्रयोगस्य कर्त्तेति तत्फलार्थितया

सत्यः पश्यन्त्येव, योऽप्युपदेशः सोऽप्यसत्यः पश्यन्त्येव, योऽपि तत्स्वरूपे परीक्षकः सोऽप्यसत्यः पश्यन्त्येवेति किमत्र परस्य कथनीयमिति चेत् ? एतदेव पुनरपि समर्थनार्थं कथनीयम्, असत्यमेव हि सर्वं तर्ह्येतत्सम्पन्नमित्यलं भवद्वावप्रलापेनेत्यर्थः॥ विशेषप्रतिषेधे

व्याकरण का यह सिद्धान्त है कि एक भी शब्द का सम्यग् ज्ञान कर सुष्ठु प्रयोग करने पर स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति होती है। इस पर आक्षेप करते हुए शैवागमवादी का कथन है कि साधुशब्द का प्रयोग करने पर स्वर्ग आदि किसको मिलेगा ? जो शब्दप्रयोग का कर्त्ता होगा यदि उसे मिलेगा तो पश्यन्ती वाक् ही तो आपके मत में कर्त्री है। यदि वह स्वर्गफलार्थिनी होगी तो उसमें भोगौन्मुख्य होने का अर्थ है—अविद्या का सम्पर्क होना। और इसके सम्पर्क से वह अशुद्ध हो जायगी। इस प्रकार आपका पश्यन्तीविषयक सिद्धान्त ही असंगत हो जा रहा है। यदि मध्यमा आदि को स्वर्गफलार्थिनी मानते हैं तो वह तो अविद्याशबल होने से जड़ है। अतः वहाँ भोग की परिनिष्पत्ति ही सम्भव नहीं। इस प्रकार साधुशब्द का प्रयोग असाधुफल अर्थात् पश्यन्ती में अशुद्धता और मध्यमा आदि में जडत्व का आपादन करने से असाधुफल अर्थात् अशुभफल देने लगेगा और परिणामस्वरूप आपके व्याकरणशास्त्र का ही उच्छेद प्रस्तुत होने लगेगा ॥६९–७१॥

वैयाकरणतां त्यक्त्वा विज्ञान्वेषणेन किम् ।
भवतामप्रस्तुतेन न केवलमिहोदितम् ॥७२॥

पश्यन्त्याः कर्तृत्वे स्वर्गभोगौन्मुख्यादविद्यासम्पर्केणाशुद्धता स्यात् । मध्यमावैखरीदशायामिष्टानिष्टोपलम्भभाजिप्राप्तिपरिहारौन्मुख्येन प्रवृत्तिः । तत्र, परमार्थिकप्रमातृनिष्ठा हि विषयव्यवस्थितिः, तन्मध्यमादेः सविभागत्वेन द्वैतावस्थाने सति अविद्याशबलरूपतया जडत्वान्न परमार्थपदप्रतिष्ठेन किञ्चिद्भोगेन, भोग एवासौ न भवेदित्यर्थः । तस्मात् साधुशब्दः प्रयुक्तः [न] शब्दविद्याफलस्य भोगादेर्दाता, प्रत्युत पश्यन्त्या अशुद्धयापादनेनासाधुरशुभः स्यात् । एवं चाशुभकारित्वाद् यथावर्णितफलं व्याकरणमपि त्वदीयं समुच्छिन्नं हेयमेव स्यात् ॥६९–७१॥

अर्थप्रतीतिहेतुसाधुशब्दानुशासनव्यापारमेव वैयाकरणत्वं त्यक्त्वा मोक्षप्रयोजनैः शास्त्रैर्यत्सम्यग्ज्ञानमनुसरणीयं तदन्वेषणेन भवतां करणीयत्वेनाप्रस्तुतेन न किञ्चित्,

सामान्यतस्त्वनुज्ञानमिति नयेनाह—**पश्यन्त्यतिरिक्त** इति । **दर्शने** = पश्यन्तीविचारे । **तदिति**—तस्य = प्रमाणस्य । **प्राप्तेति**—तदप्यनिष्टमेव । **साध्वी** = व्याकरणव्युत्पत्तिसंस्कारसहिता । तन्मात्रैः = तैरेव केवलम्, **संवृतम्** = गोपितम् । **शरीरभेदे** = मरणक्षणे, ॥७१॥

विज्ञानान्वेषणेन = सम्यग्ज्ञानगवेषणया । **अप्रस्तुतेन** = प्रस्तावानर्हेण । ननु साधुशब्दानुशासनत्वमेव प्रधानं प्रयोजनं व्याकरणस्य व्यवस्थापितं प्रसङ्गागतं तत्र विज्ञानाभासनं व्यवस्थापितमिति का हानिः ?–इति समर्थयति—**न केवलमि**त्यादिना । **समीक्षायामिति**—अनेन तेषामत्र सिद्धान्तप्रतीतिरस्तीति ध्वनितम् । **साध्विति**—इदानीं यदुक्तं तैरलमनेनाग्रहेण, "एवं व्याकरणस्यापि समुच्छेद उपैति ते ।" इत्येवंरूपणेन । यतोऽत्र 'साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिः' इति "ब्राह्मणेन नैव म्लेच्छितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः ।" (पा० म० मा० पस्पशा०) इति श्रुतिश्च । तथा 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चितीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् ।" (पा० म० मा० पस्पशा०) इति च । तथालमन्येन प्रयोजनेन सकलपुरुषार्थसाधनोपदेशनिधेर्वेदस्य व्याकरणमर्थबोधकत्वात् प्रधानमङ्गमिति, तस्मात्

यदि आप व्याकरण के स्वरूप, अर्थात् साधुशब्दप्रयोगव्यापार, को छोड़कर सम्यग्ज्ञान के द्वारा अपवर्ग आदि के प्राप्त होने की बात करते हैं तो यह तो आपका प्रस्तुत विषय ही नहीं है । इस प्रकार पश्यन्ती सम्यग्ज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञानाभास है—यह सिद्ध हो गया । इसकी पुष्टि भर्तृहरि ने धातुसमीक्षा नामक ग्रन्थ में की है और कहा है कि परमतत्त्व, जो सम्यग्ज्ञानाधिगम्य है, दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न है ॥७२–७२½॥

दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते।
अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्त्तते ॥७३॥

न केवलं चात्रैव पश्यन्त्यभिधानेन सम्यग्ज्ञानाभास एव उक्तो यावच्छब्दधातुसमीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा—

"दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥"

इति लक्षणेन दिग्देशकालैरवच्छेदो विशिष्यमाणता निषिद्धा। तच्चायुक्तम्, परिमितदेशकालादर्थात्तस्यावच्छेदात्; अन्यथा सर्वदिक्कालादिविशेषणभावे व्यापकत्वादि न स्यात्। व्यापको हि भवेत् सर्वदिक्षु अवश्यं वर्त्तमानः सर्वकालावच्छिन्नश्च नित्यः। व्यापकत्वमुपलक्षणं निर्दिष्टम् ॥७३$\frac{1}{2}$॥

अथ दिक्कालविशेषावच्छेदाभावो मतः तत्तथैव वक्तव्यं न सामान्येन; न च तदपि युक्तमित्याह—**स्वानुभूतिरि**ति। यस्मिन् हि कालभागे स्थितः सांसारिकः

सिद्धमेतत्। तस्माद् व्याकरणाभियोगसुभगप्रौढोक्तिभिः पण्डितैरक्लेशेन विचित्रवैदिकपदव्युत्पत्तिरासाद्यते। अन्यैरप्युपबृंहिते दृढतरमङ्गैर्निरुक्तादिभिर्वेदे स्वार्थधियं वितन्वति कुतः प्रामाण्यभङ्गो भवेत् ?—इति तदेव विषयभेदोत्थापनपूर्वं सत्यमित्यनुमत्याङ्गीकरोति—**साधुशब्दानुशासने**त्यादि। **वैयाकरणता**मिति—यतो विभज्य आक्रियन्ते शब्दरूपाणि येन तद् व्याकरणमित्यन्वर्थं तस्य नाम। तद् विदन्ति अधीयते वा वैयाकरणास्ते, तेषां भावः त्वप्रत्ययेनोक्तः; स च भावप्रत्ययो धर्मान्तरप्रतिक्षेपक इति वैयाकरणतामिति भावप्रत्ययेन ध्वनितः ॥७२॥

अप्रस्तुतेनेति—प्रस्तावसदृशं हि वाक्यं शोभावहमिति। तच्च नोपपन्नम्, यद्व्याकरणं साधुशब्दानुशासनलक्षणं तद्धि मोक्षं प्रति प्रत्युत बाधकमेव। तथा हि मोक्षो हि सर्वथा विच्छेदः। यत् पुनः 'साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिः इति प्रोक्तम्, तत्र कोऽसाधुः साधुर्वेति प्रकृतान्तरायकारित्वान्न किञ्चित्तेन फलमित्यर्थः। **दिक्कालादी**ति—अत्र हि तत्र भवद्भर्तृहरेर्व्यापकत्वमेव मुख्यवृत्त्या कथनीयम्। तथा हि दिग्देशकालैर्यतोऽपरिच्छिन्नोऽपरिमितस्ततः; **अनन्तः** = मर्यादारहितः, व्यापक इत्यर्थः। ततः कालपरिच्छेदरहितत्वात् **अनन्तः** = विनाशरहितः, नित्य इत्यर्थः। अत्र

यदि आप वैयाकरण यह कहें कि मेरे मत में काल से अनवच्छिन्न का अर्थ है—सर्वकालावच्छिन्न और इस प्रकार पश्यन्ती कालावच्छिन्न है, तो यह भी कथन असमीचीन है, क्योंकि आप जब भी कोई अनुभव करेंगे तो वह उस समय के लिये वर्त्तमानकाल में होगा न कि भूतकाल आदि में। इस प्रकार साधुशब्दप्रयोग का कालानवच्छिन्नत्व सिद्ध ही नहीं हुआ ॥७३–७३$\frac{1}{2}$॥

विज्ञानाभासनं यावत् समीक्षायामुदाहृतम् ।
स्वानुभूतिर्वर्त्तमानकालेनास्य विभाव्यते ॥७४॥
एवं कालानवच्छेदः कथमस्योदितो हि तैः ।
अनन्तस्यानुभूतिः का परिच्छेदं विनाऽऽत्मनः ॥७५॥

प्रमाता तेनैव वर्त्तमानकालेन भविष्यदादिना तदा तस्यावस्थानात् स्वानुभवविषयताऽस्योपलक्ष्यते; तत्कथं कालविशेषेणाप्यनवच्छेदः ? ॥७४$\frac{1}{2}$॥

धातुषट्कोपगमाद् भेदवादे देशकालयोर्गोऽवश्यंभावीत्यनन्तत्वं देशकालपर्यवसानमुच्येत, अतश्चापर्यवसितदेशकालस्य सा **अनुभूतिर्न** तयोः सम्बन्धो युक्त इत्यर्थः ।

हेतुगर्भं विशेषणं **चिन्मात्रमूर्त्तय** इति । तदेव व्यापकत्वं प्रमाणादिव्यापारनिरसनेन समर्थयति––**स्वानुभूती**त्यादिना । **तेजस** इति––प्रकाशरूपत्वात् । **शान्तायेति**––विकल्पोत्तीर्णत्वात् । तदेतदाभासरूपतया न सम्यग् रूपमिति कथयति–**दिक्कालेति** । **लक्षणेनेति**–असाधारणस्वरूपकथनं लक्षणम् । **अन्यथेति**–अयं भावः–यदि भवद्भिरत्र दिक्कालाकारविशेषणत्वेन तस्य विशेष्यस्य तदभावसाधनत्वमिष्टं न तैरयं विशेष्यो भवतीत्येवं प्रकारम्, तर्हि परिमितादेव तत् सिद्धमिति; न च तदिष्टम् । अथ किमिति परिमितादेवेत्युच्यते ? किमिति न सर्वस्मात् ?–इत्युक्तौ बाधमाह––**अन्यथेति** ।

व्यापक इति––यदि हि भवतां सर्वस्माद् विशेष्यमाणत्वमिष्टं स्यात् तत्किमर्थं दिक्कालादिविशेषणत्वं निषिद्धम् । अनया हि भवदुक्त्या तेऽपि किञ्चित्स्वरूपका इत्युक्तं सम्भवत्येवेत्याह––**व्यापको ही**त्यादि ।

सर्वकालावच्छिन्नश्चेति—ननु च यथा **भर्त्तृ**हरिश्लोकेऽनन्त इति शब्देन व्यापकत्वं नित्यत्वं चोक्तं तथैवात्रापि समर्थकवाक्ये कथनीयमिति कथमुक्तम्–– '**अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्त्तते**' इति ? **उपलक्षणमिति**––अत्र हि दिग्व्यापकत्वमेवोक्तं भवेदित्याशंकागर्भीकारेणाह—**उपलक्षणमि**त्यादि । तदाह— **सर्वकालावच्छिन्नश्च नित्य** इति ॥७३$\frac{1}{2}$॥

तत्तथा = व्यापकत्वनित्यत्वे सिद्धे । **तथैव** = विशेषतयैव । न च भवद्भिरेतादृगेवानेनेष्टं येन दिक्कालविशेषावच्छेद एवेति कथयति—**स्वानुभूतिरिति** । **तैरिति**—

इसके अतिरिक्त 'धातुसमीक्षा' में "दिक्कालाद्यनवच्छिन्न''''" कारिका ही परस्परविरोधी वर्णन कर रही है। पहली बात तो यह है कि जो अनन्त है उस आत्मा की अनुभूति परिच्छिन्नता के विना सम्भव नहीं। दूसरे, जो अनन्त है उसका ज्ञान ही सम्भव नहीं है। तीसरे 'शान्ताय तेजसे' यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि जो तेजोमय है वह शान्त कैसे रहेगा ? और चिन्मात्रमूर्त्तये' जो कहा, वह भी असाधु, क्योंकि ज्ञान मूर्त्त नहीं होता। वह अमूर्त्त है ॥७४–७५॥

अनन्तेऽवगमः कुत्र तेजस्त्वे शान्तता कथम् ।
असर्वगप्रमाणं हि मूर्त्तिर्नो लक्ष्यते चितः ॥७६॥
अत्रैव शब्दनित्यत्ववादिनो रूढतां गताः ।

तथा हि आत्मनः स्वरूपस्य **परिच्छेदम्** = इयत्ताम् विना **अनन्ते** वस्तुनि **कुत्रांशे-ऽवगमो**ऽस्तु, भागानामपर्यवसानात् । अनन्तताप्रतीतिस्तु परिदृष्टतावत् पदार्थनिषेधपुरस्सरत्वेनाग्राह्याद्यन्तकोटिदीर्घवस्तुमात्रावसायिनी स्फुरति, न त्वनन्तेन रूपेणा-परिच्छिन्नेनावभासनसम्भवः । परिसमाप्तरूपनिश्चयो हि प्रतीतिः । तेजोरूपता चेत् ? निराभासत्वाभावात् **कथं शान्तता** । तत्केयमुक्तिः **'शान्ताय तेजसे'** इति ? उपचारे च किं प्रयोजनम् ? असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः काठिन्यं वा न चिद् भवति तत्कथं **चिन्मूर्त्तये** इति ? ॥७६॥

अन्ये वैयाकरणा एव स्फोटादन्यदेव शब्दात्मानं नित्यमिच्छन्ति, तत्रैव रूढाः ।

यदि हि सर्वकालावच्छिन्नत्वेनैव भवतां कालानवच्छेद इष्टः स्यात्तत्स्वानुभूतीति वर्त्तमानकालानुभवविषयता कथमस्योच्येत ? ततश्च नैतद् भवतामिष्टमिति सिद्धम् ।

अनन्तेति—ननु—

निश्चयेनान्यसिद्धान्तं यो न वेत्ति बुधोऽबुधः ।
स्वयं स संशयानोऽन्यं कथं खण्डेत् स्वल्पधीः ॥

इति नयेन अनिश्चितपराशयेन कथं ग्राह्यते । तथा हि दिक्कालानवच्छेदेनानन्तत्वं देशकालविप्रकृष्टत्वेन देशकालापर्यवसानमुच्यते । तथा च देशकालसन्निकृष्टं वस्तु अव्यापकमनित्यं चोच्यते, देशकालविप्रकृष्टं तु व्यापकमिति नित्यमिति कथ्यते । ततश्च का हानिः ?–इत्यत आह—**अनन्तस्यानुभूतिः केति** । **अनन्ताय तेजसे** इति यदुक्तं तदपि न युक्तमित्यत आह—**कुत्रेति** । **चिन्मात्रमूर्त्तये** इति—एतदपि मूर्त्तिभागं विदलयति । **भेदवादे** = नैयायिकादिमते । **अतश्चेति**—यदि भवद्भिरनन्तत्वमुच्यत इति शेषः । **युक्त इत्यर्थः**—इत्यन्तं युगपदेव देशकालापर्यवसानत्वेन स्फुटमेवानन्त्यमिति निरस्यति—**इयत्तामिति**—देशेन कालेन च । **अनन्ताप्रतीतिस्तु इति**–कुत इति समर्थयति ॥७६॥

तत्रापि = नित्यशब्दतत्त्वे । **तेषाम्** = नित्यशब्दात्मतत्त्ववादिनाम् । **स्फोटा-**

स्फोटनित्यत्ववादी से भिन्न एक वैयाकरणसम्प्रदाय (भर्तृहरि आदि) शब्दात्मा को नित्य मानता है । सोमानन्द का कथन है कि प्रमाणाभाव आदि का दोष दोनों पक्षों (स्फोटनित्यत्ववादी एवं शब्दनित्यत्ववादी) में समान है ॥७६॥

वह इस प्रकार—प्रामाणिक एवं अप्रमाणिक दोनों प्रकार के पुरुषों द्वारा

अनादिनाऽथ तेनैव शब्दतत्त्वेन तुल्यता ॥७७॥
आप्तानाप्तभाषितत्वे विशेषो नास्ति शब्दगः ।
नित्यत्वे शब्दतत्त्वस्य व्यङ्ग्यत्वं ध्वनिभिर्न च ॥७८॥

अथ तत्रापि तेषां पश्यन्तीरूपेणानादिनिधनात्मना शब्दतत्त्वेन तुल्या प्रमाणाभावादिदूषणता स्फोटात्मना वा ? ॥७७॥

तदाह—**आप्तानाप्तेत्यादि** । अनाप्तभाषितस्यापि नित्यत्वाविशेषात् तुल्यप्रमाणता स्यात् । न च नित्यस्य **ध्वनिभिः** कदाचिद् व्यङ्ग्यत्वं युक्तम्; नित्यमेकरूपत्वेन व्यक्ताव्यक्ततायोगात् । अथ यथा नित्यमेकमपि चाकाशं ध्वनिभिर्व्यज्यते घटाकाशादि वा घटादिभिः, तथा शब्दोऽपीति ? तन्न तुल्यत्वमत्र; यतः सदा व्योम्नि

त्मना—तुल्येति सम्बन्धः । तत्तुल्यत्वमेवाह—**आप्तेति** । **तुल्यप्रमाणतेति** = तथा चाव्यवस्था न चेष्टेति भावः । **न चेति**—ननु च नित्यत्वेऽपि शब्दतत्त्वस्याप्तानाप्तभाषितव्यवस्था सिद्ध्यत्येव; नित्यत्वेऽपि ध्वनिभिरेव तस्य व्यङ्ग्यत्वादाप्तध्वनिव्यङ्ग्यत्वे सत्यता, अनाप्तध्वनिव्यङ्ग्यत्वेऽसत्यतेति । तथा च न कश्चिद्दोष इत्यत आह—**न चेत्यादि** । तन्नेति नशब्दः काकाक्षिवद् योज्यः । **तन्नेति**—भवद्वचनमयुक्तमित्यर्थः । न हि तुल्यमत्रेति योज्यम् । **भवत्पक्ष इति**—ननु च 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इत्याप्तोक्तिरेवैतादृग्विषयेऽनुमन्तव्या कोऽत्र निर्बन्धो **यद्याभासानित्यादि** । तथा चाप्तोक्तत्वान्मौनमेवात्र शरणम् । न ह्यचिन्त्येऽपि तर्कोद्युक्तस्य कदाचिदपि सत्यार्थपरिनिष्ठितिः स्यात् । अथ चेत्तर्क एव शरणम्, तर्हि किमिति भवद्भिर्वयमेव प्रत्याक्षिप्ताः ? भवतामप्यत्र का युक्तिरिति शंकापूर्वं स्वमतोत्कर्षं प्रथयति—**भवत्पक्ष** इत्यादिना । न किं शब्दः शिरश्चालने; न किमायाति ? आयात्येवेत्यर्थः । इतिशब्दस्याध्याहारोऽत्र कर्त्तव्यः ॥७८॥

उक्तवचन में शब्दस्वरूपगत कोई भी भेद नहीं होता । इस प्रकार दोनों में शब्दतत्त्व होने से नित्य होने के कारण दोनों के वचन प्रमाण होने चाहिए । यदि यह कहिये कि ध्वनि के द्वारा आप्तत्व अनाप्तत्व का भेद करेंगे ? अर्थात् आप्तपुरुषों की ध्वनि से आप्तत्व का और अनाप्तपुरुषों की ध्वनि से अनाप्तत्व का अवधारण करेंगे ? तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि शब्दतत्त्व नित्य है । वह ध्वनि से व्यंग्य नहीं हो सकता । यदि यह कहिये कि आकाश भी तो नित्य है । किन्तु वह ध्वनि से व्यक्त होता है उसी प्रकार शब्द भी ध्वनि से व्यक्त होगा ? तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आकाश व्यक्त नहीं होता । शब्दगुण आदि के द्वारा उसका अनुमान होता है ॥७७–७७½॥

व्योमवच्चेन्न तुल्यत्वं सदा व्योम्न्यनुमेयता।
भवत्पक्षे न किं न्याय एष आयाति चेच्छिवे ॥७९॥
तथा रूपानुरूपत्वात् प्रसूतेः शिवरूपतः।
सत्यत्वाच्च न तुल्यत्वमतोऽस्मात् प्रविरम्यताम् ॥८०॥

शब्दगुणादिनाऽनुमेयता न तु प्रत्यक्षाख्या व्यक्तिः। शिवाद्वैतपक्षेऽपि भवतः शब्द इव शिवेऽपि सत्यत्वादिदूषणन्यायः किं नापततीति चेत्? तन्न; जगदपि ततः शिवरूपात् शिवरूपानुरूप्येण तथा सर्वशक्तियोगात् यदा प्रसूतं तदा शिवरूपमेव। अत एव च सत्यरूपम्। तथा च वक्ष्यते विस्तरतः। तन्न तुल्यत्वं शब्दाद्वैतपक्षेण शिवाद्वयस्येत्येतद्दूषणापादनात् विरम्यताम् ॥८०॥

तदेतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा पश्यन्तीमेव पर्यालोचयन्नाह—अथेति। अथ दर्शनार्थान्वये

शिवरूपत इति—'रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत्' इति प्रथमाह्निके [द्वादश-श्लोके] एवोक्तत्वादित्यर्थः। **तुल्यत्वमिति**—भवन्मतेन। **विरम्यतामिति**—भवद्भिरत्र दूषणारोपणादिनेत्यर्थः। अथवाऽस्मात् **प्रविरम्यतामिति** ल्यब्लोपपंचम्या व्याख्येयम्। अस्मादेनमाविश्य स्वयमेव भवद्भिः प्रकर्षेण सुखेन स्थीयताम्। स्वमतं त्यक्त्वै-तमेव मतमाश्रयध्वमित्यर्थ ॥८०॥

ननु कृतं भवद्दोषारोपणेन, किं पश्यन्ती?—इति कथ्यतामिति। नहि सर्वत्र यौगिकोऽर्थः सम्भवति। सन्ति हि डित्थादयोऽपि शब्दाः। ततश्च रूढिमहिम्नैव कुशलादिवदत्रापि पश्यन्तीनिर्देशः? न च वक्तव्यं किमनेन तथापि पश्यन्ती-

---

वैयाकरण यदि यह आक्षेप करें कि जैसे हमारे मत में पश्यन्ती को आप (शैव-मतवादी) प्रमाणहीन सिद्ध कर असत्य सिद्ध कर रहे हैं उसी प्रकार आपके मत में भी परमतत्त्व शिव के बारे में भी जागतिक प्रमाण न मिलने से वह भी असत्य है; तो यह आक्षेप ठीक नहीं है। शिवाद्वैत मत में शिव की सम्पूर्ण शक्ति का ही विकास यह संसार है। अतः यह संसार शिवरूप होने के कारण शिव जैसा ही सत्य है। जब कि शब्दाद्वैत पक्ष में यह संसार विवर्त्त माना जाकर असत्य माना गया है। इसलिये इस दोषोपस्थापन से आप विरत हों ॥७८–७९॥

यदि यह कहिए कि पश्यन्ती यौगिक या योगरूढ़ शब्द नहीं है बल्कि यह यदृच्छा शब्द है और चूंकि यह शब्द स्त्रीलिंग है अतः उसका अर्थ 'ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानशक्ति' माना जाता है। तो यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि यदृच्छा शब्द होने के कारण दर्शनक्रिया के साथ उसका कोई सम्बन्ध तो होगा नहीं। अतः वह जड हो जायगी और जड में ज्ञानशक्ति रहेगी नहीं ॥८०॥

व्याकरण के एक सम्प्रदाय का विचार है कि "अनादिनिधनम्" इस कारिका

अथ नाम्नैव पश्यन्ती स्फुटमेव जडा ततः।
ज्ञानशक्तिः स्मृता भङ्ग्या स्त्रीलिङ्गव्यपदेशतः ॥८१॥
शब्दस्य विषयाख्यस्य मिश्रत्वेनेन्द्रियस्य तु।
सर्वदर्शनविज्ञानशून्यता पदवेदिनाम् ॥८२॥
यस्मादनादिनिधनं शब्दतत्त्वं परा हि वाक्।

दोषान्नाममात्रेण यादृच्छिकेन पश्यन्ती इष्यते, स्त्रीलिङ्गभङ्ग्या च ब्रह्मसम्बन्धिज्ञानशक्तिरूपा सा मता, ततो विरुद्धमेतत्, दर्शनासमन्वयात् जडतापत्तेः, जडात्मनि च ज्ञानशक्तिताऽनुपपत्तिरिति ॥८१॥

विषयरूपत्वेन कर्मतया यस्याख्या = प्रतीतिः **शब्दस्य** तस्येन्द्रियस्य च करणतया प्रसिद्धस्य वाग्रूपस्य **मिश्रत्वेन** = एकीकारेण **यस्मात्** तैरुक्त**मनादिनिधन**मित्यादिकमभेदाभिधायि तयोः, तस्मात्तेन मिश्रीकारेण सर्वदर्शनाज्ञानता **पदवेदिनाम्** =

शब्देन व्यपदेश्यम्, स्त्रीलिङ्गनिर्देशादेव ज्ञानशक्तिरूपत्वादस्याः—इत्यपि निरसयन्नाह—**अथेत्यादि** । **दर्शनार्थान्वये** = दृशिधातोः कर्मरूपस्यार्थस्यान्वये । **यादृच्छिकेन** = सांकेतिकेन । तथापि किं वस्तु पश्यन्त्या स्वीकृतम् ?—इत्यत आह—**स्त्रीलिङ्गेति** । **विरुद्धमेतदिति**—पश्यन्तीति दर्शनार्थासम्भवेनायौगिकत्वे स्थिते सतीत्यर्थः । अहो महदाश्चर्य पश्यन्तीति दर्शनासम्भवाद्रूढित्वमाश्रित तत्रैव च ज्ञानशक्तिरिति ॥८१॥

सर्वदर्शनेति—इदानीं केचि**दनादिनिधन**मित्यत्र **शब्दतत्त्व**मित्यनेन तथा **वाग्रूपता**मित्यत्र च परावागित्यनेनानयोर्वाक्शब्दतत्त्वयोः परस्परसंश्लेप एव यः स एव परं तत्त्वमित्याहुः । तच्च शब्दतत्त्वं विषयाख्यं कर्मरूपं ग्राह्यम्, वाक्तत्त्वं च करणरूपं ग्राहकम्, तथा च ग्राह्यग्राहकयोरभेद एव परमार्थतत्त्वमिति;

में 'शब्दतत्त्वम्' यह अंश तथा 'वाग्रूपताम्' इस कारिका में 'परावाक्' यह अंश दोनों मिलकर जो संश्लिष्ट रूप बनाते हैं वही चरम तत्त्व है। उसमें शब्दतत्त्व ग्राह्य अर्थात् विषय है और वाक्तत्त्व ग्राहक अर्थात् करण है। और इसप्रकार दोनों का अभेद ही परमार्थतत्त्व है। यह मत वैयाकरण का है। इस मत की आलोचना करते हुए सोमानन्द का कथन है कि विषयरूप शब्द और उसका ग्राहक इन्द्रिय, दोनों को मिश्रित कर एकरूप बताने वाले वैयाकरण की सर्वदर्शनज्ञानशून्यता स्पष्ट परिलक्षित होती है ॥८१–८२॥

क्योंकि किसी भी दर्शन में इन्द्रिय और उसके विषय को एक नहीं बताया गया है। चूंकि वैयाकरण पश्यन्ती को शब्दतत्त्व भी स्वीकार करते हैं। इसप्रकार

पश्यन्त्या वर्ण्यमानत्वे हस्ते ग्राह्यैकता पतेत् ॥८३॥
पश्यन्ती हि क्रिया तस्या भागौ पूर्वापरौ स्थितौ ।
एतद् द्रष्टव्यमित्येतद् विमर्शः पूर्वतो भवेत् ॥८४॥
यथा कर्त्तुः कुलालादेर्घटः कार्य इतीदृशः ।
विमर्श इच्छारूपेण तद्वदत्रापि संस्थितम् ॥८५॥

वैयाकरणानाम्, प्राप्ता । न हि क्वचिदपि सांख्यादिदर्शनेषु व्यावहारिकयोरिन्द्रियविषयोरभेद इष्टः । एवं च वाशब्दस्य परत्वेनानादिनिधनत्वेनाद्वयवादादैक्येन वर्ण्यमानत्वे हस्तेऽपि कर्मेन्द्रिये तद्ग्राह्येण विषयेणैकता प्रसज्येत ॥८३॥

ब्रह्मणो ज्ञानशक्तिः पश्यन्तीत्यपि यावदिष्यते तावदन्यदपि सूक्ष्मतरमेष्टव्यमित्याह—**पश्यन्ती हि**ीति । पश्यन्ती हि दर्शनक्रियात्मिका पूर्वापरीभूतावयवा, पूर्वं **चैतद् द्रष्टव्यमिति विमर्शः कुलालादेरिव** घटादिकरणेऽवश्यमिच्छात्मकः स्यात्, तद्वदत्रापि सर्वमेतत् स्थितम् । एवं चेच्छा दर्शनक्रियायाः पूर्वा स्थिता, तस्याश्चे-

---

तदेतत्सोपहासं प्रत्याह—**सर्वदर्शनेति** । **कर्मतया** = ग्राह्यतया । **कारणतया** = ग्राहकतया । **तयोः** = वाक्तत्वशब्दतत्त्वयोः । **सर्वदर्शनाज्ञानता** = सर्वशास्त्रानभिज्ञत्वम् । **एवम्**—इत्यङ्गीकारे । **हस्त** इत्युपलक्षणम् । तेनान्येषामपि कर्मेन्द्रियाणामेवमेव बोध्यम् ॥८३॥

ननु किमिदमुच्यते **जडात्मनि ज्ञानशक्ति**रिति ? अत्र हि न स्वरूपद्वित्वमाश्रितम्, येन स्वरूपं जडात्मकम्, सा च स्वयं ज्ञानात्मिका शक्तिरिति । यैव हि ब्रह्मणो ज्ञानात्मिका शक्तिः सैव पश्यन्तीति शक्तिरूपा, न तु स्वतन्त्रा काचिदिति । तथा च न तस्यां काचनापि पूर्वोक्तदूषणावतारसरणिः –इत्यभ्युपगमद्वारेण सिद्धान्तयति—**ज्ञानशक्तिरिति** । उन्मीलितमायुष्मतो विवेकचक्षुषा न कारणमत्र विद्मो येन न तूर्णं विकसतीति भावत्वेनाह—**तावदित्यादि** ॥८४॥

उनका यह वर्णन हस्तरूप कर्मेन्द्रिय की हस्त-ग्राह्यता के समान हास्यास्पद प्रतीत होता है ॥८३॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह समझना चाहिए कि पश्यन्ती एक क्रिया है। उसके पूर्व और पर दो भाग हैं। दर्शनव्यापार के पहले 'देखना चाहिए' इस प्रकार का एक इच्छारूप विचार क्या उस क्रिया का पूर्वांश नहीं है ? अर्थात् अवश्य है ॥८४॥

जिस प्रकार घट बनाने वाले कुम्हार के मन में 'घट बनाना चाहिए' इसप्रकार का एक इच्छारूप विचार या विमर्श पहले उठता है उसी प्रकार की स्थिति यहाँ भी है ॥८५॥

सा स्थिता पूर्वतस्तस्या इच्छायाः प्रसरः कथम् ।
यावन्न सूक्ष्म उल्लासश्चितः कार्योन्मुखः स्थितः ॥८६॥
तस्या अपि सामरस्ये व्यवस्थावान् स्थितः शिवः ।
एवं भवप्रक्रियाया अपि सूक्ष्मतरा स्थितिः ॥८७॥
स्थिता सा न पुनः सत्या वाचो वायुगमात्मनः ।
इष्यते ब्रह्मरूपत्वं घटादेरपि कथ्यताम् ॥८८॥
यथा सर्वपदार्थानां भवगवच्छिवरूपता ।
तद्वद् वागिन्द्रियस्यापि न पुनः सा परा दशा ॥८९॥

च्छाया अपि चित्तत्त्वसम्बन्धिसूक्ष्मतरोल्लासमिष्टज्ञेयकार्यौन्मुख्यलक्षणं विना प्रागुक्तन्यायात् कथं प्रसरः । तस्या अपि चितो निर्वृत्यौन्मुख्येच्छाज्ञानक्रियाक्रमव्यवस्थाया यत् सामरस्यम् = एकीभावः, समावेशविषयः तत्र व्यवस्थावान् = व्यवस्थाऽऽश्रयोऽक्रम शिवभट्टारकः स्थित इति । एवं ज्ञानशक्तिताऽभिप्रायेणापि पश्यन्त्या भवलक्षणां प्रक्रियां प्रति सूक्ष्मतराऽन्यापि पररूपा स्थितिरस्ति । ततः साप्यनुमन्तव्या न तु वायुगमात्मिकाया वाचः सत्यास्तस्या ब्रह्मरूपत्वमेष्टव्यम् । एवमिष्यमाणे भूतत्वाविशेषात् घटादेरप्येवमुच्यताम् ॥८८॥

यद्यपि सर्वार्थानां ज्ञानगोचराणां चिदन्तःप्रवेशात् चिल्लक्षणपरमेश्वररूपता

तस्याः = क्रियायाः । ब्रह्मरूपत्वमिति— यदि च सामान्यतयाऽस्या वाचस्तर्हि घटादेरपि तथा प्रकल्प्यतामित्यर्थः । अत्रापि = पश्यन्तीविचारे । एवम् = तस्या ब्रह्मत्वे ॥८७॥

इस प्रकार दर्शनक्रिया की इच्छा का विस्तार भी तब तक सम्भव नहीं है जब तक चित्तत्त्व अर्थात् चेतन आत्मा का कार्यौन्मुख्य रूप उल्लास न हो अर्थात् उल्लास सबसे प्रथम चरण में है ॥८६॥

उस चित् का भी जब सामरस्य हो गया अर्थात् क्रिया ज्ञान में, ज्ञान इच्छा में मिलकर जब क्रमरहित हो गई तब तो शिव भट्टारक की स्थिति हो जाती है। इसी प्रकार आप जो पश्यन्ती से संसार का विकास मानते हैं उसमें पश्यन्ती के भी पहले एक सूक्ष्मतर तत्त्व की स्थिति मानिये। और वह अवश्य है अन्यथा–॥८७॥

यदि आप वायुनिर्गमनात्मकरूप वाणी को परमतत्त्व मानते हैं तो स्थूल घट आदि को भी ब्रह्म क्यों नहीं मानते ? ॥८८॥

अतः जिस प्रकार ज्ञान के विषयभूत समस्त पदार्थ चित् से अतिरिक्त न होने से शिवस्वरूप हैं, उसी प्रकार वागिन्द्रिय भी शिवस्वरूप है; वह परमतत्त्व नहीं है ॥८९॥

कण्ठादौ वदने वायोर्व्यापारो वाग्गतस्य सा।
करणं, नादरूपादिशब्दस्यास्ति शिवात्मता ॥९०॥
तस्यापि कथिता पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ क्वचित्।
न वाच इष्यते तद्वत् तस्मात् सर्वं शिवात्मकम् ॥९१॥

परमार्थतो यथा, तथा वागिन्द्रियस्यापि ज्ञेयसर्वार्थान्तर्भावादज्ञेयत्वेऽसत्त्वादेः; तथापि वागिन्द्रियदशा परा न भवति, मायाशक्त्या शिवाभेदाख्यात्या तदुत्थानात्। तथा हि कण्ठताल्वादौ वदनैकदेशे वायोर्योऽभिघातव्यापारः शब्दाविर्भावहेतुः एतं नाम तस्य सा करणम्। एषा च सर्वैव भेदमय्यपरावस्था। अथ नादरूपस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य परस्य च शब्दस्यास्ति मन्त्रात्मनः परमशिवात्मता तदिष्टा कथिता **पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ** = दीक्षाशास्त्रे, न पुनरेवं वाच इन्द्रियरूपायाः, परभावस्तन्मयत्वं वा जगतो युक्तम्। अतः सर्वं शिवात्मकमेवोपपन्नमिति शिवम् ॥९१॥

इति श्रीमदुत्पलदेवपादकृतौ श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ द्वितीयमाह्निकम्।

यथेति—ननु च सत्यमेवैतद् घटादेरपि कथ्यतामिति यत् सर्वार्थानां ज्ञानगोचरत्वाच्चिदन्तःप्रवेशाच्चिन्मयत्वे परिपूर्णमखण्डमेव परमेश्वरत्वमिति; तच्च साम्येऽपि वाचः, इयान् विशेषः सत्त्वादेर्यदग्राह्यत्वमिति। सर्वार्थान्तर्भावस्तु सर्वत्र समान एवेति बुद्ध्याद्यग्राह्यत्वविशेषेण तस्या एव ब्रह्मत्वमित्याशंक्याह—यथेत्यादि।

'न पुनः सा परादशा' इत्यनेन तस्या अन्येभ्यो विशेषे सत्यपीति ध्वनितम् ॥९१॥

वदन के कण्ठ तालु आदि किसी एक स्थान में वायु के अभिघात से जो शब्दोत्पत्ति होती है, वागिन्द्रिय उसका करण है। और वह उत्पन्न शब्द स्वयं शिव है ॥९०॥

पञ्चतत्त्वदीक्षा शास्त्र में उस मन्त्रात्मक शब्दरूप की शिवात्मकता वर्णित है। किन्तु इन्द्रियरूप वाणी की शिवात्मकता कहीं भी नहीं कही गई है। इस प्रकार सब कुछ शिवात्मक है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥९१॥

तृतीयमाह्निकम्

अथ शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते ।
युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः शक्तिदशा यतः ॥१॥

वृ०—अद्वयवादः स्थितः, पश्यन्तीविचारादनन्तरं स्वयूथ्यानद्वयवादिनः प्रतीदानीमारम्भः । तथा च तैरुक्तम्—

यस्या निरुपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया ।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे ॥ इति ।

तत्राह—अथेति । लिङ्गविशेषान्यथानुपपत्त्या शक्तित्वेनैवाभिमतस्यार्थस्य परावस्थारूपाभिधानं भक्तिरेव, ततः परस्य शक्तिमतोऽभावात्, शक्तिमदभिन्ना हि तत उद्धृत्यापि

टि०—**स्थितः** = स्वसिद्धान्तेन निश्चयेन दृढीकृतः । **स्वयूथ्यान्** = स्वसमानजातीन् । **आरम्भ** इति—न तु निराकरणमित्यर्थः । **शक्तेरिति**—अयं भावः—शक्तिरिति पराधीनत्वादस्याः स्त्रीलिङ्गस्य पुल्लिङ्गविशेषरूपत्वाच्च सिद्ध एव, स्वयं तस्यास्तदधीनत्वे यत्परत्वाभिधानं सा केवलं तत्तत्त्वोत्कर्षप्रख्यापिका भक्तिरेव । भक्तिस्तत्र प्रेमातिशयः रचना च । रचनया तैस्तदौत्कर्ष्यप्रख्यापनेन शक्तिमत्प्राधान्यमेव सूचितमित्यर्थः । ननु च यदि भक्तिरेव तद्व्यपदेशः परन्तु शक्तिमानेवोत्कर्षेण ख्यापितः, अलं तर्हि तान् प्रति प्रत्याक्षेपकरणेनेत्यत आह—**युक्त्येति** । युक्तिर्हि कांश्चित् सूक्ष्मदृष्टीन् प्रत्येवोपयुंक्ते इति तदुक्तिदूषणमेव सर्वोपकारकत्वाभावादित्यर्थः ॥ न च तेषां शक्तिरेव स्वातन्त्र्येण मतेति मन्तव्यमित्याह—**तत** इत्यादि । **लिङ्गविशेषान्यथा-**

चि०—वैयाकरणसम्मत पश्यन्ती के ऊपर विचार करने के बाद अब शक्ति को ही परमतत्त्व मानने वाले शाक्तसिद्धान्तवादी के विषय में विचार प्रस्तुत है । इस मत के अनुसार शक्ति ही चरमतत्त्व है । वह स्वयं अपने अधीन है । लोकसादृश्य के आधार पर जो उसको शक्तिमान् के अधीन मानकर शक्तिमान् को ही परमतत्त्व माना जाता है वह उस शक्ति के प्रति भक्ति या प्रेमातिशय का प्रदर्शनमात्र है । इस विषय में सोमानन्द का कथन है कि—

जो लोग भक्ति के कारण शक्ति की परावस्था का गान करते हैं वे लोग प्रकारान्तर से शक्तिमान् देव शिव का ही प्रकाशन करते हैं । क्योंकि वे ही लोग उस शक्तिमान् देव में किञ्चित् उच्छूनता इत्यादि शक्ति की दशा का वर्णन करते हैं ॥१॥

तथा तद्व्यपदेशश्चेद् व्यपदेशः शिवात्मकः।
न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥२॥
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्त्तुमीदृशान्।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥३॥

प्रयोजनवशान्निर्दिश्यमाना तत्पारतन्त्र्येण तदनन्तरं निर्देशमर्हति। यतः तैरेव ततः परावस्थातोऽनन्तरं **शक्तिदशा किञ्चिदुच्छूनतेत्यादिनोक्ता**; ततो **यैः शक्तेः** परत्वं **गीयते** तैस्तया धर्मभूतया धर्मी स्वाश्रयः स्वतन्त्रो वास्तवाभेदयुक्त्या **देवः** = शिवः; **प्रकाशितः**। अनिमित्तमेव तु विशेषात्मनि स्त्रीलिङ्गे किमित्यभिनिवेशः; पुंस्त्वं हि स्त्रीपुंसयोः सामान्यं लिङ्गम्; नपुंसकं पुनः शक्ततापर्यायरूपं नैवंविधविश्वेश्वर-निर्देशावसरे युक्तोपपादनमित्यभेदाभिधानार्थं शक्तितद्वतोः पुंस्त्वेनोपपत्तिः ॥१॥

तथा = स्त्रीलिङ्गेन परमशिवस्यैव व्यपदेशो यतश्चेत् सोऽपि व्यपदेश उक्तन्यायात् शिवशब्दात्मकः कार्यः। अभेदमेवाह—**न शिव** इति। शक्त्या

नुपपत्त्या = सामान्यं पुल्लिङ्गं विनेत्यर्थः॥ ननु च यदि शक्तिमतस्तत्स्वातन्त्र्यरूपा शक्तिः—'न वह्नेर्दाहिका शक्तिः पृथङ्निर्देष्टुमर्हति।'—इतिन्यायेन युक्तिबोधनार्थं भक्त्या वाऽभिधानं कथं संभवतीत्यत आह—**तत्पारतन्त्र्येणेति**। तस्याः स्वयं स्वातन्त्र्यं व्याघातविरोधादिदोषप्रसङ्गादित्यर्थः। यतस्तैरिति—न च तेषामेतद-नभिप्रेतं येन तदुक्तिरन्यवादिवत् प्रतिक्षेप्यपक्षे व्यवतिष्ठेतेत्याह—**यस्तैरिति**॥ विशेषेण तत्पक्षं व्यवस्थापयति—**अनिमित्तमित्यादिना**। का हानिरत्र ?—इत्याह—**पुंस्त्वं हीति**। नन्वत्र यदि स्त्रीलिङ्गव्यपदेशे विशेषरूपत्वाद्दोष आशंक्यते तर्हि पुलिङ्गेऽपि शक्तिमत्त्व-रूपप्रख्यापके दोष आपतत्येव स्थूलदृशामिति निर्दोषं नपुंसकलिङ्गमेव गृह्यताम्, येन शक्तिरिति स्वातन्त्र्यं नपुंसकलिङ्गेनैव तन्निर्देष्टुमर्हति इत्यत आह—**नपुंसकमिति** ॥१॥

उक्तन्यायात् = पुल्लिङ्गं सामान्यमिति न्यायात्। **न शिव इति**—न चानयोः परस्परं भेदो युक्तः येन स्त्रीलिङ्गव्यपदेशोऽप्युपपत्स्यत इति स्वमतेन सिद्धान्तयति।

यदि आप स्त्रीलिङ्ग से भी परमशिव का ही व्यवहार मानते हैं तो वह भी शिवात्मक ही है। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने के कारण पुल्लिग हैं तो दोनों और स्त्रीलिङ्ग हैं तो दोनों। क्योंकि शिव कभी भी शक्ति से रहित नहीं हो सकते और शक्तिसत्ता की भी विना आधार अर्थात् शिव के कल्पना नहीं की जा सकती ॥२॥

शिव शक्त अर्थात् शक्तिमान् होने पर ही सृष्टिसम्बन्धी पदार्थों को अपनी इच्छा से करना चाहते हैं। शक्ति और शक्तिमान् की भिन्नता अन्य दर्शनों में भले ही वर्णित हो, शैव दर्शन में कभी भी वर्णित नहीं होती ॥३॥

शक्तेरेव स्वतन्त्रत्वात् कर्त्तुं भावान् विचित्रकान्।
सामर्थ्यं यदि कल्प्येत तन्नामानन्त्यमेव वा ॥४॥

रहितः = शून्यो न यद्यपि शिवः तथापि कथमैक्यं तदाह—**न शक्तिर्व्यतिरेकिणीति**। तथा हि तेन तेनैव वैचित्र्येणेदृशानतिदुष्करानिच्छामात्रेण **शक्तः शिवः कर्त्तुमिति** व्यवहारेऽप्यभेदः, शक्तितद्वतोर्भेदाख्याऽनुपपद्यमानत्वात् शैवे न कदाचिदवान्तरादिभेदेष्वपि वर्ण्यते यथाऽन्यत्राप्रामाणिकदर्शनेषु ॥३॥

तदेव विचारयन्नाह—**शक्तेरेवेति**। तत्र यदि शक्तिस्तत्किमसौ शक्ता करोति ? अथाशक्ता ? अशक्तस्य करणेऽतिप्रसङ्गः; शक्तत्वे तस्याः शक्त्यन्तरयोगे शक्त्याश्रयस्य शिवस्यैव शक्तिरिति नाम स्यात्। अथ शक्त्यैव सत्या भिन्नशक्तियोगः ? तत्सैव भिन्नशक्तिः कार्यं कुर्यात्, कथं वा कुर्यादशक्ता ? शक्तत्वे शक्त्यन्तर-

शैव इति—इदं प्रामाणित्वकथनार्थम्, तेन च तेषामपि तद्व्यवस्थितिरेव दर्शिता नान्यदर्शनस्थितिः। अत एव वृत्तिकारेण **स्वयूथ्यान्** इति कथितम् ॥३॥

अभेदेन व्यवस्थाप्य भेदं तयोः खण्डयितुमाह—**भेद इति**। ननु सत्यमेतत्—**शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते**।" इति, तथापि यदेव शक्तिमतः शक्तित्वं नाम स्वातन्त्र्यम्, तेनैव तस्य शक्तिमतोऽपि स्वरूपलाभेऽपि शक्तिप्रसर इत्यलं शक्तिमत्स्वरूपविश्रम्भेण। येनोक्तम्—"**तथा तद्व्यपदेशश्चेद्व्यपदेशः शिवात्मकः**।" इत्यादि, तत्र पृच्छति—**तत् किमसौ शक्तेति** ॥ **अतिप्रसङ्गः** = शून्यादपि सर्वभावोत्पत्तिः स्यात्। अनिष्टापत्तिः प्रसङ्गः। **शक्तत्व इति**—तदेव शक्तत्वं यत् स्वात्मनि शक्त्यविच्छेदः, शक्तिसमवायं विना शक्तत्वस्यैवानिर्वाहात्। यदि च शक्तियोगः शक्तेस्तर्हि फलितं ममैव मनोरथकल्पलतयेत्याह—**शिवस्यैव शक्तिरिति नाम स्यादिति**।

अथेदानीमभेदपक्षे न कथंचनापि शक्तिव्यपदेशो यदि शक्तिवादी भेदपक्षमनयोराश्रृणोति—तत्र विवेचयितुमाह—**अथेत्यादिना**। यदुक्तं शक्तिमतः शक्तत्वं धर्मभूतं स्वभावकल्पमेव येन शक्तिमानिति व्यपदेशः, तन्न; भिन्नैव शक्तिः शक्तिमत इति—तत्रापि पृच्छति—**तद्भिन्नशक्तिरिति**। अत्रापि पूर्ववन्न्यायः; अशक्तस्य करणेऽति-

आप यदि शक्ति को परतन्त्र न मानकर स्वतन्त्र मानते हैं तो यह बताइये कि वह शक्ति विचित्र जागतिक पदार्थों को सामर्थ्यरहित होकर करती है ? या सामर्थ्यवती होकर ? यदि पहला पक्ष है तो असामर्थ्य के कारण सृष्टि ही नहीं होगी क्योंकि अशक्त कुछ भी नहीं कर सकता। और यदि सामर्थ्यवती है तो वह सामर्थ्य फिर किसी दूसरे सामर्थ्य को अपेक्षा करेगा और दूसरा तीसरे की, इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। इसलिए शक्ति को शक्तिमान् से अभिन्न मानिये ॥४॥

भेदे हि शक्तिः किं कार्यं करोत्युत च शक्तिमान् ।
शक्तिमानेव शक्तिः स्याच्छिववत् करणार्थतः ॥५॥
शक्तेः स्वतन्त्रकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद् भवेत् ।

कल्पनेनानवस्था स्यात्; आनन्त्यापत्तेः । किञ्च शक्तिरपि शक्त्यन्तरयोगात्कुर्वंती शक्तिमानेव स्यात् । करणलक्षणादर्थात् प्रवृत्तिनिमित्तात् कर्तृत्वादित्यर्थः; यथा शिवभट्टारकः । शक्तेश्च **स्वतन्त्रत्**=स्वनिबन्धनम्, कार्यं नान्याश्रयमिति शिवता नान्यत्र क्वचिद् भवेत्, इति शैवदर्शनानुपपत्तिः स्वयूथ्यानाम् । शक्ति मुञ्चतो विविक्तस्य शिवभट्टारकस्याभ्युपगमे........तत्त्वात् स्वातन्त्र्ये ज्ञेयनिष्ठत्वाभावस........माप्नोतिज्ञेयाप्रकाशनात् । तच्च........अथवा निजशक्तित्यागे........हि तस्य स्वस्वातन्त्र्यस्य........तथैव ज्ञानं स्यात्........शक्तिमतः शक्तेः पृथग्भावेन प्रतीति-

---

प्रसङ्गः शक्तत्वे पुनस्तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदित्यानन्त्यापत्त्याऽनवस्थाप्रसङ्ग इति ॥ न केवलं शक्तेः शक्त्यन्तरयोगेन शिवस्य शक्तिरिति भवदभीष्टमेव नाम निर्वहेद्येन स्ववचनविरुद्धव्याघातदोषोऽप्यापतेदित्याह–**किं चे**त्यादिना ॥ शक्तिमत्त्वं हि कर्तृत्व-मुच्यते, शक्तित्वं हि करणत्वम्, शक्तेश्च शक्ततायोगे स्फुटमेव तस्या एव शक्ततायाः करणत्वम्, एतस्याश्च तद्योगात् कर्तृत्वमिति शक्तिरपि शक्तिमद्व्यपदेशमर्हति न काच-नापि शक्तिरिति स्यादिति । येन क्रियते तत्करणमिति ॥५॥

ननु किमिदमुच्यते शक्तियोगे शिवस्यैव शक्तिरिति नाम तथा '**शक्तिमानेव शक्तिः स्यात्**' इति च, यतस्तदेव शक्तेः शक्तित्वं यत् स्वातन्त्र्येण स्वात्मन्येव = स्वनिबन्धनमेव कार्यकारित्वम् । तथा च कार्यत्वमपि स्वतन्त्रं तदेकाकारं नान्याश्रयमिति ?–तदेतदपि विघटयति–**शक्ते**रित्यादिना । **शिवभट्टारक** इति—करणलक्षणेनार्थेन शक्त्या यथा शिवभट्टारकस्य कर्तृत्वमित्यर्थः । **नान्याश्रयमिति**–तथा च कुतोऽयं निर्देशस्तैः कृतः–

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥ इति ॥५$\frac{1}{2}$॥

ननु च न शैवदर्शनानुपपत्तिः स्वयूथ्यानां येनोक्तम् '**शिवता नान्यत्र क्वचिद् भवेत्**' इति । अस्त्येव शिवताया विषयः यावद्धि शक्तित्वसमावेशः तावत्केन शिव इति

यदि भिन्न मानते हैं तो यह बताइये कि सृष्टि का कार्य शक्ति करती है या शक्तिमान् ? यदि पहला पक्ष है तो वह प्रकारान्तर से शक्तिमान् ही हुई, अर्थात् आपने प्रकारान्तर से शिवभट्टारक को ही स्वीकार कर लिया । क्योंकि शक्तिरूप कारण से कार्य करने के लिए कोई करण का नियन्ता अर्थात् कर्ता चाहिए ही ॥५॥

और यदि वह स्वतन्त्र होकर कार्य करती है तो वह कभी भी शिव नहीं हो सकती अर्थात् उससे भिन्न ही होगी । और फिर द्वैतापत्ति हो जायगी अर्थात्

मुञ्चतोऽपि निजां शक्तिं स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत् ॥६॥

रस्ति केवलमेकस्मिन्नेव यस्मिन् वस्तुनि प्रतीतेः किञ्चिद् भवति तत्समानं शक्तं व्यवहारसारमेवमुच्यते शक्तिमानिति ॥६॥

तदाह—**न हिमस्येति**। शक्तिः = शक्तत्वम् = शक्तस्य धर्मः; न च धर्मो धर्मिणो भिद्यते; तथा हिमवह्न्योः शीतोष्णस्पर्शौ न पृथगुपलभ्येते ॥६½॥

व्यपदिश्यते ? तद्व्यतिरेके तु विविक्तत्वात् शिव इति व्यपदेशः केनापह्नूयते ?—इति विविक्तविषयत्वात् स्फुटमनयोः स्वरूपलाभोऽस्त्येव । तत्राह—**स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत्** इति । अयं भावः—यद्यत्र भवद्भिर्विषयभेदेन व्यवस्थाप्यते तर्हि तावत् '**शक्त्या गर्भान्तर्वर्त्तिन्या शक्तिगर्भं परं महः ।**' इति लक्षणं शिवभट्टारकस्य भवदनुरोधेन छिन्द्यात् । छिनत्तु वा नास्त्यत्र तव कोऽपि भरः । तथापि '**स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत् ।**' स्वातन्त्र्यं हि स्वतन्त्रस्य शक्तिमतः स्वभावभूतो धर्मः स्वभाववन्तं विना न कथनार्हमिति भावः ॥ '**भ्युपगमे**' इति प्रभृति '**ज्ञानं स्यात्**' इत्यन्तं निम्नलिखितः पाठः कश्मीरशोधग्रन्थालयीयपाण्डुलिप्यां दृश्यते—नास्त्यत्र भवतो विप्रतिपत्तिसम्भावनाऽपि केवलं स्वातन्त्र्ये शक्तिमन्तं विनाऽपि शक्तौ स्वभावभूते धर्मे ज्ञानं स्वतः संभावनानिष्टापत्तिरायाति । न चेष्टा, नहि भवताम् । **किञ्चिद् भवतीति**—आधिक्यमिव तस्याः स्पन्दस्वरूपं किञ्चिच्चलनात्मकत्वात् । **व्यवहारसारम्** = किञ्चिच्चलत्ता । **शक्तिमानिति**—इदमत्र तात्पर्यम्—एकमेवेदं स्वस्वभावाख्यं शक्तिगर्भं शक्तिमत्स्वरूपं तत्रैतादृशे यत्किञ्चित् प्रतीतेराधिक्यं यदा स्फुरति तत्तदा शक्तिरिति भण्यते। तदाश्रयत्वेन च तत्समानं तदेकसंघट्टमीदृग्व्यवहारसारं चलत्तात्मकस्वरूपाभासनविश्रान्तिसारम्, अत एव शक्तमिति तत्छक्तिसहितं शक्तिमानिति कथ्यते, न तु शक्तिशक्तिमतोर्वस्तुतो भेदो लक्ष्यत इति ॥६॥

नन्वस्तु शक्तिशक्तिमतोरभेद एव तथाऽपि यथाऽग्नितदौष्ण्ययोर्हिमशैत्ययोश्चाभेदेऽपि औष्ण्यशैत्याभ्यामेव व्यवहारो नाग्निना, नापि हिमेन, तथाऽनयोरपि चाभेदेऽपि शक्त्यद्वयवाद एव युक्तियुक्तः न शिवाद्वयवाद इत्याशंक्याह—**न हिमस्येति** । अयं भावः—सत्यमेव शक्त्यैव व्यवहारदर्शनात् तदद्वयवाद एव वक्तुं युक्तम् इत्येतद् यद्यपि, तथापि न धर्मिणं विना धर्मो व्यवहारशक्तः । न हि हिमाग्नी विना शैत्यौष्ण्यस्पर्शौ जातुचित् सम्भवतः तद्व्यवहारेऽपि । तथा शक्तिसम्बन्धेऽपि सर्वत्र तद्-

---

शैवदर्शन का आधार ही विकृत हो जायगा । और यदि वह शिव अपनी शक्ति अर्थात् स्वातन्त्र्य को छोड़ देगा तो वह स्वातन्त्र्य ही ज्ञान का विषय हो जायगा और शिव ज्ञान का विषय नहीं रह जायेंगे । व्यवहार में भी देखा जाता है कि शीतलता हिम से और उष्णता अग्नि से पृथक् नहीं होती । इसी प्रकार शक्ति का भी शिव से पृथक् होना सम्भव नहीं है ॥६–६½॥

न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत् ।
मन्त्रस्तम्भनतायां हि नासौ वह्निस्तदोच्यते ॥७॥
हेमादिवद्भास्वरं तद् द्रव्यं तैर्व्यभिचारितम् ।
यद्यौष्ण्याव्यतिरेकत्वे दृष्टान्तो दाहकाश्रयात् ॥८॥
शैवैः सद्भिर्वाच एव पश्यन्त्यादिक्रमे स्थिताः ।
कल्पितास्तैरशैवत्वमात्मनः प्रतिपादितम् ॥९॥

मन्त्रेणौष्ण्यस्तम्भनं यस्य तथा शक्तिव्यतिरेकता शक्तिमत उच्यते । तत्र इदं वह्नित्वम्, तदभावे सत्यग्नेरौष्ण्यं नोपलभ्यते यतस्तदानीमसौ वह्निस्तेजोमयत्वेऽपि यथा सुवर्णादि द्रव्यं भास्वरम् । अथ तैरेव हेमादिभिरग्निसंज्ञतेजोमहाभूतात्मभि-(रग्निसहचरितैः) रेव दृष्टान्तो यदि (शक्तिव्यतिरेकता शक्तिमत उच्यते तत्र दोषः यतो) दाहकत्वेन श्रित उष्णः सन् (स) वह्निः शक्तिव्यतिरेके दृष्टान्तीकृतो न वह्निमात्रम् ॥८॥

व्यवहारदर्शनान्न तया धर्मिणं व्यवधाय व्यवहारो युक्त इति शिवाद्वयवाद एव युक्ति-युक्तोऽङ्गीकर्त्तव्य इति ॥ यद्यपि हिमवह्न्योरत्र दृष्टान्तत्वेन व्यपदेशो युक्तस्तथाऽप्यनु-भवशालिनामौत्कर्ष्यख्यापनाय दार्ष्टान्तिकत्वेन योजित इति बोध्यं तदाह–तथेति ॥६½॥

ननु च यथा मन्त्रेणौष्ण्यशक्तिस्तम्भनेऽपि वह्नेर्भासमानत्वात् 'वह्निरयम्' इति सर्वो प्रत्येति, तथा शक्तिव्यतिरेकेऽपि तस्य व्यवस्थानात् कथमुक्तं **'मुञ्चतोऽपि'** इत्यादि ? तथा, यथा च तत्र पृथगेवान्यथा कथं मन्त्रेण स्तम्भनं सिध्येदिति, तथा च कथमनयोरभेद इत्यत्र समर्थयति—**मन्त्रस्तम्भनेत्यादि** ॥७॥

मन्त्रेणौष्ण्यस्तम्भनं यस्य तस्य वह्नेर्यथा शक्तिर्व्यतिरिक्तैव तथा तच्छक्तिस्त-म्भनतायां वह्निः स्वरूपेण तिष्ठते न तु तेनैव वह्निरिति ज्ञानम् । तथा शक्त्यपगमे शक्तिर्व्यतिरिक्ता । न च शक्त्यैव शक्तिमत्स्वरूपव्यपदेश इत्यर्थः ॥८॥

यदि यह कहिये कि मन्त्र के द्वारा अग्नि की उष्णता को स्तम्भित अर्थात् नष्ट कर देने पर भी वह अग्नि कहलाती ही है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उस दशा में वह अग्नि नहीं कही जायगी बल्कि सुवर्ण आदि के समान भास्वर द्रव्य कही जायगी। यदि दाहकत्व के अभाव में भी आप उसे वह्नि मानते हैं तो उष्णता के रहने पर दाहक होने के कारण वह वह्नि है, दाहक न होने पर वह्नि नहीं हैं यह दृष्टान्त ही व्यभिचरित हो जायगा ॥७–८॥

शैवदर्शन के अन्य विद्वान् जो यह मानते हैं कि पश्यन्ती आदि वाणियाँ ही विश्व के विकासक्रम में स्थित हैं और इस प्रकार समस्त विश्व शक्तिअद्वैतमय ही है; वे लोग अपने ही सिद्धान्त से अपने को अशैव सिद्ध कर रहे हैं ॥९॥

शैवे वाच इन्द्रियत्वमथ नादादिनोदिता।
तदभ्यासे फलावाप्तिः सूक्ष्ममन्त्रस्वरूपता ॥१०॥
कथिता कालपादादौ नादाख्यं यत्परं त्विति।
परापरादिभेदश्च तत्रैव प्रतिपादितः ॥११॥

अन्यच्च यैः शक्तिवादिभिः "यस्या निरूपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया । व्यपदेशः........." इत्येवमभिधानात् शैवदर्शनस्थितैरपि **सद्भिर्वाच एव** क्रमव्यवस्थिताः = पश्यन्तीमध्यमावैखरीसंज्ञाभिर्विश्वात्मतया कल्पिताः; यदाहुः—

"....................यावन्नोन्मेषभागणुः ।
न तावदर्थे वर्तेत स चोन्मेषः क्रिया मता ॥
क्रिया च नानारूपैव.....................''

इत्युपक्रम्य—"स्वस्वभावस्थितिं मुक्त्वा तस्मान्नान्याऽस्ति सा दशा ।
शिवे यस्या न वाग्रूपं सूक्ष्ममप्राप्तसन्निधि ॥'

इति तैरशैवत्वमात्मन उक्तम् ॥९॥

तथा हि **शैवे** हि **वाचः** सांख्य इव कर्मेन्द्रियत्वमेवात्यन्ताधस्तनदशायाम् । अथ 'नादे प्रलीनचित्ते' इत्यादिना वाच एव फलावाप्तिः कथिता सूक्ष्ममन्त्रात्मकता कालोत्तरादौ—

'नादाख्यं यत् परं बीजम्............।'

इत्यादिना परापरादिभिन्नता चोक्ता इति, तस्मादनेन शैवग्रन्थेन वाच एव परात्मता

अथेदानीं स्वातन्त्र्यापरपर्यायशक्त्यद्वैतपक्षेऽनुपपन्नेऽपि चान्ये शक्तिवादिनः पुनरपि प्रत्यवतिष्ठन्ते । पश्यन्त्यादिवाच एव समन्ताद्विश्वमागूर्य यतो वर्त्तन्ते ततो वाचः शक्तिरूपत्वाद्वागद्वैतमयं शक्त्यद्वैतमयं सर्वं विश्वम्; अलं शिवाद्वैतवादेनेत्यत आह—शैवैरित्यादि ॥९॥

अथेत्यत्रायं भावः—वैयाकरणैर्हि करणरूपा बुद्धीन्द्रियादप्यतिनिकृष्टकर्मेन्द्रियरूपा पशुप्रमातृभिस्तिर्यगादिभिः साधारणा ध्वनिजनिकाहंकारवृत्तिरेव काचिद्वाक्पाण्यादिवदभ्युपगता कथं तत्र परत्वमिति ? अथ सामान्यं स्थूलसूक्ष्मरूपमाश्रित्य

उक्त शैवसिद्धान्ती "नादे प्रलीनचित्ते........" इत्यादि के द्वारा वाणी को इन्द्रिय ही मानते हैं और उसके अभ्यास से इष्टफल की प्राप्ति होने से उसको सूक्ष्ममन्त्रसदृश मानते हैं। आगे शैवतन्त्र में 'नादाख्यं यत्परं बीजम्' वाक्य के द्वारा नाद को पर तथा वाणी को अपर कहा गया है। इस प्रकार वाणी के पर-अपर का भेद शैवतन्त्र में ही प्रतिपादित है। फलतः वाणी का परत्व शैवतन्त्र में वर्णित हैं और वैयाकरण को तो मान्य है ही ॥१०—११½॥

इत्यनेन वर्णिताऽत्र वाच एव परात्मता।
नैतन्न वाचः कथितं पतिशब्दस्य वर्णितम् ॥१२॥
शब्दस्य विषयाख्यस्य न कदाचिदुदाहृतम्।
तथा चाह खेटपालः शब्दराशेर्विशेषताम् ॥१३॥

कथमयुक्ता ? परं त्विति तुशब्दः पादपूरणे ॥ तदेतन्न; न हि वागिन्द्रियस्य बद्धाणुव्यवस्थितस्य तत्तत्र कथितम्, विषयाख्यस्य वा शब्दस्य तत्परत्वं कदाचित् क्वचित् प्रतिपादितम्; अपि तु पतिभावे ईश्वरतासमापत्तौ यो महामन्त्रमयः शब्दनात्मा तस्योक्तम् ॥१२॥

खेटपालगुरुः श्री स्वायम्भुवशास्त्रटीकायां "किं शब्दराशेर्विशेषोऽस्ति।" इत्याक्षिप्य "**बाढमेकः शिवात्मकोऽन्यश्च पाशात्मकः**" इत्यादिना परत्वेन शब्दराशेर्मन्त्ररूपस्य कर्तृशक्ताववस्थानाद् विशिष्यमाणतामाह न तु शब्द इत्येव कृत्वा शब्दराशेर्निर्विशेषत्वम्। तथा व्याख्यानिसंज्ञकेन गुरुणा मतङ्गटीकायांमेवमेव विशिष्टमुक्तम्। तथोक्तम्—"**प्रमातृभूमिगतानां मन्त्राणां परभूमिगतानां च**

पृच्छति–अथेत्यादि। **कालपादादौ** = शैवतन्त्र एव। **तत्रैव** = **कालपाद** एव ॥११॥

नैतन्नेति–अत्र हि 'अहम्' इति वाक् शुद्धकर्तृत्वप्राणा असंकुचितमहामन्त्रमयी शब्दनरूपा या तस्या एवैतदुक्तमित्यर्थः। ये पुनरमी मायीया वर्णाः शब्दात्मानस्ते घटादिस्थानीयाः; तदुत्थापकं चाविकल्पसविकल्परूपं पश्यन्तीमध्यमात्मकं ज्ञानं ज्ञानान्तरस्थानीयं च; तन्निवर्तकं च वागिन्द्रियं पाण्यादिस्थानीयं द्वैतात्मकमायापक्ष-निक्षिप्तं च; तत्कथमिव परतत्त्वं स्यादिति ? ननु यत्र तत्रापि स्वकृत्यप्रसाधकत्वं दृश्यते तत्र किं कथनीयम् ?–अत्रोच्यते—तत्तु '**अपि त्वात्मबलस्पर्शात्**' इति परत्व-बलस्पर्शकृतमिति। **तत्र** = **कालोत्तरादौ** ॥११॥

उक्तं वाचो न जातुचिदिति—अत एव **भट्टनारायणेनाप्युक्तम्**—

सुगिरा चित्तहारिण्या पश्यन्त्या दृश्यमानया।
जयत्युल्लासितानन्दमहिमा परमेश्वरः ॥ इति।

अत्र च पश्यन्तीशब्देन श्रीसदाशिवभूमिर्ज्ञानशक्तिस्वभावा योक्ताऽसौ महापश्यन्तीनां

किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि वाणी का स्वामी पशुप्रमाता बद्धजीव है। उसके द्वारा किया गया कथन पतिप्रमाता का कथन नहीं हो सकता। और चूंकि पतिप्रमाता का कथन ही पर तत्त्व हो सकता है इसलिए पशुप्रमाता के द्वारा उच्चरित शब्द परतत्त्व नहीं हो सकता ॥१२–१२½॥

स्वाम्भुवस्य टीकायां बाढमित्यादिना गुरुः ।
तथा मतङ्गटीकायां व्याख्यानिगुरुणोदितम् ॥१४॥
मन्त्राणां परशब्दानामुक्तं वाचो न जातुचित् ।
तत्र वा तदुपायत्वात् परत्वेनोपचारिता ॥१५॥
किरणेषु तथा चोक्तं नादबिन्द्वादिनेदृशम् ।
तदुपायात् परत्वं चेद्दीपादेरप्युपायता ॥१६॥

शब्दानां न तु वागिन्द्रियस्य कदाचित्; वागिन्द्रियं हि मायापद एव स्थितम्, शब्दस्तु परतन्त्रात्ररूपः परव्योममहाभूतमयः परमेश्वरस्य पञ्चब्रह्मविन्यासे वक्त्रमुच्यते ।" दर्शितं चैतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम् ॥ अथ परमन्त्रशब्दप्राप्त्युपायत्वात् परत्वं पश्यन्त्या एवोपचारयोगेन मतम् । तथा च **श्रीकिरणसंहितायां** नादबिन्द्वादिनैवंविधमुपचारवस्तु कथितम् । किरणादावन्यथा तदुक्तम्, तत्र

प्रत्यगात्मरूपाणामविभागात्मिका परसमहापश्यन्ती, तया च योऽसावानन्दमहिमा परमस्वातन्त्र्यात्मोल्लसनीयः सा भगवतः परा वागिति ॥ ननु किमिदमुच्यते—

"शैवैः सद्भिर्वाच एव पश्यन्त्यादिक्रमे स्थिताः ।"

"तैरशैवत्वमात्मनः प्रतिपादितम् ॥" इत्यादि ।

यतः पश्यन्तीज्ञानशक्तिमयीत्वादस्याः परसंविदुपायत्वात् परत्वमुच्यते । दृश्यते हि उपायत्वेऽप्युपेयताऽऽरोपः, यथा परेशविमर्शोपायत्वाच्छास्त्रस्य संविद्विमर्श एव शास्त्रमिति भण्यते तथेहापि ?—इत्याशंक्याह—**तत्र वे**त्यादि ॥१५॥

यदा सदाशिवसारत्वे 'अहम्' इति चमत्कृतिरन्तःकृतानन्तविश्वेदन्ताचमत्कृतिपूर्णवृत्तिः स्यात् पश्यन्ती स्वात्मानं परसंवित्परामर्शात्मकं करोति तदा तदुपायत्वा-

यही बात स्वायम्भुवशास्त्र की टीका में खेटपाल गुरु ने भी कही है "शब्दराशि का वैशिष्ट्य क्या है ?" यह प्रश्न कर उन्होंने कहा—"एक शब्द शिवात्मक है दूसरा पाशात्मक ।" यह कहते हुए उन्होंने मन्त्रों के परत्व की ओर संकेत किया है न कि पाशात्मक शब्दों की ओर । यही बात व्याख्यानि नामक गुरु ने भी मतङ्ग टीका में कही है ॥१३–१४½॥

अथवा मन्त्र अर्थात् पर शब्द की प्राप्ति का उपाय होने से पश्यन्ती को भी लाक्षणिक रूप से पर मान लिया गया है । श्री किरणसंहिता में भी नाद बिन्दु आदि के द्वारा लाक्षणिक रूप से पश्यन्ती का ही वर्णन है ॥१५–१५½॥

किन्तु यह भी अनुचित है । क्योंकि यदि उपायात्मक साधनों को आप साध्य की श्रेणी में रखते हैं तो दीप आदि भी ज्ञान के साधन हैं उन्हें आप पर मानिये; यदि यह अस्वीकार्य है तो वह भी अस्वीकार्य होना चाहिये ॥१६॥

तस्मात् समग्राकारेषु सर्वासु प्रतिपत्तिषु ।
विज्ञेयं शिवरूपत्वं स्वशक्त्यावेशनात्मकम् ॥१७॥
स्वनिष्ठे शिवता देवे पृथिव्यादावपीदृशम् ।
पिण्डे वा कटिकायां वा किं सुवर्णत्वमिष्यते ॥१८॥

तदुपायमात्ररूपत्वात् परत्वं दीपादेरपि ज्ञानोपायत्वात् परताप्रसङ्गादित्येषां शैवदर्शनस्थानां पश्यन्तीपरत्ववादोऽनुपपन्नः । पूर्वोक्तनीत्या च स्वतन्त्रशक्तिवादः प्रकृतोऽप्येषामयुक्तः ॥१६॥

तस्मात् शक्तिमात्रवादस्यानुपपन्नत्वात् सर्वासु प्रतीतिषु इन्द्रियमनोमात्रजन्यासु ये स्फुरन्ति आकाराः, तेषु सर्वेष्वेव शक्तिमद्भगवच्छिवरूपत्वं स्थितं ज्ञेयं पूर्वोक्तसर्वनिजशक्तिसामरस्यमयमुपदेशगम्यम् ॥१७॥

यथा **स्वनिष्ठे** शिवतामात्रस्थितौ परमेश्वरे **शिवता** = सर्वशक्तिविलोलता, तथा पृथ्वीपर्यन्तायामपि तादृशमेव रूपम् । न हि तत्तद्भूषणादिव्यक्तावयवविकारमप्राप्त एव पिण्डे कटकादिरूपस्थित एव सुवर्णता न तु कुण्डलादाविति वक्तुं शक्यम्,

---

त्परत्वं केनापह्नूयत इत्याह—अन्यथेति । **पश्यन्तीपरत्ववादः** = पश्यन्त्यामेव तात्पर्येण यत् परत्वं तद्वाद इत्यर्थः । प्रकृतोऽपीति—अनेन पश्यन्तीपरत्वोपगम एषामप्रकृत एवेत्यर्थः ॥१६॥

इदानीं सर्वमतानुपपत्त्या यत्सिद्धं तत्कथयति—तस्मादिति । तदिदानीं शक्त्यद्वयवादः कथंचनापि नोपपन्न इति स्थिते यत् फलितं तदाह—**तस्मादिति** । **आकारः** = पदार्थवपुः, **प्रतिपत्तिः** = तदाकारप्रतिज्ञानकारणम् । तदेवं स्थितं द्वितत्त्वमयमेव सर्वं विश्वं तदन्तर्भावात् सर्वस्य, तेन सर्वमेव यत्किंचित् षडध्वजातं तत्सर्वमेव ग्राह्यग्रहणमयमेव । तत्र सर्वत्र शिवरूपत्वं तत्सर्वं शिवमयमेव । आधारनिर्देशस्तूपदेश्यजनापेक्षया । ननु **'नाप्रकाशः प्रकाशेत'** इति नीत्या सिद्धमेवैतत्; कोऽयं चमत्कारः ?—इत्यत आह—**'स्वशक्त्यावेशनात्मकम्'** इति । पञ्चशक्तिसामरस्यात्मकं यच्छिवतत्त्वं तदेव सर्वं घटादिपदार्थजातमपीत्यर्थः ॥१७॥

अतः शक्त्यद्वैतवाद के अनुपपन्न होने से यह मानिये कि इन्द्रिय मन आदि के द्वारा जो भी आकार स्फुरित होते हैं वे सब पञ्चशक्ति के सामरस्यस्वरूप शिव के ही रूप हैं ॥१७॥

यदि देवता में शिवत्व मानते हैं तो पृथिवी आदि में भी शिवत्व मानिये क्योंकि वह भी तमन्य ही हैं ॥१७½॥

जिस प्रकार आप यह नहीं कह सकते कि पिण्ड और कटक में सुवर्णत्व है, कुण्डल और केयूर में नहीं हैं; बल्कि सर्वत्र आपको सुवर्णत्व मानना ही पड़ता है

न भूषणे कुण्डलादौ यथा तत्र स्वशक्तितः ।
रूपकत्वं गतं हेम न शक्त्यैव स्वतन्त्रया ॥१९॥
तथेच्छया समाविष्टस्तथा शक्तित्रयेण च ।
तथा तथा स्थितो भावैरतः सर्वं शिवात्मकम् ॥२०॥
इत्युक्तेऽत्र समाक्षेपः पक्षस्यास्य विधीयते ।
आदौ तावद्विकारित्वं शिवतत्त्वस्य जायते ॥२१॥

अपि तु सर्वत्रैव साम्येन स्वयं विकारापत्तिशक्तियुतं हेमैव स्थितम्, पिण्डाख्यं सुवर्णमेव तथा शक्तिमत् प्रसरति । कुण्डलमपि पुनरन्यथा प्रसरति शक्तिमदेव, न तु शक्तिरेव स्वतन्त्रा हेम्नस्तथात्वकारणम् । तस्यास्तद्व्यतिरिक्ताया अनुपलक्षणात् । दृश्यमानहेमरूपत्वे च शक्तेर्नाम्नि विवादः; तस्या अपि च पुनः कुण्डलादिगमने शक्तिरेष्टव्येत्यादि प्रागुक्तम् । एवं सुवर्णवत् परमेश्वर एव पूर्वोक्तेच्छादिशक्तिमान् तथा तत्त्वभुवनकार्यकरणादिप्रकारवैचित्र्येण सर्वैः पदार्थैरित्थंभूतलक्षणैः स्थितः; अतः शिवात्मकमेव सर्वं न तु शक्त्यात्मकम् । व्यावहारिकशक्तिभेदाश्रयणे तु शक्त्यात्मकमुक्तम्—'**शक्तयस्तु जगत् कृत्स्नं**………' इति । वस्तुतस्तु **शिवात्मकमेव** ॥२०॥

एवं शिवात्मकत्वे सर्वस्यैवोक्तेऽस्मिन् सति परैरस्य **पक्षस्य** बहुमुखमाक्षेपः क्रियते । विश्वात्मकत्वे चिन्मयस्य **शिवतत्त्वस्य** शश्वदेवोपचयापचयरहितस्याभिमतस्य विकारिता मृदादिसाम्येन प्राप्ता, इत्ययमेव प्रथमतो महान् दोषः । पृथिव्या-

---

एतदेव दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण समर्थयति—**पिण्डे** वेत्यादि । **व्यक्तौ** = अवयवविकारं प्राप्ते । **इत्यादि** = अनवस्थादि ॥२०॥

क्योंकि सुवर्ण ही स्वर्णकार की इच्छा से भिन्न-भिन्न रूप को प्राप्त हुआ है न कि स्वयं अपनी शक्ति से; उसी प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्तियों से आविष्ट शिव ही सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित हैं । अतः सब कुछ शिवात्मक है ॥१८–२०॥

इस प्रकार सिद्धान्ती के कथन पर दूसरे का आक्षेप है कि यदि सब कुछ शिवात्मक है तो इसमें निम्नलिखित अनौचित्य होगा––

१. शिव के विश्वात्मक होने पर चिन्मय शिव मिट्टी आदि के समान विकारी हो जायगा ।

२. भिन्न-भिन्न विकृत रूपों में परिणत होने के कारण वह पृथिवी, जल आदि के समान जड़ हो जायगा ।

नानाविकाररूपेण जडतैवमवस्थिता ।
तथा सावयवत्वं च पराधीनत्वमेव च ॥२२॥
क्षीरवत् परिणामित्वे शुद्धाशुद्धपरापर-
न्यूनत्वादि विनाशित्वं तथोल्लङ्घननिष्कृतिः ॥२३॥
यत्रोपरि न हस्तोऽन्यन्नेयमीश्वरसंनिधौ ।
तत्र पादविहारादेः स्फुटमेव निषिद्धता ॥२४॥
एवं सति समग्रस्य व्यवहारस्य भङ्गिता ।
तथैवं संप्रवृत्तौ तु निमित्तकलनाऽऽपतेत् ॥२५॥

दिवेद्यवस्तुनानारूपेण चावस्थाने जडताऽस्य । तथा = तद्वत् सावयवत्वम् । चिदेकरूपस्यापीश्वरस्यापि चोत्पत्तिविनाशेषु अन्यापेक्षतया भोग्यभावेन च परायत्तत्वम् । क्षीरदधिवत् परिणामवादाभ्युपगमे शुद्धाशुद्धादिविरोधिरूपापत्तिः । यथा क्षीरं शुद्धं मूत्रत्वेन परिणतमशुद्धम्, तथा प्राकृतदशायां परता महत्त्वं च । कार्यकलापावस्थाने तु अपरता न्यूनत्वं च । तथा पूर्वावस्थाननाशे तदभेदात् तस्यैव नाशोऽसत्कार्यवादाश्रयणे वा । तथा पृथिव्याः शिवरूपायाः पादलङ्घननिष्ठीवनादि-विषयत्वे प्रायश्चित्तापत्तिः । यस्मिन् व्यवहारे सन्निहिते ईश्वरेऽन्यस्य तथैव चोपरि **हस्तोऽन्यत्** = काष्ठादि च न नेतव्यं तत्र पादन्यासादिक्रिया निकृष्टत्वात् दूरोत्सारितैव । एवं च **पादविहारादे**र्विरोधे सर्वव्यवहारोत्सादः । शिवभट्टारकस्यैव च विश्वात्मनाऽवस्थानप्रवृत्तौ निमित्तं विचार्यम्, तस्य कर्माद्यविषयत्वात् ॥२५॥

---

३. इसके अतिरिक्त जड़ता आने पर सावयवत्व और फिर घट पट आदि के समान योग्यता होने से शिव की पराधीनता होगी अर्थात् स्वातन्त्र्य का लोप होगा ।

४. जिस प्रकार क्षीर शुद्ध है किन्तु पीने के बाद उसका परिणाम मूत्र अशुद्ध होता है उसी प्रकार शिव भी शुद्ध-अशुद्ध, प्रकृतिरूप में पर एवं महत्, विकृतिरूप में अपर एवं न्यून आदि तथा इस प्रकार नश्वर भी होने लगेगा ।

५. पृथिवी भी शिवरूप है इसलिए उसके उल्लङ्घन, उस पर निष्ठीवन, मल-त्याग आदि करने से समस्त जीवलोक प्रायश्चित्त का भागी बनेगा ।

६. जहाँ यह नियम है कि ईश्वर के समीपस्थ होने पर किसी के ऊपर हाथ या काष्ठ आदि नहीं रखना चाहिए वहाँ पैर आदि रखने की बात तो बहुत दूर की है । वह तो स्वयं निषिद्ध है । इस प्रकार 'सर्वं शिवात्मकम्' ऐसा मानने पर संसार का व्यवहार ही रुक जायगा । इस प्रकार का सिद्धान्त मानने पर सांसारिक व्यवहार का निमित्त क्या होगा यह भी एक सोचने की बात हो जायगी ॥२१-२५॥

नानावादैः स्वसिद्धान्तैः साकमत्र विरोधिता ।
सर्वभावशिवत्वेन नास्तिता बन्धमोक्षयोः ॥२६॥
तदभावाद्देवगुरुशास्त्रोच्छेदो भवेत्तराम् ।
निरर्थकत्वं शास्त्रस्य करणे तन्निरूपणे ॥२७॥
सर्वेषामेव मुक्तत्वे स्थिते कस्योपदेश्यता ।
धर्माधर्मौ न सम्बद्धौ शिवस्य न तयोः कृतिः ॥२८॥
ततश्च शिवधर्मादेर्वेदादेरकृतार्थता ।
निमित्तासमवाय्यादिकारणेषु समानता ॥२९॥

सर्वशिवत्ववादे सर्वदर्शनैः स्वसिद्धान्तेन च सह विरोधः । तत्रैवमनिष्टत्वात् तेषामपि चान्यार्था (भावा) च्छैवत्वम् । स्वसिद्धान्तेऽपि च मायाप्रधानकर्मादेः पृथग्भूतस्य जगत्कारणत्वेनोक्तेः । सर्वेषां च भावानां शिवत्वाभ्युपगमे प्राणिनोऽपि सर्वशक्तित्वात् नित्यनिर्मुक्ता इति बन्धमोक्षाभावः । ततश्च हेयोपादेयादिविभागाभावात् देवगुरुशास्त्रलक्षणपुरुषार्थप्राप्त्युपायोच्छेदो लोकायताधिक्येन भवेत् । तस्य हि कदाचिद् दृष्टार्थे तदभ्युपगमः स्यात् । सर्वशिवत्वे तु कः कस्योपायः ? तथा

और भी विषमतायें आपतित होंगी––

७. सर्वशिवत्ववाद को स्वीकारने पर समस्त दर्शनों एवं शैवसिद्धान्त से भी विरोध होता है । क्योंकि कोई भी दर्शन इस सिद्धान्त को नहीं मानता । और स्वयं शैव दर्शन भी माया, अविद्या, कर्म आदि को, जो कि शिव से पृथक् हैं, जगत् का कारण मानता है ।

८. सभी भावों के शिवात्मक होने से समस्त प्राणी सर्वशक्तिमान् होंगे फिर वे नित्यमुक्त होंगे और इस प्रकार बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था समाप्त हो जायगी ।

९. इस व्यवस्था के न रहने से गुरु शास्त्र आदि, जो कि पुरुषार्थप्राप्ति के उपाय हैं, का भी उच्छेद हो जायगा । अर्थात् शास्त्रों का निर्माण एवं व्याख्यान गुरूपदेशश्रवण आदि निरर्थक हो जायेंगे, क्योंकि सभी मुक्त हैं, फिर किसको मुक्त होने के लिए शास्त्र का उपदेश होगा ?

१०. चूँकि आपका शिव कार्ममल से असंयुक्त है इसलिए धर्माधर्म का भी सम्बन्ध समाप्त हो जायगा और शिव धर्माधर्म के कर्त्ता नहीं रहेंगे । इस प्रकार शैव वैष्णव आदि कर्म तथा वेद आदि निष्प्रयोजन हो जायेंगे ।

११. समवायी-असमवायी तथा निमित्त कारणों का भेद, जो कि स्पष्ट परिलक्षित होता है तथा न्याय आदि शास्त्रों में वर्णित भी है, समाप्त हो जायगा क्योंकि शिव तो एक है और सब कुछ शिवात्मक हैं ॥२६–२९॥

पृथिव्यादिकल्पनया कल्पनावान् शिवो भवेत् ।
शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्तीतुल्यता तदा ॥३०॥
इच्छावत्कार्यनिष्पत्त्या पुनरिच्छान्तरोद्गमे ।
शिवस्य हेतुर्वक्तव्यो यदर्थं सा नवोद्गता ॥३१॥
विश्वस्यासत्यरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित् ।
शिवोक्तैस्तैर्विरोधः स्यात् सर्वसत्यत्ववादिनः ॥३२॥

च शास्त्रस्य करणे निरूपणे व्याख्याने श्रवणे च निरर्थकत्वम् । सर्वेषामेव शिवत्वेन मुक्तत्वात् कस्य शास्त्रस्योपदिश्यमानता ? धर्मार्थमपि शास्त्रमयुक्तम्, शिवस्य कार्ममलाभावात् न धर्माधर्मौ समवेतौ; न तु तयोः शिवे करणम्, मिथ्याज्ञानरागादिकारणत्वात् प्रवृत्तीनाम् । एवं च शिवधर्मादीनां वेदस्य च धर्मार्थत्वाभावादकृतप्रयोजनता । तथा समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेषु शिवत्वेन विशेषः शास्त्रान्तरोक्तः परिदृश्यमानश्च न स्यात् ॥२९॥

कि च पृथिव्यादिरूपतयाऽऽत्मानं परिकल्प्य तथाऽऽस्त इति मते कल्पनावान् शिवभट्टारकः प्राप्नोति । निर्विकल्पश्च स इष्यते, विकल्पानां भिन्नवस्तुशून्यत्वेनाविद्यारूपत्वात् । अथ न सविकल्पं शिवतत्त्वम्, अपि तु सानुभवम्, अनुभवो हि नायथार्थो भवति, एवंरूपे तस्मिन् किमसावनुभवति ? किमात्मानम् ? उत परात्मानमपि ? किमननुभूतम् ? उतानुभूतम् ? अनुभाव्यानुभावकयोश्च भेद एव, इत्येवमादिपश्यन्तीविषयोक्तदूषणावसरस्तदा विशिष्टेच्छावशाच्चाभीष्टे यज्जगल्लक्षणकार्यसम्पत्त्या हेतुभूतया इच्छाकारणविरतौ पुनः स्थितिप्रलयादौ पटादिविज्ञाने वा इच्छान्तरोद्गमे को हेतुः ? कः प्रयोजकः ?–यत्प्रेरितस्य शिवस्य पूर्वस्वभावनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्तरोदये चेच्छा नवनवा प्रवर्तते । सर्ववस्तूनां च शिवैकरूपत्वे सत्यत्वं

आपका यह भी सिद्धान्त है कि शिव अपने को ही पृथिवी आदि के रूप में परिकल्पित करता है यह मानने पर शिव तो कल्पनावान् हो जायगा तथा उसके कल्पनावान् होने पर वह पश्यन्ती के समान हो जायगा फलतः पश्यन्ती के समस्त दोष शिव में आजायेंगे ॥३०॥

इसके अतिरिक्त एक बार इच्छानुकूल जगत्‌रूप कार्य के पूर्ण हो जाने पर पुनः संसार की सिसृक्षा, जो शिव के अन्दर होती है, का कारण क्या होगा जिस कारण शिव के अन्दर नवीन इच्छायें उत्पन्न हुआ करती है ? एक दोष यह भी है कि समस्त जगत् के शिवात्मक होने पर चूँकि शिव सत्यस्वरूप है इसलिए तदात्मक विश्व भी सत्य होगा फिर पारमेश्वर शास्त्र जो विश्व को मायेन्द्रजाल के समान असत्य समझते और कहते हैं, उनके वचन के साथ विरोध हो जायगा ॥३१-३२॥

इत्याक्षेपरक्षणार्थमत्र प्रतिविधीयते ।
चिदात्मनो हि स्थूलस्य सूक्ष्मस्याथ विकारिता ॥३३॥
क्षीरमायाप्रकृतिवत्तस्य चेच्छैव यादृशी ।
परस्य तादृगात्मत्वमुत्पद्येतात्र योगिवत् ॥३४॥

स्यात्; एवं च मायेन्द्रजालोपमत्वं जगतः पारमेश्वरैरेव शास्त्रैर्यद् वर्ण्यते तद्विरुद्धं स्यात् ॥३२॥

अत्राह—इत्याक्षेपेत्यादि । ईदृशात् परकृतान्महाक्षेपात् स्वदर्शनस्य रक्षणार्थं अस्य वा आक्षेपस्य **रक्षणार्थम्** = निवारणार्थम्, **अत्र** = आक्षेपे सति स्वदर्शनेऽत्र वा समर्थनं क्रियते । **चिदात्मनः** स्थूलत्वे क्षीरस्येव दधिनिष्पत्तौ जगन्निर्माणे **विकारिता** स्यात् । सूक्ष्मत्वेऽपि वा मायाप्रकृतिवत् । तत् तयो रव यावता न स्थूलो नापि सूक्ष्मः परमेश्वरश्चिदात्मा, अपि तु ततः परम्, सर्वतोऽपि जडस्यैव हि स्थौल्यादिपरिणाम-योगो न चिन्मयस्य, तस्य तु परस्य यादृगात्मत्वमभीष्टं तथाऽवस्थानमेवोत्पत्तिर्यो-गिनामिव ॥३४॥

इत्याक्षेपरक्षणार्थमित्युक्तम् । तत्र यत्तावदुक्तमादौ तावदित्यादिनैष एव प्रथमतो महान् दोष इति तत्रैव जडतासावयवत्वपराधीनत्वादीनामन्तर्भावात्तदेव तावन्निर्दलयितुमधिकरणसिद्धान्तनयेन तस्मिन् महादोषे विगतशक्तिके सति तदुपरिवर्त्तिनोऽन्ये स्वयमेवोपशाम्यन्तीत्याह—**तदात्मनो** हीत्यादि । हिशब्दः तदिति सर्वनाम्ना प्रसिद्धताद्योतकेन विश्वात्मतायामप्रच्युतप्राच्यस्वरूपत्वं ध्वनितम् । परकृताक्षेपे समर्थनतां द्योतयति । **अथ** = पक्षान्तरे । अयं भावः—यावत इति स्थूले सूक्ष्मे वा कारणे परिणामादियोगो यत्र सम्भवति तत्र कार्यापत्तौ परिणामादा-वपि विकारिताऽवश्यं सम्भवत्येव क्षीरस्य स्थूलत्वाद्दधिरूपेण परिणामेऽपि विकारिता, मायाप्रकृत्यादेश्च सूक्ष्मस्य जडस्य त्रिगुणात्मकस्य कार्यतापत्तावपि तादृशमेव रूपम्, तदेतत्सिद्धम्, यादृशं कारणं तादृशमेव कार्यम्, कारणरूपताऽऽपत्ति-रेव कार्ये न तु कार्येण कारणमनुगच्छतीति ॥३३॥

स्थूलत्वे = पक्षे सति । सूक्ष्मत्वेऽपीति–यथा सूक्ष्मा कारणभूता माया जडा तत्कार्यमपि तादृशमेव, यथा सूक्ष्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिस्तत्कार्यमपि त्रिगुणात्मक-

पूर्व पक्षी द्वारा इस प्रकार के आक्षेप प्रस्तुत होने पर उसका उत्तर दिया जाता है—

चिदात्मा को यदि स्थूल माने तो क्षीर से दधि के समान उसका विकार भी स्थूल होगा और यदि सूक्ष्म माने तो वेदान्तियों की माया या सांख्यमतानुयायियों

इच्छया सर्वभावत्वमनेकात्मत्वमेव च।
नात्र स्वात्मविकारेण जनयेद् भावमण्डलम् ॥३५॥
तदिच्छासामनन्तर्ये तथा भूतात्मता यतः।
यथा न योगिनोऽस्तीह नानासैन्यशरीरकैः ॥३६॥

तदेवाह—इच्छयेति। उभयोरप्यत्र निर्देशः। यथा योगिनां सर्वभावत्वमिच्छयाऽनेकात्मत्वं वा भवतीति इष्टं तथा परमेश्वरस्यापि मन्तव्यम्। न ह्यसौ योगी स्वात्मनो मृत्पिण्डस्येव शिबिकस्तूपकादिरूपविकारपरिणामक्रमेण कुम्भकार इव घटमिव भावमण्डलं जनयति, अपि तु यस्य यादृशीच्छा तत्समनन्तरमेवेष्टकार्यात्माभिलाषात्मतया स्थितिः, तथा चिदात्मनोऽपि ॥३५१/२॥

पुनराह—यथा नेति। यथा न योगिनो नानासैन्यशरीरकैः गजरथतुरगपदातिरूपैरवस्थितस्यात्मविभागः, तथा परमेश्वरस्य मध्योत्कृष्टनिकृष्टकैः = देवमनुष्यतिर्य-

---

मवयवविकारापन्नं चेत्यर्थः। तयोः = तत्कार्यविकारयोः। ननु यदि तस्य न परिणामादियोगः तत् किमत्र तदनुगतता नाम येनोक्तं **शिवात्मकमिदं सर्वमिति**? तदेतदाशङ्क्याह—तस्य त्विति। अयं भावः—न जडतादिकमत्र शिवत्वम्, तस्य तस्येच्छामात्ररूपत्वात्। शिवात्मकत्वं च तादृगवस्थानात्मकत्वादुत्पत्तेः। **तथेति**—न तु तदेव तथेति वक्तुं शक्यमित्यर्थः ॥३४॥

इच्छयेति—इच्छया च निर्माणं स्वप्नसंकल्पादौ दृष्टमेव; घटादेः प्रसिद्धकारणपरम्परापराकरणेन तदत्रासत्यं घटादीति चेत्? अस्तु तावदेतत्, तथापि योगी पुरसेनादिनिर्माणमिच्छावशादेव करोतीति सिद्धमेतत्। तत्र हि तदिच्छया झटिति संघटिताः परमाणव उपादानमित्युच्यमाने यदि प्रसिद्धो घटसम्पादकः समस्तकर्मशिल्पधर्माधर्मदण्डादिसहकारिसहितः स्वोपादानोचितः कपालादिकारणकलापोऽभ्युपेयते तत्कुलालविशेष एवायं योगीत्यायातम्; तृणमात्रेणापि तु प्रसिद्धयुल्लंघने स्वप्नसंकल्पकामशोकादिविषयपरिदृष्टभावाभासनिर्माणसामर्थ्यं संविद एवेति ॥३५॥

की प्रकृति की भाँति समस्त विकार जड होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। यह जगत् जडचेतनमय है। अतः चिदात्मा पर अर्थात् शिव, जो कि इस जगत् का कारण है, योगीजन के समान जब जैसी आवश्यकता होती है तब वैसा ही स्थूल या सूक्ष्म हो जाता है ॥३३-३४॥

जिसप्रकार योगी, उसीप्रकार परमशिव भी इच्छामात्र से समस्त भावजगत् एवं अनेक पशुरूप जीव के रूप में उल्लसित होता है। यह भावविकारमय जगत् उसका दुग्धदधिवत् विकार नहीं है। क्योंकि यह उसकी इच्छामात्र है जिसके बाद इष्टकार्यरूप जगत् प्रकट हो जाता है ॥३५-३६१/२॥

विभागस्तद्वदीशस्य मध्योत्कृषनिकृष्टकैः ।
भावैर्नास्ति विभेदित्वमथवाऽम्बुधिकीचिवत् ॥३७॥
तत्र कीचित्वमापन्नं न जलं जलमुक्यते ।
न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता ॥३८॥
निश्चलत्वेऽपि हि जलं विचित्वे जलमेवतत् ।
वीचिभिस्तद् विशिष्टं चेत्तन्नैश्चल्यविशिष्टकम् ॥३९॥
अत एव परेच्छातो न जडत्वमवस्थितम् ।
पृथिव्यादितत्त्वगणे जडत्वं चेत् प्रतीयते ॥४०॥

गादिरूपैः अविभेदः; सर्वशक्तिबोधमात्ररूपस्यैकत्वनियमात् । अथवाऽत्यन्तप्रसिद्धोऽयं दृष्टान्तः । यथाऽम्बुधेस्तरङ्गाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च । तत्र हि व्यवहारे वीचिता प्राप्तं जलं न जलमित्युच्यते, न च तत्र वीचिरूपे जलता विनष्टा । तथा हि निश्चलत्वे चलवीचित्वे च जलमेव, जलविशेषत्वाद् वीचेः । अथ जलं तद्वीचित्वविशिष्टं न जलमात्रम् ? तदेतदस्तु, वीचिताविशिष्टत्वेऽपि न क्षतिर्जलस्य; तादवस्थ्यात् । वीचिविशिष्टत्वे जलत्वाभावे (वो) निश्चलत्वविशिष्टेऽपि जलता न स्यात् एवं भावरूपत्वेऽपि शिवता स्थितैव ॥३६-३९॥

अत एव योगिन इव परमेश्वरस्येच्छावशादेव तथाऽवस्थाने **पृथिव्या-**

उभयोः = चिदात्मयोगिनोः । इष्टमिति–स्वप्नसंकल्पादाविष्टं मा भूत् ॥ ननु भवतु चेच्छया सर्वकार्यकारित्वं योगिन इव, तथा पुनः स्थित्यवस्थायां स्फुटमेव विलक्षणरूपत्वात् एषां काऽत्र व्यवस्था तदेकरूपत्वे ?–इत्यत आह—**यथा** नेत्यादि ॥

जिसप्रकार योगी अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा हाथी घोड़ा रथ पदाति के समूहरूप सेना को प्रकट करता है और उस सेना का उस योगी से भेद नहीं रहता उसीप्रकार परमशिव का भी उत्कृष्ट अर्थात् देव, मध्य अर्थात् मनुष्य और निकृष्ट अर्थात् तिर्यक् योनिसमूह रूप भावजगत् से कोई भेद नहीं है । अथवा समुद्र और उसकी लहरों के समान अभेद समझना चाहिए । जैसे जल जब लहर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तब उसे जल नहीं कहते बल्कि लहर कहते हैं, किन्तु लहर की स्थिति में भी जल नष्ट तो नहीं होता । वह निश्चल रहने पर तो जल रहता ही है लहररूप में भी वह जल ही है । यदि लहर से उसका भेद है तो वश निश्चलता रूप विशिष्टता के कारण । उसी प्रकार वीचिरूप भावजगत् के प्रकट होने पर भी परमशिव की सत्ता जल के समान अक्षुण्ण है ॥३६½-३९॥

इसलिए परमेश्वर की इच्छा के कारण ही भावजगत् के प्रादुर्भूत होने के कारण यह पृथिव्यादि भावमय जगत् जड़ जैसा कि सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक

न यथा जडता क्वापि तथाऽग्रे सुविचारितैः ।
वर्णयिष्याम एवात्र न च सावयवः क्वचित् ॥४१॥
कश्चिदस्तीह वक्ष्याम एतदप्यग्रतः स्फुटम् ।
स्वेच्छातो भावरूपत्वे पराधीना कुतः स्थितिः ॥४२॥
क्षीरवद्यदि वोच्येत पराधीनं जडं भवेत् ।
एतयैव दिशा शोध्यं शुद्धन्यूनादिदूषणम् ॥४३॥

दितत्त्वगणे जडता नास्ति, इच्छाविशेषरूपत्वात्; न तु प्रधानादिजडोपादानताऽस्य । अथ तत्रेदन्तानिर्देश्यतारूपा जडता प्रतीयते ? तन्न; यथा न क्वचिदिदन्तानिर्देश्यत्वेऽपि तत्त्वतो जडता तथोत्तरत्र सुष्ठु विचारणाभिर्वक्ष्यामः । सर्वात्मत्वे शिवतत्त्वस्य सावयवप्रसङ्गदूषणमपि अग्रे निराकरिष्यामो यथा न कश्चित् कस्यामप्यवस्थायां सावयवः स्यात् । स्वयं शिवात्मताऽवस्थाने स्वयं विश्वात्मतयाऽवस्थाने च किमपेक्षया भोग्यता यथा सावयवत्वं स्यात् ? ॥४०-४१½॥

स्वेच्छावशाद् विश्वभावरूपस्य पराधीना न स्थितिः, अपि तु स्वेच्छायत्तैव । विश्वरूपता क्षीरायत्ता दधिरूपतेव कारणपरिणामसापेक्षा यदि कथ्येत पराधीनो

ननु माऽस्तु योगिनः सैन्यशरीरकाणां भेद इत्यत्र यथा परमेश्वरस्यापि भेदव्यवहारश्च स्फुटमवभासमानस्तस्मात्तेषां चान्योऽन्यं कथमपह्नूयते ?—इति कुतर्कमोहान्ध्यविलुप्तविज्ञानदृष्टीन् प्रति स्फुटताप्रतीत्यै पुनरन्यदृष्टान्तेन द्रढयति—**अथवेति । न यथेति**—न शब्दोऽत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन योज्यः ॥४१॥

ननु चास्तु सर्वत्र तस्यैव व्यवस्थितत्वादैक्यम्, अस्तु च व्यवहाराय संज्ञाकरणमात्रम्, तथापि यदुपरोधात् संज्ञाकरणमात्रमायाति सोऽपि कश्चिद् यद्यपि आभास-

---

आदि का सिद्धान्त है ।) नहीं है । यदि यह कहिए कि आत्मतत्त्व के अवबोधरूप अहंप्रतीति होने के कारण वे भावतत्त्व जड हैं तो आगे चलकर हम अच्छीप्रकार विचार करते हुए बतलायेंगे कि कैसे इनकी जडता नहीं है । इसके अतिरिक्त हम यह भी आगे स्पष्ट करेंगे कि किसी भी प्रदेश में कोई भी तत्त्व सावयव (जैसा कि नास्तिकदर्शनों का मत है) नहीं है ॥४०-४१½॥

जब परमशिव स्वेच्छा से भावजगत् के रूप में उल्लसित हुआ है तो इस जगत् की स्थिति पराधीन कैसे ? जैसे दही का बनना दूध के अधीन होता है वैसे यदि विश्व उस कारणरूप शिव का परिणाम होता तो पराधीन विश्वात्मा जड होता, किन्तु ऐसा है नहीं । अतः विश्व के जड होने का प्रश्न ही नहीं है । उसी प्रकार इस जगत् के ऊपर लादे गये शुद्धाशुद्धत्व उपचयापचयत्व आदि दोषों का निराकरण भी समझना चाहिए ॥४२-४३॥

अभग्नैऽक्यस्वरूपत्वे शुद्धन्यूनादिकं कुतः ।
पतद्ग्रहादिके हेम्नि हेयत्वं मुकुटादिके ॥४४॥
स्थितमेव च हेम्नोऽस्य काचिदस्ति विभेदिता ।
चण्डालसद्मगो वह्निर्न वह्निरिति कथ्यते ॥४५॥
तदेवं स्यादथोच्येत वह्नेः संस्कारचोदना ।
शास्त्रेषु वर्णिता कस्मात् कार्यार्थं कार्यमेव तत् ॥४६॥
न स्वरूपविभागोऽत्र स्वरूपे तत्स्वरूपता ।
परापरादिभेदोऽत्र तद्व्यवहाराय कल्पितम् ॥४७॥

विश्वात्मा तदा जडः स्यात्, चिद्रूपस्यापेक्षाऽनुपपत्तेः; यावता विश्वरूपत्वे चिद्रूपतैव । अनयैव चिद्रूपताहानिदिशा शुद्धाशुद्धत्वोपचयापचयवत्त्वादिदोषः परिहार्यः । स्वं रूपं यस्य स स्वरूपः तस्य भावे = चिद्रूपत्वे तदवस्थे शुद्धन्यूनादिदोषाभावात् । मुकुट-पतद्ग्रहयोः सुवर्णसाम्येन सुवर्णत्वम् । तथा हि चण्डालगृहस्थोऽग्निः यदि नाग्निः स्यात्तदेतदपि स्यात् । अथ वह्नेर्यद्यशुद्धता न स्यात्तत्स्य कुतो मन्त्रैः संस्कारयोगः कार्यसम्पादनार्थं शास्त्रे चोद्यते ? तस्मात् तस्याशुद्धता सम्भवेत् ? नैवम्; कार्यमेव =

मानत्वात्तन्मयमेव तथापि नाममात्रभेदोऽस्त्येव ?—इत्यत आह—व्यवहार इत्यादि । अत्राविद्या नो इति पर्युदासाश्रयणेन न निषेधे तात्पर्यम्, किन्तु स्वयं व्यवहारात्मका-विद्यालक्षणं न भवतीत्यर्थः । तदाह—तथात्वेनेति ।

ननु चास्तु संसारव्यवहारः, तदात्मकत्वादपृथग्भूतं व्यवहारार्थं पृथग्भूतं कल्पितं विपर्यस्तैरिति च यद्यप्यस्ति तथापि तदर्थं शास्त्रनियमेनालम्, कृतश्च संसारव्यवहारं

जब परमशिव का स्वरूप खण्डित हुआ ही नहीं तो शुद्धता न्यूनता आदि दोष कहां से आ जायेंगे । जैसे जिस सुवर्ण में ग्रह अर्थात् भूत-प्रेत का वास हो गया है वह, तथा मुकुट में वर्त्तमान सुवर्ण, दोनों में सुवर्णत्व तो समान है उसमें कोई भेद नहीं है । उसी प्रकार यदि चण्डाल के घर में रहने वाली अग्नि को अग्नि न कहा जाय तो भावमय जगत् को जड कहा जा सकता है । यदि यह कहिए कि यदि चण्डाल के घर में रहने वाली अग्नि शुद्ध है तो शास्त्रों में अग्नि के संस्कार का जो वर्णन हुआ है वह व्यर्थ है अर्थात् इस प्रकार सभी शास्त्र व्यर्थ हैं ? तो उसका उत्तर यह है कि यह शास्त्रीयविधान व्यवहार के निर्वाह के लिए है । इससे अग्नि के स्वरूप का विभाग या भेद सिद्ध नहीं होता । जिस प्रकार यहाँ सारूप्य है उसी प्रकार समस्त जगत् और परमशिव का भी सारूप्य है । संसार में व्यवहार चलाने के लिए पर-अपर आदि भेद तथा नाम-रूप आदि भेद की कल्पना की गयी है ॥४४-४७॥

व्यवहारोऽप्यविद्या नो तथात्वेनेश्वरस्थितेः ।
तेनैव वा तथा क्लृप्तस्तथा तदनुवर्त्तनम् ॥४८॥
न तत्स्वरूपभेदाय शास्त्रं यद् व्यवहारगम् ।
हेमपिण्डे हेमतैव स्याच्चेन्न मुकुटादिके ॥४९॥

अनुष्ठेयमेव तद् व्यवहाराय, न तु स्वरूपे वह्नेर्विभागः, **स्वरूपे** = निजरूपे स्थिते तु वह्नौ उपगम्यमाने, **तत्स्वरूपता** = वह्निरूपता एव सर्वत्र, तद्वत् शिवरूपता जगतस्तस्य, तथेश्वरस्य तन्मात्रपृथिव्यादिरूपतया व्यवस्थानात् परस्थूलसूक्ष्मतादिभेदः । तथा च सर्वत्रैक्ये संसारव्यवहाराय संज्ञामात्रं तत् कल्पितं भवति ॥४२-४७॥

संसारव्यवहारोऽप्यविद्या नाम न पदार्थान्तरं भवति, ईश्वरस्यैव तथात्वेन लोकयात्रात्मतया तथाऽवस्थानात् । शास्त्रमपि वा व्यवहारगामि संस्कारोपदेशकं न शिवतत्त्वभेदाय; तेनैवेश्वरेण तथाऽग्निसंस्कारादिः कल्पितः, तथा च तस्यानुवर्त्तनं कल्पितम् । ततस्तदिच्छात्मकमेतद्रूपमेव नाशुद्धिभेदं वा शिवतत्त्वस्योपस्थापयति । भेदश्च जगद्रूपत्वे युज्येत वक्तुम्, यदि **हेमपिण्ड एव हेमता स्यात् न तु मुकुटादौ ।**

सत्यमितिगमयति ?-इत्याशंक्याह—**शास्त्रमिति** । अयं भावः-यावद्धि व्यवहारः सत्यभूतस्तावत्तदर्थं शास्त्रमपि सत्यमेव; तन्निरासे तस्यापि न नियम इत्यर्थः । ननु च किमिदमुच्यते-"**तथात्वेनेश्वरस्थितेः**" इति । यदि च तथात्वमेव तर्हि न व्यवहारव्यपदेशोऽपि, व्यवहारव्यपदेशे च न तथात्वव्यपदेश इति पक्षान्तरं समर्थयति-**तेनैवेश्वरेणे**ति । इदं हि स्वातन्त्र्यवादमाश्रित्य समर्थितम् । स्वातन्त्र्याद्यथा संस्कारादि कल्पितं न परमार्थसत्, तथा तदनुवर्त्तनमपीति पूर्वस्मात् पक्षादाधिक्यमत्र सूक्ष्मधियामेवावगन्तव्यम् । **तदिच्छात्मकमेतद्रूपमेवेति**—पक्षद्वयप्रधानमभेदमेकमेव वस्त्विति मन्तव्यम् ॥४८॥

ननु चास्तु यत्राहंपरामर्शो "**गोःस्तनात् पाततः क्षीरे**" इत्यादिनीत्याऽनवच्छिन्न एव तत्राभेदे शिवाद्वयत्वम्, यत्र तु स्फुटमिदन्तानिर्देशे सावयवत्वादिविकारवत्त्वं तत्र कथम् ?-इत्याशङ्काशान्त्यर्थमाह—**हेमपिण्डे** इत्यादि । ननु च यदि सर्वं भावमण्डलं तदात्मकमेव यच्छिवतत्त्वस्यानित्यकार्यापेक्षया नित्यत्वं तत्कथं तथा तन्मयत्वे

प्रश्न होता है कि क्या यह व्यवहारजगत् अविद्या का परिणाम है जैसा कि वेदान्त का मत है ? उत्तर में कहते हैं कि यह जगद्व्यवहार अविद्या नामक कोई दूसरा तत्त्व नहीं है बल्कि ईश्वर ही लोकयात्रा के लिए इसी रूप में स्थित है । अथवा उसी ने स्वयं वैसी व्यवस्था बनाई है और बनाकर स्वयं उसका अनुवर्त्तन कर रहा है । इसलिये व्यवहारजगत् को चलाने के लिए बने हुए शास्त्र भी उसके स्वरूप के भेद के विषय में प्रमाण नहीं हैं ॥४८-४९½॥

युज्यते वक्तुमेतत्तदनित्यत्वं च यत्स्मृतम् ।
संस्कृतौ तद्विनिर्णेयं या चोल्लंघनचोदना ॥५०॥
नियमानुप्रवेशाय शिवे चोल्लंघनेन किम् ।

एवकारो हेमपिण्डस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । यच्च भावानां नाशित्वात्तदात्मनः शिवतत्त्वस्य नाशित्वं चोद्यत्वेन स्मृतम्, तत् सत्कार्यवादसमर्थनान्निर्णेष्यते । यच्च पादलङ्घन-निष्ठीवनादि सर्वत्रात्मनि शिवे परिहार्यत्वेन चोदितं तत्तदात्मकनियतिशक्तिकृत-नियमरूपधर्मानुप्रवेशफलसंसारव्यवहारसम्पादनाय । वस्तुतश्च शिवतत्त्वे ते**नोल्लंघनेन किं** दुष्यति ? न किंचिदित्यर्थः ॥४८-५०½॥

जननपरिणामादिरूपतां विनैव एवमवस्थानमात्रलक्षणजगत्स्थितिप्रवर्त्तने तस्य न

तस्याप्यनित्यता ?–इत्यत आह—**तदनित्यत्वमिति** । **हेमपिण्डे** = अवयवविकारम-प्राप्ते । **मुकुटादौ** = अवयवविकारमापन्ने । **सत्कार्यवादे**ति–अयंभावः—यदि कार्य-मुत्पत्त्यनन्तरमेव सत् स्यात् पूर्वं चासत्, तर्हि चासत्कार्यत्वात्तस्यासत्त्वे शिवतत्त्वस्य विनाशित्वं प्रसज्येत । पूर्वं च तत्सदेवेति कस्य विनाशित्वम् ? **तदेतदीश्वरप्रत्य-भिज्ञायामुक्तम्**—

"चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥" इति ॥

शिवतत्त्व इति—शिवतत्त्वे हि धर्माधर्मयोरभाव एव, तच्च लङ्घनादिकमधर्माय ततो न कर्त्तव्यम्, अधर्मोत्पत्तिर्हि तथा स्यात् । धर्माधर्मसंसारव्यवहाराभावे यथाऽलङ्घनेन न धर्मेण तस्योपयोगस्तथा लङ्घनेनाधर्मेणापि ॥५०॥

"**तथैवं संप्रवृत्तौ तु निमित्तकलनापतेत्** ।" इति–तत् समर्थयति—**एवमिति** ।

प्रश्न है कि संसार तो अनित्य दिखाई देता है और शिव नित्य माना गया है फिर दोनों में अभेद कैसे ? उत्तर है कि यदि सुवर्णत्व केवल सुवर्ण में ही रहता मुकुट आदि में नहीं, तो प्रश्न ठीक था । और संसार को शिवमय मानने पर संसार के नष्ट होने पर शिव भी अनित्य होने के कारण नष्ट हो जायगा यह कहना सांख्यदर्शन के सत्कार्यवादी को ही शोभा देता है । तथा 'प्राणियों को नहीं लाँघना चाहिये,' 'नदीतट इत्यादि पर मलमूत्र त्याग आदि नहीं करना चाहिए'–इत्यादि शास्त्रीय वचन तो धर्माधर्मफलरूप संसार के व्यवहारसम्पादन के लिए हैं । परमार्थतः तो शिव ही शिव के द्वारा शिव का उल्लंघन आदि करता है । इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥४९½-५०½॥

नवीन उत्पत्ति अथवा परिणति न होकर जब शिव ही इस संसार के रूप में उल्लसित है तब किसी कारण की कल्पना असंगत प्रतीत होती है क्योंकि कारण

एवं प्रवर्त्तने तस्य न निमित्तसमुद्गमः ॥५१॥
यदि स्वरूपविभ्रंशाच्छाक्तरूपादिकल्पना ।
तद्वक्तव्यं निमित्तत्वं किमर्थं रूपमुज्झति ॥५२॥
यावता सर्वरूपाणां तत्स्वरूपस्वरूपिता ।
शक्तित्रयस्वरूपत्वं सर्वं यस्यास्त्यवस्थितम् ॥५३॥
निमित्तं कल्प्यते तत्र निमित्तं तत्र कल्प्यताम् ।
अतथात्वे तथाभावो यत्र स्यादथ चोद्यते ॥५४॥

निमित्तं चोद्यम्, अपूर्वकार्याभावात् । यदि हि शान्तरूपस्य शाक्तादिरूपान्तरग्रहणं शिवतत्त्वत्यागे स्यात् तत्कस्यचिदर्थस्यात्र निमित्तं वक्तव्यम्, प्रष्टव्यं च 'किमर्थमयं रूपमुज्झति' ?–इति यावता शान्तिरूपतायां शिवे जगद्रूपतयाऽपि च शिवस्वरूपेणैव स्वरूपवत्त्वम् ॥५१-५२½॥

इच्छादिशक्तित्रयमयचिदात्मकत्वं सर्वस्यामवस्थितौ यस्यावस्थितमस्ति तत्र **निमित्तं कल्प्यते** ? काक्वा योज्यते–किं कल्प्येत ? नैव कल्पनीयमित्यर्थ । **तत्र हि कल्प्यतां निमित्तं** यत्रातद्रूपत्वे तद्रूपतोद्भवः । अथैवं चोद्यते—पूर्वं शान्तरूपत्व-

---

अयं भावः—प्रवृत्तिकारी हि तदा प्रवृत्तिं करोति यदि स्वस्मात् किंचिदाधिक्य-मनुभवति, यदि च स्वयमेव स तथाभूतः, केन निमित्तेन प्रवृत्तिं करोतीति ? **निमित्तमिति**—स्थितिप्रवर्त्तनेऽपि यतस्तस्यैवमवस्थानमेव न जननपरिणामादिविकारः ततो न निमित्तकलना काऽपि, यदि ह्याधिक्यं स्यात्तर्हि निमित्तकलनापि स्यात् । **शक्तित्रयस्वरूपत्वम्**—इच्छादिसामरस्यात्मकम् । **निमित्तमिति**—भ्रूक्षेपपूर्वाभाषणेन योज्यम् ॥५४॥

की आवश्यकता तब होती है जब कहीं न्यूनाधिक्य होता है । यदि शिवतत्त्व अपने शान्तस्वरूप को छोड़कर शक्ति आदि रूप को धारण करते तब एतदर्थ कारण की कल्पना करनी पड़ती । किन्तु शिव अपने स्वरूप को क्यों छोड़ेंगे जब कि समस्त भावमय जगत् शिवरूप में ही भासमान है ॥५०½-५१½॥

स्वरूपता अथवा जगद्रूपता सभी अवस्था में जिसकी इच्छा ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियाँ शाश्वत वर्त्तमान रहती हैं उसके लिये आप निमित्त की कल्पना कर रहें है ? आश्चर्य है ! अरे भाई निमित्त की कल्पना वहाँ होती है जहाँ कोई चीज पहले स्वरूपतः स्थित न हो और बाद में किसी स्वरूप में उत्पन्न हो जाय । यदि यह कहिए कि पहले तो शिव शान्तस्वरूप में थे जगत्स्वरूप में नहीं, बाद में वे जगत्स्वरूप में उत्पन्न होते हैं अतः वहाँ निमित्त मानना पड़ेगा ? तो ऐसी बात नहीं है । शिव की शान्तावस्था में भी शिवत्व रहता है और स्थूलजगत् के

पुरा शान्तस्वरूपत्वं पश्चात्तादृगवस्थितिः ।
शान्ते शिवत्वं स्थूलेऽपि शिवत्वं यत्र वर्णितम् ॥५५॥
तत्र का शान्तता ब्रूहि शान्तेः किं वस्तुता न ते ।
वस्तुता चेत्तथाभूतशक्तित्रितयसंगमः ॥५६॥
अङ्गाररूपे किं वह्नौ वह्निता न क्रियात्मके ।
ज्वालादिकेऽथ साऽवस्था निष्क्रियाज्ञानरूपिणी ॥५७॥

मजगद्रूपत्वं पश्चाज्जगद्रूपतेत्यपूर्वताया निमित्तं वाच्यमिति ? तन्न; यत्राभ्युपगमे शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि जगद्रूपत्वे शिवत्वमेव वर्णितम्, **तत्र शान्तता** = शिवरूपता का स्यात् ? **ब्रूहि** तत् । शान्तमपि हि तव वस्तु वस्तु च सत्तामयम्, सत्ता = भवत्ता = भवनकर्तृता; स्वातन्त्र्यात्मकं च कर्तृत्वं चिद्रूपस्येच्छादिशक्तिमत इति सर्वं वस्तु शिवः ॥५३-५६॥

अङ्गाररूप एव **वह्नौ किं वह्निता न** तु ज्वलनसंतपनादिक्रियाऽऽविष्टे । अथ तत्र वह्नि एवं शिवोऽपि तद्भावभेदाविष्टोऽपि शिव एव । क्रियाऽवस्थामुखेनैतत् कथितम् । अथ सक्रिये शक्तिसंभवात् शिवताऽस्तु, शान्तता तु **निष्क्रिया** ज्ञेयज्ञानरहिता कार्याकरणात् चिकीर्षालिक्षणेच्छाशून्या च, तेन न शिवः, नैव शक्यते वक्तु

शान्ते इति—अजगद्रूपे, शिवत्वं पञ्चशक्तिसामरस्यात्मकमभेदतत्त्वम् । **स्थूले** = जगद्रूपे । **सर्वस्याम्** = जगद्रूपस्पन्दक्षोभेऽपि ॥५६॥

अङ्गाररूपे इति—यथा ज्वलनसन्तापादिवत्त्वमेव वह्नित्वं तदभावे न वह्नित्वमिति स्थितं तथा भावशक्तिमत्त्वमेव शिवत्वं न तदभाववत्वमित्यर्थः ॥ अन्ये शक्तिमत्त्वे सक्रियत्वे शिवत्वं यतोऽस्ति ततश्च ततोऽन्या सूक्ष्माऽविकल्पा दशाऽवश्यं गवेषणीया । अन्यथा हि ज्ञानज्ञेयसहितत्वाद् विकल्प्यमेव परतत्त्वमपि स्यात् इत्यतस्तत्र शिवत्वमपि

रूप में उनके उल्लसित होने पर भी शिवत्व वर्तमान रहता है । अब आप बताइये कि शान्तता क्या है ? क्या शान्तता अवस्था में शिवतत्त्व नहीं है ? अवश्य है । और यदि शिवतत्त्वरूप वस्तु को आप शान्तावस्था में स्वीकार करते हैं तो वहाँ सत्ता या भवत्ता या भवनकर्तृता माननी पड़ेगी । और जब वह कर्त्ता है तो उसे इच्छा ज्ञान क्रिया रूप शक्तिमय अवश्य मानना पड़ेगा ॥५२½-५६॥

क्या अङ्गाररूप अग्नि में अग्नित्व है और जब वह अग्नि ज्वलनक्रियाशील हो जाती है तब उसमें अग्नित्व नहीं रहता ? इसी प्रकार शिव भी उल्लासरूप भेद से युक्त होने पर भी शिव ही है । यदि यह कहिये कि शिव की शान्तावस्था निष्क्रिय ज्ञानरूप है वहाँ इच्छा नहीं है इसलिए शक्तिरहित होने से वह शिव नहीं है बल्कि शव है ? तो ऐसा कहना अनुचित है । क्योंकि उस शान्त निष्क्रिय अवस्था

निरिच्छा न च शक्येत वक्तुमेवं कदाचन।
अस्ति स्थितोऽसावेतस्यामवस्थायां शिवो यदि ॥५८॥
नैषा क्रिया भवति किं निरिच्छे किं क्रिया भवेत् ।
निर्ज्ञाने वा ततो ज्ञेयं नाशक्तिः काचन स्थितिः ॥५९॥
अथ चित्रत्वमत्रास्ति भावपुञ्जे न तच्छिवे।
शिवस्य तत्स्वरूपत्वं वैचित्र्यं यत् परस्परम् ॥६०॥
अपेक्ष्य भाववैचित्र्यं तस्य तेभ्यो विचित्रता।
सर्वं शिवात्मकं यद्वत् कथनीयमिहाग्रतः ॥६१॥

कदाचन; सर्वदा भवनक्रियाविरहात् । स्थूलक्रियाविरहे शान्तावस्थायामपि यदि शिवः स्थितोऽभ्युपगम्यते तदस्ति स्थित इत्येषा भावस्थानादिरूपा **क्रिया किं न भवति** ? भवत्येव । क्रिया च कर्तृस्वरूपभूता, कर्त्ता च स्वतन्त्रः चेतन एव; स्वेच्छातः प्रवृत्तिः स्वातन्त्र्यं यतः, यतोऽस्ति **स्थित** इत्यत्र बुभूषातिष्ठासालक्षणेच्छाऽस्त्येव । यावच्च तथा कर्त्तुं भवितुं स्थातुं वा न जानाति तावत् **किं क्रिया भवति** ? भवतीत्यादि तिङन्तनिर्देशः । तस्माज्ज्ञातव्यं यदुत नेच्छादिशक्तिरहिता **काचन स्थितिः** कस्यचित् । इच्छादिशक्तिमत्ता च शिवता; घटोऽस्ति; हिमालयो-

---

नानुमन्तव्यम् । मतं चेद् विकल्पमध्य एव पतेदित्याह—**साऽवस्थेति** ॥ तत्र = ज्वलनक्रियाविशिष्टे । यदुक्तम्—

शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि शिवत्वं तेन नात्र निमित्तकलना । इति ।
शान्तत्वे शिवत्वमुत्पुंसयितुमाह निमित्तताऽऽपादनार्थम्—**शान्तता स्थिति** ॥५७॥

में भी सत्ता अर्थात् भवनक्रिया चलती रहती है । बिना क्रिया के एक क्षण भी रहना मुश्किल है । इच्छा ज्ञान क्रिया रूप शक्तित्रय से रहित शिव की कल्पना भी असम्भव है । क्योंकि पहले स्थित होने की इच्छा अर्थात् तिष्ठासा या बुभूषा होती है; फिर स्थित होने के लिये ज्ञान होता है और तत्पश्चात् स्थितिरूप क्रिया होती है । साथ ही ये तीनों शक्तियाँ शिव में अनादिकाल से वर्त्तमान है ॥५७-५९॥

प्रश्न है कि इस भावमय जगत् में नानाविध वैचित्र्य है ऐसा एक चिन्मयशिव में एकत्र कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः शिवस्वरूप जगत् या जगत्स्वरूप शिव नहीं है ? उत्तर है कि यह जो वैचित्र्य दिखाई दे रहा है यह भी शिव का ही स्वरूप है । उस एक शिव को भावमय जगत् की विचित्रता की अपेक्षा से वह शिव भी विचित्र है । अर्थात् वह शिव स्वयं ही नानारूपों में भासित हो रहा है । वस्तुतः सब एकशिवात्मक है यह बात आगे कहेंगे ॥६०-६१॥

जलाहरणशक्तश्च घटो यदि न भण्यते ।
घटः केवल एवात्र तदेवंविधमुच्यताम् ॥६२॥
नानावादैर्नो विरोधः कथनीयमिहाग्रतः ।
उक्ते वा कालपादादावागोपालाङ्गनादिना ॥६३॥

ऽस्ति; जगदस्तीति च यथा नाधिक्यं शिवतायाः करोति **तथेश्वरप्रत्यभिज्ञायां** विचारितम् ॥५७-५९॥

अथात्र भावानां परस्परतो **वैचित्र्यं** दृश्यते तच्छिवे चिदेकरूपे कथं सम्भवेत् ? तत्रापि शिवस्यैव तद्विचित्रस्वरूपत्वं भावानां यदन्योऽन्यवैचित्र्यम्, तेषां च घटपटादीनां वैचित्र्यमपेक्ष्य **तस्य तेभ्यः** = तद्वशात् **विचित्रता** भाति चिदेकरूपस्यापि सतः । **सर्वं** च चित्स्वरूपत्वेन शिवात्मकं यथा = न्यायानुसारेण तथाऽग्रतो वक्ष्यते ॥६०-६१॥

यदि चात्र जगत्युदकाहरणशक्तो घटो नोच्यते अपि तु **केवलस्**तत्क्रियावेशशून्य **एव घटः**, तदेतत्सदृशमेव केवल एव शिवो न जगद्रूप इत्येतदप्युच्यताम्; यावता नैवम्, तत् सर्वदाऽपि शिव एव ॥६२॥

नानादर्शनैश्चास्मिन् शैवाद्वैते नो विरोध इत्यग्रे कथनीयम् । स्वसिद्धान्त एव वा श्रीकालोत्तरादावुक्तम्—

"आगोपालाङ्गना बाला नित्यमेव ब्रुवन्ति तम् ।" इत्यादिना मन्त्रात्मशिवरूपत्वं

एवम्—उदकाहरणशक्त एव ॥६२॥

आदौ स्वशास्त्रत आह—**उक्तं वेति** । ननु कथं नानावादैरविरोधः; सर्वत्र भिन्नभिन्नार्थकल्पनात् ?–ततश्चाह—**उक्त वेति** । अयं भावः—आप्तप्रणीतत्वं ह्यागमत्वम्, तच्चादौ त न्त्रागमानां साक्षाद् भगच्छिवभट्टारकोक्तत्वात्, श्रुतीनामप्यनादिकथनाद-

---

यदि एक स्थान में पड़े हुए निश्चल घट को घट कहा जाय और जल लाने वाले जलपूर्ण घट को घट न कहा जाय तो फिर जगत् को भी शिवस्वरूप मत कहिये । चूँकि घट के विषय में उपर्युक्त व्यवहार नहीं है अतः जगत् और शिव के बारे में भी भेददृष्टि उचित नहीं है ।

अन्य दार्शनिकसिद्धान्तों से हमारा कोई विरोध नहीं है यह हम आगे कहेंगे । अथवा श्रीकालोत्तर आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी कहा गया है कि— "परम अनभिज्ञ गोपालों की स्त्रियाँ तथा लड़के भी उस शिवतत्त्व को नित्य कहते हैं ।" खेटपाल गुरु ने भी कहा है—इस पदार्थसमूह में जो कोई शक्ति छिपी है वह सब परमशिव की ही है । क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद सर्वत्र कहा गया है । "केवल एक रुद्र ही है और दूसरा कुछ नहीं ।" इत्यादि वचन वेदों

तदैक्यं खेटपालोऽपि प्राह या काचन स्थिता।
शक्तिः पदार्थजातस्य देवदेवस्य साऽखिला ॥६४॥
शक्तिशक्तिमतोरुक्ता सर्वत्रैव ह्यभेदिता।
'एकोरुद्र' इतीत्यादि श्रुतावुक्तं तथा परः ॥६५॥
पुरुषः सर्वमेवेदमितिहासादिषूदितम्।
महेशस्याष्टमूर्त्तित्वं यावत् पार्थिवमूढता ॥६६॥

जन्तूनाम्। गुरवोऽपि शिवैक्यमुपदिशन्ति। तथा च खेटपालगुरुः प्राह—**'या काचन'** इत्यादि। यतश्च देवदेवशक्तिरेव पदार्थशक्तिरुक्ता, शक्तिशक्तिमतोश्च न भेदः, ततो देवदेव एव पदार्थ इत्युक्तं भवति। यदिदं **'इदं स एको रुद्रः'** इति च रुद्रैक्यम्। तथा **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** परः इति चोक्तं वेदे। पुराणेतिहासादिषु चाष्टमूर्त्तित्वमुक्तं महेश्वरस्य यत्रात्यन्ततामसपार्थिवतत्त्वरूपेण मूढताऽपि स्वरूपमेव ॥६३–६६॥

स्त्येव; इतिहासपुराणादिषु तदर्थावधारणादस्त्येव प्रामाणत्वम्, तस्मादेकस्यैवाशेषजगत्प्रसूतिहेतोर्महाविभूतेरीश्वरस्य सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यविभागयोगाद् ब्रह्मेति विष्णुरिति रुद्र इति च व्यपदेशः, अन्येषां पुनरनाप्तप्रणीतत्वान्न प्रामाण्यम्। तदेतत्त्रिधैवागमप्रामाण्यं संवादयति—**उक्तं** वेत्यादिना ॥६३॥

गुरुत आह—**तदैक्य**मित्यादिना। सर्वेषामत्राविरोधमाह—**अभेदिते**ति। श्रौतप्रमाणमाह—**एको रुद्र** इति। अविगीतशिष्टप्रामाण्यमाह—**इतिहासादि**ष्विति ॥६५½॥

विधिरूपस्य वाक्यस्य साक्षादनुष्ठेयपरत्वादस्तु प्रामाण्यम्, अर्थवादरूपस्य पुनः

में भी मिलते हैं। इसी प्रकार पुरुषसूक्त में कहा गया है—"यह विश्व ब्रह्माण्ड जो भूत था, जो भविष्य में होगा और जो वर्तमान है वह सब यह पुरुष ही है।" यही बात इतिहास आदि में भी कही गई है। इसी प्रकार शिवमहिम्नस्तोत्र[1] में महेश्वर की, आठ मूर्त्तियों वाला कहकर, स्तुति की गई है और पार्थिव जडता को भी शिव माना गया है ॥६३–६६॥

---

१. त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह।
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ॥
परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणतां बिभ्रति गिरं।
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥
॥शिवमहिम्न० २६॥

'सोऽरोदीत्' इति वेदेऽस्ति नार्थवादो निरर्थकः ।
विध्यङ्गत्वेन चेत्सत्या नासत्यस्याङ्गता स्थिता ॥६७॥

'सोऽरोदीत्' इति च रुद्रशक्तिनिर्वचनेऽपि वेदेनोक्तं तदैक्यम् । अर्थवादोऽयमसत्यार्थो विध्यनुष्ठानतात्पर्यादित्येतदपि न युक्तम् । अर्थवादस्य या विध्यङ्गता सत्या सा कथमसत्यार्थस्य स्यात् ? स्वार्थमभिदधान एव हि अर्थवादो भवति; न च वेदेऽपि मिथ्यार्थता; रात्रिक्रतुषु चार्थवादप्रामाण्येनैवानुष्ठेयत्वात् फलं प्रदर्शितं जैमिनीयैः ॥६७॥

साक्षात्तत्रासम्बन्धान्न तत्र प्रामाण्यमिति केषांचिद् विधिपरत्वात् केषांचिदर्थवादपरत्वात् न परस्परं तयोः सम्बन्ध इति कथं सर्वत्रैक्यवादः ?—इत्याशंक्याह—**सोऽरोदीदिति ।** **आगोपालेति**—'उतैनं गोपा अदृशन्नुतैनमुदहार्यः ।' इति श्रुतिश्च ।

महार्थमञ्जर्यां च—

"यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति ।
यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः ॥" इति ।

एको रुद्र इति—"एको रुद्रोऽवतस्थे न वै द्वितीयो कश्चन ।" इति । तथा—

"यो रुद्रोऽग्नौ योऽप्सु य ओषधीषु यो वनस्पतिषु ।
यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु देवाः ॥"
"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।" इति ॥६५½॥

यथा [शिवमहिम्नस्तोत्रे—]

"त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणतां बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥" इति ।

अत्रापि भगवतो महेश्वरस्यैकात्म्यमेव सर्वत्र दर्शितम् । तथा हि—पञ्चभूतान्येव सर्वं

प्रश्न है कि वेद में विधिवाक्य साक्षात् अनुष्ठान को बतलाते हैं इसलिए वे तो प्रामाणिक हैं; परन्तु अर्थवादवाक्यों का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध न होने के कारण उनका प्रामाण्य नहीं है फिर आपका शिवैक्यरूपता का सिद्धान्त वेद में खण्डित हो रहा है ? उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका विधिवाक्यों के साथ अङ्गाङ्गिभावरूप संबन्ध है अतः यदि अङ्गी-विधि सार्थक और प्रामाणिक है तो उसके अङ्ग अर्थवाद, 'वह रोया'—इत्यादि, भी प्रामाणिक हैं । इसके अतिरिक्त रात्रिसत्र में अर्थवाद ही प्रामाण्याधायक होता है । अतः अर्थवादों का भी प्रामाण्य है ॥६७-६७½॥

अर्थवादादपि फलं रात्रिक्रतुषु दर्शितम् ।
बन्धमोक्षौ न विद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः ॥६८॥

सर्वस्य शिवत्वे बन्धमोक्षाभावात् शिवोऽहम्' इति सर्वस्यैव किमिति ज्ञानं न

विकारावस्थापन्नं जगदिति स्थितम् । तत्र यत्सूक्ष्मं प्रमाणप्रमेयात्मकमवस्थायुगलं तदर्कसोमशब्दाभ्यामुक्तम्, यतोऽत्रैवाहन्तेदन्तायुगलकमपि सदाशिवादिव्यपदेशेन विश्राम्यति किं पुनरन्यत्र कथनीयं यत्र संहृतं पार्थिवं घनं तत्त्वमपि शिव एव । अत एव तस्यान्तेऽत्र व्यपदेशः । अभेदमेवैषामाह—आत्मेति । एषां सर्वेषां स्पन्दविशेषाणां यदभेदात्मकं प्रत्यग्रूपं तदेव भवानस्तीति किमन्यद् यत्र भवत्स्वरूपापह्नवः ?

"सोऽरोदीत् । यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।" इति ।

अयमर्थः—यत् स रुद्रोऽरोदीत् = सुस्राव = शक्तिद्वारेण विश्वरूपतयाऽस्थात्, तदस्य रुद्रस्य **रुद्रत्वम्** = रुद्राभेदमयत्वम् ॥६३-६७॥

अर्थवाद इति—अप्रवृत्तप्रवर्त्तनं विधिः; तथा साक्षादुपदेशकत्वं विधिः । प्रवृत्तस्यान्वाख्यानमर्थवादः, तथा परम्परोपदेशकत्वमर्थवादः । अत्रार्थवादे साक्षादुपदेशाभावमाशङ्क्याह—**अर्थवादोऽयमिति** । विध्यनुष्ठितस्यैत्र ह्यर्थस्यार्थवादः समर्थकः; ततश्च साक्षादनुष्ठानाभावान्नार्थवादस्य सत्यत्वम् । **अर्थवादस्येति**—यद्यर्थवादस्य विध्यङ्गता सत्या तर्हि कथं स्वयमसत्यार्थपरत्वम्?—इत्यर्थः । यथा हि—'वायव्यं श्वेतमजमालभेत भूतिकामः' इति विधिः । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता; वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति; स एवैनं भूतिं गमयति'—इत्यर्थवादः । तत्र विधिवाक्यगता वायव्यादिशब्दा अर्थवादशब्दनैरपेक्ष्येणैव विशिष्टमर्थं विदधति; अर्थवादशब्दाश्चेतरनैरपेक्ष्येणैव भूतार्थमन्वाचक्षते—क्षिप्रगामी वायुः स्वोचितेन भागेन तोषितो भागप्रदायैश्वर्यं प्रयच्छति—इत्युक्ते **रामायणभारतादाविव** कश्चित् प्रतीयते न त्वनुष्ठेयं किञ्चित्; अत एकवाक्यत्वाभावान्नास्त्यर्थवादस्य प्रामाण्यमिति विधिप्रामाण्यवादिन आहुः ।

अत्राहुर्जैमिनीयाः—मा भूद् विध्यर्थवादयोः पदैकवाक्यता, वाक्यैकवाक्यता तु भवत्येव । विधिवाक्यं तावत् पुरुषं प्रेरयितुं विधेयार्थस्य प्राशस्त्यमपेक्षते; अर्थवादवाक्यं च फलवदर्थावबोधपर्यवसिताध्ययनविधिपरिगृहीतत्वेन पुरुषार्थमपेक्षते । ततः पुरुषार्थपर्यवसितविध्यपेक्षितप्राशस्त्यं लक्षणावृत्त्या समर्पयदर्थवादवाक्यं विधिवाक्येन सहैकवाक्यतामापद्यते, यतः क्षिप्रगामिस्वभावतया शीघ्रफलप्रदो वायुरस्य पशोर्देवता ततः प्रशस्तमिमं वायव्यं पशुमालभेत—इति वाक्ययोरन्वयः । तस्मादर्थवादः प्रमाणमिति ॥ **रात्रिक्रतुष्विति**—तत्र ह्यर्थवादेनैवार्थः पूर्यते इति न प्रतीत्यङ्गत्वमेवार्थवादस्य, कार्याङ्गत्वमपि । यथा—"**प्रतितिष्ठन्ति ह वा एता रात्रीरासते**" इत्यश्रूयमाणाधिकारस्य रात्रिविधेरधिकारांशोऽर्थवादादेव लभ्यते । "**तत्र हि प्रतिष्ठाकामाः सत्रमा-**

विज्ञानमीदृक् सर्वस्य कस्मान्न स्याद् विमोहिता ।
सैवैषा सा च संसारो बन्धमोक्षावतः स्थितौ ॥६९॥
विभिन्नशिवपक्षे तु सत्ये दाढर्यं परत्र नो ।
प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बन्धमोक्षता ॥७०॥

भवतीति ? अत्राप्युच्यते—यथा **सैवैषा विमोहिता**, एवम्—**अज्ञानलक्षणा, सा च संसारो बन्ध उच्यते ।**" इति स्थितावज्ञानरूपौ बन्धमोक्षौ ॥६८-६९॥

यदा तु सर्व एव भावाः कर्त्तृत्वादिच्छाऽऽदिशक्तियोगात् प्रत्येकं शिवरूपा इति पक्षः, तदा तत्र विभिन्नशिवपक्षे सत्ये यथास्थितस्यार्थभेदस्य दार्ढ्यम् । यदा

सीरन्" इत्यर्थवादवशाद्वाक्यार्थः । क्वचिद् विधिवाक्यस्यार्थसन्देहेऽर्थवादात्मकाद्वाक्यशेषात्तन्निश्चयो भवति । यथा "**आक्ताः शर्करा उपदधाति**"—इत्यञ्जनद्रव्ये घृततैलवशादिभेदेन सन्दिह्यमाने **'तेजो वै घृतम्'** इत्यर्थवादाद् घृतेनाक्ताः शर्करा उपाधेया इति गम्यते ॥६७॥

यदुक्तं–**सर्वभावशिवत्वेन नास्तिता बन्धमोक्षयोः** ।"—इति दूषणं तदपि दूषयति—**विज्ञान**मित्यादि । अयं भावः–सर्वभावशिवत्वे बन्धमोक्षयोरभेद इति पक्षे समर्थयति ईदृग् विज्ञानं सर्वस्य कस्मान्न भवतीति; 'शिवोऽहम्' इति सर्वस्यैव प्रतीतावस्त्वेव बन्धमोक्षाभाव इति पृष्टे सिद्धान्तवादी एवमेव पक्षं तदुक्तिदोषोद्भावनपूर्वमर्थोक्त्यैवोत्तरपक्षेण समर्थयति–यथा—"**विज्ञानमेतत्सर्वस्य कस्मान्न स्याद् विमोहिता ।**" अयं भावः—यत् सर्वस्य 'शिवोऽहम्' इति भेदज्ञानं सैव विमोहिताज्ञानलक्षणो भ्रमः; तथा च बन्धनिरासार्थं मोक्ष एव ॥६९॥

ननु किमिदं भवद्भिरपूर्वदोषारोपणं क्रियते–**विज्ञानमीदृक्** सर्वस्येत्यादि । सर्वस्याहमित्यखण्डपरिपूर्णाहन्तापरामर्शे **विमोहिता** क्वान्यत्राविमोहित्वं स्यादित्यस्यैव

प्रश्न है कि यदि सर्वत्र शिवतत्त्व ही है तो सबको 'मैं शिव हूँ' ऐसा ही ज्ञान होने के कारण बन्ध मोक्ष नहीं होगा ? उत्तर है कि सबको 'मैं शिव हूँ' ऐसा यदि ज्ञान होगा तो यह तो भेदज्ञान है क्योंकि ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इसकी पृथक् प्रतीति ही भेद है । और जब भेदज्ञान हो गया तो यही अज्ञान है । फिर बन्ध मोक्ष तो स्वाभाविक और अकाट्य हैं ही । उपर्युक्त बात तो तब है जब सर्वत्र एक शिव मानते हैं । और जहाँ सभी पदार्थ कर्त्तृत्व, इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले होंगे वहाँ तो भिन्न-भिन्न शिव होने से अर्थभेद की दृढ़ता बढ़ जा रही है । यहाँ तो बन्ध और मोक्ष केवल प्रतीतिमात्र है । अर्थात् शिव से भिन्नता की प्रतीति बन्ध है और अभिन्नता की प्रतीति मोक्ष ॥७०॥

नासत्ये सत्यबुद्धित्वखण्डनऽत्रास्ति काचन।
कथनं सर्वसाम्याय विवादिहननाय च ॥७१॥

त्वेकशिवत्वमेव तत्त्वं तदा तस्मिन् पक्षे न दार्ढ्यं भेदस्य, अपि तु शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षः, तदप्रतीतिस्तु बन्ध इति **तावता** = प्रतीतिमात्रेण, न तु वस्त्वन्यथात्वे बन्धमोक्षयोर्बन्धमोक्षता ॥७०॥

न चाप्यत्र भेदेष्वसत्येषु सत्यबुद्धया भ्रान्तिरूपा खण्डनाऽस्ति; वेदोक्तवत्। यतो भावानां सर्वेषामेव शिवरूपत्वे स्थिते बहुत्वमेकत्वं वा। यत्पुनः शिवतत्त्वे-

---

तात्पर्यं तावद् विवेचयति—**विभिन्नेति**। इदमत्र तात्पर्यम्—यदि सर्वस्येत्यत्र भिन्नापेक्षया सर्वनामनिर्देशः तर्हि भेदेनानेकत्वेऽर्थभेदोऽस्त्येव, तदपेक्षया मोक्ष इति बन्धमोक्षव्यवस्था स्थितैव। अथ सर्वशब्दो न भिन्नप्रमात्रपेक्षया किन्तु सर्वस्यैकमेव विज्ञानात्मकभेदसारमहमिति विमर्शनं तच्छिवाभेदप्रत्यवमर्शस्य मोक्षप्रतीत्या बन्धस्याप्यनुषङ्गोऽस्त्येवेति सिद्धं समीहितमस्माकम्। परमार्थतो वस्तुवृत्त्या न किञ्चनापि बन्धमोक्षव्यपदेशः प्रतीतिमात्रेणास्ति इति॥ परमार्थभेदेऽर्थभेदस्यैव दाढर्चं भेददार्ढ्यम्॥ **परत्र** = एकत्वपक्षे॥ **तदप्रतीतिरिति**—तदयमर्थः–प्रतीत्यप्रतीतिभ्यो मोक्षबन्धव्यवस्थाया व्यवस्थितत्वाद्यदुक्तं–"**नास्तित**: **बन्धमोक्षयोः**" इति, तदसिद्धम्। न च बन्धमोक्षव्यवस्थानाच्छिवाद्वयतात्पर्यं खण्ड्यते; प्रतीतिमात्ररूपत्वाद् बन्धमोक्षयोर्न वस्त्वन्यत्वसम्भवः ॥७०॥

अस्तु प्रतीतिमात्ररूपत्वमेव बन्धमोक्षयोः, अस्तु च वस्तुतः शिवाद्वयमयत्वमेव, तथापि यदि प्रतीतिमात्रसत्त्वं तदेव तर्हि प्रमाणीकर्त्तव्यम्, यदि च शिवाद्वयमयत्वमेव तर्हि तदेव, कोऽयं नयः वस्तुद्वयत्वकथने ?—इत्याशङ्कां निवर्त्तयितुमाह—**नासत्य** इति॥ **वेदोक्तवदिति**—वेदप्रक्रियायां हि संकोचतारतम्यकथनात् "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादिवाक्यैरसत्येषु भेदेषु सत्यबुद्धिर्भ्रान्तिरेवोक्ता। अयं भावः—अस्मन्मते सर्वथा शिवैकरूपत्वं प्रतिपादनीयम्, तच्च भावानामेकत्वमस्तु, अनेकत्वं वाऽस्तु, न केनापि खण्ड्यत इति॥ **बहुत्वमिति**—यद्यपि वस्तुतः शिवरूपत्वे सर्वेषां बहुत्वमेकत्वं वा न विरोधावहमिति तथात्वकथने न कोऽपि दोषः; तथाप्यद्वयवादोक्तिः, शिवतत्त्वे न कस्यचिदुत्कर्षः, नापि कस्यचिदपकर्ष इति कथनार्थम्। तथा

वैदिक प्रक्रिया अर्थात् वेदान्त में असत्य अर्थात् भेद में अभेदबुद्धि भ्रान्ति कही गई है। शैव दर्शन में ऐसा नहीं है। यहाँ असत्य अर्थात् भेद में सत्यबुद्धि अर्थात् अभेद का खण्डन नहीं है बल्कि सर्वत्र समत्वबुद्धि लाना लक्ष्य है अर्थात् यह कि शिव को छोड़कर और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। अथवा हमारा प्रयास उन प्रतिपक्षियों के पराजयार्थ है जो भावमय जगत् को शिवमय नहीं मानते ॥७१॥

तथा तथा शिवावस्था स्वेच्छातः स तदात्मकः ।
तदात्मत्वे नास्ति बन्धस्तदभावान्न मोक्षणम् ॥७२॥
किमर्थं गुरुशास्त्रादि चेत्तथा तदवस्थितेः ।
देवस्य शास्त्राद् बोधेन किं प्रयोजनमेव च ॥७३॥

नैक्यस्य कथनं तत् सर्वेषां शिवतत्त्वेन साम्याय उत्कर्षापिकर्षनिवारणाय; यदि वा ये शिवत्वं भावानां न प्रतिजानते तद्विवादिपराजयाय ॥७१॥

भेदेऽपि तथा भेदरूपेण शिवस्यावस्थानं स्वेच्छावशात्; स च भेदः शिवात्मकः । एवं च भेदस्य शिवात्मकत्वे नास्ति बन्धः; तदभावात् तदपेक्षो न मोक्षोऽपि ॥७२॥

तथा भेदरूपतया शिवस्यैवावस्थितेर्हेतोर्मोक्षाभावात् किमर्थं गुरुशास्त्रानुष्ठानादिकम् ? न हि देवस्य नित्यप्रबुद्धस्य शास्त्रेणोद्बोधनं सप्रयोजनम् ? आसतामन्यानि शास्त्राणि ? त्वमेव शिवैक्यवादी वा किमर्थं शास्त्रमारब्धवान् ? कस्यबोधाय ? ॥७३॥

बहुत्वैकत्वकथने पदार्थस्वरूपमेव तथा तथा स्यादिति पदार्थवाद एवाभ्युपगतो भवेदित्यर्थः ॥ यत्पुनरिति—ननु यदि बहुत्वैकत्वकथनं तुल्यमेव तर्हि कृतमद्वयवादेनेत्याह—यत्पुनरिति ॥७१॥

तदेवं वाद्युन्मथनपूर्वं बन्धमोक्षव्यवस्था दृढीकृता, शिवाभेदतात्पर्यं च तेनैव सिद्धान्तितम्; अथेदानीं परमार्थतो व्यवहारेऽपि शिवाभेदं समर्थयति—तथा तथेत्यादिना । तदभावात् = बन्धपूर्वत्वान्मोक्षस्य । एवं चेति—अत्रापि च स्फुटं बन्धमोक्षनिषेधेऽपि बन्धमोक्षव्यवस्था व्यवस्थितैवेति बोध्यम्; तथातथेति कथनात् । स्फुटीभविष्यति चैतत् ॥ तथा = भेदरूपतयापि । तस्य = शिवभट्टारकस्य । देवस्येति—दीव्यति = क्रीडतीति देवः । प्रयोजनमिति—अपूर्वबोधनार्थं हि शास्त्रप्रवृत्तिः ।

तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तथा अर्थात् भेद के सत्य मानने पर तथा अर्थात् दृश्यमान भेद भी शिव की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं । और जब समस्त भेद शिवात्मक ही है तब बन्ध किसका ? और जब बन्ध नहीं है तो मोक्ष भी नहीं, क्योंकि मोक्ष बन्धपूर्वक होता है ॥७२॥

प्रश्न है कि जब बन्ध और मोक्ष हैं ही नहीं तो मोक्ष के लिए दीक्षा गुरु-परम्परा शास्त्र आदि का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि आप तो देव अर्थात् परमेश्वर को ही भेदरूप में स्थित मान रहे हैं ? फिर, उस परमेश्वर को शास्त्र से अथवा ज्ञान से क्या लेना देना है ? साथ ही यह बताइये कि आपने शैवदर्शन या त्रिक-शास्त्र का प्रारम्भ किसनिमित्त किसके ज्ञान के लिए किया है ? ॥७३–७३½॥

किमर्थं भवताऽऽरब्धं शास्त्रं बोधाय कस्य वा ।
स एवेत्थं स्वेच्छयाऽऽस्ते तत्कर्तृत्वेन बोध्यतः ॥७४॥
स एव बुद्धरूपत्वे तथा भवति तत्क्षणम् ।
स एव संप्रजायेत तदनुष्ठानतत्परः ॥७५॥
फलं वा तदनुष्ठाने स एव हि तदा भवेत् ।
वादित्वप्रतिवादित्वे कस्माच्चेत्तस्य तत्स्थितेः ॥७६॥
व्यवहाराय वा सर्वं व्यवहारो न वस्तुगः ।
स्वरूपं वस्तुगं विद्धि व्यवहारो न जातुचित् ॥७७॥

देव एवानेन प्रकारेण स्वेच्छया निष्प्रयोजनमास्ते । तदेव दर्शयति—तदस्मदादिशास्त्रकर्तृत्वेन तथा बोध्यतो बोध्यं शिष्यरूपमासाद्याऽऽस्ते । तथा तस्मिन्नेव काले प्रबुद्धरूपत्वे वा स्थितो भवति । तथा शास्त्रानुष्ठानपरः सम्पद्यते । तथाऽर्थकामादिफलरूपत्वेनापि स एव स्वकाले भवति ॥७५॥

तदैक्ये दर्शनभेदाभावात् वादित्वं प्रतिवादित्वं च कुतः यदुक्तम्—'**विवादिहननाय च**' इति ? तदेतदपि तस्यैव तथा स्थितेः । लोकव्यवहाराय वा सर्वं शास्त्र-

---

तथा च सप्रयोजनता ॥ अन्येषां हि द्वैतकथनाज्ज्ञानार्थमस्तु तत्र प्रवृत्तिः, भवतां तु तदभावान्न युक्तेत्याह—**किमर्थमिति** । **गुरुशास्त्रेति**—न च भवतां तत्प्रकटीकरणार्थमपि तत्र प्रवृत्तिः; तथा च स्वतन्त्रस्य देवस्य स्वातन्त्र्यस्य हानिः स्यात् ॥

बाह्य इत्यनेन बाह्य एव तस्य भ्रमत्वमवस्तुत्वं वाऽस्तु, स्वरूपे न भ्रमत्वं नाप्यवस्तुत्वमित्यर्थः । **धर्माधर्मैरिति**—यच्चोक्तम्—

उत्तर है कि वह परमशिव ही स्वेच्छा से बिना किसी उद्देश्य के जगद्रूप में उल्लसित है । वही शास्त्रों का कर्त्ता अर्थात् गुरु है तथा बोध्य अर्थात् शिष्य भी वही है । और गुरु के द्वारा प्रबुद्ध भी वही होता है । शास्त्रों के अनुसार धर्म आदि अनुष्ठान भी वही कर रहा है और अनुष्ठान सम्पन्न होने पर उसका फल भी वही भोग रहा है ॥७४½–७५½॥

यदि सर्वत्र शिव ही है तो दर्शन में भेद न होने के कारण वादी और प्रतिवादी का भेद कैसे सम्भव है ? उत्तर है कि वादी और प्रतिवादी रूप में भी उसी की स्थिति है अथवा लोकव्यवहार के लिए ही सब शास्त्र आदि को मानिये । व्यवहार तो वस्तु का अनुगामी होता नहीं । स्वरूप वस्तु का अनुगामी होता है । इस प्रकार परमेश्वर वस्तुस्वरूप है वह अभिन्न है और व्यवहार वस्तु का अनुवर्त्ती न होने से भेदस्वरूप भ्रमात्मक है ॥७६–७७½॥

तदीश्वरव्यवस्थानादवस्त्वाभावरूपतः ।
सर्वमेकेन रूपेण यद्विचार्यं तथाऽग्रतः ॥७८॥
धर्माधर्मैश्च सम्बन्धस्तथा तच्छिवसंस्थितेः ।
तत्फलाफलयोगेन युक्तता तस्य तत्स्थितेः ॥७९॥
निमित्तसमवाय्यादिवैचित्र्यात्तद्विचित्रता ।
कारणस्यैकरूपत्वे न दोषस्त्रितयात्मता ॥८०॥

वादिप्रतिवाद्यादि। लोकव्यवहारश्च तदभेदाख्यातिमयो न वस्तुगतः। यत्पुनः स्वरूपेण प्रकाशते तच्छिवरूपवस्त्वात्मकमेव; व्यवहारस्तु न कदाचित् वास्तवः अपि तु भ्रम एव; अवस्त्वपि ईश्वरात्मैव; अवस्त्वाभासरूपेण तस्यावस्थानात्। अत एव **ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त**नीत्या तदवस्त्वपि प्रकाशमानं चिद्रूपमेव। केवलं बाह्ये प्रकाशनाभावादवस्तु उच्यते। तदाह—**सर्वमिति**। **सर्वम्** = वस्तु अवस्तु च शिवरूपं यतस्तथाऽग्रे विचारणीयमेव ॥७६–७८॥

धर्माधर्मैरिति तयोः फलेन न्यूनतया वा विपरीतेन फलेनाफलेन योगः। अथवा फलेनायोगः, अथवापि अधर्मस्य अफलेन = अनिष्टेन फलेन योगः, तेन हेतुना युक्तता न्याय्या, शिवस्य तथा **स्थिते**र्हेतोः; सर्वथा यद्यत्प्रतिभासते तच्चिद्रूपशिवात्मकमेव ॥७९॥

शिवस्यैवैकस्य कारणत्वे निमित्तसमवाय्यसमवायित्ववैचित्र्येण तस्य **विचित्रता**

"धर्माधर्मौ न सम्बद्धौ शिवस्य न तयोः कृतिः।
ततश्च शिवधर्मादिर्वेदादेरकृतार्थता ॥" इति।

तच्च परिहरति—**धर्मे**त्यादिना। **तत्स्थिते**रिति—अत्रापि पूर्वोक्तं सर्वं व्यवहारादिकमनुसर्त्तव्यम्। "**अभावे** = स्वल्पभावे इति नञर्थमाश्रित्य विवृणोति—**न्यूनतया वा विपरीतेति** ॥७९॥

न पृथिव्यादिक इति—यदुक्तम्—'**पृथिव्यादिकल्पनया कल्पनावान्**' इति।

परमार्थतः तो वस्तु अवस्तु, प्रमा भ्रम आदि एकरूप शिवात्मक हैं यह हम आगे विचार करेंगे ॥७८॥

धर्म और अधर्म के साथ सम्बन्ध के बारे में ऐसा समझें कि धर्म अधर्म और सम्बन्ध तथा उसका सम्बन्धी सभी रूप में वही स्थित है। साथ ही धर्म का इष्टफल से या अनिष्टफल से सम्बन्ध या असम्बन्ध सब में शिव की स्थिति ही युक्त है ॥७९॥

समवायि असमवायि निमित्त आदि कारणों का वैचित्र्य होने पर भी एक शिव की ही विचित्रता जाननी चाहिए। यदि यह कहिये कि कारण के एक होने

न राजाज्ञा समादिष्टा स्वयं वा स निमित्तकम् ।
समवायि तदिच्छैव तद्योगः सहकारणम् ॥८१॥
तस्यैव वा त्रिरूपत्वं व्यपदेशात्तथाविधम् ।
न पृथिव्यादिके तस्मिन् कल्पना संप्रवर्त्तते ॥८२॥
तथात्वेनैव क्लृप्तत्वात् तदा तत्कल्पना भवेत् ।
तदेवातत्कल्पितं किं सत्ये नामास्तु कल्पना ॥८३॥

त्रितयात्मताख्या, न दोष उक्तन्यायेन, यतो **राजाज्ञा न समा** = तुल्या उपदिष्टा । अपि तु राजाज्ञारूपसाम्येऽपि, अन्यथा भेदः । तद्वत् तन्तुरूपेण संयोगरूपेण च स निमित्तमप्यास्ते । अथ वा स्वयं स तावन्निमित्तकारणम्, तदिच्छा समवायिकारणम्; घटादिवस्तुनः सत्तेच्छान्वयात् स एव चावयवसंयोगः, सहकार्यसमवायिकारणमित्यर्थः । अथवा तस्यैकत्वेऽपि त्रित्वं यथोक्तप्रकारं **व्यपदेशात्** = व्यवहारात् सर्वभेदव्यवहारस्याभेदाख्यातिरूपत्वम् ॥८१॥

न च पृथिव्यादिरूपतया प्रतीयमाने भावजाते शिवरूपिता कल्पिता भवति;

यदि मायापरमाण्वादिकारणभावेन तत्तत्कर्तृत्वमस्याभ्युपेयते, तदा भिन्नवस्तुसद्भावात् केन विकल्पताऽस्य भण्यते ? यदि तु तदभावेन कल्पना, तर्हि भिन्नवस्तुशून्यत्वेन विकल्प एव; तच्च शून्यप्रायम्; तदात्मकत्वे शिवतत्त्वमपि शून्यप्रायमेव संबोभवीतीति पूर्वाशयः । तदेतत् समर्थयति—नेत्यादिना । **तस्मिन्** = शिवतत्त्वे ।

पर भी तीन रूप से वह कैसे दृष्ट हो रहा है ? तो यह कोई दोष नहीं ! क्योंकि जैसे राजा के एक होने पर भी उसकी आज्ञायें भिन्न होती हैं उसी प्रकार शिव के एक होने पर भी उसका उल्लास भिन्न-भिन्न है । अथवा वह परमशिव स्वयं निमित्त कारण है; उसकी इच्छा समवायि कारण और इच्छा के विषय घटादि के संयोग के रूप में वर्त्तमान वह शिव ही असमवायि कारण है । अथवा समवायी असमवायी और निमित्त तीनों रूपों में वही है । और उसका ऐसा त्रिप्रकारक होना लोकव्यवहार के लिए है ॥७९–८१½॥

जो यह प्रश्न था कि पृथिवी आदि की कल्पना से शिव कल्पनावान् हो जायगा ? उसका उत्तर यह है कि जब वह शिव स्वयं पृथिव्यादिस्वरूप है तब वहाँ कल्पना के लिए अवकाश कहाँ है ? हाँ यदि शिव को ही पृथिव्यादि रूप में कल्पित मानलीजिये तो शिव पृथिव्यादिरूप में कल्पित नहीं बल्कि पृथिव्यादि स्वयं शिव है । तो फिर सत्यवस्तु में कल्पना कैसे हो सकती है ? यह तो भ्रम है वह भी व्यवहारार्थ ॥८२–८३॥

कटकेऽस्ति सुवर्णत्वं कुण्डले कल्पनाऽस्ति किम् ।
चित्रवह्नावशोकादौ कल्पना राजते क्वचित् ॥८४॥

वस्तुस्थित्यैव पृथिव्यादिरूपेण वा शिवतत्त्वस्यैव क्लृप्तत्वात् । अतद्रूपं तद्रूपं यदाऽवसीयते यथा मनोराज्यादि, तदा तत्कल्पना कल्प्यमानं भवेत् । यावता साक्षाच्छिव एव सर्वमिति वस्तुस्थित्या पृथिव्यादि शिव एव, शिवत्वेन किं कल्पितं भवति ? न भवत्येवेत्यर्थः । अथ सत्यतस्तस्मिन्नेव कल्पनेति कथ्यते तदवस्तु । अतस्तत्र कल्पनेति नामकृतिः ॥८२–८३½॥

तदेवोदाहरति—कटक इति । कटके किं सुवर्णत्वं सत्यं कुण्डले तु कल्पितम् ? नैवेत्यर्थः । चित्रगते वह्नौ, अशोकपुष्पादौ रक्ते वह्निकल्पना शोभते क्वचिदवसरे

तथात्वेनैवेति—तस्यैव तत्तद्वैचित्र्येणापि व्यवहारे स्थितत्वात् । क्लृप्तत्वात् = अप्रतीयमाने प्रतीयमानत्वम् । तदेव = शिवतत्त्वमेव पृथिव्यादिकल्पितम् । नामेति परतोषार्थमनूमतिः ॥८३॥

भवतीति—यतः—

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छाऽमर्शः प्रवर्त्तते ॥ (ई० प्र० १.५.१०)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या यतस्तत्तद्विभिन्नाभासभावराश्यभावेऽपि सर्वमस्त्येव । ततश्च कस्यातद्रूपस्य तद्रूपाभासनं नाम नवमाभासनं कल्पनाकल्पितं भवेत् ?—इति भावः । वस्तुस्थित्यैव = परमार्थनयेन । पृथिव्यादिरूपेण = व्यवहारदृशा । क्लृप्तत्वात् = स्वयं सम्पन्नत्वात् । अतद्रूपम् = पूर्वमनतद्रूपमधुना तद्रूपम् । ननु क्वान्यत्र कल्पितत्वं नाम ?—इत्यत आह—अतद्रूपमिति । मनोराज्यादावपि संविद एव तत्तदाभासाभासनसामर्थ्यमिति; तत्रापि यदि कल्पितत्वं नास्ति तथाप्येतादृङ्नये तत्र कल्पितत्वं वादिवादसमर्थनार्थमुपगतम् । यावता = एकान्तनिश्चयेन । किं कल्पितमिति—यदि हि पृथिव्यादि पूर्वं न समभविष्यत् तदतद्रूपत्वात् तद्रूपावभासे मनोराज्यादिवद् वस्तुशून्यतया कल्पितमेवाभविष्यत्; न तु पूर्वं नास्ति इति संभावनाऽप्यस्ति इति

क्या आप यह मानने को तैयार हैं कि कटक में सुवर्णत्व सत्य है और कुण्डल में कल्पित ? चित्रलिखित अग्नि में या अशोकपुष्प की रक्तिमा में अग्नि सत्य है ? यदि ऐसा नहीं मान सकते तो यह भी मत मानिये कि पृथिव्यादि में शिव की कल्पना है । बल्कि यह समझिये कि स्वयं शिव ही पृथिव्यादिरूप से सम्पन्न होकर विराजमान हैं । और जो लोग कल्पित वस्तु और कल्पना में अन्तर नहीं जानते उन्हें मेरा प्रणाम है। अर्थात् वे शास्त्रचर्चा की बिलकुल योग्यता न रखने वाले मूर्ख हैं ॥८४–८४½॥

क्लृप्तकल्पनयोर्भेदं ये न जानन्ति नौमि तान् ।
शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्त्या न समानता ॥८५॥

पृथिव्यादिरूपेण शिवः क्लृप्तः = सम्पन्नः = स्वयं स्थितः । कल्पितं पुनः स्वयं स तथा केवलमिष्यते तेन रूपेणेति क्लृप्तस्य स्वयं क्लृप्तेस्तथा सम्पत्तेः; कल्पनायाश्च स्वयमतथाभूतस्य तथा सम्भावनामात्ररूपाया ये शब्दार्थत्वेन भेदरूढास्ते वन्द्याः इत्युपहासः ॥८४½॥

शिवतत्त्वे चिदात्मनि विश्वनिर्भरे विश्वानुभवरूपे पश्यन्त्या पूर्वोक्तदूषणया न समानता । यतो यथा **गान्धिको**ऽनन्तगन्धद्रव्यसौगन्ध्यमियत्तयाऽनवधारयन्नक्रमेण सर्वमवधारयन्नास्ते, तथा विश्वान् भावान् देशकालक्रमशून्यान् वाच्यवाचकात्मनः **पश्यन्नविकल्पः** शिवो भवति; 'अहम्'-इत्येव पूर्णाहंभावेनैषां प्रकाशनात् । अहंपरामर्शवानप्यविकल्पको यथा तथेश्वरप्रत्यभिज्ञातोऽवधार्यम् । गान्धिकस्यान्यस्य च तुल्ये गन्धानामियत्तयाऽनुभवे गान्धिकस्य गन्धामोदवत्तयाऽन्यस्यैव तु तच्छून्यस्यैव ।

पूर्वमपि तद्रूपत्वादधुनापि तद्रूपत्वं कल्पितं न भवेदित्यर्थः । **तस्मिन्नेव** = शिवतत्त्वे । **नामकृतिरिति**—परमार्थतो नात्र भेद इत्यर्थः ॥८३॥

कटक इति—कटक इव सुवर्णत्वं तदन्तःस्थितं विश्वम्, कुण्डल इव पृथिव्यादिरूपतया स्थितम् । **क्वचिदवसर** इति—अयं भावः—असत्ये सत्यसंभावना क्वचिदवसरे शोभते, किं पुनर्वक्तव्यं तद्रूप एव सत्ये संभावनेति ॥ ननु किं यथाऽशोकादावसत्ये सत्यवह्निसंभावना, तथाऽत्रापि यदि, सिद्धमस्मदिष्टमित्यत आह—**पृथिव्यादीति** ॥८४॥

ननु चास्तु पृथिव्यादिकल्पनायामपि तस्याविकल्पता, तद्रूपताऽवभासनाभावात्; पूर्वमपि तस्य तद्रूपत्वेनैव स्थितत्वात् । अथेदानीं तदेव पूर्वभाविशिवतत्त्वं समर्थनीयं येनाधरमपि तस्य सिध्यति । तत्र चाहंपरामर्शो नाम वाग्रूपत्वाद्विकल्प एवेति कथं तत्राविकल्पत्वम् ?—इत्याशङ्क्याह—**शिवतत्त्व** इति । तथा यत् पुनः पूर्वपक्षे प्रत्यवस्थितम् **"शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्तीतुल्यता तदा ।"**—इति, तदपि समर्थयति—

जो वैयाकरणलोग पश्यन्तीवाक् को परमतत्त्व मानते हैं उनके विषय में मेरा कथन यह है कि परमशिवतत्त्व चित्स्वरूप विश्वानुभवरूप है । वह जड़ पश्यन्तीरूप कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न गन्धों (सेंट इत्र) आदि को बेचने वाले गन्धी के पास सभी पृथग् द्रव्यों की सुगन्ध क्रम, मात्रा आदि से रहित एक गन्ध के रूप में भासित होती है उसी प्रकार परमशिव समस्त भावमय जगत् को देश, काल, क्रम, वाच्यवाचकभाव आदि से रहित एकरूप में देखता हुआ पूर्णरूप में स्थित है ॥८५–८५½॥

यतो गान्धिकसौगन्ध्यवत्पश्यन्नविकल्पकः ।
सत्यानि स्वात्मरूपाणि पश्यतो न समानता ॥८६॥

अनेन विश्वनिर्भरता समर्थिता; तावन्मात्रेऽयं दृष्टान्तः ॥ **सादाख्येश्वरदशयोरपि** न पश्यन्त्या समानता; सर्वमहमित्येवमात्माविभेदेनात्मविश्रान्तानि सत्यान्येव वस्तूनि तथा पश्यति प्रमाता । पश्यन्त्यां तु सुषुप्तावस्थायामिव भिन्नान्येव संसारदशोचितानि

शिवतत्त्व इत्यादिना । **पश्यन्त्येति**—अत्र कारणे कार्योपचार इति दृष्टा पश्यन्ती दूषणैरित्यर्थः ॥८५॥

शिवतत्त्वे इति—

"यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितम् ।
रूपं भाति परप्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ॥"

इति नीत्या यदनुस्यूतं महासामान्यनीत्या तच्छिवतत्त्वम् । उक्तं च **भाषासूत्रेषु**—**'यद्विश्वं तत्तस्याभ्यन्तरता ।'** **पूर्वोक्तदूषणयेति**—किमसावनुभवति ? किमात्मानम् ? उत परात्मानम् ? किमनुभूतम् ? उताननुभूतम् ? किं क्रमिकम् ? उताक्रमिकम् ? इत्यादि ।

गान्धिक इति दृष्टान्तकथनं तत्तदनन्तवस्तुगन्धस्याक्रमाववबोधनार्थम्; तेन च विकल्पताहानिः फलम्; तस्य वस्तुद्वयसापेक्षत्वात् । **देशकालक्रमेति**—भेदस्याभास-सदसत्त्वरूपत्वात्; क्रमस्य च भेदाश्रयत्वात्; तच्चाभाससदसत्त्वं प्रभोः प्राभवी शक्तिः; तदनाभासे कथमत्र देशकालयोगः ?—इत्यर्थः । क्रमस्वरूपपर्यालोचनया तदवभासकारी महेश्वर एव कालशक्तिमुपकल्पत इत्यर्थः । उक्तं **चेश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्**—

"मूर्त्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ॥" (ई. प्र. २.१.५.) तथा
सक्रमत्व च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात् प्रभोरिव ॥ (ई. प्र. २.१.२.) इति ।

अहमित्येवेति—प्रकाशस्यात्मन्यहमिति परामर्शः परावाग्रूपत्वात् स्वभावभूतः, अतश्च

प्रश्न है कि पश्यन्ती का साम्य परमशिव के साथ भले हो न हो सदाशिव के साथ तो है ही क्योंकि वहाँ 'इदन्ता' का आभास होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि सदाशिव की इस दशा के साथ भी पश्यन्ती की समानता नहीं है । क्योंकि सदाशिवअवस्था में प्रमाता 'इदं सर्वं अहम्' इस प्रकार समस्त सद् वस्तुओं को अपने से अभिन्नरूप में देखता है जब कि पश्यन्ती अवस्था में संसारदशा में प्रकट होने वाले पदार्थ भिन्नरूप में उसीप्रकार भासित होते हैं जैसे सुषुप्तावस्था में । यदि यह कहिये कि 'ज्ञान और क्रिया सादाख्य कहलाती है'—इस सिद्धान्त के अनु-

पश्यन्त्याथो शिवावस्था क्रियाफलसमाप्तितः।
क्रियाया वाऽथ प्रारम्भे कल्पनीया प्रशान्तता ॥८७॥

बीजभावेनासते। सुषुप्तोत्तीर्णेऽपि पश्यन्त्या अविद्यामयान्येव तद्दर्शने—इति शेषः। अथ ज्ञानक्रियाप्रारम्भपर्यवसानयोः प्रशान्तता नाम शिवावस्था कल्पनीया; सा चेच्छादिशक्तिशून्यरूपा निरनुभवा जडरूपेत्युच्यते ? तन्न; यतोऽस्तु सा दशा, न तु तदापि सर्वशक्तिविरहो येन शिवतत्त्वाद् भेदाय सा स्यात्; किन्तु सर्वाऽवस्थासु सुसूक्ष्मतया इच्छादिशक्तियोग इति प्रथमाह्निक एव निश्चितम् ॥८५½–८७½॥

न विकल्पः। स हि प्रतियोगिनिषेधपूर्वः, न चात्र प्रतियोगी नाम कश्चिदस्ति। तथा हि प्रकाशाद्धि प्रतियोग्यन्योऽप्रकाशसंज्ञः; स स्वयमसिद्धः; कस्य प्रतियोगित्वम् ? अनाभासने प्रकाशेतरत्वाभावात्। अवभासे तु तथापि कः प्रतियोगी नाम ? तथा च तस्यानवभासने व्यपोहनीयाभावात् कथं विकल्पत्वम् ? तदुक्तमीश्वर**प्रत्यभिज्ञायाम्**—

"अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्माऽपि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः॥
भिन्नयोरवभासो हि स्याद् घटाघटयोर्द्वयोः।
प्रकाशस्यैव नान्यस्य भेदिनस्त्ववभासनम् ॥"

(ई० प्र० १.६. १-२) इति।

ननु सर्वेषामेवानन्तगन्धावभासोऽक्रमेणैवास्ति किमर्थं **गान्धिकस्येति** व्यपदेशः ?—इत्यत आह—**गान्धिकस्येति**। अन्येषां हि अनन्तावभासेऽपि क्रमेण ग्रहणमस्य सममेवेति भावः। **तच्छून्यस्य** = गन्धामोदरहितस्य। **तावन्मात्र** इति—**'स यदाऽऽस्ते'** इत्यादिना लक्षितलक्षणायामित्यर्थः ॥८५॥

ननु चास्त्वेवम्, अत्र हि न किञ्चनास्माकं दूषणमदूषणं वा, महासामान्यतयाऽस्य भवद्भिरुपगतत्वात्। या पुनः **सदाशिवेश्वरदशा**, तत्र कथमनुभवति?—इत्यत आह—सत्यानीत्यादि। परावस्थायां हि स्वभावभूतत्वात् सर्वस्य न तत्रानुभवाद्यसम्भा-

सार ज्ञान का स्फुट अवभास होने से सदाशिव और क्रिया का आभास होने से ईश्वर होने के कारण जड़ पश्यन्ती का इनके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता तो न हो किन्तु क्रिया के फल की समाप्ति होने के बाद या क्रिया के पहले, तो परमशिव की बिलकुल शान्त निश्चल अवस्था रहती है तो यह दशा तो परमशिव का सदाशिव और ईश्वर से भेद बतलाती ही है ? तो इसका उत्तर है कि यह भी उन सब के बीच भेदाधायक नहीं हो सकता। यह हम पहले ही प्रथम आह्निक में बता चुके हैं ॥८६–८७½॥

अस्तु साऽपि न भेदाय यथा तत्प्रविनिश्चितम् ।
न च वाऽस्त्यन्तरालेऽत्र सा दशा या हि केवला ॥८८॥
प्राक् क्रियाफलनिष्पत्तेः समनन्तरमेव यत् ।
प्रसर्पत्यपरेच्छैव पुनरन्या तथाविधा ॥८९॥
न कदाचन तस्यास्ति कैवल्यं शक्तिशून्यकम् ।
यत्रात्मानुभवानिष्ठा तत्रेच्छा च न किं भवेत् ॥९०॥

नास्त्यपि वाऽन्तराले द्वितीयक्रियाप्रारम्भात् प्राक् **अत्र सा दशा, या** शान्तता शक्तिशून्यतालक्षणा स्यात् । **यत्** = यस्मात् **क्रियाफलनिष्पत्तेः समनन्तरमेव** प्रसरति **अपरेच्छैव** सुस्फुटपरसंवित्क्रियार्थी, न तु तदा शून्यता । पुनरपि तत्क्रियाफलसमवाप्तौ तदनन्तरमेवान्या तथाविधेच्छैव प्रवर्त्तते । किं बहुना उभयथा न कदाचन चिद्रूपस्यान्तराललक्षणं **कैवल्यं शक्तिशून्यकं** नाम रूपमस्ति । तथा हि—

वनासम्भावनाशङ्काऽपि, इदन्ताभासाभावात्; सदाशिवादाविदन्ताभासस्य भासयिष्यमाणत्वात् कथं तत्रानुभव इति तत्र पश्यन्तीसाम्यमायातम् ?—इत्याशङ्क्याह—**सत्यानीति** ॥८६॥

ननु चास्तु पश्यन्त्यामहमित्यात्माभेदेन सत्यान्येव वस्तूनि; 'अहम्' इत्यत्र **'ज्ञानक्रिये सादाख्यम्'** इति नीत्या ज्ञानरूपत्वात् **सदाशिवस्य;** क्रियारूपत्वाच्चेश्वरस्य; तयोरेव विशेषत्वेऽनुभवतीति युज्यते; विशेषस्य तु सामान्यपूर्वभावित्वात् पूर्वावस्था निरनुभवा सिद्ध्यति?—इत्यत आह—**अथो** इति ॥८७॥

इत्थमत्र ज्ञानक्रियाप्रारम्भपर्यवसानयोः शान्ततायामपि सूक्ष्मतया तादृगनुभवशालिनामेवेच्छादिशक्तिसम्भवः सन्नप्याभाति । अथेदानीं सर्वेषामेव स्फुटं यथेच्छादिशक्तियोगः तथा न्यायमप्याश्रित्य ब्रूते—**न चेति** । तत्र नदीपूरभेदेन

यह भी नहीं है कि एक क्रिया की समाप्ति और दूसरी क्रिया के प्रारम्भ के बीच का जो समय है उसमें वह तत्त्व शक्तिशून्य रहता है । क्योंकि एक क्रिया की फलसमाप्ति के तुरन्त बाद दूसरी क्रिया के लिए परासंविद् की इच्छा का प्रसार शुरू हो जाता हैं । इस प्रकार कोई भी ऐसा समय नहीं आता जबकि परमासंविद् शक्तिशून्य केवली हो ॥८८–८९½॥

जहाँ पर आत्मानुभव की प्रबल निष्ठा होगी क्या वहाँ इच्छारूप क्रिया नहीं होगी ? यदि यह कहिये कि आत्मानुभव तो प्रकटरूप में प्रकाशित नहीं होता तो ऐसा कहने पर क्या परमशिव की जड़ावस्था नहीं आ जायगी ? अर्थात् अवश्य आ जायगी ॥९०–९०½॥

अथानुभवनं नास्ति जडा सा न प्रसज्यते।
उपलादेर्जडत्वेऽपि शिवत्वं ते कथं स्थितम् ॥९१॥
यथा न तत्र जडता तथाऽग्रे प्रविचार्यते।
सफलायां समाप्तायां क्रियायां समनन्तरम् ॥९२॥

यत्रात्मानुभवस्य अनिष्ठा = विरत्यभावः, तत्रानुभवनक्रियार्थं किमिच्छाक्रिया नास्ति, ? न हि अनुबुभूषां विनाऽनुभवः स्यात् ? **अथात्मनोऽनुभवनं नास्ति** = न प्रकाशते—इत्यर्थः, **सा** = अवस्था **जडा न प्रसज्यते** ? प्रसज्येतैव—काक्वा योजनीयम्। आत्मनो ह्यहमिति परामर्शोऽनुभवः सैव चाजडता जडवैलक्षण्यदायिनी **ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या** ॥८८½–९०½॥

अथ **जडत्वेऽप्युपलादेः** शिवत्वोपगमात् **जडतासंजनम्**। कोऽयं दोषः ? न त्वयं दोष एव। **यथा** नोपलादेर्जडता, **तथाऽग्रे** समीप एव प्रकर्षेण **विचार्यते**—इत्ययमेकः पूर्वोक्तप्रकारो वितत्य कथितः। अथवा स्थूलायां **क्रियायां सफलायां समाप्तायां** तदनन्तरमेव सफले **क्रियान्तरे** इच्छासम्भवो यावदपर्यवसानम्, तत्र निमित्तभूता अनन्तता यतोऽस्ति **शिवशक्तीनाम्**। शिवशक्त्यश्च **नित्यम-**

भूताया वृष्टेर्यथाऽनुमानम्, तथेहापि कार्येण कारणानुमानमित्याह—**प्रसर्पतीति** ॥८९॥

ननु चाहमित्यविकल्पकं पश्यन्निति किमुच्यते, यतः सर्वमेवोपलादिकं जडमेव; तत्र जडत्वादेवाप्रकाशता; अप्रकाशे तु कथमहमित्यविकल्पमेव परामर्शः सम्भवति ? न केवलमियदेव। तस्यापि शिवत्वे शिवोऽपि तथा जड एव प्रसज्येत। भेदे तूपलादिकं जडमस्तु चेतनं वाऽस्तु न काचन भवदभ्युपगतशिवत्वहानिरित्यत आह—**उपलादेरिति**। अत्र **"शिवत्वं ते कथं स्थितम्।"**—इत्येव साध्यम्, न तु **जडे शिवत्वं कथम्** इति। तस्य तूपलादेर्भवतामपि जडत्वमेवोपगतमिति। **जडता—** शिवतत्त्वस्य। **दोष एवेति**—एवकारेणात्रोपलादेरपि जडतासम्भावना निरस्ता; तेन शिवत्वे जडता दूरापास्तैव सिद्धा। **विचार्यते** इति—अर्थलभ्यत्वादत्र शिवत्वं पुनर्न समर्थितमिति बोध्यम्। **पूर्वोक्तप्रकार** इति—तावन्मात्रस्थितौ इत्यर्थः ॥९१½॥

अब प्रश्न है कि उपल अर्थात् पत्थर आदि तो प्रत्यक्ष जड़ हैं फिर वहाँ आपकी चैतन्यात्मक शिवता कैसे मानी जाय ? उत्तर है कि पत्थर आदि में भी जड़ता नहीं है यह हम आगे विचार करेंगे ॥९१–९१½॥

भावजगत् में सम्पन्न होनेवाली स्थूल क्रियायें जब अपना-अपना फल देकर चरितार्थ हो जाती हैं तब उसके अग्रिम क्षण में क्रियान्तर की इच्छा उत्पन्न होती है। चूंकि शिव की शक्तियाँ अनन्त हैं और वे शक्तियाँ शिव में शाश्वत रहती

क्रियान्तरेच्छासम्भूतिस्तन्निमित्तमनन्तता ।
यतोऽस्ति शिवशक्तीनां ताश्च नित्यमवस्थिताः ॥९३॥
सरन्त्येव स्वभावेन तत्सरत्प्रकृतिः शिवः ।
ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य केनेच्छा वा विकल्प्यते ॥९४॥

वस्थिताः सरन्त्येव स्वभावतः । ताश्च शक्तयः प्रसरन्त्यो यतः, तत् सरन्ती प्रकृतिर्यस्य स तथाभूतः **शिवः**, तथाभूतलक्षणत्वात्तस्य । यथोक्तम्—

"अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।" (स्प० का० ४।५) इति ।

इति द्वितीयः प्रकारो वितत्योक्तः । अथवाऽऽह–**ईश्वरस्येति** । केन वाऽस्येच्छा विकल्प्यते स्यात् न स्याद्वेति । स्वातन्त्र्यं तावदवश्यंभावि, ईश्वरत्वादेव । तन्मयं विश्वं तथाविधमेव–इत्येतावत् तावत् स्थितम् । अथवा स्वातन्त्र्येऽपि विश्वात्मताप्रसरणरूप-स्वविभवास्वादोऽपरिसमाप्तो यस्यास्ति स्वभावविशेषस्तस्य प्रागुक्तैव सर्वदा विश्व-रूपताप्रसरणे निमित्ततेत्येवमभिनवेच्छोदये निमित्तं नास्तीति दूषणम् ॥९१–९४½॥

द्वितीय इति—परापराख्यशक्तिप्रसर इत्यर्थः । **ईश्वरस्येति**—यदुक्तं दूषणो-द्युक्तबुद्धिभिः परमार्थान्वेषणकुण्ठैः पूर्वपक्षिभिः विशिष्टेच्छावशादभीष्टे यज्जगल्लक्षण-कार्यसम्पत्त्या हेतुभूतया इच्छाकारणविरतौ पुनः स्थितिप्रलयादौ पटादिविज्ञाने वा इच्छान्तरोद्गमे को हेतुः ? यत्प्रेरितस्य शिवस्य पूर्वस्वभावनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्तरे चेच्छा नवनवा प्रवर्त्तते इति ? तदपि तेषामनादरपूर्वं समर्थयति—**ईश्वरस्येति** । अयं भावः—यदि हि स्वतन्त्र ईश्वरः परिमितेनैवेच्छादिना व्यवतिष्ठेत तर्हि त्वस्य स्वातन्त्र्यमेव नश्येत् । स्वतन्त्रो हि सदा परिमितस्वरूपो नवनवोदयः । यदि च केवल-मिच्छाऽस्य पूर्वभाविन्येवास्थास्यत्, तर्ह्यस्य परिमितत्वेन शून्यतैवागतेत्यर्थः । **अस्य** = स्वतन्त्रस्य । **तथाविधमेवेति**—कुत्र पुनः पूर्वस्वभावतादिनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्त-रोदयादीत्यर्थः । **दूषणमिति**–काक्वा न दूषणमित्यर्थः ॥९४½॥

हैं, अतः इच्छाएँ भी अनन्त हैं और उन इच्छाओं का स्फुरण होना और फिर शिव में वर्तमान शक्ति का प्रसरण, यह शिव के स्वभाव के कारण होता ही रहता है । इस प्रकार उन शक्तियों का मूलकारण शिव है ॥९२-९३½॥

उपर्युक्त प्रकार के अतिरिक्त एक प्रकार यह भी है कि ईश्वर स्वतन्त्र है; वह अपरिमित है । इसलिए उसकी इच्छा भी अपरिमित होने के कारण विकल्पशून्य है । वह ईश्वर स्वयं विश्व के रूप में अपना प्रसार कर अपने स्वरूपवैभव का आनन्द ठीक उसीप्रकार लेता है जैसे कोई सुन्दरी अपने स्वरूप को अलंकृत कर अपने सौन्दर्य पर स्वयं आनन्दविभोर हो उठती है । इसप्रकार नयी-नयी इच्छाओं के उदय का कोई कारण नहीं है ॥९४-९४½॥

विभवामोदबाहुल्यस्याथवोक्ता निमित्तता।
विश्वतुच्छत्ववाक्यानां वैराग्याद्यर्थवादिनाम् ॥९५॥
तात्पर्येण न दोषोऽस्ति नानाचित्त्वं न कल्पते।
एकस्मिन्नेव देहे तु विभेदात् परमाणुगात् ॥९६॥

विश्वमसत्यं बुद्बुदोपममिति शिवोक्तैरपि वाक्यैर्न विरोधः। यत एषां वैराग्यनिरात्मतादिप्रयोजनाभिधानवतामेकशिवात्मतासमर्थनपरत्वेन न दोषोऽस्ति। न च सर्वशिवत्वे नानाचित्त्वप्रसङ्गः; तथाहि—**एकस्मिन्नेव देहे** यावन्तः परमाणवस्तावन्तः शिवा इत्येवं **परमाणुगा**दपि **विभेदात्** विभेदः स्यादित्यानन्त्यप्रतिपादनमित्येषोऽपि न दोषः। ये बहवः परमाण्वादिपदार्थास्त एकशिवरूपा इति कथं बहुत्वम्? न हि शिवो घटादिरूपः, अपि तु घटादिः शिवरूपः। ततश्चिद्रूपस्य देशकालस्वभावभेदाभावान्न भेदः। एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां प्रदर्शितम्। यैः पुनरणुभेदवादो गृहीतस्तेषां चाणूनां स्वभावाच्छिवता। सा च मलावृता।

विश्वेति—यत् पुनरुक्तम्—

"विश्वस्यासत्यरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित्।
शिवोक्तैस्तैर्विरोधः स्यात् सर्वसत्यत्ववादिनः॥ (श. दृ. ३.३२) इति।

तदपि समर्थयति—**विश्वेति**। **एषाम्** = शिवोक्तवाक्यानाम्। यतोऽसत्यत्वं सत्यमेवोक्तम्, तच्चानवबोधाद् विधुरीकृतमल्पबुद्धिभिः; तच्चासत्यत्वं कश्चिद्रागव्याप्त्या भागे रज्येतेति भागशो व्याप्तिरसत्येति वैराग्योत्पादनार्थं तत्रासत्यत्वम्। तथा येऽत्र स्वभाव एव वस्तुनो वस्तुतेति, तद्वादिनिरासार्थमेषां नैरात्म्यं दर्शितमित्यर्थ ॥९५$\frac{1}{2}$॥

एकस्मिन्नेवेति—अत्रैके—'यद्यत् किञ्चन प्रतिभाति तत्तत्सर्वं शिवः' इति विलोमव्याप्ति विदधते। तथा हि—यद्यदिति अनेकं नानाविधं भिन्नं भिन्नमर्थजातं तत्सर्वं

जो लोग विश्व को वन्ध्यापुत्रवत् तुच्छ मानते हैं वे लोग भी नानात्मक विचित्रभावमय विलक्षण संसार की भेदमयी मोह माया में फँसकर दुःख भोगने वालों को वैराग्य आदि की ओर ले जाकर ऐकात्म्यशिवत्ववाद का ही पोषण करते हैं। इसलिए वहाँ कोई दोष नहीं है। सब कुछ को शिवात्मक मान लेनेपर अनेक चित्त का योगसम्मतसिद्धान्त भी दूरापसारित हो जाता है ॥९५-९५$\frac{1}{2}$॥

जो परमाणुभेदवादी (वैशेषिक आदि) एक ही देह में परमाणुओं के भेद के कारण अनन्तचित्त होने से अनन्त शिव की आशङ्का करते हैं वह नानाचित्तात्मक दोष उन्हीं भेदवादियों के मत में है। मेरे मत में तो चूँकि सारे परमाणु एक शिवरूप हैं न कि शिव अनन्त परमाणुरूपवाला है, अतः कोई दोष नहीं है ॥९६-९६$\frac{1}{2}$॥

एकत्वाच्छिवरूपस्य दोषोऽयं भेदवादिनाम् ।
एकाधिष्ठानतो वाऽपि तेषामपि न दूषणम् ॥९७॥
आन्तरे कृमिचैतन्ये चित्रता स्वामिभृत्यवत् ।
तावदेकचित्स्वरूपशिवप्रसरणेन वा ॥९८॥

ततस्तेषामत्रोक्तज्ञानवशाद् यदि शिवत्वव्यक्तिस्ततो भिन्नाः शिवाः । ते च देहस्थाः, तन्मयत्वे चाणूनां देहपरमाणव एव किमिति शिवाणवो न भवन्तीति भिन्नपरमाणुवादो न चित्तत्त्वस्य, ततस्तेषामेवायं दोषः ॥९५–९६½॥

अथवा तेषामणुभेदवादिनां नानाचित्त्वं न दूषणम्, यत एकचिद्रूपशिवाधिष्ठिता नानात्मान एकस्यैव निजमायाप्रथनात् इति यथा शिवाद्वयदर्शने । अस्माभिः सविस्तरमिदमपि **ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामेव** समर्थितम् । अभेदाख्यातिश्च तारतम्येन भिद्यते पुर्यष्टकभोगोद्रेकात् । चित्रता कृम्यादिचैतन्ये स्वामिभृत्यरूप-

---

शिव एवेदि यद्यपि शिवाद्वयमेव, तथापि तेषां बहुत्वाद् भिन्नत्वाद् बहूनि भिन्नानि शिवान्यपि सम्भवन्तीति, तद् दूषयति—**एकस्मिन्निति** । **विभेदादिति—विभेदात् परमाणुगात्** इत्यत्र द्विधा गतिः । न्यायबाहुल्यं चान्यत्र । अत्र तावदेके ब्रुवन्ति—यथा प्रतीयतेऽयं बाह्यो निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन नैकानेकरूपतया सावयवः, तथाऽयुक्तः; एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारेणावस्थानादेकाश्रयत्वायोगात् । तस्मान्निरवयव एक एवावयवी बाह्यो देवदत्तप्रतीतिविषयः; अवयवास्तु पृथक् प्रतीत्या हस्तः पाद इति पृथग्भूताः प्रतीयन्ते, न त्वेकत्वानेकत्वयोरनेकाश्रयतेति अवयववादिन आहुः । **यैरिति**—अत्राहुरपरे—तदेतदयुक्तम्; हस्ते चलति चलतो देवदत्तस्य, पदादिषु वा चलत्सु चलतश्चलत्वाचलत्वलक्षणविरुद्धधर्मयोगः स्यादेकस्य । न चैतद्युक्तम्; तावन्मात्रलक्षणत्वादनेकत्वस्य । प्रत्यवयवं च सर्वात्मना युगपत् समवेतेऽनेकत्वं स्यात्, एकावयवापाये च नाशः स्यात् । अवयवान्तरावस्थानादनष्टस्यापि पर्यायेणैकैकावयवापायाविनाशिनः सर्वावयवापायेऽपि अविनाशः स्यात् । तस्मात् परमाणव एव निरवयवाः सञ्चिता इति परमाणुसञ्चयवादिनः ॥९६½॥

ननु च यदि चितेरुद्रेकात्तत्तच्छक्तिमद्व्यपदेशस्तर्हि पातञ्जलमतम्, तर्हि **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** (पा० यो० सू० १.२४) इति लक्षणं कृतमित्येतदपि शङ्कित्वा समर्थयति—**पातञ्जलादीति** ।

अथवा नानाचित्तात्मकता भी दोष नहीं है । क्योंकि उन नानाचित्तात्मक शिवों का उसीप्रकार परमशिव एक अधिष्ठान है जैसे स्वामी और सेवक के बीच शक्ताशक्त का सम्बन्ध होता है । अथवा जैसे अनेक कीड़ों-मकोड़ों में एक ही चेतनता है । उसी प्रकार नानाचित्तों में भी एक ही शिवात्मक चैतन्य है ।

पातञ्जलादीश्वरेण न साम्यमविभेदतः ।
इह तद्वन्न विज्ञेयं तस्मात् सर्वं स्थितं शिवः ॥९९॥

शक्ताशक्तचैतन्यद्वयात्मत्वात् । अथवा तावत्परिमाणमनेकक्रम्यादिपर्यन्तमेक-चित्स्वरूपस्य शिवस्य यत् प्रसरणम्, तेन । अत्र पक्षे पुर्यष्टकाधरीकारेण चितेरुद्रेकात् शिवाद् विभेदः स्तस्यैव तथारूपत्वात् । अत एव मायाशक्तिवशात् तथैकत्वा-प्रथनात् अनेकत्वम्, वस्तुतस्त्वभेद इति । **पातञ्जलेन** = पुरुषविशेषेणेश्वरेण तथा वैशेषिकादिस्थितेन **न साम्यम्**; तत्र भेदाभ्युपगमात; इह त्वभेदः । तद्वदीश्वरदर्शने न ज्ञेयम् । अतः सर्वमेव भावजातं शिवात्मकं **स्थितम्**; तथाभावे सर्वदूषणपरि-हारादिति ॥९९॥

इति श्री शिवदृष्टिवृत्तौ श्रीमदुत्पलदेवनिर्मितायां तृतीयमाह्निकम् ॥

ननु चास्तु सर्वथा शिवैक्यम्, तथाऽपि किंकृतोऽयं विचित्रताभेदः यतः कोऽपि बहुशक्तियुक्तः, कोऽपि न्यूनशक्तियुक्तः ?—इत्यत आह—**अभेदाख्यातिरिति** । ननु च यदि पुर्यष्टकभोगोद्रेकाच्चित्रता, तर्हि तदधीनत्वात् तस्यापि स्वानन्त्र्यम् कृतं परेशस्वा-तन्त्र्येण ?—इत्याशङ्क्य पक्षान्तरेण कथयति—**अथ वेति** ॥९९॥

पातञ्जल योगसूत्रं में वर्णित तथा वैशेषिक सूत्रवर्णित ईश्वर के साथ भी इस परम-शिव का साम्य नहीं है । क्योंकि वहाँ ईश्वर और अनीश्वर (अर्थात् जीव-जगत्) का भेद है । यहाँ हमारे दर्शन में अभेद है । इस प्रकार समस्त भावजगत् शिवात्मक है और ऐसा मानने पर सभी दोषों का परिहार हो जाता है ॥९७-९९॥

•

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । (पा० यो० सू० १)

चतुर्थमाह्निकम्

अथेदानीं प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम् ।
नाशक्तो विद्यते कश्चिच्छक्तः वस्त्वेव तेऽपि नो ॥१॥

वृ०–परोद्भावनीयदूषणशङ्कानिराकरणे कृते सर्वशिवत्वमिदानीं स्वरूपेणोपपादयितुमाह—**अथेदानी**मिति । दूषणनिराकरणादनन्तरं विधिमुखेनैव सम्प्रति तद्व्यक्त-

---

टि०–**उद्भावनीयः** = प्रकटनीयः । सर्वशिवत्वम् = सर्वं च तच्छिवत्वम् । **उपपादयितुम्** = युक्त्या सम्पादयितुम् । यदुक्तम्—

"आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥" (शि० दृ० १.२)

इति । यद्यपि सर्वथा मुख्यतो निष्प्राद्यम्, तथापि पश्वादिकुतर्कपांशुपातधूसरीभावेन मा तावत् कश्चिद् व्यामुह्येत् इति परिमादिकुतर्कपांशुरेव तावत् सुतर्कसुगन्धशीतलामृतेन प्रहृतः । तथा हि सर्वत्रैवात्र वादिनां विप्रतिपत्तिः । आदौ तावच्छान्तब्रह्मवादिनां सर्वभागेष्वत्र विरोधः । यद्धि ब्रह्मणः स्वस्वभावभूतं स्वसत्तात्मकं स्वप्रकाशत्वं नाम प्रत्यवमर्शनम्, तच्च तैर्विकल्पपक्षे निक्षिप्तम् । विश्वप्रक्रियां प्रति मायाशक्तिप्रस्रवात् स्वातन्त्र्यमप्यपह्नुतमेव । तथा च तस्य मायामयत्वेन कुत्सितत्वात् कथं तत्रात्मत्वम् ?–इत्यपीष्टमेव; तेषां नेतिनेतिवाक्यैः सर्वस्य निराकरणात् । तस्य विश्वस्य कुत्सितत्वकथनात् कथमस्य तत्रानिरुद्धेच्छत्वम् ? ज्ञानकाले च बुद्धिवृत्त्यात्मनो ज्ञानस्याश्रयणात् कथं प्रसरज्ज्ञानत्वम् ? क्रिया च प्राणस्पन्दात्मिकैवेति कथं तत्र स्यात् ?–इति सर्वथाऽपह्नव एव शून्यवादिनाम् । पातञ्जलवैशेषिकादिमते यद्यपि ईश्वरतत्त्वमुपगतम्, तथापि भेदवादत्वादात्मैवेति कथं सिध्येत् ? सांख्यादौ पुरुषस्य निष्क्रियत्वे कथं क्रियाशक्त्युपगमः ? बौद्धादीनां क्षणिकत्वात् कथं विभुत्वनित्यत्वे ?

चि०–अब हम इस समय यह बतलाने जा रहे हैं कि कैसे सब कुछ शिवात्मक सिद्ध होता है । इस विश्व ब्रह्माण्ड में कोई भी तत्त्व वर्त्तमान अर्थात् अर्थक्रियाकारी हो और शक्तिरहित हो ऐसा सम्भव नहीं । और यदि घट पट आदि अनेक पदार्थों को पृथक्-पृथक् शक्तिमान् माना जाय तो सबको स्वतन्त्र मानना पड़ेगा । फिर एक ही पदार्थ में इसका स्वयंकृत स्वातन्त्र्य नवीन है या निर्मातृकृत स्वातन्त्र्य प्राचीन है यह निश्चय न हो सकने के कारण दोनों की प्राप्ति हो जायगी । किन्तु व्यवहार जगत् में ऐसा दिखाई नहीं पड़ता । अतः एक ही तत्त्व मानिये ॥१-१½॥

इष्यन्ते बहवः शक्ताः सर्वस्वातन्त्र्यमापतेत् ।
अथैकस्याधिकाशक्तिर्न्यूनशक्तिनिबन्धिनी ॥२॥

व्यमस्माभिर्यथा **सर्वं शिवात्मकं** सिध्यति तदुच्यते । **अशक्तश्चार्थक्रियायां** विद्यते च इत्येतावन्नास्ति; प्रख्योपाख्याकरणेन तावद् व्यभिचारात् । **शक्तं** चेत्, तद्वस्त्वेव = परमार्थसदेव शिवरूपमिति । तथा हि—क्रियाकरणशक्तिः कर्त्तृता चिद्रूपता शिवरूपत्वमपि, चिद्रूपस्येच्छारहितस्य कर्त्तृत्वायोगात् । घटपटादिकं करणशक्तं चेद्, तत् स्वतन्त्रं चिद्रूपं शिवरूपमेवेति । **बहवश्च** घटादयः प्रत्येकं शक्ता

शब्दब्रह्मवादे स्वातन्त्र्यापगमादविद्याश्रयणात् कथमनिरुद्धेच्छत्वं सिध्यति ?—इति सर्वथा तद्वादभङ्गे शिवाद्वयवादे स्थिते यथा तत्सिद्धमेव प्रतीतिगोचरतामेति तथा कथनीयमित्याह—**परोद्भावनीयेति** ।

अस्याचार्यस्य सर्वथा प्रतीतौ विशिष्टत्वात् सर्वथा यदत्राह्निके प्रतिपादनीयम्, तद्बीजाक्षरमाह—**अथेति** । तथा हि—

"**अकारः शिव इत्युक्तस्थकारः शक्तिरुच्यते ।**" इति ।

रहस्यनयेनात्र सर्वशिवत्वं मुख्यतः प्रतिपादनीयम्; तत्रापि तत्सर्वशिवत्वं शक्त्यैव समर्थनीयमित्यकारथकाराभ्यां शिवशक्तिव्यपदेशोऽत्र कृतः । तथेदानीमित्यप्येतादृगभिप्रायार्थमेव सूचितम्; तत्तु विस्तरभयान्नेह विविच्यते । **विधिमुखेनैवेति**—ननु परवादनिराकरणेनैव सर्वं गत्यन्तराभावात् शिवात्मकं सिध्यतीति किं पुनरुक्त्या ?—तत्राह—**विधिमुखेनैवेति** । पूर्वं तु सर्वनिराकरणेनैव समर्थितमपि निषेधमुखेनैव साधितमित्यर्थः । **प्रख्येति**—विद्यते यदि, तर्ह्यर्थक्रियायामशक्त इति किमेतत् ? यत्र यत्र हि सत्त्वं तत्र तत्र शक्तत्वम् = अर्थक्रियाकारित्वम् । तदेवाह—**प्रख्येति** । प्रख्या = सत्त्वमिति । शक्तत्वाभ्युपगमे च किम् ?—इत्यत आह—**शक्तमिति** । इच्छारहितं चिद्रूपं न किञ्चित्; तस्य स्वरूपाभ्युपगमरूपत्वात्; इतीच्छासहितं चिद्रूपं शिवरूपं कर्त्तृत्वम्—इत्यत आह—**चिद्रूपस्येति** । **घटपटादिकमिति**—अत्रापि पूर्ववन्न्यायः; यतो घटादिकं करण शक्तम्, ततश्च चिद्रूपम्; चिद्रूपस्येच्छारहितस्य कर्त्तृत्वायोगादिच्छासहितं स्वतन्त्रं शिवरूपमेवेत्यर्थः ॥ अत्र जडत्वमेषामाशङ्क्य न्यायमाह—**बहवश्चेति** । ननु जडचेतनव्यवस्थायां सर्वमेतत् सिध्यति; एषां हि पराधीनत्वमेव स्फुटं भाति; एषां स्वतन्त्रचिद्रूपत्वेऽनन्याधीनत्वात् सर्वे स्वात्मनि स्वतन्त्रा इति किमस्याधीनम् ?—इति

एक व्यक्ति में वर्त्तमान अधिक शक्ति दूसरे व्यक्ति में वर्त्तमान कम शक्ति की प्रतिबन्धिका होती है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है । यह भी अनुभव में आता है कि अपने कार्य के प्रति जगत् के सभी पदार्थ समर्थ हैं । जैसे जलानयन में घट, तैलोत्पादन में तिल आदि । जहाँ शक्ति होती है उसी का प्रतिबन्ध भी देखा जाता है ।

स्वकार्यविषये सर्वः शक्त एव निबन्धनम्।
शक्तस्य शक्यते कर्त्तुमेवं चेन्नान्यशक्तता ॥३॥

नेष्यन्ते; सर्वेषां तथा **स्वातन्त्र्यं** प्रसज्यते। ततश्च भिन्नाभिसन्धितया नवमिदमस्तु पुराणमथास्तु—इत्येकस्य नवपुराणभावविरोधप्रसङ्गः। न चैवं दृश्यते। अथैकस्याधिका शक्तिर्यस्मादन्यशक्तिमसौ निबध्नाति = नियमयति। ततश्च तस्य न्यूना। स्वकार्ये विषयभूते तु **सर्वः शक्त एव। निबन्धनम्** = नियमनम् हि शक्तस्यैव; न तु तैलदानशक्तिः सिकतासु शक्यक्रिया। तदेवं यदि सर्वशक्तित्वमिष्यते, ततो नान्येषां घटादीनां प्रत्येकं **शक्तता** = स्वतन्त्रता ॥१–३॥

व्यवस्था नश्येत् इत्यत आह—**बह्वश्चेति**। **प्रसज्यत** इति—यदि च प्रत्येकं घटादौ स्वातन्त्र्यं स्वयमिष्यते एकप्रमात्रनधीनत्वाद् भिन्नभिन्न एवाभिसन्धिः सर्वत्र प्रसज्यते, यथा च घटोत्पत्तौ नवं स्वकीयमेव स्वातन्त्र्यं किम्? किं वा निर्मातृकृतं पुराणम्?—इत्येकस्यैकत्र निश्चयाभावादुभयमापतति; तच्चानिष्टम्। तत एतत् सिद्धं तस्यैव शक्तिमतः शक्तिस्वरूपं सर्वं पदार्थजातं शक्तमेव, न तु तस्य स्वकीयं लेशमात्रेणापीत्यद्वयमेव फलितम्। **भिन्नाभिसन्धितया** = अनुसन्धानेन। **पुराणम्** = प्रमातृसम्बद्धम्। **दृश्यते** इति—प्रत्यक्षविरुद्धत्वात् ॥१½॥

निबन्धिनी = निरोधिनी। **शक्तः** = स्वशक्तिकः। अत्र हेतुमाह—**शक्तस्येति**। ननु किमिदमुच्यते—**भिन्नाभिसन्धितया नवपुराणभावप्रसङ्ग** इति? पुराणा हि शक्तिरौत्कर्ष्यभागिनी तत्कृतत्वादस्य घटादेरर्थजातस्य; घटादेः शक्तिः पुनस्तत्कृतत्वादेव हेतोर्न्यूना, इत्यतः स्वयं शक्ताऽपि न्यूनत्वात्तस्य नियमस्येति न नवपुराणभावप्रसङ्गः? एकत्र सिद्धं च सर्वत्र शक्तत्वं प्रत्येकमेवान्यथाशक्तत्वाभावे कस्य निबन्धनत्वम्? यथोक्तम्—

"प्रेर्योऽपि स भवेद्यस्य शक्तता नाम विद्यते।"

तदेतदस्मदभीष्टमेवेत्याह—**एवं चेदिति**। **तदेवमिमि**—**तदेवं** घटपटादीनां शक्तिमतः शक्तिरूपत्वात् स्वकार्यविषये शक्तत्वेऽपि स्वयं तदधीनत्वं प्रसङ्गनिराकरणार्थं समर्थितम्। अथेदानीं येऽपि स्वयं जडेभ्यश्चेतना इति लोकप्रसिद्धास्तेऽपि चेत्थंस्वरूपका इति कैमुतिकन्यायाश्रयणेन का घटादीनां वार्त्ता?—इत्याह—**नृपादीति**।

यदि प्रत्येक पदार्थ की शक्ति स्वतन्त्र होती तो न तो अधिक शक्तिमान् कम शक्तिमान् को रोकता और न ही तिल से तेल निकालने के लिए किसी व्यक्ति या यन्त्र की आवश्यकता होती। और यदि होती भी, तो तिल की शक्ति स्वतन्त्र होने से उसके ऊपर व्यक्ति या यन्त्र का प्रभाव भी न पड़ता। अतः जगत् के समस्त पदार्थों की शक्ति परतन्त्र है। स्वतन्त्र शक्ति परमशिव की ही है ॥२-३॥

नृपादिसाधनापेक्षा स्वकर्मफलता भवेत् ।
सर्वः शक्तोऽपि सापेक्ष ईशवन्मोहसाम्ययोः ॥४॥
तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः ।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा ॥५॥

तथा हि सेवितनृपादिसाधनकार्यापेक्षैव स्वकर्मफलता स्यात् । स्वानि = भोग्यानि कर्मफलानि यस्य, तस्य भावः । यतः सर्वः स्वयं शक्तोऽपि सापेक्ष एव व्याप्रियते । यथा द्वैतदर्शनेऽपीश्वरो मोहम् = मायातत्त्वम्, अपेक्ष्य सर्गे प्रवर्त्तते; कर्मसाम्यं चापेक्ष्य अनुग्रहे; न चाशक्तोऽनीश्वरः । तस्मादनेकघटपटस्वभावाभिः शक्तिभिस्तच्छक्त्यभेदतः शक्तिमत्तालक्षणत्वात् शिवत्वस्य, एक एव शिवः स्थितः; तेन तेन प्रकारेणानेकशक्तघटपटादिपदार्थात्मकत्वात्तस्य । घटचितस्तावन्मात्ररूपायाः स्वातन्त्र्ये पटचिता सहानुसन्धानं न स्यात् । तस्मादेकमेव चित्तत्त्वमनन्तविश्वरूपमिति ॥४–५॥

अयमर्थः—यथा सेवकस्य नृपादौ सेविते स्वकार्यफलता कार्यापेक्षया भवति; तदधीनत्वात्; तथा शक्तस्यापि प्राणिनः स्वकर्मफलता पराधीनैवेति सर्वथैक्येऽपि शक्तिमदेकत्वमेव सर्वत्र समर्थितम् ॥३॥

ननु चायातं तर्हि भेदवादिनामिव द्वैतमयत्वं विशिष्टत्वात् तन्मते ईश्वरस्य ?—इत्याशङ्क्याह तद्विशेषार्थम्—**तस्मादिति** । ननु शक्तत्वे कथं सापेक्षत्वम्, सापेक्षत्वे शक्तत्वमेव न सम्भवति ?—इत्यत्र शक्तत्वे सापेक्षत्वं दृष्टान्तकथनेन द्रढयति—**यथेति** । **कर्मसाम्यमिति**—इत्थं हि तत्प्रक्रिया—विरुद्धयोः कर्मणोः समबलयोरन्योऽन्यप्रतिबन्धे कर्मसाम्यम् । ततश्चेश्वरानुग्रहः; भोगोन्मुखयोरेव कर्मणोरन्योऽन्यप्रतिबन्धः, जात्यायुष्प्रदस्य कर्मणः प्रतिबन्धे तदैव देहपातप्रसङ्गः । भोगस्यैव संसारविक्षेपदायित्वात् तद्रूपस्य प्रतिबन्धेऽनुग्रहो नान्यस्येति ॥५॥

उसी प्रकार राजा आदि की सेवा का फल भी शक्तिमान् सेवक को राजा आदि की शक्ति की अपेक्षा रखकर ही मिलता है । निष्कर्ष यह हुआ कि संसार में सभी कुछ शक्तिमान् होते हुए भी सापेक्ष है । जैसे कि द्वैतदर्शन (माध्वदर्शन) में ईश्वर मोह अर्थात् मायातत्त्व की अपेक्षा रखकर ही सृष्टि में प्रवृत्त होता है और प्राणियों के कर्मसाम्य की अपेक्षा रखकर उन्हें मोक्ष देने या उनपर अनुग्रह करने में प्रवृत्त होता है । उसी प्रकार हमारे अद्वैत दर्शन में भी नाना प्रकार की विचित्र स्वभाववाली शक्तियों के साथ अभेद सम्बन्ध से स्थित एक ही परमशिव अनन्त विश्वरूप में सर्वत्र स्थित है ॥४-५॥

तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तदसत्कथम् ।
यत् सत् तत्परमार्थो हि परमार्थस्ततः शिवः ॥६॥
सर्वभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता ।
मिथ्याज्ञानविकल्प्यानां सत्त्वं चिद्व्यक्तिशक्तता ॥७॥

शक्तं वस्त्वेवेत्युक्तम् । वस्तु च सदुच्यते । यच्च सत्, तन्नासदिति स एव **परमार्थः**। यस्माच्च परमार्थः **ततः** सत्त्वात् = परमार्थत्वात् शिवः । ननु कथं परमार्थमात्रत्वेन शिवः, जडोऽपि कथं न परमार्थः ? तन्न; जडस्य सत्तैव कथं चिद्व्यक्तिं विना सिद्धा । स्फुरद्रूपता हि सत्ता । स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता । ततश्च जडता तावन्नास्ति । प्रकाशमानता हि प्रकाशाभेदः । प्रकाशश्चानपह्नवनीयः सर्वप्रतिष्ठारूपः परमार्थः । सर्वेषां च घटादीनां प्रकाशरूपतया विशेषाभावादेकप्रकाशात्मता; तत एवैकशिवत्वम् । एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां विस्तारितम् ।

परमार्थ इति—अयं भावः—यदि घटादिर्जडरूपस्तर्हि तस्याप्रकाशनात् कथं परमार्थमात्रत्वमपीति कथं जडरूपत्वेन प्रथनम् ? अथ प्रकाशत इति प्रकाशमानताऽस्य स्फुरद्रूपता, ततश्च जडत्वेनास्य केन व्यपदिश्यत इति ?

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामिति—तत्र तु—

"घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी ।
परेशशक्तिरात्मेव भासते नत्विदन्तया ॥" (१·५·२०)

ननु किमिदमुच्यते—

"तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तत् कथमसद् ।" इत्यादि ? केवलं सन्मात्रेऽतिप्रसङ्गः । न हि रजतादावर्थक्रिया लेशमात्रेणाप्यस्तीत्यर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति तत्र तत्र निर्णीतम् । रजतादौ च मिथ्याज्ञाने काचनाप्यर्थक्रिया नास्ति । यदि च चिद्व्यक्तिशक्तताया एव घटादाविव तत्रापि प्रतिश्रूयेत तर्हि कोऽयं सम्यक्त्वमिथ्या-

---

जब संसार का समस्त वस्तुसमूह शक्त होने के कारण सत् है ऐसा अनुभव होता है तो उसे शून्यवादी बौद्धों के अनुसार असत् कैसे कहा जा सकता है ? जो पदार्थ असत् नहीं है सत् है वह सदा सत् अर्थात् परमार्थ है; और इस कारण वह शिव है । स्पष्टार्थ यह हुआ कि समस्त पदार्थों में चित्स्वरूप शिव की स्फुरत्ता है और इस प्रकार सब जगह परमशिव ही स्थित है ॥६-६½॥

मिथ्याज्ञान (रज्जु-सर्प) विकल्प (वन्ध्या-पुत्र) आदि की सत्ता का जो आभास होता है वहाँ भी ज्ञान तो होता ही है और ज्ञान परमशिव से अभिन्न है अतः उन-उन स्थलों में भी परमशिव की सत्ता का खण्डन कौन कर सकता है ?

विद्यते तत्तदत्रापि शिवत्वं केन वार्यते।
इति चेदेषु सत्यत्वं स्थिमेव चिदुद्गमात् ॥८॥
तथा शिवोदयादेव भेदो मिथ्यादिकः कथम्।
व्यवहाराय सत्यत्वं न च वा व्यवहारगम् ॥९॥
तथा च देशे क्वचन राजाज्ञा जायते यथा।
व्यवहारोऽस्तु दीनारैरेतैरव्यवहारगैः ॥१०॥

मिथ्याज्ञानविकल्पनीयानां रजतसर्पादीनां घटादीनामिव **चिद्व्यक्तिशक्तता** = प्रकाशमानता नाम विद्यते, तदेव **सत्त्वम्** = परमार्थत्वम् अतोऽपि तच्छिवत्वम्। अनिवार्यं चैतदिष्यत एव एषु सत्यत्वम्, चिदभिव्यक्तेः; तेन तेन रूपेण शिवस्य प्रसरोऽयं यतः। घटज्ञानरजतज्ञानयोश्च द्वयोरपि सत्यत्वे सम्यङ्मिथ्यात्वभेदस्तर्हि कथम् **व्यवहाराय** = व्यवहारप्रयोजनोऽसौ ? न चाप्ररूढत्वात् व्यवहारसत्यत्वं वा सत्यत्वं भवति ॥६–९॥

राजाज्ञया कूटदीनारैरपि व्यवहारोऽस्त्येव। तथाऽन्यत्रापि इच्छामात्रात् यथासंकेतं वस्तु अनपेक्ष्यैव कालव्यवस्थाऽऽरम्भादिव्यवहारः। यदि पुनरप्ररूढस्य

त्वनयो लोकप्रसिद्ध इति ? तदेतत्समर्थयति—व्यवहारायेति। **मिथ्याज्ञानेति**—यथा जडस्य कथं सत्तैव चिद्व्यक्तिं विना सिद्धा, चिद्व्यक्तौ च सत्तायां स्फुरद्रूपतायां प्रकाशमानतायां सिद्धायां प्रकाशाभेदात् सर्वप्रतिष्ठारूपपरमार्थत्वान्न जडता नाम काचनास्ति, तथा मिथ्याज्ञानविकल्प्यानां सत्तैव चिद्व्यक्तिं विना न सिद्धाः चिद्व्यक्तौ च स्फुरत्तारूपायां सत्यां तेषामपि प्रकाशाभेदात् सर्वप्रतिष्ठारूपपरमार्थत्वान्न मिथ्यात्वं नाम किंचन सम्भवति ॥ **अप्ररूढत्वात्** = निश्चयेनादृढत्वात् ॥९॥

अत्र दृष्टान्तमाह–**तथा चेति**। यदि च व्यवहारसत्यत्वेन सत्यत्वं तर्हि व्यवहार-सत्यत्वे **व्यवहारगै**रेव **दीनारैः** सर्वथा **व्यवहारः** स्यात्, **अव्यवहारगै**स्तु कथम् ?

अब प्रश्न है कि यदि सर्वत्र ज्ञानस्वरूप शिव की ही सत्ता मानी जा रही है क्योंकि सर्वत्र ज्ञान होता है, तो मिथ्या और यथार्थ का भेद कैसे संगत होगा ? उत्तर है कि यह भेद व्यवहारजगत् में तो मानना ही पड़ेगा लेकिन व्यवहारजगत् का सत्य परमसत्य तो होता नहीं ॥७–९॥

जिस प्रकार राजा के आदेश पर कागज के नोट से भी व्यवहारजगत् में रुपये का काम चलता है जब कि नोट यथार्थ वस्तु (रुपया या सममूल्य की वस्तु) नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार के लिए मिथ्या यथार्थ आदि का भेद परम-शिव की इच्छामात्र से चल रहा है ॥१०–१०½॥

प्रवर्त्तते तथाभूतैरन्यत्रापि तथाऽन्यथा ।
व्यवहारस्य सत्यत्वे सर्वत्र सत्यतैव ते ॥११॥
सत्यत्वे तस्य हानिः स्यात्पक्षेऽभ्युपगते किल ।
तस्यापि किं शिवावाप्तिः कथमुक्ता ह्यसत्यता ॥१२॥
व्यवहारतयैवास्ति सत्यत्वं न निबन्धनात् ।
विकल्पादेः समुत्पत्तिः सत एव प्रजायते ॥१३॥

व्यवहारस्यासत्यस्यापि सत्यतेष्यते; तदेवंजातीयतया सर्वमिदं जगत् सत्यं स्यात्, असत्यतापरमार्थं व्यवहारवदित्यर्थः । **तस्य** = जगतः, परमार्थतः **सत्यत्वे** सत्ययं दोषो व्यवहारसदृशसत्यतात्मकः स्यात्तव । एवं च सर्वसत्यतावादपक्षेऽभ्युदिते शास्त्रोदिते **हानिः स्यात्** । **तस्यापि** = व्यवहारस्य किं चिदुद्गमात् **शिवावाप्तिः** = शिवरूपता, इष्यते ? अनायासागतस्य शिवतेत्यर्थः । एवं चेत् कथमस्य व्यवहारस्याप्यसत्यतोक्ता ? सत्य एवायमेवं सति स्यादित्यर्थः ? सत्यम्; किन्तु **व्यवहारतयैवा**प्यस्य व्यवहारस्य **सत्यत्वं न** तु **निबन्धनात्** = निबन्धनत्वात् प्ररूढत्वादित्यर्थः ॥१०–१२½॥

तेषामसत्यत्वात् ? तथा च तेषामपि कदाचित् सत्यत्वे कथं व्यवहारगं सत्यत्वमसत्यत्वं वा ?–इति न व्यवहारगेन सत्येनासत्येन वाऽर्थक्रियाकारित्वमित्यर्थः ॥ अत्रातिप्रसङ्गमाह—**व्यवहारस्येति** ॥ ननु व्यवहारासत्यत्वं यदि चिद्व्यक्ति विना सेत्स्यति तदा तदसत्यमेवास्तु यतस्तदपि चिद्व्यक्ति विना न सिद्धयतीति कथमसत्यत्वं तत्र ? यदि च चिद्व्यक्तिस्तत्र नास्ति तर्हि कथमसत्यत्वम् ?–इत्याशंक्याह—**तस्यापीति** ॥१२॥

यदि व्यवहारजगत् को पारमार्थिक सत्य मानेंगे तो सब जगह आपको सत्यता माननी पड़ेगी, फलतः शास्त्रों में बिम्ब को मिथ्या मानने के सिद्धान्त का व्याघात हो जायगा । साथ ही यहाँ भी मिथ्या और यथार्थ के भेद के अनुभव से विपरीत होने के कारण आपका सर्वसत्यतावादी सिद्धान्त अप्रामाणिक हो जायगा ॥११–११½॥

प्रश्न है कि व्यवहार जगत् भी ज्ञानमय होने से शिवात्मक है तो इसे आप (सिद्धान्ती) असत् कैसे कह रहे हैं ? तो मेरा (सिद्धान्ती का) उत्तर यह है कि व्यवहारात्मकरूप से तो यह जगत् सत्य है किन्तु परमार्थतः तो शिव ही सत्य है और कुछ नहीं ॥१२–१२½॥

वन्ध्यापुत्र आदि विकल्पात्मक ज्ञानवाले तथा शुक्तिरजत आदि मिथ्याज्ञानवाले स्थलों में भी सत् अर्थ की उत्पत्ति नहीं होती । वहाँ तो उसी व्यवहार के

नाभाष्य व्यवहारार्थमेवं वाऽस्त्विति निश्चितम् ।
तथैवास्तु शिवावस्था केनासौ विनिवारिता ॥१४॥
मिथ्यात्वं क्रियते कस्य किं काले यत्र तद्भवेत् ।
काल एव स न भवेदिति चेन्नैव कुत्रचित् ॥१५॥

न विकल्पादेः स्वतन्त्रात् रजतादिज्ञानाच्च निबद्धत्वेन **सत एवार्थस्योत्पत्तिः** सम्पद्यते । किं तर्हि ? तथा **आभाष्य** = संकेत्य, **व्यवहारार्थमेवं** कूटदीनारादेः क्रयोऽस्तु, अद्यारभ्य कालगणनायामयं संवत्सरः संवत्सरारम्भो **वाऽस्त्विति** । **निश्चितम्** = निश्चयः । अथवा एवं वस्त्वपि सत्यमपि कालादीति निश्चितव्यवहारार्थम् । तस्य च तथैवास्तु शिवत्वेनावस्थितिः, **केन विनिवारिता** चिदुद्गमात् शिवत्वलक्षणयोगात् ? विकल्पस्य व्यवहारस्य सत्यत्वासत्यत्वपक्षभेदे प्राङ् निमित्तमुक्तम् यत् प्रकाशमानस्य सत्यत्वे सत्यत्वमेव । चिदभेदाख्यातिमयत्वात् सत्यत्वमिति; एवं च सर्वत्रैव न विस्मरणीयम् ॥१३–१४॥

बाधके च प्रमाणे सति नेदं रजतम्; नेदं रजतम्; शुक्तिका;–इति निषेधनिष्ठतया प्रतीतौ मिथ्यात्वं स्यात् । तेन बाधकेन प्रमाणेन मिथ्यात्वं कार्यम् । तत् कस्य

अथेदानीं यतो न कथञ्चनापि व्यवहारेण कस्यापि सत्यत्वमस्ति, ततो यथा विकल्पादौ सत एव नोत्पत्तिः । अथ चासतोऽपि प्रकाशबलेन व्यवस्थितत्वात् सत्त्वमभ्युपेयते तथैव संकेत्यादिव्यवहारार्थमेव कूटदीनारैर्व्यवहारेऽपि प्रकाशबलेन व्यवस्थापितत्वात् सत्त्वम् । यथेहैव वस्तुतत्त्वमनपेक्ष्यापि कालादिकलनाव्यवहारस्तत्तत् प्रमातृकल्पितः तथा यद्यस्ति तथाऽस्तु–इत्याह—**विकल्पादेरिति** । **न विकल्पादेरिति**—यथा विकल्पादेः स्वतन्त्राज्ज्ञानाद् रजतादिज्ञानाच्चासतोऽप्यर्थस्य सत्यत्वमेवाभ्युपगतं तथाऽसत्यस्यापि कूटदीनारादिव्यवहारस्य कालादिव्यवहारस्य च स्थितत्वात् कथं न सत्यतेति ? **चिदभेदेति**—चिदभेदाख्यातिमयत्वेन न कथंचनापि सत्यत्वमित्यर्थः ॥१४॥

तदेवं व्यवहारसत्यत्वेन न कथंचन सम्यक्त्वमिथ्यात्वनिश्चयः, किन्तु परमार्थसत्यत्वेनैव सर्वो व्यवहारः सम्यक्त्वमिथ्यात्वरूप इति साधयति—**मिथ्यात्वमित्यादि-**

लिए संकेत मानकर उसी प्रकार कार्य होता है । जैसे कागजी नोट को सत्य मान कर क्रय-विक्रय; या 'अमुक तिथि से यह संवत्सर माना जायगा', यह सब व्यवहार होता है । वहाँ शिवावस्था को उसी रूप में अर्थात् संकेतरूप में मानिये; उस शिवावस्था को कौन रोक रहा है ? ॥१३–१४॥

यदि आप विकल्प या भ्रम आदि स्थल को मिथ्या मानते हैं सत्य नहीं क्योंकि उस ज्ञान का उत्तर काल में बाध हो जाता है तो यह बतलाइये कि आप मिथ्या

अकाले जननं किंचिद् बाध्यते वा जनिक्रिया।
कृत्वा कार्यं क्रिया याता गतायां किं प्रबाध्यते ॥१६॥
अथानुभवगा बाधा नानुभूतोऽन्यथा भवेत्।
अथेन्द्रियस्य बाध्यत्वं तत्कालं यादृगिन्द्रियम् ॥१७॥

क्रियते ? तत्र किं यस्मिन् काले तद्रजतता भवेत् ?—सं काल एव न भवतीति मिथ्यात्वमित्यभ्युपगमः ? तन्न; नैव हि **अकाले** = कालाभावे कस्यचित् **जननं नाम**; किंचित्कालरहितायाः क्रियाया अयोगादित्यर्थः ; जनिक्रिया वा यदि बाध्यते ? तन्न; रजतादिकार्यं **कृत्वा क्रिया** समाप्ता। तस्या असत्याः को बाधार्थः स्वयमेव तस्या अभावात् ? इदानीं च बाधविषयस्याभावात् को बाधः ? ॥१५–१६॥

अथ यदि रजतानुभवगता बाधा इष्यते ? तन्न; न ह्यनुभूतो विषयोऽननुभूतो युक्तः। अथ रजतद्विचन्द्रादिज्ञानकारणमिन्द्रियमनिन्द्रियमिति बाध्यते ? तन्न;

पूर्णवाक्यार्थसमन्वयः। अत्र वादिन आहुः—विकल्पबलादेवैतत् सिध्यति इति न "**तथैवास्तु शिवावस्था केनासौ विनिवारिता।**" इति। तथा हि समस्तान्तर्बहिर्व्यवहारव्यापकसत्यासत्यप्रविभागनिश्चये निबन्धनभूतोऽस्ति ह्ययं बाधव्यवहार इति; तदेतदनुपपन्नमित्याह—**मिथ्यात्वमिति**। प्रतीतौ = रजतज्ञाने। **तेनेति**—अयं भावः—किमिदमुक्तं **तथा तथा** सम्यङ्मिथ्यात्वाभ्यां चिदभिव्यक्तेः शिवोदयात् सर्वोऽयं चित्प्रसरमय इति ? बाधकेन प्रमाणेन मिथ्यात्वस्य मिथ्याकल्पितत्वात्; ततश्च व्यवहारसत्यत्वमेव सत्यत्वमिति न सर्वत्र सर्वथा तथात्वमिति नैतत्सिद्धम् ?—इत्याह—**तत्कस्येति**। कस्येति सामान्येन निर्दिष्टं विशेषेण विकल्पयति—**तत्रे**त्यादि। **इदानीम्** = शुक्तिकाज्ञाने ॥१६॥

तदेवं कार्यभावे बाधदूषणमुक्त्वा कारणत्वेऽपि बाधव्यवहारस्य दूषणमाह—**अथानुभवेति**। तत्रादौ तावत् कार्यकारणयोर्मध्यमवलम्ब्य पृच्छति—**यदीति**।

किसे कह रहे हैं ? क्या उस काल को मिथ्या मानते हैं जिसमें सर्प आदि का ज्ञान हुआ ? तो ऐसा कहना सर्वथा असंगत है क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ काल-रहित अवस्था में पैदा ही नहीं होता। क्या जननक्रिया को मिथ्या मानते हैं ? तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि क्रिया तो फल को देकर नष्ट हो गई। नष्ट क्रिया का बाध कैसा ? क्योंकि वह तो लुप्त होने से स्वयं बाधित है ॥१५–१६॥

यदि अनुभव का बाध मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि एक बार जो अनुभव हो गया उसे कैसे अननुभूत स्वीकार किया जाय ? यदि तात्कालिक इन्द्रिय का बाध मानेंगे तो वह बाधक इन्द्रिय का अभाव कैसे करेगा ? कर नहीं सकता। देखा जाता है कि भ्रम के दूर हो जाने पर भी इन्द्रिय वैसी ही और वही रहती

तदाऽन्ध्यं जन्यते केन तस्य कालान्तरस्थितेः ।
सर्वैः समत्वं बाधो वा सम्बन्धे जननं कथम् ॥१८॥

न हि बाधकेनेन्द्रियस्यान्ध्यम् = अभावः कर्त्तुं शक्यम्; तद्रजतादिज्ञानकाले यादृगिन्द्रियं तस्य तदानीं घटादीनामुपलब्धेः । अथ कालान्तरे यदा बाधकोत्पत्तिः ? तदा तस्यानवस्थानाद् बाधः । तत्कालान्तरस्थितेर्बाधोपगमे तदानीन्तनसम्यग्ज्ञानैरपि मिथ्याज्ञानानां समत्वं नाम बाधः प्राप्नोति । न चैवं युक्तम्; वर्त्तमानकालभाविनां घटादिज्ञानानां सम्यक्त्वेन सम्भवात् । अथेन्द्रियविषयादीनां सम्बन्धे बाधः ? तन्न; सम्बन्धबाधे हि कथं ज्ञानजननम् ? तस्माद् यावत्सम्भवं विकल्पने सर्वथा रजतादिप्रतीतौ न किंचिन्निषेद्धुं शक्यते—इति न कश्चिद् बाधार्थः । शुक्तिका रजतं न भवतीति च न बाधः । न हि रजतत्वेन शुक्तिका प्रतिपन्ना इति वा प्रतीतेः;

तथा हि विषयापहारो हि बाध इति ते विदुः । सोऽपि न कथंचनाप्युपपन्न इत्याह—**तन्नेति** । प्रतिभातत्त्वेन विषयस्य तस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । न हि बाधकं ज्ञानमित्थमुत्तिष्ठति यत् प्रतिभातं तन्न प्रतिभातमितोति भावः ॥ **इन्द्रियमिति—**न तावदिन्द्रियमेवंविधबोधविधायि भवितुमर्हति; सर्वथा तदुत्पादप्रसङ्गादिति भावः । अत्राहुरन्ये—दोषकलुषितमत्रेन्द्रियमिति । तदप्ययुक्तम् । दुष्टं कारणं स्वकार्यकरण एव कुण्ठितशक्ति जातमिति तदेव मा जीजनत्, विपरीतकार्यकरणस्य किं वर्त्तते ? न दुष्टानि शालिबीजानि यवाङ्कुरकरणकौशलमवलम्बेरन्; तस्मात् कारणाभावादपि न बाधः । कालान्तरे बाधकोत्पत्तिः शुक्तिज्ञानम् । शुक्तिज्ञाने सति रजतज्ञानस्यानवस्थितत्वं बाधः; तदयुक्तमित्याह—**तत्कालेति** । यदि हि तदानवस्थितत्वमेव बाधः, तर्हि तदानीन्तनानां सम्यग्ज्ञानामपि शुक्तिकाज्ञानाकालेऽनवस्थितत्वात्तेषामपि बाधप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ आचार्यधर्मकीर्त्तिमतमाह—**शुक्तिकेति** । यथा शुद्धं भूतलं घटाभावः तन्निबन्धनत्वाद् घटाभावव्यवहारस्य, ततः शुद्धभूतलज्ञानमेव यथा घटाभावज्ञानं तथैव शुक्तिकाज्ञानगतयथार्थप्रकाशनलक्षणप्रामाण्यसंवेदनमेव शुक्तिज्ञानस्वसंवेदनानतिरिक्तं यत् प्रकाशेत तदेवोच्यते, शुक्तिविपरीतरजतज्ञानगतायथार्थस्वभावाप्रामाण्यसंवेदनं स एव बाध इत्यर्थः ? अत्रोत्तरमाह—**न हि रजतेति** । अयं भावः—यदि शुक्तिका रजतत्वेन प्रतिपन्नेति तदा भवेत् प्रतीतिरियं

है । और यदि कालान्तर में इन्द्रिय का बाध मानेंगे तो यथार्थज्ञान की स्थिति में भी कालान्तर में इन्द्रिय का बाध प्राप्त होने लगेगा । लेकिन ऐसा होता नहीं । यदि यह कहिये कि इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध का बाध होता है तो यह कथन भी अनुचित है; क्योंकि सम्बन्ध का बाध होने पर तो किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होगा ॥१७–१८॥

व्यवहारस्य बाधा चेद् व्यवहारे यथेष्टता ।
क्वचित् सत्यसुवर्णस्य प्रत्यन्ते व्यवहारिता ॥१९॥
कूटकार्षापणादौ वा व्यवहारोऽपि दृश्यते ।
तावता व्यवहारो वा यदात्माह्लादमात्रकम् ॥२०॥

शुक्तिदेशावष्टम्भेनेत्यपि न किंचित्, सर्वस्यैव प्रकाशमानस्य स्वरूपदेशत्वात् । सर्वथा यथा यत् प्रतिभातम्, तथैव तत्, नान्यथा कर्त्तुं शक्यत इति सत्यमेव न किंचिन्मिथ्यात्वम् । एतच्चेश्वरप्रत्यभिज्ञातोऽवसेयम् ॥१७–१८॥

व्यवहारोऽपि यदि बाध्यते–'रजतव्यवहारो न कर्त्तव्यः' इति ? तदपि न; व्यवहारस्येष्टस्य प्रवृत्तेः । न तद्वशेन सत्यासत्यविभागः । तथा हि—प्रत्यन्तदेशे क्वचित्

तदभावेऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । **शुक्तिदेशेति**–अथेदानीं सर्वथा शुक्तिरजतादौ प्रतीत्यनुदयात् तदाधारकल्पनया बाधमाह । अयं भावः—

न ह्यालम्बनता युक्ता संनिधाननिबन्धना ।
तदेवालम्बनं बुद्धेर्यदस्यामवभासते ॥
"अन्यदालम्बनमन्यद् भातीति भणितिर्नवा ।" इति ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञेति—तदत्रेत्थं संक्षेपः—

'स्वरूपमेव खल्वेतद् गृह्णात्यात्मानमात्मना ।
बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तितः ॥
स्वरूपं सतताभासं तेन तेनात्मना बहिः ।
तद् वहत्यर्थशून्यं वै लोकयात्रामिहेदृशीम् ॥" इति ॥१८॥

अथेति—अथेदानीं यतः कार्येण कारणेन च न कथंचन बाधः सिध्यति, ततोऽ-

---

प्रश्न है कि तब मिथ्याज्ञान अर्थात् व्यवहार का ही बाध मानिये; अर्थात् शुक्ति में 'नेदं रजतम्' इस प्रकार के बाध का तात्पर्य है कि 'अनया शुक्त्या रजतव्यवहारो न कर्त्तव्यः' ? तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जहाँ भ्रमात्मक व्यवहार वाञ्छित है वहाँ चलता ही है । उदाहरण के लिए रूमानिया आदि म्लेच्छ देशों में सच्चे सोने का भी उसी प्रकार व्यवहार होता है जैसा कि लोहे का । अथवा नकली गिन्नी भी राजा की इच्छा से सोने के भाव में व्यवहृत होती है ! इस प्रकार यह समझना चाहिए कि जहाँ तक मानवसमाज के कल्याण में बाधा न पड़े वहाँ तक मिथ्या व्यवहार भी चलता है, उसका बाध नहीं होता । यदि व्यवहार-जगत् में कोई पदार्थ आपकी आवश्यकता को पूरा करता है तो वह व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक है, क्योंकि वह अर्थक्रिया में समर्थ है । इस प्रकार व्यवहार में भी बाधा सम्भव नहीं ॥१९–२०½॥

अर्थक्रियासमर्थत्वमेददेवास्य वास्तवम् ।
अथ चेद्देशबाधो वा तद्देशे रजतं न हि ॥२१॥
यत्र काले सरजतो देशोऽभूत् स गतस्तदा ।
कालान्तरेण देशोऽसौ का बाधा भिन्नकालयोः ॥२२॥
ज्ञानान्तरेण ज्ञानं तद्विरोधादथ बाध्यते ।
न बाधो भिनकालत्वात् प्रावतनस्याप्यभावतः ॥२३॥

सत्यसुवर्णस्य तथा व्यवहारो यादृगयसः । कूटकार्षापणादिना च राज्ञ इष्टत्वात् **दृश्यते** व्यवहारः । अथवा यदाह्लादमात्रकं तावतैव व्यवहारः । एतदेव चाह्लाद-कारित्वमर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वे स्वसंवेदनसिद्धत्वेन, भ्रान्तत्वाद्वास्तवस्वप्नजलस्य पानाद्यर्थक्रिया भ्रान्ताऽपि स्यात् । तृण्निवृत्त्या तु तृप्तिः स्वसंवेदनसिद्धा न विसंवदति । साऽपि चाह्लादिकाऽर्थक्रिया कूटादेः स्वप्नजलादेर्वा स्यात् । तदपि सत्यं व्यवहार्यं चेति व्यवहारेऽपि न बाधस्थितिः । अथान्यदेशं रजतमन्यदेशमुप-लब्धमिति यदि वा देशबाधः ? तन्न; यस्मिन् **काले** स रजताश्रयो **देशोऽभूत्, स** कालो बाध्यरजतज्ञानकाले नास्तीति बाधकज्ञानेन बाधः क्रियते; न चैवम्; रजत-देशयोर्द्वयोर्भिन्नकालत्वात् । तथा हि शुक्तिकारजतकालेऽन्यदेशरजतकालो **गतः ।** ततश्च कालभेदेन देशभेदस्याविरोधात् **का बाधा** ? ॥१९–२२॥

अथ तस्मिन्नेव वस्तुनि रजतज्ञानं शुक्तिकाज्ञानं चेति विरोधात् शुक्तिकाज्ञानेन रजतज्ञानस्य बाधः = निवृत्तिः क्रियते ? तन्न; एकवस्तुनि युगपदन्यथात्वमयुक्तम् ।

बाध एव । अयं भावः—तदन्यदेशकालं यद्यप्यस्ति तथापीहासन्निहितस्य सताऽपि तेन किं विशिष्यते ? **यस्मिन्निति**—इदमत्र तात्पर्यम्—तौ तत्र देशकालौ किं सन्तौ प्रतिभासेते ? किमुतासन्तौ ? यदि च सन्तावित्यभिमन्यसे तदा तद्देशकालमेवेदं रजतमवभातमिति न भ्रान्तिरेषा स्यात्, असन्तौ तूभावपि रजतवन्नालम्बनं भवितु-मर्हत इति ॥२२॥

युगपदिति—न हि शुक्तिज्ञानेन रजतज्ञानं बाध्यते स्वस्मिन् विषये आत्मनि च स्वरूपे द्वयोर्ज्ञानयोर्निष्ठितयोर्विश्रान्तयोरन्योऽन्यं विरोधस्याभावात् । अथ परस्पर-

एक ज्ञान (शुक्तिज्ञान) से दूसरा ज्ञान (रजतज्ञान) बाधित होता है, क्योंकि एक का दूसरे से विरोध है ? ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि दोनों ज्ञान भिन्नकालीन हैं । जैसे भिन्नकालीन होने से दूध और दही का परस्पर विरोध नहीं है उसी प्रकार इन दोनों ज्ञानों का भी परस्पर अविरोध है ! पूर्वदृष्ट रजत दर्शन के अतीत अर्थात् निवृत्त हो जाने से स्वयं निवृत्त हो गया । वहाँ बाध कैसे ? ॥२३॥

सहानवस्थितिर्नास्ति विरोधः प्राग्विनाशतः ।
अन्योऽन्यपरिहारो वा ज्ञानाज्ञानात्मकः स्थितः ॥२४॥
अज्ञानत्वे परिज्ञाते तदा स्यात् स्वविरोधिता ।
अज्ञानत्वे स्वभावेन विरोधः केन वार्यते ॥२५॥
नैवमत्र स्वभावत्वे विरोधो बाधनात्मकः ।
स विवेकदृशा ज्ञेयो न स्वभावेन कुत्रचित् ॥२६॥

क्रमेण तु क्षीरदध्नोर्न विरोधः । प्राक्तनस्य दृष्टस्य स्वरसतो दर्शननिवृत्त्या निवृत्तेः, नाभावतः । **सहानवस्थितिरपि विरोधो** नास्ति । न हि ज्ञानं क्षणिकत्वेन प्राग्विनष्टमन्येन निवर्तनीयमुष्णेन शीतमिव विरुद्धं भवति रजतशुक्तिज्ञानयोः ।

न चान्योऽन्यपरिहारात्मको विरोधो ज्ञानाज्ञानात्मको विरोधो ज्ञानात्मको भावाभावयोः[1]......... ॥२३–२४॥

[अज्ञानस्य ज्ञानेन सह स्वाभाविको विरोधः केनाप्यन्यथयितुं न शक्य

परिहार एव विरुद्धयोर्युगपद् द्वयोः ? तर्हि सर्वेषां ज्ञानानां विरोधाद्बाध्यबाधकभावस्य निष्ठैव न लभ्येति सुतरां सत्येतरविभागस्य विलोप आयातः ।

विनैकत्वभित्ति–तत्तद्विभिन्नसंवित्स्रोतसामेकसंमिश्रीकरणात्मकमेकप्रमातृत्वं विना संविन्निष्ठा विषयव्यवस्थितय इति हि तावदागमेषु भण्यते; तद्भिन्नभिन्नपदार्था-

यहाँ पर सहानवस्थिति—(एक साथ न रहना) रूप विरोध भी नहीं है क्योंकि ज्ञान तो क्षणिक है । दूसरे ज्ञान के उत्पन्न होते-होते पहला ज्ञान नष्ट हो जाता है (बौद्धसिद्धान्त) । अतः यहाँ निवर्त्य-निवर्तकसम्बन्ध सम्भव नहीं । और ज्ञानाज्ञानात्मक अन्योन्यपरिहाररूप भी विरोध सम्भव नहीं । अर्थात् शुक्ति का पहले अज्ञान था वह अज्ञान शुक्तिज्ञान से परिहृत हो गया, इस प्रकार का विरोध यदि मानें तो यह भी सम्भव नहीं । क्योंकि अज्ञान यदि ज्ञात हो गया तो यह तो अपने से ही अपना विरोध है क्योंकि ज्ञात होने पर अज्ञान कहाँ ? अज्ञान में ज्ञान के स्वाभाविक विरोध को कौन रोक सकता है ? अर्थात् दोनों का स्वाभाविक विरोध अवार्य है ॥२४-२५॥

ज्ञान और अज्ञान की इस प्रकार की स्वाभाविक स्थिति में विरोध बाधनात्मक नहीं है । बाधनात्मक विरोध वहाँ होता है जहाँ विवेकपूर्ण दृष्टि से बात समझने की स्थिति हो । इस प्रकार वह बाधनात्मक विरोध विवेकदृष्टि से ज्ञेय होता है । केवल स्वाभाविकरूप में कहीं भी बाधनात्मकता सम्भव नहीं ॥२६॥

१ अतः परं शेषभागस्य व्याख्या त्रुटिताऽस्ति ॥ २-२५-३१ इति ।

तथा सर्वविकल्पानां सत्यरूपत्वदर्शनात् ।
गरुडादिशरीरेषु विषभूतापहारतः ॥२७॥
प्रतिष्ठादेवकर्मादिध्यानादिफलयोगतः ।
सत्येऽपि न फलं दृष्टं क्वचिदज्ञानिसेवितात् ॥२८॥

इत्यर्थः । नैवमिति—ज्ञानाज्ञानयोः स्वाभाविको विरोधोऽत्र न ग्राह्यः किन्तु बाधनात्मको विरोधः । स चायं बाधनात्मको विरोधो विवेकज्ञानेनावगन्तव्यो न तु स्वाभाव्यात् ॥२५–२६॥

"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (पा० यो० सू० १.७) । जगति तुच्छतयाऽपि वर्त्तमानाः पदार्थाः सत्यत्वेन प्रतीयन्ते । यथा गरुडशरीरे विषापहारको न कोऽपि पदार्थः वर्त्तमानो भवति अर्थात् तत्र विषापहारकत्वं तुच्छम्, तथापि तद् दृश्यत एव लोके । एवमेव तान्त्रिकशरीरे भूतपिशाचबाधापहारकत्वमपि लोकप्रसिद्धमेव एतेनेदमायातं यदेकैव चिद्व्यक्तिः सत्यासत्यात्मके सर्वत्र निगूढाऽस्ति ॥२७॥

प्रतिष्ठा—देवतायतने देवमूर्त्तीनां प्राणप्रतिष्ठा । तत्तन्मूर्तिप्रतिष्ठापनात्तत्फलावाप्तिश्रुतिः पुराणादौ दृश्यते । **देवकर्म**—देवायतननिर्माणादि । ध्यानम्—

नुस्यूतैकाभासात्मकाक्रमसंविद्विश्रान्ति विना न कथंचनाप्युपपद्यते । यदुक्त**मीश्वर प्रत्यभिज्ञायाम्**—

"तत्तद्विभिन्नसंवित्तिमुखैरेकप्रमातरि ।
प्रतितिष्ठत्सु भावेषु ज्ञातेयमुपपद्यते ॥"
देशकालक्रमजुषामर्थानां स्वसमापिनाम् ।
सकृदाभाससाध्योऽसावन्यथा कः समन्वयः ॥ इति ।

अभावशब्दस्य = अभावत्वेन मतस्य । **अत्यन्तासत्त्वेन** = त्रिकालासत्त्वेन । **अभाववाचित्वेनेति**—तेनात्र न सर्वथाऽभाववत्वमित्यर्थः अपि तु व्यवहारानुपयोग इत्यर्थः ॥ ननु च **शशशृङ्गं ज्ञायतेऽभिधीयते** इति कथं क्रियायोगोऽत्र प्रातिपदिकमात्रे हि विधिरयम्; न हि कर्मादिकारकयोगोऽत्र सम्भवतीति; व्यवहारश्च कर्मादिकार-

---

जिस प्रकार अज्ञान और ज्ञान का बाधनात्मक विरोध विवेक से ज्ञेय है उसी प्रकार समस्त विकल्प भी सत्यरूप में दृष्ट होता है, क्योंकि गरुड़ आदि के शरीर में विष एवं भूत-प्रेत आदि के अपहरण की शक्ति देखी जाती है ॥२७॥

उसी प्रकार देवप्रतिष्ठा देवकर्म ध्यान आदि के फल के सम्बन्ध में भी यह देखा जाता है कि यदि वह अनुष्ठानक्रिया का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति के द्वारा सम्पादित है तो सत्य होने पर भी फल नहीं मिलता । इसलिये चैतन्य को सर्वत्र मानना आवश्यक हो जाता है ॥२८॥

तस्मादवस्थितं सर्वं सत्त्वं चिद्व्यक्तियोगिता।
यत्र यत्र तत्र तत्र सत्यत्वं विश्वरूपता ॥२९॥
व्यतिरेके न युज्येत विज्ञानं हि घटादिषु।
मूर्त्तामूर्त्तधर्मयोगो घटस्तस्य न गोचरः ॥३०॥
अमूर्त्ता न च वाऽणूनामन्तरेव प्रवेशिता।
प्रतिपत्तुः कथं वेत्ति घटोऽयं प्रतिभेदतः ॥३१॥

प्रत्ययैकतानता। आदिना-उपासनातीर्थयात्रादिकं ग्राह्यम्। तेषामनुष्ठानात् तत्र फलावाप्तिः श्रूयते। सा चाप्तवचनत्वात् सत्या। किन्त्वनुष्ठानादिक्रमाज्ञानिना सेवितेभ्यस्तेभ्यः कर्मभ्यो न फलावाप्तिरिति ज्ञानस्य सार्वत्रिकमावश्यकत्वमिति सर्वत्र चिद्व्यक्तिः स्फुरत्येवेत्यत्र नास्ति सन्देहलेशावसरः ॥२८॥]

मूर्त्तामूर्त्तादिभिर्धर्मैर्योगो यस्य घटादेः सः; तस्य = विज्ञानस्य घटात्मनो व्यतिरिक्तः सन् न गोचरो भवितुमर्हति। तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्— 'प्राग-

---

काधीन एवेति कथं क्रियानिमित्तत्वम् ?–इत्याशङ्क्य व्यवहारे च यद्भावरूपाणां कारकाणां बीजभूतं तत्त्वं तत् समर्थयति येन येन भावाभावरूपं सर्वं समानमेवाध्यवसीयत इत्याह—वस्तुतश्चेति। हिमालय इति—अत्र हि क्रियास्वरूपं साध्यमित्यर्थः। इतोऽपीति—तदेवं परमेश्वरस्य विश्वशक्तिमयत्वेऽपि स्थूलेक्षया सूक्ष्मसमीक्षया महासामान्यनयेन विश्वस्य तन्मयत्वे सिद्धेऽपीति न किञ्चनाप्यत्र प्रक्षेपव्यापकर्षणीयाभावात्तत्साधनस्य प्रयोजनम्। अथ च व्यवहारमात्रं साध्यमित्या-

---

इस कारण यह सिद्ध हो गया कि जो कुछ सत् रूप में प्रतीत होता है वह सब ज्ञान अथवा चैतन्य का प्रकाश ही है। जहाँ-जहाँ ऐसा है वहाँ-वहाँ सत्य के रूप में विश्वात्मा विश्वरूप परमशिव ही विराजमान हैं ॥२९॥

यदि आप (विज्ञानवादी बौद्ध) इसके विपरीत मानेंगे तो घट आदि में जो आप प्रवृत्तिविज्ञान स्वीकार करते हैं वह भी सम्भव नहीं होगा। मूर्त्तधर्म (रूप रङ्ग आकृति आदि) अमूर्त्तधर्म (घटत्व आदि) से युक्त घट भी ज्ञान का विषय नहीं होगा यदि आप घट को चित्स्वरूप परमशिव से व्याप्त नहीं मानेंगे। घट-निर्माण के समवायीकारण परमाणु जो कि अमूर्त्त हैं वे भी परमशिव में ही प्रविष्ट हैं अर्थात् उनसे अभिन्न हैं अन्यथा भिन्न होने पर ज्ञाता 'यह घट है' यह ज्ञान कैसे कर पाता ? ॥३०-३१॥

---

१. श्लोकसप्तकस्य व्याख्यायास्त्रुटिर्वर्त्तते। तत्र [ ] इति चिह्नाङ्किते सम्पादकस्य व्याख्या ज्ञेया।

विनैकत्वं च न भवेत् कारकत्वं कदाचन।
शशश्रृङ्गादिके नापि स्याद् विभक्त्या समन्वयः ॥३२॥
सर्वथाऽभावशब्दस्य नास्त्यभावात्मकं क्वचित्।
इतोऽपि सर्वशिवता सत उत्पत्तियोगतः ॥३३॥

वार्थोऽप्रकाशः स्यात्" (१.५.५२) इत्यादिना। न च वा घटादयः परमाणुरूपत्वेऽ-**मूर्त्ताः**। असर्वगतद्रव्यपरिमाणं देशयोग्यता वाऽपि हि मूर्तिः। ततस्तेषा**मणूनां** बोधमयस्य शिवरूपस्य प्रतिपत्तुरन्तरेव प्रवेशित्वम् = अभेदः, इत्यर्थः। अन्यथा स प्रतिपत्ता प्रविभेदात् कारणात् **कथं घटोऽयम्** इति वेत्ति ? न कथंचिज्जानीयादित्यर्थः ॥३०–३१॥

घटादेश्च यदेतत्स्वकार्यकरणं भवद्भिरिष्यते, तच्चिदेकरूपत्वं विना न स्यात्। जडस्य निरभिसन्धेः करणायोगादित्येतदपि **ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामेवोक्तम्**। तस्मात् यदर्थक्रियाकारित्वात् सत्, तत्सर्वं शिवरूपम्। यदप्यत्यन्तासत्त्वेनाभिमतं शशश्रृङ्गादि तत्रार्थे वर्त्तमानस्य सर्वथैवाभाववाचित्वेन मतस्य शब्दस्य **विभक्त्या** योगो न स्यात्। शशश्रृङ्गं ज्ञायतेऽभिधीयते चेति कारकाश्रितत्वाद्विभक्तीनामसतश्च

नुषङ्गिकप्रयोजने वाद्यन्तरविमतिनिराकरणरूपेण मुख्यप्रयोजनेन च तत्स्वरूप-सत्तात्मकं चिन्निर्वृतिशक्तिद्वयं सर्वाक्षेपकत्वेनाधिकरणसिद्धान्तनीत्या समर्थितमेव ? तत्र चिच्छक्तिस्फारोन्मेषस्वभावज्ञानशक्त्या तावदद्वयवादः समर्थितः। अथेदानीं तत्स्वातन्त्र्यस्फारोन्मेषस्वभावक्रियाशक्त्याऽपि तदद्वयं समर्थयितुं कर्तृकर्मभावोन्मीलनार्थं सत्कार्यवादमाश्रित्य तावद् ब्रूते—**इतोऽपीत्यादि** ॥३३॥

यदि आप परमशिव और विश्वब्रह्माण्ड को एक नहीं मानेंगे तो जो आप (= विज्ञानवादी बौद्ध) घट आदि कार्य का कारण घट आदि को ही मानते हैं यह भी सम्भव नहीं हो सकेगा। और सर्वथा तुच्छ असत् पदार्थ शशश्रृङ्ग आदि हैं उनमें भी आपको परमसत्ता शिव का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा, अन्यथा इन शब्दों का प्रयोग ही सम्भव नहीं होगा; क्योंकि अर्थवान् शब्दसमूह से ही विभक्ति का योग होता है भले ही वह अर्थ बौद्ध हो या बाह्य। यहाँ तक कि अभावशब्द का भी यदि पद के रूप में प्रयोग करना है तो उसे भी अर्थवान् मानना ही पड़ेगा, और वह अर्थ होगा परमशिवरूप सत्ता। इसके अतिरिक्त यदि अभाव का ज्ञान हो रहा है तो वह भी ज्ञानात्मक होने से विश्वरूप ही है। तात्पर्य यह हुआ कि विश्व में अभावात्मक अर्थात् अशिवरूप कुछ भी नहीं है ॥३२–३३½॥

इस कारण भी समस्तविश्व शिवरूप है कि उत्पत्ति भी सत् की ही होती है जैसा कि सांख्यशास्त्र मानता है। तो सत् के रूप में वही परमशिव पहले से

स एवास्ते पुरा तादृक् शक्तिरूपस्वरूपकः ।
स एव कार्यरूपेण भगवानवकल्पते ॥३४॥
सत्कार्यं नोपपन्नं चेत् सतः किं करणेन यत् ।
अभिव्यक्तिरथास्यात्र क्रियते साऽपि किं सती ॥३५॥

कारकत्वायोगात्, क्रियानिमित्तकत्वात् कारकस्य । तस्मात् तत्रापि विभक्तियोगेन कारकत्वे सति सत्तैव शिवताऽऽख्या । वस्तुतश्च घटोऽर्थक्रियामुदकाहरणादिकां करोतीति योऽयमवबोधः, स एव तथास्वरूपो न तु ततः पृथग्भूतो घटादिस्तथाकारी सिध्यतीति **प्रत्यभिज्ञायामेव** 'हिमालयो नामास्ति' इति विचारे दर्शितम् । अभावोऽपि ज्ञायमानो बोधात्मैव तदात्मकत्वाच्च विश्वरूप एव । तस्मान्नास्त्यभावात्मकमशिवरूपं क्वचिदपि विश्वमध्ये । इतोऽपि हेतोः सर्वशिवता यस्मादुत्पत्तिमद्भावजातं सदेवोत्पद्यते; तत्स्वभावस्य कार्यात्मनः प्रागपि विरुद्धासत्तासंस्पर्शायोगात् । तदेव च प्रागपि सदङ्कुररूपं स्यात्, यदि सत्तासतत्त्वोऽङ्कुर शक्तिरूपः पूर्वमास्ते पुनरङ्कुरात्मककार्यरूपेण भवति ॥३२–३४॥

अथ यदि सद्रूपं कार्यं नोपपन्नं सतः करणं विफलं यस्मात् । अथ सतः स्वरूपं न क्रियते अपि तु तस्याभिव्यक्तिः ?तदपि न युक्तम्; यतः साऽपि किं सती क्रियेत ?

ननु यदसत्तदसद्युक्तेति नयेनास्तु तावत्सत एवोत्पत्तियोगः । परं त्वियद्वक्तव्यं कथं ते तत्रावस्थिताः कार्यावस्थाया प्राक् कर्त्रवस्थायामपि ?–इत्यत आह—**पुरेति । स एवेति**—ननु चास्तु सत एवोत्पत्तिः कारणावस्थायामपि तस्य तादृगवस्थानाभिमननात् । इयत्तु विचिन्त्यं सतोऽप्यसत एवोत्पत्तिरिति । तथा हि यथा घटोत्पत्तौ यावत्स्वरूपेणावतिष्ठते तावन्न कार्योत्पत्तिः । तत्र तु कार्यं सदस्त्वसद् वा नास्त्यत्र विमतिः मृदादीनां स्वरूपनाशे सति घटोत्पत्तिः संभाव्यते नान्यथा । तथा विश्वरूपकार्योत्पत्तौ तस्य विप्रलोप आयातः इत्यसत्कार्यावदसिद्धिरन्यथापि सिध्यतीति किमत्र

शक्तिमान् कर्त्ता के रूप में विद्यमान रहता है और समय पाकर प्राणियों के अदृष्टवश स्वयं को कर्म के रूप में परिणत कर लेता है ॥३३–३४॥

यदि सत्रूप कार्य सम्पन्न होकर सामने नहीं आया तो सत् को क्रियायुक्त करने से क्या लाभ ? अर्थात् सत् का करना ही व्यर्थ हो जायगा । यदि यह कहिये कि हम सत् का कोई अभूतपूर्व कार्य नहीं करते बल्कि अनभिव्यक्त सत् को ही अभिव्यक्त कर देते हैं ? तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि यह बताइये कि वह अभिव्यक्ति भी सत् होती है या असत् ? यदि पहला पक्ष है तो उस अभिव्यक्ति से क्या लाभ ? वहाँ तो कुछ मिला नहीं, अभिव्यक्ति सत् को सत् रह गई । यदि यह कहिये कि फिर इस दूसरे सत् की अभिव्यक्ति होगी तब वह भी सत् होने से फिर

क्रियते ह्यसती वाऽथ सत्याः किं नोपलब्धता।
व्यक्त्यभावादथानन्त्यमसत्यां हानिसम्भवः ॥३६॥
स्वयमेवाश्रिते पक्षे तद्वद्वा वस्त्वसद् भवेत्।
नैवं यस्मात्तां विहाय सर्वत्रान्यत्र सत्क्रिया ॥३७॥

अथाऽसती ? तत्र सती चेदभिव्यक्तिस्तत् किं क्रियते किमिति कार्यस्य नोपलब्धता। अथ सत्त्वेऽपि अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यभावात् कार्यं नोपलब्धम्, तदभिव्यक्तेरपि अभिव्यक्तिः क्रियत इति तत्रापि पूर्वोक्तात् पातादानन्त्यमनवस्था; ततश्च प्रकृतकार्यदर्शनानिर्वृत्तिः। अथासती क्रियतेऽभिव्यक्तिः ? तदसत्याः करणे स्वयमाश्रितपक्षहानिप्रसङ्गः। अनवस्थापरिहारार्थं वाऽभिव्यक्तावसत् करणाश्रयणेऽभिव्यक्तिवत् वस्त्वपि अङ्कुरादिकमसदेव सत्कार्यमस्तु किमर्धजातीयेन ? ॥३५–३६॥

त्वदुक्तमेव न युक्तं यस्मात् तामभिव्यक्तिं वर्जयित्वाऽन्यत् सदेव कार्यमित्यस्माकं तावदभ्युपगमः। नहि सर्वत्र दर्शने सर्वैरेवार्थैस्तुल्यैर्भाव्यम्। तथा हि **वैशेषिकेऽभीश्वर**

शरणम् ?–इत्यत आह—**स एवेति**। अयं भावः—यदि कार्यकारणभावः स्यात् तदा भवेद्ध्रुवदुक्तेः सम्भवः; इह कर्तृकर्मभावः; स तु यथाज्ञाततत्तच्छास्त्रार्थान्तर्गर्भीकृतसमस्तशास्त्रसन्दर्भः बहिर्भावेऽपि स्वरूपेणावतिष्ठते तथेहापीत्यर्थः ॥३४॥

अथेदानीं सत्कार्यवादं कर्तृकर्मभावेन सम्यगाकलय्य स्वयूथ्यानां सम्यगवबोधार्थं प्रतिवादिविमतिनिरासकथनपूर्वं प्रतिपाद्याक्षेपेण युक्तिसमर्थनेन स्वमतं साधयति—**सत्कार्यमित्यादिना**। **सत्याः** = अभिव्यक्त्याः। **व्यक्त्यभावादिति**—व्यक्तेः सत्या अपि व्यक्त्यभावादसत्यत्वमिति। **असत्यामिति**—अतोऽभिव्यक्तेः पूर्वं सद्वाऽस्तु असद्वा, तत्र न स्फुटमस्य कार्यत्वम्, व्यक्तौ हि कार्यत्वं तस्यां चासत्यां सत्कार्यवादोऽनुपपन्न इत्यर्थः। **स्वयमिति**—यदुक्तं **"तदभिव्यक्तेरप्यभिव्यक्तिः"** इति तु न

अभिव्यक्ति की आवश्यकता का अनुभव करेगी और फिर जो अभिव्यक्ति होगी वह भी सत् होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ रहा है। यदि दूसरा पक्ष मानते हैं कि वह अभिव्यक्ति असत् है तब तो अभिव्यक्ति न मानने से सत्कार्यवाद की ही हानि हो जा रही है। इस प्रकार न तो उत्पत्ति और न अभिव्यक्ति मानिये, किन्तु परमशिव को ही नानारूपों से प्रकाशित मानिये। क्योंकि यदि अनवस्था के परिहार के लिये आप असत् की अभिव्यक्ति मानते हैं तो उसीप्रकार वस्तु अर्थात् अङ्कुर आदि को भी असत् मानिये। इस प्रकार शिव ही सत् होता है ॥३५–३६½॥

किन्तु आपका यह अभिव्यक्तिवाद संगत नहीं है। इसलिये उस अभिव्यक्तिवाद को छोड़कर अन्यत्र सबजगह हम सत्कार्यवाद ही मानते हैं। एक दर्शन सभी मामलों में दूसरे के समान हो ऐसा सम्भव नहीं। देखिये—वैशेषिक लोग

इत्यभ्युपगमोऽस्माकं नैकेनान्यत्र तुल्यता ।
कल्प्या वैशेषिकाणां हि कर्त्तैश्वरे स्थिता ॥३८॥
तद्वन्न किं पृथिव्यादेर्बौद्धे ज्ञानमवस्थितम् ।
स्वान्यप्रकाशकं नान्यत् तद्वदन्यत्र किं भवेत् ॥३९॥
बाह्यं रूपादि जल्पन्ति प्रमाणं चोदनैव ते ।
नियमाद् धर्मविषये तस्मान्नैकेन तुल्यता ॥४०॥
बहूनां कल्पनीयाऽत्र न च वा व्यतिरेकतः ।
व्यक्तिः स्थिता पदार्थानां घटो व्यक्तोऽभिधीयते ॥४१॥

एव विश्वकर्त्ता; न तु पृथिव्यादि द्रव्यम् । बौद्धदर्शने ज्ञानमेव स्वपरप्रकाशकम्, न रूपादि । ते **जैमिनीया** जल्पन्ति—चोदनैव नियमेन धर्मविषये प्रमाणम्—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी०सू० १.१.२) इति, न तु प्रत्यक्षादिकम् । तस्माद् बहूनामेकलक्षणानां प्रमेयाणां वा नैकेन भिन्नलक्षणाभिमतेनान्यस्यापि तुल्यतापादनदोष उद्भावनीयः । तेन सर्वेषामर्थानां सतामेव कार्यता ।तथाऽप्यभिव्यक्तिरसत्यैव कार्या; यथा धर्मे न चोदनावदन्यान्यपि प्रमाणानि, यथा न ईश्वरद्रव्यवत् पृथिव्या-

---

स्वयं त्वभिव्यक्तिः सत्यैवेति । अनुपपन्नतामेव दर्शयति—**सत** इति । यतो विफलतादिदोषप्रसङ्गः अत आह—**अथेति** । **अभिव्यक्तिरिति**—इत्यभिव्यक्तिरुपलब्धतां करोति । ननु कार्यसिध्यर्थमस्त्वनवस्था, नेत्याह—**ततश्चेति** । "**एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षयकारिणी ।**" इत्युक्तम् ॥ **अथासतीति**—कार्यं तु सदेव ॥ **पक्षहानिरिति** एकत्र सदन्यत्रासदिति हानिः, सा च न सर्वथा भाव एवेत्यर्थः ॥ ननु च—

वस्तुनिर्णयशून्याभिर्बोधिताभिः परस्परम् ।
अभिमानैकसाराभिर्जिह्मीमस्तर्कबुद्धिभिः ॥ इति

न्यायाश्रयणेन स्वानुभवदृढप्रमाणरक्षिते सत्कार्यत्वे सिद्धे तर्कदोषमाश्रयतो न कदाचनापि दोधूयमानस्यावलम्बः स्यादिति प्रौढोक्त्याभिव्यक्तावस्त्वसत्कार्यत्वमितीत्यत आह—**अभिव्यक्तिवदिति** । **ताम्** = अभिव्यक्तिम् । **अन्यत्रेति**—एकत्र

जगत् का कारण ईश्वर को मानते हैं; ईश्वर की भाँति पृथ्वी आदि को नहीं मानते । बौद्धदर्शन में ज्ञान स्वप्रकाश होते हुए परप्रकाश भी है किन्तु उसीप्रकार दूसरे पदार्थ रूप रस गन्ध आदि स्वपरप्रकाश नहीं हैं । मीमांसक विधिवाक्य को धर्म के विषय में प्रमाण मानते हैं न कि प्रत्यक्ष आदि को । इसलिये एक के साथ अनेक की समानता विचारणीय नहीं है । पदार्थों को छोड़कर अभिव्यक्ति सम्भव नहीं; क्योंकि व्यवहारजगत् में यह कहा जाता है कि घट अभिव्यक्त है । इस कारण अभिव्यक्ति पदार्थ से अभिन्न है न कि पदार्थ से पृथग् वस्तु ॥३७–४१½॥

तस्मात् स एव व्यक्तात्मा न व्यक्तेर्व्यतिरिक्तता।
दीपेन क्रियते व्यक्तिर्घटादेः सत एव वा ॥४२॥
यथा सतः क्रिया व्यक्तिर्व्यक्तेः सत्त्वे तथा कृतिः।
एकेनापरतुल्यत्वान्न च वाऽसत उद्भवः ॥४३॥

द्विद्रव्यमपि विश्वकारणम्। उपपत्तिरपि चात्रास्ति, नाभ्युपगममात्रम्। तथाऽभिव्यक्तिस्तावन्नार्थाद् व्यतिरेकेण स्थिता; तथाऽनुपलम्भात्। अभेदेनैव व्यवहारः। तथा हि घटो व्यक्तोऽभिधीयते व्यक्त्यभेदेन। **तस्मात्** पदार्थ **एव व्यक्तात्मा।** स च सन् क्रियते, न तु व्यक्तेर्व्यतिरिक्तया असत्याः करणम् ॥३७–४१½॥

नैवैतदपूर्वम्। **प्रदीपेन** हि घटादेः सत **एवाभिव्यक्तिः** क्रियते इति पदार्थ एव क्रियते। ततश्च यथा सतो घटादेर्व्यक्तिसंज्ञा क्रिया तथा व्यक्तेरपि पदार्थरूपायाः सत्या एव प्रदीपादिना कृतिः; बीजादिना वाऽङ्कुररूपायाः इति सर्वत्र तुल्यः सत्कार्यवादः। यतः पदार्थेन सता कार्येण व्यक्तेरपि तदभिन्नायास्तुल्यत्वम्। व्यक्तिश्च प्रकाशमानता प्रकाशात्मता, अङ्कुरादेरनादिनिधनस्य सत एव चित्प्रकाशस्य तेन तेन आत्मनाऽवस्थानमित्यभिव्यक्तिवादिना सत्कार्यवाद उक्तो

यदसाधारणं लक्षणं तदन्यत्र कल्प्यमानमनवस्थादोषदूषितं स्यात् ॥ तथात्वेऽतिप्रसङ्गमाह—कल्प्येति ॥ **बौद्धे** = बुद्धमते ॥ उपपत्तिरप्यत्रास्तीत्याह—**न चेति** ॥ तदेवं "**न च वा व्यतिरेकतः। व्यक्तिः स्थिता पदार्थानाम्**…" इत्युक्तम्। अथेदानीमनयोः सामानाधिकरण्यमेव साधयति—दीपेनेति ॥ ननु च यदि सन्नेव, तर्हि तस्याभिव्यक्तिर्नाम किम्? अथाभिव्यक्त्या स्वरूपलाभस्तर्ह्यभिव्यक्तिरेवास्तु, कृतं सत्कार्यवादेनेत्यत आह—दीपेनेति ॥४२॥

व्यक्ते इति—तेन नात्र सत्त्वव्यक्त्योर्भिन्नमधिकरणम्; समानरूपत्वात्। इत्थं युक्त्या सत्कार्यवादं प्रसाध्येदानीमनुभवेनापि स्वमतेन साधयति—न च **वेति** ॥ ननु च यदि सदेव कारणे कार्यं तर्हि केयं व्यक्तिर्नाम?—इत्यत आह—**व्यक्तिश्चेति**। यतोऽत्र सर्वतत्त्वभुवनकलापदार्थतत्तदवान्तरभेदानुगतं महासामान्यरूपं यत्, तदेवानादिनिधनं शिवत्वं नाम चित्स्वरूपत्वम्; तत्र कार्यरूपतयाऽवस्थानं न किञ्चित्; कारणरूपतयैवावस्थनात्। परन्तु यदा तत्रैव विशेषानुगमेनापरसामान्यमिव कल्पितं रूपं तत्कार्यमुच्यते, ततश्च कथं कुत्रासत्कार्यत्वम्?—इति सूक्ष्मोऽयं नय इत्याह—**अनादि-**

प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि दीपक आदि सद् घट की ही अभिव्यक्ति करते हैं। जिस प्रकार सत् पदार्थ घट आदि की अभिव्यक्ति नामक क्रिया होती है उसी प्रकार पदार्थ रूप अभिव्यक्ति की भी क्रिया होती है। इस प्रकार एकपदार्थरूप कार्य के साथ अभिव्यक्तिरूप कारण भी अभिन्न होने के नाते समान है; अर्थात्

किमाश्रित्य प्रवर्त्तन्ते तदभावस्वरूपतः ।
घटान्तरं पूर्वदृष्टमाकलय्याथ चेष्टनम् ॥४४॥

भवति । यदि **चासतः** कार्यस्योत्पत्तिः तदा कारकाणि **किमाश्रित्य** = किमुद्दिश्य, **प्रवर्त्तन्ते** = व्याप्रियन्ते । कार्यकारणभावस्य क्रियाकारकसम्बन्धमानत्वेनेश्वर-प्रत्यभिज्ञायां प्रवर्त्तनं पाकाद्यारम्भे रूपमिव चोदितम् । अथवा किमुद्दिश्य **प्रवर्त्तन्ते** कस्मिन् विषये तेषां सामर्थ्यम् ? विषयाभावे सामर्थ्यस्यानुपपत्तेर्विषयसापेक्ष-रूपत्वात्तस्य । विषयस्य च कार्यस्य तदानीमभावस्वरूपत्वात् ॥४३½॥

अथ कारकाणां चेष्टनम् व्यापारः सामर्थ्यं वा पूर्वोत्पन्नदृष्टाङ्कुरकलनेन ? तदयुक्तम् बीजादीनामचेतनत्वेनाकलनाभावात् । यत्रापि सचेतनं कुम्भकारादि कारणम्,

निधनस्येति; तेन तेनेत्यादि च । अनयोर्वास्तवाभेदमेव कथयितुमीश्वरप्रत्याभिज्ञा-यामपि—

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥" (१.७.१) इति उक्तम् ।

ननु चास्तु महासामान्यकल्पमनादिनिधनं शिवतत्वं नाम, तथापि सत्यां मृदि घटो वह्न्याभासे धूमाभास इति यथा, तथा बीजे सत्यङ्कुरो जायत इत्येवं लोके कार्यकारणभावस्य दृष्टत्वात् कथं चिद्रूपस्य तत्र कारणता येन नासत उत्पत्तिः ?— इत्यत आह—**यदि चेति । कार्यकारणभावस्येति**—अयंभावः—यदि च चिदनुसन्धानं विनापीदं पूर्वस्य सामर्थ्यं परस्य सत्तेत्यादि सिध्यति, तदा भवेद्भवदुक्तेरवसरोऽसतः कार्योत्पादे । तत्तु न कथंचनापि स्वात्ममात्रनिष्ठानां परत्र विषयेऽनभिज्ञातमात्रा-लेशानामनुसन्धानरहितानां जडानामुपपद्यते । एकानुसन्धानविषया हीय सर्वाऽपि कार्यकारणभावव्यवहारसरणिरित्येतत्संक्षिप्याह—**कार्यकारणभावस्ये**त्यादि । अर्था-न्तरमाह—**अथ वे**ति । **तस्य** = सामर्थ्यस्य । **तदानीम्** = व्यक्तेः प्राक् ॥४३½॥

ननु किमिदमुच्यते विषयस्य तदानीमसत्त्वात् कस्मिन् विषये तेषां सामर्थ्यमिति ?

दोनों सत् हैं; अभिव्यक्ति तो केवल उस कारण की प्रकाशमानता है । असत् की उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती । यदि कार्य पहले से विद्यमान नहीं है तो कारण किसको लेकर व्यापार में प्रवृत्त होंगे ? क्योंकि कार्य का असत्त्व तो अभाव-स्वरूप है ॥४२–४४½॥

यदि कहिये कि भविष्य में उत्पाद्य घट असत् है ही, कुम्हार आदि कारणों का व्यापार तो अतीत में देखे गये घट को लेकर होता है ? तो यह कथन तो और विचित्र है; क्योंकि देखे गये घट से भविष्यकालीन दूसरे घट का निर्माण असम्भव है ॥४४॥

अन्येनान्यस्य कलनाऽसम्भवादतिचित्रता ।
अङ्कुरो जायत इति न भवेत्कारकात्मता ॥४५॥
असत्त्वे कारकाणां हि समूहो न भवेत्तदा ।
कर्माख्यस्य ह्यसत्त्वात्तत्सम्बन्धोऽसता कथम् ॥४६॥
तस्मात् स एव भगवान् स्वयमेव प्रकल्पते ।
तथा तथा भावरूपैः सन्नेव परमेश्वरः ॥४७॥

तत्रापि पूर्वं घटान्तरं यद्याकलितं स्यात्तदा कर्त्तव्यस्य घटान्तरस्य किमायातं येन तत्क्रियते ? तदर्थस्यातिचित्रता; अनुपपद्यमानस्यापि भावादित्युपहासः । **अङ्कुरो जायते** बीजभूमौ इत्यत्रासतोऽङ्कुरस्य कारणता = कर्त्तृता न स्यात्; घटं वा करोति कुम्भकार इत्यसता कर्मणा कारकान्तराणां कर्त्तुर्वा कः सम्बन्धः ? तत्कथं समूहः

यदि चेयन्मात्रमेवात्र साध्यं यत् पूर्वमपि सापेक्षत्वमिति, तदा सिद्धमेतत्; यतः पूर्वोत्पन्नमप्यङ्कुराद्यस्ति, तत्सापेक्षत्वेन सर्वं सिद्धयति ?–इत्याशंक्याह–**घटान्तरमित्यादि** । **तदयुक्तमिति**—इदमत्र तात्पर्यम् इदं हि वक्तव्यं किं कुम्भकारोऽपि घटकर्त्ता देहादिरूपः, उतस्वित्तद्व्यतिरिक्तः कश्चन चेतनोऽपि ? यदि च देहादिर्जडरूपः, तदत्रवक्तव्यं बीजादिभ्योऽचेतनेभ्यः कोऽस्य विशेषः ? तेषामपि जडपक्षीकृतत्वादाकलनासम्भवात् अथ तद्व्यतिरिक्तश्चेतनः ? तथापि किम् ?–इत्याह–**यत्रापि सचेतनमिति**; **किमायातमिति** । न हि तस्यतत्कारणं सम्पन्नं येन सापेक्षत्वम्, अपि तु अन्तःकुम्भकारसंविदि स्फुरन्नेव बहिर्निर्गच्छतीति ॥४४½॥

अथ चानेककारकसाध्यं हि कार्यम्, ततश्चैकस्याभावेऽपि किं सर्वेऽपि असत्कल्पाः स्युः ? तथा हि **अङ्कुरो जायते** कर्मणोऽभावेऽपि कारणमस्त्येव; तथा घटं करोति कुम्भकार इत्यत्र कर्त्तृकारणकर्माधिकरणाद्यनेककारकसमन्वये कर्माभावमात्रे किं न सिद्धिरमीषाम् ?–इति पूर्वपक्षमाशये कृत्वा कर्मण एवानेककारकसमन्वयं दर्शयति । कर्मणि सति सर्वमेवैतत्सिध्यति, नान्यथेत्याशयेन कर्त्तृकर्मणोः सामानाधिकरण्यदर्शनार्थम्–**अङ्कुर** इत्यादि ॥४५॥

'अङ्कुर उत्पन्न होता है ।' यह व्यापार देखा जाता है । यदि अङ्कुर असत् होता तो वह जननक्रिया का कर्त्ता कैसे होता ? या 'कुम्हार घट बनाता है' यह व्यवहार भी चलता है । यदि कर्म अर्थात् घट की सत्ता नहीं है तो कर्त्ता करण अधिकरण आदि कारकों का पारस्परिक सम्बन्ध भी सम्भव नहीं होगा । इसलिये यह मानना नितान्त आवश्यक हैं कि कार्य सत् है और यह सत्ता स्वयं भगवान् शिव ही हैं । परमशिव जिस-जिस भाव की अभिव्यक्ति की कल्पना करते हैं उसी-उसी रूप में अपने को अभिव्यक्त करते हैं ॥४५–४७॥

स्वयं च न प्रजायेत केनान्येन प्रजन्यते।
व्यतिरिक्तेन कर्त्राद्या यदि स्युस्ते तदात्मकाः ॥४८॥

कारकाणाम् ? ततः क्रिया नोत्पद्येत। तस्माच्चिद्रूपः परमेश्वरस्तथा तथा भाव-स्वरूपैः स्वयमेव **प्रकल्पते** = भवति। स च नित्यमेव सन्निति कथमसत्कार्यता-शङ्का ? ॥४५-४७॥

स्वयं चासत्त्वाद् घटादिः कथं जायेत = जननकर्त्ता कथं स्यात् यदा ? तदा केन सामर्थ्येनान्येनापि कुम्भकारादिना कथमसत् = जन्मयोग्यतालक्षणस्वभावरहितं शशशृङ्गादविशिष्टं जन्येत ? जनयिता यद्यपि सन् तथापि तत्सत्ता जन्यस्य न काचिद् भवति; व्यतिरिक्तत्वात्; ततस्तयाऽपि न तस्य योग्यताऽऽपत्तिः। एवं हि सा जन्मयोग्यतायां व्याप्रियेत यदि तया **तस्य जन्मिता** युज्येत; यदि जनयिता = कर्त्ता सहकारिणश्च करणादिरूपा जन्यात्मकाः स्युः। व्यतिरिक्तैस्तु सद्भिरप्यसतः कथं जन्मिता भवेत् ? ॥४८-४८½॥

यतो न कथंचनापि जडस्य कारणता येनासतोऽपि कार्यस्योत्पत्तिः स्यात्तदेतद-यत्नसिद्धमित्याह—**तस्मादिति** ॥ असत्त्वाच्च स्वयं यदि न जायत इति यदि भवद्भिः कथ्यते, न हि स्वयमसन् शशशृङ्गादिरन्येन जनयितुं शक्त इत्यर्थसंक्षेपः। ननु चैतदेव कारणस्य कार्याद् वैशिष्ट्यं यदन्यजननम्, तदभावे कथं कारणमिति व्यपदि-श्यते ?–इत्याशङ्क्याह–**स्वयं चेत्यादि**। **जननकर्त्तेति**–भवन्मतमेतदित्यर्थः। **कथम-सदिति–जन्मयोग्यतालक्षणस्वभावरहितं** च शशशृङ्गमसदित्युच्यते। ततश्च तस्य न केनापि जननं युक्तम्। तथा यद्यदसत् सर्वं तत्तत् तथैवेति कथं जन्मासतोऽपि संभ-वेति ?–इत्यर्थः। **तत्सत्ता** = जनयितृसत्ता। जन्यस्य असत इति शेषः। **तया** = जनयि-तृसत्तया। **तस्य** = जनस्य। **योग्यतापत्तिः** = सत्त्वयोग्यता। **सा** = जनयितृसत्ता। **युज्येतेत्युक्तम्**; तामेवोपपत्तिमाह—**यदीति**। ॥४७-४८½॥

यदि घट आदि असत् होने के कारण स्वयं नहीं पैदा होते जैसाकि आपका मत है तो फिर असत् शशशृङ्ग को जैसे कोई नहीं उत्पन्न कर सकता उसी प्रकार असत् घट आदि को भी कोई उत्पन्न नहीं कर पाता। जन्य के व्यतिरेक अर्थात् अभाव में जनयिता या कर्त्ता की सत्ता ही सम्भव नहीं। यदि कर्त्ता करण आदि की सत्ता है तो वह जन्यसत्तात्मक ही हो सकती है। और जन्य का जन्म तभी युक्तिसंगत होगा यदि आप उसे सत् माने। यदि जन्य को असत् मानेंगे तो इससे भिन्न अर्थात् सत् भी कर्त्ता आदि की प्रजननयोग्यता कैसे सम्भव होगी ? ॥४८–४८॥

ततस्य जन्मिता युक्ता व्यतिरिक्तैः कथं भवेत् ।
जन्मकाले घटाभावात्सम्बन्धो नैव कारकैः ॥४९॥
नासम्बद्धस्य करणं सत्कार्याच्चेत् स विद्यते ।
सन्नप्यसावसंवेद्यो व्यञ्जकस्याप्यभावतः ॥५०॥

घटस्य जन्यस्य जन्मारम्भकालेऽ**भावात्** कुम्भकारमृत्पिण्डादिभिर्न सम्बन्धः । न चाविद्यमानसम्बन्धस्य **करणम्**; पूर्वमपि अन्यतोऽपि वा प्रसङ्गात् । जन्यासम्बन्धेऽपि तदपेक्षयैव जनकानामेव स सामर्थ्यस्य विशेषो येन तेषु सत्सु तस्य विशिष्टस्यैव सत्ता, न तु यस्य कस्यचित् इत्येषोऽसत्कार्यवाद **ईश्वरप्रत्यभिज्ञादौ** निराकृतः । अथ स विद्यते सम्बन्धः सतः कार्यात्मकत्वात् कार्यस्य ? तदपि न; यतः **सन्नप्यसौ** जन्यो घटादिरर्थोऽ**संवेद्यः**; असंवेद्यत्वाच्च सम्बन्धिनोऽप्रख्यत्वेन सम्बन्धागमनं व्यञ्जकत्वं च कुम्भकारादेर्घटं प्रति नास्ति, यतः सर्वथा प्रतीत्यगोचरे वस्तुनि व्यञ्जको न भवति । सिद्ध एवार्थे व्यञ्जको मतः, यथा घटादौ दीपः । ततो **व्यञ्जकस्यापि**

ननु च तदेव विवेच्यं यत् समनन्तरं जन्यकार्योत्पत्तिः । पूर्वं तु कुम्भकार-संविदि बीजो वा परमेश्वरप्रकाशे वा सत्कार्यमस्तु भवताम्, अस्मन्मते वाऽसत्, न तत्र व्यर्थं ग्रहः । यस्तु जन्मारम्भकालस्तत्र क्रियमाणत्वादेव सदसत्त्वसंशय इति स एव सम्याग्विवेच्यः—इत्यपि समर्थयितुमाह—**जन्मकाल** इति । **पूर्वमपि** = कुम्भ-कारादिसम्बन्धात् प्राक् । अन्यतोऽनियतमेव । इदानीं पूर्वं सत एव सर्वक्रिया-सम्बन्धमाह—**जन्यासम्बन्धेऽपीति** । **येन** = पूर्वं सत्त्वेन हेतुना । = **सतः** = कुम्भ-कारादिक्रियया निष्पाद्यत्वात् । **तयोरिति**—न हि कुम्भकारघटयोः परस्परम-व्यतिरेको येन कुम्भकारमृत्पिण्डयोः सम्बन्धः सिध्येत् । **भावी**त्यस्यार्थान्तरमाह—**अथ वेति** । नित्ययोगे मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ॥५०½॥

इत्थं कारणभावेन सत्कार्यवादं समर्थ्येदानीं कार्यभावेनापि सत्कार्यवादं समर्थ-यति—**इतोऽपीत्यादिना** ।

उत्पत्तिकाल में भी यदि घट की सत्ता नहीं है, अभाव है तो कर्त्ता, मृत्पिण्ड चक्र आदि का पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं होगा; क्योंकि जिसका सम्बन्ध वर्त्तमान नहीं है उसकी रचना कभी नहीं होती । यदि कहिये कि घट सत् है क्योंकि कार्य से उसकी सत्ता पुष्ट होती है तो भी यह समझिये कि सत् होते हुए भी वह व्यञ्जक के अभाव में संवेद्य नहीं होगा । और वह व्यञ्जक कुम्हार आदि नहीं हैं क्योंकि व्यंग्यता सिद्ध पदार्थ की होती है, जैसे दीप के द्वारा घट की; न कि अविद्यमान पदार्थ व्यङ्ग्य होता है । इसलिए स्वयं भव अर्थात् शिव ही अपने स्वभाव से भिन्न-भिन्न भावों के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं ॥४९-५०½॥

तस्मात् स्वयं स्वभावेन भावैर्भावी भवेद्भवः।
इतोऽपि विद्धि सत्कार्यं मृत्पिण्डात् किं घटः पृथक् ॥५१॥
अपृथग्वा पृथक्त्वे तु पटादेः करणं न किम्।
अनुपादानतैव स्यादपृथक्त्वे स एव सः ॥५२॥
नामसंस्थानभेदश्चेद्धस्ते मुष्ट्याद्यभेदिता।
स्थितमेव हि सत्कार्यमत एवाविनाशिता ॥५३॥

अभावतः कथं सम्बन्धः ? एवं हि कारणं कार्यात्मना सत्तदा भवेत् यद्यव्यतिरेकस्तयोः स्यात्। स च प्रत्यक्षविरुद्धः। **तस्मादविरुद्धसर्वभावैकभावः स्वयं भव** एव परमेश्वरस्तथाऽवस्थानस्वभावेन, नापरेण हेतुना कारणेन भावाभावैः संसारवर्त्तिभिर्भावी भवति; अभीक्ष्णं तत्स्वभावत्वात्। अथवा नित्यं भावसम्बन्धीति शिवकारणतया सत्कार्यवादः ॥५०॥

इतोऽपि शिवात्मतयाऽर्थानां सत्कार्यवादोपपत्तिं जानीहि यतो मृत्पिण्डघटयोः सदा सत्कार्यवादेऽपि कार्यकारणतोपपत्तिः। मृत्पिण्डाद्धि घटस्य पृथक्त्वे तथा चासत्त्वे पटशशविषाणयोरप्यसत्त्वाविशेषात् करणं स्यात्। न चास्ति तत्; असत्यर्थे पदबन्धस्यान्यापरिहारेण कार्यत्वेन स्वीकरणस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्; तस्य मृत्पिण्डादे**रनुपादानतैव स्यात्**, प्रकृतिरूपता नैव स्यादित्यर्थः। अपृथक्त्वे मृत्पिण्ड एव स घटः, न त्वपूर्वः। ततः प्रागपि पिण्डो घटः स्यात् ॥५२॥

अथ मृत्पिण्डघटयोर्नामसंनिवेशभेदात् भेद एव, तत्कथं सत्कार्यमिति ? तन्न; नामसंस्थानमात्र एवात्र भेदः, न तु मृद्रूपतायाम्, यथा हस्ते मुष्टिप्रसृततादेः। अत्र हि हस्तता तुल्या द्वयोरपि तथा सद्रूपताऽनयोः। एतच्चात्यन्तप्रसिद्धमेतद् व्युत्पादनार्थं

इस कारण भी कार्य सत् है—यह बतलाइये कि घट मृत्पिण्ड से पृथक् है या अपृथक् ? यदि पृथक् है और आपके मतानुसार असत् भी है तो फिर वह मृतपिण्ड जैसे पृथग्भूत असद् घट का कारण है वैसे ही उसे पृथग्भूत पट या शशश्रृङ्ग आदि का भी कारण होना चाहिए। फलतः मृत्पिण्ड घट का उपादान नहीं होगा। यदि आप घट को मृत्पिण्ड से अपृथक् मानते हैं तो घट और मृत्पिण्ड दोनों एक हुए। यदि यह कहिये कि मृत्पिण्ड और घट में नाम आकृति अवयवसंस्थान आदि का भेद होने से दोनों भिन्न हैं, इसलिए कार्य सत् नहीं हैं, तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि वह भेद उसीप्रकार है जैसे हाथ में मुट्ठी बँधने और खुलने का भेद। इस प्रकार कार्य सत् है—यह निश्चित हो गया। इसीलिए कार्य अविनाशी है। जिसप्रकार कटक के नष्ट होने पर स्वर्ण शेष बचता है उसीप्रकार पदार्थ के नष्ट होने पर शिव शेष रहते हैं तथा वे सब में अनुगत हैं ॥५१-५३½॥

शिवस्य भावनाशेऽपि मौलिनाशेऽपि हेमवत्।
नाशः कटकरूपेण सद्भावः कुण्डलादिना ॥५४॥
सुवर्णत्वेऽपि न भ्रंशः संस्थानेऽपि विचार्यताम्।
किं शिवत्वेन तद्व्याप्तमव्याप्तं वाऽभिधीयताम् ॥५५॥

प्रदर्शितम्। वस्तुतो मृदपि पर्यालोच्यमानशब्दस्पर्शादितन्मात्रमयी जलादिविलक्षणा यावत्त्रैगुण्यतादवस्थ्यम्; तत्तादवस्थ्येऽपि यानि कार्याणि महदादीनि पृथिव्यन्तानि घटाद्यन्तानि वा, तानि त्रैगुण्यमात्ररूपाणि; विश्वस्यैकत्वापत्तेः। तदधिकत्वे तु इदं शब्दतन्मात्रम्; अयमाकाशः; इयं पृथिवी; अयं घटः अयं पट इति विभागः। विभागोऽपि च तदभेदाद्वास्तव एव। न च प्रकाशमानस्यावस्तुता युज्यते; त्रैगुण्यस्यापि तथा प्राप्तेः। प्रकाशनं च प्रतीयमानता प्रत्यक्षेणास्तु अनुमानेन वा, सर्वथा सद्रूपवत्ता स्यात्। एवं च मृत्पिण्डोऽन्य एव, सति यस्मिन् घटो भवति; घटश्चाप्यन्यः; मृदप्यन्या या सर्वमृण्मयेष्वनुगता; घटश्चाननुगतः। न चानुगताननुगतयोरैक्यं घटते; ततश्च पटादेः करणं न किमिति दोषः। दर्पणवत् विश्वप्रतिबिम्बयोगि त्रैगुण्यमित्यभ्युपगमेऽपि यद्वशात् तथा प्रतिबिम्बयोगः तदेव कारणम्, तत्रापि भेदाभेदपर्यालोचनादनुपपत्तिरिति चिन्मयशिवरूपतैव सर्वकार्याणामीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तन्यायेन–इत्याह—**स्थितमेव हि सत्कार्यमिति**। अत एव शिवरूपतया सत्त्वादविनाशिता। न हि शिवस्य स्वसंविद्रूपस्य सतो विनाश इतीश्वरप्रत्यभिज्ञायामेवं चोक्तम् ॥५३½॥

मौलिनाशेऽपि हेमवदिति सर्वलोकानुसारेण पूर्ववन्निदर्शनम्। कटककुण्डलादिलौकिकनिदर्शनेन संस्थानमात्रभेद उक्तः। **संस्थानेऽपि** भेदो **विचार्यताम्**। तद्विचारेण च शिवकारणतामेव पर्यवसानयन्नाह—**किं शिवत्वेनेति**। मौलिशिवत्वव्याप्तौ मौलिविनाशे शिवविनाशः। शिवाव्याप्तत्वे वा शिवस्य प्रदेशवृत्तिता मौलिघटपटादिस्वरूपदेश परिहारेणावस्थाने भिन्नस्वरूपदेशत्वं ततश्चाविभुत्वमिति संस्थाने उभयथाऽभिधीयमानो दोषः ? **न** उक्तदोषः। **यतो भावानां विनाशे** विषये **नेष्टताऽस्मान्** प्रति। भावा न विनाशिनोऽस्माभिरिष्यन्त इति यावत्। अस्मद्दर्शने हि

कटक का नाश और कुण्डल की उत्पत्ति दोनों परिस्थितियों में सुवर्ण तो ज्यों का त्यों हैं। केवल संस्थान में भेद हो गया है। इसी प्रकार शिव सर्वत्र हैं केवल अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप में हो रही है ॥५४-५४½॥

अब पूर्वपक्षी का कथन है कि—यह बतलाइये कि कटक आदि शिव से व्याप्त हैं या अव्याप्त ? यदि व्याप्त हैं तो कटक का नाश होने पर शिव का भी नाश होगा ? और यदि अव्याप्त है तो फिर शिव सर्वव्यापी कैसे ? वे तो एकदेशी हो गये ? ॥५५-५५½॥

व्यापित्वे तद्विनाशित्वमव्याप्तौ स्यात्प्रदेशिता ।
नैवं यतो हि भावानां विनाशेऽस्मासु नेष्टता ॥५६॥
अंशाभिव्यक्तिता नाशो न नाशः सर्वलोपिता ।
अभिव्यक्तेर्विनाशित्वे तत्राप्यानन्त्यमापतेत् ॥५७॥
इन्द्रियाणामसामर्थ्यमात्रमत्र विनाशिता ।
असावेवानभिव्यक्तिः स प्रच्छन्नस्तदा स्थितः ॥५८॥

मौलेः कटकोत्पादकाले **अंशस्य** = हेममात्रस्य, अभिव्यक्तिः प्राक्तनस्य मौलिपरिणामक्षणस्येति नाश उच्यते न तु सर्वांशादर्शनम् । ततो न निरन्वयविनाशदोषः; नाप्यंशस्य निरन्वयता; अनभिव्यक्तिमात्रस्य नाशत्वात् ॥५६½॥

अथ स्थितानामेवार्थानां यथाऽभिव्यक्तिमात्रस्योत्पादस्तथा विनाशोऽपि तस्यैवेति प्राक्तनांशमात्रस्यानभिव्यक्तिर्विनाश उक्त इति ? एतन्न; यतो यथाऽभिव्यक्तेरप्यसत्या उत्पत्तिरुत सत्या इत्यर्थोत्पादोक्तदोषोऽनवस्था च, तथैवार्थस्य विनाशो नोपपन्नः; सतो विनाशायोगात्, तथाऽभिव्यक्तेरपि । अथाभिव्यक्तिरेवाभिव्यक्तेर्विनश्यति, न सत्ता ? तत्तस्या अपि अभिव्यक्त्याभिव्यक्तेर्न सत्ता नश्यति, अपि तु अभिव्यक्तिरित्यानन्त्यं स्यात्; अथवाऽभिव्यक्तेर्विनाशोऽपि किमसन्नुत्पद्यते ? अथ सन् ? असत्ये सत्कार्यवादहानिरनुपपत्तिश्च । सत्त्वे पूर्वमेव विनाशः स्यात् । अथाभिव्यक्तिविनाशस्य कारणेन क्रियते ? तत्पूर्वोक्ताऽनवस्थेत्यानन्त्यम् । एवमस्मद्दर्शन **ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त**नीत्या यथोभयेन्द्रियवेद्यत्वं शिवाभेदाख्यातिमयमर्थानां करणम्, तथा विनाशः = उभयेन्द्रियवेद्यत्वाभावः शिवाभेदः शिवत्वेन प्रच्छादनम् । तदेवोक्तम्— **"इन्द्रियाणामसामर्थ्यम्"** तथा**ऽसावेवानभिव्यक्तिः; स** = घटादिः शिवतया **प्रच्छन्नस्तदा स्थित** इति ॥५८॥

उत्तर पक्षी का कथन है कि ऐसा नहीं है । हमलोग यह नहीं मानते कि पदार्थ विनाशी हैं । हम तो यह मानते हैं कि किरीट को नष्ट करने के बाद हेम बचता है उसी हेम की अभिव्यक्ति ही किरीट का नाश है, न कि हेमसहित किरीट का अदर्शन ॥५६-५६½॥

यदि अभिव्यक्ति का भी नाश मानेंगे तो वह नाश भी अभिव्यक्ति ही होगी, फिर उस द्वितीय अभिव्यक्ति का नाश और फिर""इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा । जिस प्रकार अन्तःकरण और बाह्यकरण इन दोनों से वेद्य होने का नाम अभिव्यक्ति है उसी प्रकार इन दोनों करणों का वेद्यतासम्बन्धी असामर्थ्य ही पदार्थो की विनाशिता है; और यही अनभिव्यक्ति है । इस अवस्था में शिव प्रच्छन्न होकर स्थित रहते हैं ॥५७–५८॥

इतोऽपि नाशो नास्त्यस्य घटस्य करणात् पुनः ।
नाभावप्राप्तरूपस्य करणं युज्यते पुनः ॥५९॥
तस्माद् भावविनाशेऽपि शिवतत्त्वाविनाशिता ।
इतश्च सर्वशिवताऽवयवेभ्यो न कुत्रचित् ॥६०॥
व्यतिरेकोऽवयविनस्तदेवेदं विचार्यताम् ।
भिन्नेष्वैक्यमभेदश्च यथा तत्र व्यवस्थितम् ॥६१॥
तथा तत्र परिज्ञेयं पत्युः सामर्थ्यमीदृशम् ।
अभिन्ने भेदता येन भिन्नेष्वप्यस्त्यभेदता ॥६२॥

इतोऽपि हेतोर्नाशो नास्त्यस्य; घटादेः **पुनः करणात्** । न हि यस्य सर्वथा शशविषाणतुल्यमभावं प्राप्तरूपं तस्य अर्थस्य पुनः सत्ता भवेत् । ननु पूर्वोऽन्य एव घटः शशविषाणतामेव च प्राप्तः अयं चान्य एव क्रियते ? तदेतन्नास्ति । न हि घटादन्यो घटः स्यात् महत्त्वलोहितत्वोच्छ्रितत्वादिसामान्यान्तरसम्पर्केऽन्तरवस्थित एवेन्द्रियवेद्योऽभेदाख्यातिमयः क्रियत इति पूर्वमुक्तम् । तस्मादुक्तक्रमेण भावानां शिवतत्त्वनिमज्जनरूपेण तदभेदाख्यातिविनाशेऽपि शिवतत्त्वाविनाशिता । एवमुत्पत्ति-विनाशान्यथाऽनुपपत्त्या सर्वशिवता व्यवस्थिता ॥५९½॥

इतोऽपि च हेतोः **सर्वशिवता—अवयवेभ्यो** व्यतिरिक्तोऽवयवी न क्वचिद् ज्ञाने चाक्षुषे मानसे वाऽवभासते । यैरपि व्यतिरिक्तोऽसौ प्रतिज्ञातस्तैः प्रतीतिः समवायवशादभेदेनैवेष्यते । तच्चेदं विचार्यताम्—यद्यपि वितताववभासेऽवयवा भिन्ना व्यवस्थिताः परमाणुमात्रे ह्यभेदिनि वैतत्याभावात्तथाऽप्येक एव देवदत्तसंज्ञोऽर्थो-

---

इस कारण भी घट आदि का नाश नहीं माना जा सकता क्योंकि फिर से घट आदि की रचना व्यवहार जगत् में होती रहती हैं । यदि घट आदि कूर्मरोम आदि की भाँति शश्वद् अभावात्मक होते तो फिर उन्हें बनाया कैसे जाता ? इस प्रकार अभिव्यक्त पदार्थों का अनभिव्यक्तिस्वरूप विनाश होने पर भी शिवतत्त्व विनाशी नहीं है ॥५९–५९½॥

सर्वशिवता का एक दूसरा कारण भी है—वह यह कि यह भी देखा जाता है कि कहीं भी अवयवी अवयव से अतिरिक्त नहीं होता । यद्यपि अलग-अलग रहने पर अवयव भिन्न प्रतीत होते हैं फिर भी एकत्र होने पर अभिन्न—एक मालुम पड़ते हैं । तो इससे यह समझना चाहिए कि यह भिन्न में अभिन्न की प्रतीति शिव का ही सामर्थ्य है जिस कारण अभिन्न में भिन्नता तथा भिन्न में अभिन्नता का आभास होता है । जिस प्रकार हाथ-पैर आदि अवयव भिन्न होने पर भी 'यह देवदत्त है' ऐसी एकत्वबुद्धि होती है उसी प्रकार भिन्न प्रतीत होने वाले विश्व के समस्त पदार्थों में भी एक शिव का रूप अनुस्यूत है ॥६०–६२½॥

यथाऽवयवगं रूपं तथा सर्वपदार्थगम् ।
क्वपाणिपादं क्व शिरो यथैक्यं भिन्नदेशगम् ॥६३॥
तद्वत् सर्वपदार्थानां जगत्यैक्ये स्थितः शिवः ।
शब्दादेर्ग्रहणं नास्ति पूर्वापरसहोदितैः ॥६४॥
मनसः प्रेरणं कस्मात् प्राग्ज्ञानेन विना स्थिता ।
सर्वैकताऽत एवात्र तथा सौषुप्तबोधनम् ॥६५॥
घटते कथं निमित्तस्य प्राग्योगायोगचोदितैः ।
योगे जाग्रदवस्थैव तस्मात् सर्वं शिवात्मकम् ॥६६॥

निःसन्धिबन्ध एकघनोऽवभाति इति भिन्नेष्वेवावयवेषु ऐक्यं भाति । तत्र यथैवयं तथा **पत्युः** = शिवस्य=चिन्मयस्य तत्सामर्थ्य**मीश्वरप्रत्यभिज्ञाया**मुक्तं येन सामर्थ्येनाभिन्ने देवदत्तेऽवयवभेदात्मता; अवयवेषु च भिन्नेषु एकैव देवदत्तता युज्यते यथाऽवयवभेदगमेकं रूपम् । एवं त्रैलोक्यवर्त्तिष्वपि सर्वेष्वेवार्थेषु गतं शिवरूपम् ॥६२½॥

तदेव व्यनक्ति—**क्वेति** । अवयवभेदस्यापि अभिन्नावयविरूपता शिवरूपतयैवेति प्रतिपादित**मीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्**; एवं **जगत्यैक्ये** शिवरूपतोपपादिका स्थिता । अत एव चात्र जगति सर्वैकता स्थिता यतः शब्दस्पर्शरूपादेर्विषयस्य सर्वस्य **पूर्वा-**

कहाँ हाथ-पैर और कहाँ शिर ? फिर भी उनमें जैसे एकत्वबुद्धि होती है जबकि वे भिन्न-भिन्न स्थानों में हैं । उसी प्रकार इस विश्व ब्रह्माण्ड के भिन्नदेशस्थ सभी पदार्थों में एक शिव वर्त्तमान है ॥६३–६३½॥

शब्द स्पर्श आदि विषयों की सत्ता के पूर्व उनका ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है जब तक उनकी सत्ता न मान लें, क्योंकि विषय के विना ज्ञान सम्भव नहीं । अतः अव्यक्त अर्थात् शिवरूप में विषय शश्वत् विद्यमान हैं । तथा विषय की व्यक्तता (सत्ता) के बाद भी आपको आत्मा से पृथक् भी विषय की सत्ता माननी पड़ेगी नहीं तो विषय और आत्मा का ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध ही अनुपपन्न हो जायगा । और जबतक आप विषय का बाह्य पृथक् अस्तित्व नहीं मानेंगे तबतक उसका ज्ञान करने के लिए आत्मा मन को प्रेरित कैसे कर पायेगा ? इसलिए आप यह मानिये कि शिवात्मक जगत् एक है फिर भी नियति की शक्ति से व्यवहार के लिए यहाँ पार्थक्य भी है । यदि आप समस्त जगत् में ऐक्य स्वीकार नहीं करते तो यह बताइये कि ऊँची आवाज सुनकर सोया हुआ आदमी उठ कैसे जाता है ? इसका मतलब है कि जाग्रत अवस्था में जो शिव है वही सुषुप्ति में भी है और वही शब्द में भी है । इसी कारण शब्दश्रवण से सुषुप्त व्यक्ति जाग उठता है । क्योंकि ज्ञान एक है; जो जाग्रत अवस्था में था वही सुषुप्ति में भी रहता है ॥६४–६६॥

सामान्यरूपता वास्ति सा चाभिन्ना विशेषतः ।
भिन्नाभिन्नात्मकः क्वापि पदार्थस्तादृगिष्यते ॥६७॥
बौद्धस्य चेन्न सामान्यमनुमानं निवर्त्तते ।
यथा सुवर्णभाण्डेषु न तथा हेमताम्रयोः ॥६८॥

परसहोत्पन्नैर्ज्ञानैर्व्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञानं **नास्ति** । तथा हि पूर्वं तावज्ज्ञानं कथं विषयेण विना स्यात् ? पश्चाच्च सहापि द्वयोः स्वात्मनि स्थितयोः कथं ग्राह्यग्राहकभावः ? अर्थाभिसन्धिज्ञानेन च विना कस्मादात्मना मनसः प्रेरणार्थम् ? तद्बाह्यार्थग्रहणमस्ति चेत्पूर्वं ज्ञानं किं मनःप्रेरणेन ? न चाभिसन्धिज्ञानेन बाह्योऽर्थो ज्ञातस्तदर्थं मनसः प्रेरणं न स्यात् । तस्माच्चिद्रूपशिवैक्ये सर्वदा संवेदने स्थिते प्रक्रियामात्रमिदं नियतिशक्तिकृत**मीश्वरप्रत्यभिज्ञो**क्तमभेदाभिधायिमयं द्रष्टव्यम् । तथा सौषुप्ते स्थितस्य प्रबोधनमुच्चैः शब्दादिसमुच्चारणेन कथं घटेतैकतां विना ? तथा हि उच्चैः शब्दादिज्ञानं प्रबोधनिमित्तं तस्य च प्राग्योगोऽथ न योग इति चोद्यैः कथं घटनम्; तथा हि प्राक् शब्दादिज्ञाने न योगे **जाग्रदवस्थै**व स्यात्; तस्यास्तथा लक्षणत्वात्; प्राक्शब्दादिज्ञानस्य निमित्तस्य तु विरहे कथं प्रबोधः ? तदेतदेव स्याद् कृते विद्यैकत्वे शिवत्वाख्यातिप्रक्रियामात्रमेतत्स्यात् । तीव्रशब्दादिकेनाज्ञानेनाप्यावरणे सौषुप्तविनिवृत्तिरिति च परोक्तं कुतः प्रमाणात्सिद्धम् ?—इति च न निश्चायकम् ॥६६॥

सामान्यरूपता वा सर्वेषां शावलेयादीनां विशेषाणामैक्यात्मिकाऽस्ति । **सा चाभिन्ना** तेभ्यो विशेषेभ्यः । **भिन्नाभिन्नात्मको** हि पदार्थः **सांख्यार्हतादि**दर्शने यथा प्रतीयते तादृग्वास्तव इष्यते । स च **तत्त्वस्यैक्यं** विना न स्यादिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥६७॥

जिन शावलेय (गाय) आदि विशेष पदार्थों में आप सामान्यात्मिका जाति स्वीकार करते हैं वह जाति कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है । वह तो उन शावलेय आदि विशेषों से अभिन्न है । सांख्य जैन आदि दर्शनों में पदार्थ भिन्नाभिन्नात्मक माने गये हैं । यह मान्यता विना तत्त्व की एकता के सम्भव नहीं । क्योंकि एक होने पर यह मानना पड़ेगा कि परमार्थतः सब तत्त्व एक हैं । व्यवहार के लिए उनमें परस्पर भेद है ॥६७॥

जो कि बौद्ध लोग सामान्य नहीं मानते (बौद्ध लोग सामान्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते । और सामान्य के द्वारा होने वाली अनुगतप्रतीति को वे अपोह—तद्भिन्नभिन्नत्व-नामक पदार्थ से साध्य मानते हैं ।) उन्हें भी सामान्य मानना पड़ेगा, अन्यथा उन लोगों का सम्मत अनुमान प्रमाण ही असिद्ध हो

सुवर्णमानयेत्युक्ते शून्यता किं प्रतीयते।
विशेषस्पर्शविरहात् कदाचिदपि युज्यते ॥६९॥
तत्त्वस्यैक्यं विना न स्यादेकस्यैव विरुद्धता।
सामान्येन विशेषेण कथमेकस्य योगिता ॥७०॥
एकतत्त्वं विनैतच्च व्यवहारो न जायते।
शब्दार्थयोर्न सम्बन्धो भिन्नयोर्भिन्नदेशयोः ॥७१॥

अथ **सामान्यं बौद्धस्य** नास्ति; तदनुमानं सामान्यविषयमभीष्टं हीयते। तथा सामान्यं विना यथा **'सुवर्णमानय' इत्युक्ते** सौवर्णकटककेयूरादिषु अर्थेषु प्रतीतिः **न तथा** हेमताम्रयोः; ताम्रासंस्पर्शेन हेम्न एव प्रतीतेः; कटककेयूरादिषु तु न कस्यचित् परित्यागः। अन्यापोहस्यापि सामान्यत्वेऽभ्युपगते किं **सुवर्णमानयेति शून्यता** प्रसज्यप्रतिषेधरूपा प्रतीयते **विशेषस्पर्शविरहाद्धेतोः**? अपि त्वसौवर्णव्यावृत्ताः सुवर्णप्रत्यवमर्शकारिणः त एकतामापद्यमाना विशेषा एवेति **कदाचिदपि युज्यते**?–इति काक्वा व्याख्येयम्। न कदाचिदप्येतद्युज्यते; शून्यताऽपि भातीति। तदेतच्चित्तत्त्वस्य पदार्थेष्वैक्यं **विना न स्यात्; एकस्यैवार्थस्य** परस्परविरुद्धत्वात्। अचिद्रूपस्य बाह्यस्यैतन्न घटते; तद्वचनक्ति सामान्येनेत्यभेदेन, **विशेषेणेत्यभेदेन**। चित्तत्त्वस्य पुनः स्वच्छन्दत्वान्न विरोध इत्युक्तं **प्रत्यभिज्ञायामेव** ॥७०॥

जायगा (क्योंकि अनुमान से जिस साध्य व्यक्ति की सिद्धि होती है वह व्यक्ति सत्ता से अनुस्यूत रहती है।) जैसे कभी-कभी व्यवहार में 'सुवर्ण लाइये' ऐसा सुनने पर सोने का ही आभूषण इत्यादि लाया जाता है न कि ताम्र का। इससे यह सिद्ध होता है कि कटक कुण्डल आदि आभूषणात्मक पदार्थों में सुवर्णत्व की सत्ता अनुस्यूत हैं। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार यदि सत्ता के स्थान पर तदभावाभावरूप प्रतीति से काम चलाने का सिद्धान्त मानेंगे तो सर्वत्र अभावरूप शून्यता ही दृष्ट होगी। पर ऐसा अनुभव में आता नहीं बल्कि इसके विपरीत विशिष्ट स्पर्श की प्रतीति होती है। इसलिए जैसे कटक कुण्डल आदि में सुवर्ण की सत्ता अनुस्यूत है उसी प्रकार सुवर्ण आदि समस्त सांसारिक पदार्थों में चित् तत्त्व अनुस्यूत है। यदि एक तत्त्व स्वीकार नहीं करेंगे तो एक ही सुवर्ण पदार्थ कटक में दूसरा और केयूर में दूसरा सिद्ध होने लगेगा। इस प्रकार एक ही पदार्थ सामान्य अर्थात् अनभिव्यक्तरूप से तथा विशेष अर्थात् अभिव्यक्तरूप से सर्वत्र भासित हो रहा है। चूँकि परमतत्त्व स्वतन्त्र है अतः उसका इस रूप में भासित होना आश्चर्य की बात नहीं माननी चाहिए ॥६८–७०॥

वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार अर्थ और शब्द का वाच्यवाचक सम्बन्ध है।

विरुद्धरूपयोर्भिन्नकरणग्राह्ययोरपि ।
मुखे हि शब्दो भूमौ च विद्यतेऽर्थः क्व संगमः ॥७२॥
अमूर्त्त एको मूर्त्तश्च द्वितीयो योगिता कथम् ।
तथाऽऽत्मादेरदृष्टस्य तच्छब्दैर्योगिता कथम् ॥७३॥
असतः शशशृङ्गादेः शशशृङ्गादिनाऽन्वयः ।
घटते जातुचिन्नैवमसतां व्यवहार्यता ॥७४॥
शब्देन चेत्तदेवं हि सर्वसंसारनाशता ।
असत्यव्यवहारेण तादृगेव जगद् भवेत् ॥७५॥

इतश्चैकत्वम्; यत एकचित्त्वात्मतां विना व्यवहारो न जायते । यतः शब्दार्थयोर्योऽयमेकपरामर्शमयो वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धः स कथं चित्तत्वे भिन्नदेशत्वे भिन्नमूर्त्तामूर्त्तत्वादिस्वभावत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वे च सति स्यात् ? तदेव भिन्नदेशतादि व्यनक्ति–**मुखे हीति** । **योगिता** = सम्बन्धिता । स चैकपरामर्शो भिन्नयोरपि सतोः ॥७१½॥

अप्रत्यक्षस्यात्मादेः शशशृङ्गादेश्चासतः कथमात्मादिशब्देन शशशृङ्गादिशब्देन च खपुष्पस्यापि खपुष्पशब्देन योजनम् ? नैवं दोषः असतामेव हि शब्देन व्यवहार्यता शब्दानामसद्विषयत्वाद्यदि; तदेवं हि सर्वस्य संसारस्य नाशः प्राप्नोति । तद् व्यनक्ति असत्येन शब्दव्यवहारेण **तादृशम्**=असत्यमेव, **जगद् भवेत्**; जगतश्च प्रतिभासमानशब्द—[अतः परं श्रीमदुत्पलदेवकृता व्याख्या न लभ्यते]

एक चित् तत्त्व को माने विना यह सम्बन्ध भी सम्भव नहीं होगा । क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों का स्थान भिन्न-भिन्न है; दोनों का स्वरूप भी भिन्न है और दोनों भिन्न-इन्द्रिय ग्राह्य है । घटशब्द मुख से उच्चरित होने के कारण उत्पत्तिकाल में मुख में रहता है और घट पदार्थ भूतल पर रहता है । घट शब्द अमूर्त्त है घट पदार्थ मूर्त्त है । यदि दोनों के भीतर अभिव्याप्त एक तत्त्व को आप नहीं मानते तो दोनों का सम्बन्ध कैसे बन पायेगा ? ॥७०–७२½॥

प्रश्न है कि फिर अदृष्ट आत्मा (अर्थ) के साथ आत्मा (शब्द) का सम्बन्ध कैसे है ? उत्तर है कि कभी-कभी अदृष्ट और असत् शशशृङ्ग आदि पदार्थों का भी शब्द के साथ अन्वय होता है, जब कि असत् पदार्थ व्यवहार जगत् में नहीं है । किन्तु इस दृष्टान्त के बल पर यदि आप सर्वत्र शब्द के साथ असत् पदार्थ का ही सम्बन्ध मानेंगे तो संसार का नाश हो जायगा क्योंकि 'असत्य' शब्द का व्यवहार होता ही है फिर उसके अर्थ की सत्ता ही नहीं रहेगी ॥७३–७५॥

तथाऽभिनवजातस्य तन्नाम्ना संगमः कथम् ।
तत्संगमस्यासत्यत्वे मन्त्रवश्यादिकं कथम् ॥७६॥
तस्मादैक्येन तत्त्वस्य सर्वं तदपि युज्यते ।
व्यतिरिक्तेन शब्देन मन्त्रेणानतिरेकिणा ॥७७॥

या गायन्तमवत्यहो प्रतिदिनं पाशाङ्कुशाद्यैर्वरै-
र्या बाला युवतिर्जरां परिगता रूपत्रयोद्भासिनी ।
आरुण्येन पटेन प्रावृततनू रक्तोत्पले संस्थिता
गायत्री चतुराननाऽक्षकलिता ध्याता शिवायास्तु नः ॥१॥
या कृतोत्पलदेवेन **ह्यपूर्णा**ऽऽसीत् **कथंचन** ।
वृत्तिमादाय कुर्वे तां पूर्णां **गुर्वनुग्रहात्** ॥२॥

एकस्य चित्तत्वस्य सर्वत्रासत्यत्वस्वीकारे नवजातशिशोर्व्यक्तेः तस्य देवदत्तयज्ञदत्तादिनाम्ना सम्बधोऽपि न घटेत । एवं नामरूपशब्दस्य शरीररूपार्थस्य च परस्परं सम्बन्धो नास्ति चेन्मन्त्रेषु वशीकरणीयस्य पुरुषस्य नामयोजनेन यत् वशीकरणादिकं क्रियते; लोके प्रत्यक्षं चानुभूयते, तन्न स्यात् । चिदैक्ये सर्वत्रोरीकृते सर्वं समञ्जसम् । तदपि = मन्त्रवश्यादिकम् । **युज्यते** = संगतिं याति । अथवा **तत्** = चित्तत्त्वं **सर्वमपि** = वाच्यवाचकरूपपदार्थजातम्, **युज्यते** = मिश्रितमस्ति । तच्च तत्त्वं **व्यतिरिक्तेन** पृथक् प्रतीयमानात् मंत्ररूपशब्दात् अनतिरिक्तमस्ति । तेन च सर्वमेव व्याप्तम् ॥७६॥

ननु शब्दार्थयोः परस्परं भिन्नत्वे यज्ञदत्तरूपानुपूर्वीतः देवदत्तस्य व्यक्तेर्बोधः कथं न भवति ? न च यज्ञदत्तानुपूर्व्याः यज्ञदत्तव्यक्तौ संकेतो न च देवदत्तव्यक्ताविति यज्ञदत्तस्यैव बोधो जायते न देवदत्तस्येति चेत् ? तर्हीदं तावद्वक्तव्यं यत् संकेतस्यात्र बोधे किं कार्यम् ? किं शब्दार्थयोः संयोगो विधीयते संकेतेन ? तत्तु न सम्भवति; यतो हि

इस प्रकार सद्यःप्रसूत शिशु का उसके नाम के साथ सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? और यदि नाम के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध नहीं होगा तो मन्त्र के द्वारा व्यक्ति का जो वशीकरण आदि किया जाता है उसकी सङ्गति कैसे बनेगी ? इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि सर्वत्र तत्त्व एक है और वह सब में अभिव्याप्त है । व्यतिरिक्त अर्थात् पृथक् प्रतीत होने वाले मन्त्ररूप शब्द से वह अनतिरिक्त अर्थात् अभिन्न है और उसी से सब व्याप्त है ॥७६–७७॥

अपूर्णा—अलब्धेत्यर्थः । **कथञ्चन**—केनापि कारणेन । वृत्तिकर्त्रा स्वयमकृतत्वात्, कृतायामपि वा तेनेदानीमनुपलब्धेरिति । **गुर्वनुग्रहादिति**—दीक्षागुरोः शिवचैतन्यवर्णिन अनुग्रहः = आशीर्वादस्तस्मात् ।

कथं न देवदत्तस्य यज्ञदत्तवदाख्यया ।
अत्र संकेतितत्त्वाच्चेत् संकेतेनात्र किं कृतम् ॥७८॥
संयोगश्चेन्न दूरेषु मूर्त्तामूर्त्तेषु युज्यते ।
शब्दस्योच्चारितध्वंसान्नष्टानष्टद्वये न च ॥७९॥
वाच्यवाचकरूपश्चेत्स एष नियमः कुतः ।
यत्तस्य वाचकत्वं हि वाच्यत्वमपरस्य तु ॥८०॥
वाच्यवाचकरूपत्वे वाच्यवाचकताऽन्वयः ।
इतश्चास्ति जगत्यैक्यं प्रत्यक्षाग्रहणादपि ॥८१॥

यज्ञदत्तशब्दोच्चारणकर्त्ता मथुरायां वर्त्तते व्यक्तिश्च यज्ञदत्तः पाटलिपुत्रे इति शब्दार्थयोः दूरस्थत्वान्न संयोगावसरः । अन्यच्च मूर्त्तामूर्त्तयोः संयोगसम्बन्धो न घटते; शब्दो-ह्यमूर्त्तो यज्ञदत्तश्च मूर्त्तिमान् । किं च शब्दः तृतीयक्षणविध्वंसितयाऽऽशुविनाशी, चिरकालस्थायी च यज्ञदत्तः । तस्मान्नष्टानष्टयोः संयोगोऽघटमान अस्ति ॥७८-७९॥

ननु शब्दार्थयोः परस्परं वाच्यवाचकसम्बन्धः, तेन वाचकात् यज्ञदत्तशब्दात् वाच्यस्य यज्ञदत्तव्यक्तेर्बोधो जायते ? तर्हीदमपि न सम्भवति यत् शब्दस्य वाचकत्वं वाच्यत्वं चान्यस्येति । एतत्तु तदैव सम्भवति यदा वाच्यवाचकयोर्वाच्यतावाचकता-रूपसम्बन्धोऽङ्गीकृतो भवेत् । एष च तत्तारूपसम्बन्धः तदेवैकं परमं तत्त्वमस्ति ॥ ८०-८०½॥

हेत्वन्तरं प्रस्तौति–इतश्चेति–चोऽप्यर्थे । एकतत्त्वस्यानङ्गीकारे प्रत्यक्षज्ञानम-प्यसम्भवि स्यात् । बौद्धमते जगति सर्वेऽपि भावाः स्वलक्षणाः; नामजात्यादियोजना-

---

यदि शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न है तो यज्ञदत्त शब्द से देवदत्त व्यक्ति का बोध क्यों नहीं होता ? यदि यह कहिये कि यज्ञदत्त पद का संकेत यज्ञदत्त व्यक्ति में है देवदत्त व्यक्ति में नहीं ? तो यह बतलाइये कि संकेत का यहाँ कार्य क्या है ? यदि वह कार्य संयोग मानें तो सम्भव नहीं क्योंकि परस्पर दूरवर्त्ती तथा अमूर्त्त और मूर्त्त शब्द और अर्थ में संयोग हो नहीं सकता । दूसरी बात कि शब्द क्षणिक है, उच्चरित होने के बाद नष्ट हो जाता है और पदार्थ स्थायी है । अतः नष्ट और अनष्ट इन दोनों का संयोग कैसे सम्भव है ? ॥७८–७९॥

यदि आप प्रश्न करें कि अर्थ और शब्द का वाच्यवाचक सम्बन्ध है इस कारण 'यज्ञदत्त' वाचक शब्द से यज्ञदत्तवाच्य व्यक्ति का बोध हो रहा है ? तो यह कैसे सम्भव है कि शब्द वाचक हो और वाच्य कोई दूसरा हो ? यह तभी सम्भव है जब कि वाच्य और वाचक में वाच्यता-वाचकतारूप सम्बन्ध मानिये । और यह तत्ता रूप सम्बन्ध एकमात्र परमशिव है ॥८०–८१½॥

स्वलक्षणेन योगित्वाद्व्यवहारस्य सर्वतः ।
लोके चानुपपत्तेश्च प्रमा च व्यवहारगा ॥८२॥
बालमूकादिविज्ञानसदृशी कीदृशी क्रिया ।
सविकल्पस्य योगित्वाद्यथावस्तु ग्रहः कथम् ॥८३॥

रहिता इत्यर्थः । एतेषां भावनामनेनैवरूपेण ज्ञानं प्रमा; अर्थात् निर्विकल्पकं कल्पनाऽपोढं ज्ञानं प्रमा । एकसत्ताऽस्वीकरणे लोकव्यवहारमेव न प्रचलिष्यति । यतो हि व्यवहारः प्रमाधीनः, प्रमा च चित्तत्त्वम् । तच्च यावन्नामजात्यादियोजनाकलितं न भवति तावद्व्यवहारस्याप्यसम्भविता ॥८२॥

यदुच्यते—"बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम् ।" तदेवोत्थाप्य स्वपक्षं द्रढयति–**बालमूकादी**ति । यच्चोक्तं निर्विकल्पकस्य लक्षणं तस्य **क्रिया** = कार्यं व्यवहार इति यावत्, **कीदृशी** = केन रूपेण निर्वहेत् । बौद्धसम्मतनिर्विकल्पकज्ञानेन लोकव्यवहारानुपपत्तिरित्यर्थः । लोकव्यवहाराय सविकल्पकस्य योग आवश्यकः । कृते च सविकल्पकयोगे वस्तुनो वास्तविकं स्वरूपमावृतं भवति; तथाभूते च कथं वस्तुनो यथार्थं ज्ञानं स्यात् ? तस्मादिदं मन्तव्यं यदेक एव पदार्थो ज्ञेयरूपेण वर्त्त-

इस कारण भी संसार में एक तत्त्व मानना पड़ता है कि न मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा । (बौद्ध मत में निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमा है और) संसार के समस्त पदार्थ स्वलक्षण हैं अर्थात् नामजात्यादियोजनारहित है । (इन पदार्थों का इसी रूप में ज्ञान प्रमा है ।) यदि आप एक सत्ता नहीं मानेंगे तो सर्वत्र लोक-व्यवहार ही नहीं चलेगा । क्योंकि विना नाम रूप जाति की योजना के, व्यवहार चलना असम्भव है । अतः वही एक सत् तत्त्व अभिव्यक्ति काल में नाम जाति आदि के रूप में अभिव्यक्त होकर सर्वत्र व्यवहार चला रहा है और वही व्यवहार जगत् में चलनेवाली प्रमा भी है ॥८१–८२॥

और जो आप यह कहते हैं कि 'बाल अथवा मूक आदि के ज्ञान के समान निर्विकल्पक ज्ञान होता है' तो उसका कार्य अर्थात् व्यवहार कैसे होगा ? इस व्यवहार के लिए आपको विकल्प अर्थात् नाम जाति आदि, को जोड़ना पड़ेगा । और जब विकल्प जुट गया तब वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही आवृत हो गया फिर उसका ज्ञान कैसे होगा ? अतः यह मानिये कि ज्ञेय पदार्थ एक ही है । व्यवहार के लिए उसने स्वतः अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा भिन्नता की खाल ओढ़ ली है । यथार्थ रूप में पदार्थों को भिन्न मानने पर किसी का किसी से सम्बन्ध न रहने पर ज्ञान असम्भव है ॥८३–८३½॥

तेन ज्ञेयमेकमेव वस्तु भिन्ने ग्रहः कुतः।
तथाऽनुमानं न भवेद् धूमाग्न्योरन्वये क्वचित् ॥८४॥
अपूर्वयोर्गृहीतेऽपि तत्कालं गतयोर्द्वयोः।
अगृहीते न गृहीतः सम्बन्धोऽग्निः प्रतीयते ॥८५॥
सामान्यमविशेषं चेदविशेषात् कुतः प्रमा।
विशेषस्याप्यपूर्वत्वे कथं चास्ति समन्वयः ॥८६॥

मानः स्वविमर्शसत्तया लोकव्यवहाराय तेन तेन रूपेण प्रकाशते। पदार्थानां परमार्थतो भिन्नत्वस्वीकारे **ग्रहः** = ज्ञानं **कुतः** = कस्मात् ? न कदापि भविष्यतीत्यर्थः ॥८३½॥

प्रत्यक्षप्रमाया अनुपपत्तिं प्रदर्श्येदानीमनुमितिप्रमाया असङ्गतिं प्रदर्शयति—**तथाऽनुमानमिति**। एकतत्त्वानङ्गीकारे धूमाग्न्योः सम्बन्धं कदाप्यनुमानं न स्यात्। तथा हि—भवन्मते सर्वं क्षणिकम्। तथा च यौ धूमाग्नी आदाय अविनाभावनिश्चयो जातः तौ क्षणिकत्वाद्विनष्टौ; तयोर्ज्ञानमपि नास्ति। अधुना ययोर्धूमाग्न्योरनुमितिकाले ज्ञानं जायते तौ त्वपूर्वौ, अज्ञातपूर्वौ इत्यर्थः। एवं धूमाग्न्योरविनाभावाग्रहेऽर्थात् व्याप्तिस्मरणाभावे वर्तमानयाधूमाग्न्योः **सम्बन्धः** नः गृहीतः = ज्ञातः स्यात्। तेनाग्नेः प्रतीतिरनुमानं न सम्भवि। तस्मादेका शिवस्वरूपचित्त्वात्मकसत्ता सामान्या स्वीकार्या या सर्वकाले विद्यमाना धूमादिनाऽग्न्यादिकमनुमापयतीत्यर्थः ॥८५॥

तस्य सामान्यचित्त्वस्य स्वातन्त्र्यं स्फोरयति—**सामान्यमिति**। **सामान्यम्** = शिवरूपा स्फुरत्ता महासत्ता **अविशेषम्** = देशकालावस्थादिवैशिष्ट्यरहिता यदि स्यात् तर्हि तया महासत्तया प्रमात्मकं लोकव्यवहारसाधकं ज्ञानं न स्यात्। विशेषोऽपि यदि **अपूर्वः** = सामान्यरहितः स्यात् तर्हि **समन्वयः** = अतीतानागतवर्तमानकालिको व्यवहारः **कथं चास्ति** = कथं भवेत् ? विशेषस्य सामान्येनानुस्यूतत्वाभावात्

यदि एक तत्व नहीं मानेंगे तो धूम और अग्नि के सम्बन्ध के विषय में अनुमान भी नहीं होगा। जिन धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान हो रहा है वे पहले थे नहीं क्योंकि आपके मतानुसार सब क्षणिक है। और जिन धूम और अग्नि को लेकर अविनाभाव का निश्चय किया गया वे दोनों वर्त्तमान काल में नष्ट हो गये। तो इस प्रकार धूम और अग्नि के अविनाभाव का ग्रहण न होनेपर वर्तमान धूम के द्वारा अग्नि के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होगी। इसलिए एक सामान्य सत्ता मानिये जो सब समय वर्त्तमान है। अभिव्यक्ति काल में वह विशेष से युक्त हो जाती है; क्योंकि सामान्य को यदि विशेष से रहित मानेंगे तो बिना विशेष के प्रमा की उत्पत्ति कैसे होगी ? और इस विशेष को यदि अतीतकालभावी नहीं मानेंगे तो फिर धूम और अग्नि का समन्वय कैसे होगा ? ॥८४-८६॥

सादृश्यादथ चेन्नास्ति याथात्म्येन समागमः ।
न च वाऽत्रानुमानत्वं धूमतः केवलाद् भवेत् ॥८७॥
तत्सम्बन्धादथोच्येत सम्बन्धे द्विष्ठता न च ।
द्विनिष्ठत्वादेकतरग्रहणान्नापि तद्ग्रहः ॥८८॥

संसारव्यवहृतिरेव न प्रचलिष्यतीत्यर्थः ॥८६॥

ननु भवतु नाम सामान्याभावादनुमाऽभावः सादृश्यमादाय त्वनुमितिर्भविष्यत्येव?—इत्याशंक्याह—**सादृश्या**दिति । यदि सादृश्येन हेतुनाऽनुमानं साधयितुमिच्छति भवांस्तर्हीदमप्यसम्भवम् । यतोहि सादृश्यं तु सम्बन्धः यथार्थतां नावहति । सादृश्यं हि तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं भवति । अत्र तु वर्त्तमानातीतयोर्धूमाग्नियुग्मकयोर्नास्ति सर्वथा भेदः । वर्त्ततेऽपि चेद् तर्हि देशिककालिकसंख्यागत एव । जात्या स्वरूपेण वाऽत्र भेदो नास्ति । तस्मात् **याथातथ्येन**=यथार्थतः, **समागमः** = सम्बन्धो ज्ञानं वा, **नास्ति** । न वा पुरोदृश्यमानेन केवलेन धूमेनाग्नेरनुमितिः स्यात्; साम्प्रतिकस्य वह्नेरभावात् । न च धूमस्याग्नेः सम्बन्धादनुमानं स्यादिति वाच्यम्; तत्र सम्बन्धे द्विष्ठताया अभावात् । सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नत्वे सति द्विष्ठत्वे सति विशिष्टबुद्धिनियामको भवति । अत्र तु भवन्मते सत्तासामान्यानङ्गीकारे सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वं न सिध्यति । सम्बन्धस्य **द्विनिष्ठत्वात्** तस्य च भवन्मतेऽसिद्धत्वा**देकतरस्य** = धूमस्य **ग्रहणात्** = ज्ञानात् = प्रत्यक्षदर्शनात्, **तद्ग्रहः**=वह्नेर्ज्ञानमानुमितिर्वा **नापि** = न भविष्यतीत्यर्थः ॥८७—॥

ननु **धूमदृष्ट्या** = धूमदर्शनेन वह्नेः तद्योगितायाः = सम्बन्धस्य कल्पना स्यादिति चेत् ? न; तथा सत्यन्योऽन्याश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथा हि—अग्निज्ञाना-

---

यदि सादृश्य के द्वारा आप सम्बन्ध बनाना चाहते है तो यह सम्भव नहीं । क्योंकि वह सम्बन्ध यथार्थ नहीं होगा । (सादृश्य दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में किसी एक धर्म को लेकर होता हैं । यहाँ अतीत और वर्त्तमान धूम और अग्नि के युग्मक सर्वथा भिन्न नहीं हैं केवल कालिक दैशिक एवं संख्यागत भेद है, जात्यात्मक स्वरूपात्मक आदि भेद नहीं है ।) यह भी आप नहीं कह सकते कि केवल पुरोदृश्यमान धूम से अग्नि का अनुमान हो जायगा, क्योंकि अग्नि है कहाँ ? ॥८७॥

धूम का अग्नि से सम्बन्ध है इस कारण अग्नि का धूम से अनुमान हो जायगा—यदि आप यह कहें तो सत्तासामान्य न मानने पर सम्बन्ध द्विष्ठ नहीं हो सकेगा । चूंकि सम्बन्ध द्विष्ठ (= दो में वर्त्तमान) होता है और आपके मत से यह सम्भव नहीं इसलिए एक (= धूम) के ज्ञान से दूसरे (= वह्नि) का ज्ञान नहीं हो सकता ॥८८॥

धूमदृष्ट्याऽथ कल्प्येत वह्निस्तद्योगिताऽपि च ।
इतरेतरदोषोऽत्र दुर्निवारः प्रसज्यते ॥८९॥
यावन्न वह्निकलना न योगकलना भवेत् ।
यावद्वा योगकलना न वह्निकलनाऽक्षमा ॥९०॥
आप्तवाक्यादथास्तीह तत्सत्यत्वेऽदृढा मतिः ।
न राजते [द्वयो-][1]र्वक्ता सत्यभाषी कदाचन ॥९१॥
सोऽप्यन्यथा प्रदर्श्येताक्षयतो रागद्वेषयोः ।
पित्रादेरप्यसत्यत्वं तत्रान्यत्र न निश्चयः ॥९२॥

भावे तस्य धूमेन सह सम्बन्धज्ञानस्याभावः, सम्बन्धाज्ञाने चाग्निज्ञानाभावः । अर्थादग्निज्ञाने सति सम्बन्धज्ञानम्; सम्बन्धज्ञाने च सत्यग्निज्ञानमितीतरेतराश्रयत्वम् । तदेव स्फोरयन्नाह—**यावन्नेति** । वह्नेः **कलना** = ज्ञानम् । **योगः** = सम्बन्धः । **यावद्वा योगकलना न; वह्निकलना अक्षमा** = असम्भाव्या ॥८८–८९॥

इत्थं सामान्यसत्ताऽनङ्गीकारे सौगतसम्मतमनुमानं दूषयित्वाऽन्यैर्नैयायिकादिभिरनुमोदितस्य शब्दप्रमाणस्य सौगतमतेनाकिञ्चित्करत्वमापादयति=आप्तेति । नन्वाप्तवचनात् **इह** = प्रकृतस्थले अनुमानं नास्ति इति चेत् ? **तत्सत्यत्वे तस्य** = आप्तवाक्यस्य **सत्यत्वे** = यथार्थत्वे तव बौद्धस्य **मतिः अदृढा**; तदनङ्गीकारात् । तदनङ्गीकारे हेतुमाह—**न राजत** इति । **द्वयोः** = धूमाग्न्योः **वक्ता** = सम्बन्धख्यापकः **सत्यभाषी** = आप्तः **कदाचन न राजते**=न भवति । आप्तस्य लक्षणं यथा चरके—आप्तो नाम वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथा-

प्रश्न है कि धूम के दर्शन से अग्नि और उसके सम्बन्ध की कल्पना कर लेंगे ? उत्तर है कि तब तो अन्योऽन्याश्रय दोष हो जायगा । वह इस प्रकार—जब तक अग्नि का ज्ञान नहीं होगा. धूम के साथ उसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होगा; और जब तक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होगा अग्नि का ज्ञान सम्भव नहीं है ॥८९–९०॥

आप्तवचन से उसका (=सम्बन्ध का) ज्ञान होगा यदि यह मानें तो आप-बौद्ध तो आप्तवचन को प्रमाण मानते नहीं । आपके मत में धूम और अग्नि दोनों का वक्ता सत्यभाषी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि राग और द्वेष के कारण वह अन्यथा ज्ञान करा सकता है । यहाँ तक कि इस विषय में पिता आदि भी असत्य कह सकते हैं तो फिर दूसरे के विषय में निश्चित रूप से कैसे कहा जाय ? इसलिए भेदवाद मानने पर पदार्थों का ज्ञान, उनका सम्बन्ध आदि उपपन्न नहीं होता ॥९१–९२½॥

१. ह्ययो ।

तस्मान्न भेदे भावानां तद्ग्रहाद्यपि युज्यते ।
क्षणभंगपरामर्शादप्येतदुपपद्यते ॥९३॥
शक्ताशक्तविकल्पैर्हि दीपज्वालाद्युदाहृतैः ।
स्थिरता नोपपन्ना ते प्रत्यक्षेणापि च स्थिता ॥९४॥

वादी यः सः ॥९०–९१॥

सोऽपि = आप्तोऽपि, **रागद्वेषयोः** 'सुखानुशयी रागः' (पा० यो० सू० २.७) 'दुःखानुशयी द्वेषः' (पा० यो० सू० २.८) तयोः **अक्षयतः** = सर्वथाऽक्षीणत्वात् **अन्यथा**=अयथार्थं प्रदर्शयेत् । ननु सामान्येन जनेनान्यथा वक्तव्यं नाम किन्तु पित्रादिना तु सत्यमेव वक्तव्यम्; तेषामाप्ततमत्वात् ?–इत्याह—**पित्रादेरिति** । **तत्र**=आप्तद्वारोपलब्धशाब्दप्रमाया हेतुत्वे **पित्रादेरप्यसत्यत्वम्** । कस्मात् कारणात् ? रागद्वेषयोस्तत्रापि वर्त्तमानत्वात् । यदि पित्रादीनामीदृशी स्थितिस्तर्हि **अन्यत्र** = सामान्यजने, कथं यथार्थत्वस्य निश्चयः स्यात् ? **तस्मात् भेदे** = भेदवादस्वीकारे **भावानाम्** = पदार्थानाम्; **ग्रहः** = ज्ञानम्, आदिना सम्बन्धः, **न**, **युज्यते** = सङ्गतिं प्रयाति ॥ ९२–९२½॥

अथ क्षणभङ्गदृष्ट्याऽपि पदार्थानां ज्ञानानुपपत्तिं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**क्षणभङ्गेति** । क्षणभङ्गवादविचारेणाऽपि एतदेव सिद्धयति । तथा हि—पदार्थानां क्षणिकत्वसिद्धये युक्तिद्वयी प्रदर्श्यते बौद्धैः । शक्ताशक्तविकल्पः दीपज्वाला चेति । तत्राद्या यथा—अस्मिन् संसारे पदार्था अर्थक्रियाकारित्वे समर्थाः ? असमर्था वा ? यदि चर्मवत् समर्थास्तर्हि यथा चर्मानित्यं तथैव सर्वेऽपि पदार्था अनित्याः क्षणिका इत्यर्थः । यदि चासमर्था आकाशवत् तर्हि निष्प्रयोजनास्ते । तदुक्तम्—

"वर्षाऽऽतपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः तुल्यश्चेदसत्फलः ॥"

इति । तस्मात्सर्वेऽपि पदार्था अर्थक्रियाकारिणः क्षणिकाः । दीपज्वाला—यथा दीपज्वाला प्रतिक्षणं नश्यमानाऽपि स्थायिन्येव प्रतीयते, एवमेव सर्वेऽपि भावा द्वितीय-

---

क्षणभङ्गवाद पर विचार करने पर भी यही बात सिद्ध होती है । आप (बौद्ध) के मत में क्षणभङ्गवाद के लिए दो युक्तियाँ दी जाती है—१. शक्ताशक्तविकल्प—इसका तात्पर्य यह है कि संसार के पदार्थ या तो अर्थक्रिया करने में समर्थ है; जैसे चर्म; या असमर्थ हैं, जैसे आकाश । यदि चर्म के समान समर्थ हैं तो जैसे चर्म अनित्य है उसी प्रकार सकल पदार्थ अनित्य अर्थात् क्षणिक हैं । और यदि आकाश के समान असमर्थ हैं तो उनका कोई प्रयोजन नहीं । अतः क्षणभङ्गवाद सिद्ध है । २. दीपज्वाला—जैसे दीपक की ज्वाला प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है फिर भी वह

स्थिरत्वं क्षणिकत्वं च प्रमाणां चिन्तया स्थितम् ।
अप्यसंवादरूपं च विरुद्धं तत्कथं भवेत् ॥९५॥
यावन्न सर्वभावानामेकत्वेन व्यवस्थितिः ।
परेण क्षणभङ्गस्य परामर्शागमः कुतः ॥९६॥

क्षणविध्वंसिनोऽपि स्थायिनः प्रतिभान्तीति । इत्थमनेनोदाहरणद्वयेन पदार्थानां स्थायित्वमसिद्धं भवति । तदेवाह—**ते** = तव बौद्धस्य, मते पदार्थानां **स्थिरता नोपपन्ना** = न सिद्धा । **प्रत्यक्षेण** = प्रत्यक्षप्रमाणेनापि च पदार्थानां स्थायित्वानुपपत्तिः **स्थिता** = सिद्धा ॥९३–९४॥

ज्ञेयानां क्षणिकत्वं संसाध्येदानीं ज्ञानानामपि क्षणिकत्वं साधयति—**स्थिरत्व-** मिति । अप्रमाणां क्षणिकत्वं तु सर्वविदितमेव । **प्रमाणाम्** = यथार्थज्ञानानाम्, **स्थिरत्वं क्षणिकत्वं च चिन्तया स्थितम्** । यदि ज्ञानानि स्थायीनि तर्हि क्षणिकत्वं नास्ति तेषाम् । क्षणिकत्वे च स्थायित्वाभावः । **एवमसंवादरूपम्** = परस्परं विरुद्धस्वरूपं चोभयं यदि; तदा **तत्** = असंवादरूपम्, **विरुद्धम्** = संवादरूपम्, कथं भवेत् ? क्षणिकत्वं स्थायित्वं च परस्परविरुद्धस्वभावौ कथमेकत्र स्थास्यत इत्यर्थः । एतत्तु तदैव सम्भविष्यति यदा सर्वपदार्थानामन्तःस्थितौ, **एकत्वेन** = एकसत्तात्मिका **व्यवस्थितिः** = व्यवस्थाऽङ्गीकृता स्यात् । अथ च यदि भवता परमैकसत्ता न स्वीक्रियेत तर्हि भवदभिमतस्य **क्षणभङ्गस्य परामर्शस्य** = विचारस्य, **आगमः** = ज्ञानम् **परेण** = अन्येन, कथं स्यात् ? ज्ञानस्य द्वितीयक्षणविध्वंसित्वात् उत्पन्नं ज्ञानं वक्तरि एव उत्पद्यते प्रथमक्षणे; द्वितीयक्षणे च विनश्यतीति परः कथं प्रतिपद्येत ? तस्माद् **भावानां शिवात्मत्वम्** = शिवः आत्मा = परमसत्ता येषां, ते शिवात्मानः, तेषां भावः; **उपपद्यते** ॥९५–९६½॥

एक और स्थायी प्रतीत होती हैं वैसे ही सभी पदार्थ द्वितीयक्षणविध्वंसी हैं तथापि स्थायी प्रतीत होते हैं। इन दोनों युक्तियों के द्वारा पदार्थों का स्थायित्व असिद्ध हो जाता है, और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञानो का भी स्थायित्व और क्षणिकत्व चिन्तन का विषय है। क्योंकि स्थायित्व और क्षणिकत्व दोनों जब असंवादरूप अर्थात् परस्परविरुद्धस्वरूप है तो विरुद्ध अर्थात् दोनों के असंवाद के विरुद्ध संवाद अर्थात् सामञ्जस्य कैसे उपपन्न होगा यदि आप समस्त पदार्थों के भीतर एक महासत्ता को स्वीकार नहीं करते ? साथ ही आपके क्षणभङ्गवाद का ज्ञान दूसरे लोगों को कैसे होगा यदि आप और दूसरे में एक तत्त्व की सत्ता न मानी जाय ? इसलिए समस्त पदार्थों में एक शिवतत्त्व का मानना अपरिहार्य है ॥९३–९६½॥

ततोऽप्येतच्छिवात्मत्वं भावानामुपपद्यते ।
तथाऽर्थावगतिर्वाक्यात् पदाद्वा नोपपद्यते ॥९७॥
क्षणिकत्वेन शब्दानामनभिव्यक्तितोऽपि वा ।
स्फोटाभिव्यङ्ग्यपक्षे तु तत्रापि क्रमता कथम् ॥९८॥
निर्भागत्वात् स्फोटतत्त्वे स्फोटतत्त्वात्मकात् कथम् ।
आभासरूपवस्तूनां शब्दिकान्नो भवेद् ग्रहः ॥९९॥

क्षणिकत्वचर्चायां प्रसङ्गादागतं शब्दक्षणिकत्वमुत्थाप्यार्थावबोधानुपपत्तिं प्रदर्शयति—**तथाऽर्थावगतिरिति**। तथा हि—वर्णा अकारादयस्तृतीयक्षणविध्वंसिनः । न च ते व्यस्ताः सन्तोऽर्थमवबोधयन्ति; तथाऽननुभवात् । समस्ता अपि न; तेषामाशुविनाशित्वेन सामस्त्यासम्भवात् । तथा च वर्णैरर्थप्रत्यय एव न भवितव्यः । किन्तु व्यवहारेऽर्थप्रत्ययो जायते । न ह्ययमर्थप्रत्ययोऽहेतुको भवितुमर्हतीति वर्णसमूहात् पदार्थप्रतीतौ कश्चिद्धेतुरङ्गीकरणीय एव । स तु वैयाकरणानां मते स्फोट इति कथ्यते । स चायं स्फोटो निरवयवो नित्य एकः क्रमरहितश्चेति वैयाकरणानां राद्धान्तः । एष हि स्फोटो वर्णैरभिव्यक्तोऽर्थबोधं कारयति । तत्रैवं सति जनानां मनसीयं भ्रान्तिर्भवति यद् वर्णा अर्थप्रत्ययं जनयन्ति । एतमेव मतं खण्डयितुमुपक्रमते—**तथेति**। वर्णसमूहात् **पदात्** पदसमूहाद् वाक्याद् वाऽर्थप्रतीतिर्न सिध्यति । असिद्धौ हेतुमाह—**क्षणिकत्वेनेति**। **शब्दानाम्**=वर्णानाम् क्षणिकत्वात् । ननु यद्यपि वर्णाः क्षणिकास्तथापि तेऽर्थाभिव्यक्तिं सम्पाद्य विनश्यन्ति इति चेत् ? न; व्यस्तैःसमस्तैरपि वा तैरर्थावबोधजननासम्भवादिति पूर्वमेव व्याख्यातम् । तदभिप्रेत्याह—

बौद्धसिद्धान्त की आलोचना के बाद वैयाकरण सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लेखक का कथन है कि यदि जगत् के मूल में एक तत्त्व परमशिव को आप (वैयाकरण) नहीं मानेंगे तो वाक्य अथवा पद से अर्थबोध नहीं होगा । कारण शब्द क्षणिक अर्थात् तृतीयक्षणविध्वंसी हैं । अथवा यदि यह कहें कि शब्द क्षणिक हैं तो रहें क्षणिक; अभिव्यक्त अर्थ की अभिव्यक्ति तो स्फोट से होती है ? तो यह बताइये कि फिर अर्थबोध में क्रम की उपपत्ति कैसे होगी क्योंकि स्फोट तो निरवयव है ? और दूसरी बात यह है कि शब्द स्फोटतत्त्वात्मक है यह कैसे ? क्योंकि एक क्षणिक हो और उसकी आत्मा नित्य निरवयव हो यह संगत प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त आप (भर्तृहरि) के मत में शब्दतत्त्व अक्षर अनादिनिधन है । उससे आभास अर्थात् विवर्त्तरूप वस्तु का ज्ञान होगा यह सम्भव नहीं । इस कारण इस प्रकार के विषय में युक्ति यही है कि सबके मूल में एक महासत्ता मानिये ॥९७–९९½॥

तस्मादेवंविधेऽर्थेऽपि युक्तता स्यादिहैक्यतः।
तथाऽऽत्मेच्छावशान्नाक्षग्रामे चेष्टोपपद्यते ॥१००॥
मूर्त्तचोदकवैकल्यान्मनश्चेत् प्रेर्यताऽस्य नो।
एकत्वे पुनरीदृक् स्यात् सर्वत्रैव हि युक्तता ॥१०१॥

अनभिव्यक्तितोऽपि वेति। ननु मा भूद् वर्णैः समस्तैर्व्यस्तैर्वाऽर्थप्रतीतिः स्फोटतत्त्वादेवार्था अभिव्यक्ता भवेयुरिति चेत्? सत्यम्। भवद्भिः स्फोटतत्त्वं निष्क्रमकं निरवयवं नित्यमेकं च स्वीक्रियते। वाक्यार्थबोधे च क्रमोऽनुभूयते। यदि स्फोट एवार्थबोधे हेतुः तर्हि क्रमरहितात् स्फोटात् क्रमिकार्थप्रतीतिः जायते इति कथमेतत्? अन्यच्च-अर्थप्रतीतिस्तु भागशो भवति, अर्थात् एकपदार्थबोधे जातेऽपरपदार्थबोध उपपन्नो भवति। स्फोटस्तु भागरहितः, इति कथं कार्यकारणयोस्संगतिः स्यात्? अपरं च स्फोटः शब्दस्यात्मा; नश्वरस्य शब्दतत्त्वस्य नित्यः स्फोट आत्मा स्यादित्यप्यसंगतमेव। किं च यथा भर्तृहरिणोक्तम्–"**अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।**" इति। तस्मादनादिनिधनादक्षरात् **शाब्दिकात्** कारणात् **आभासरूपवस्तूनाम्** = विवर्तस्वरूपपदार्थानाम्, **ग्रह** = ज्ञानम्, **नो भवेत्** = न स्यात् ॥९७–९९॥

तस्मात् = उपर्युक्तविचारे जाते, **एवंविधेऽर्थे** = पदाद् वाक्याद् वाऽर्थविबोधने, अपि इह = भवन्मते, **ऐक्यतः** = एकपरमशिवात्मकसत्तास्वीकारादेव, **युक्तता** = सङ्गतिः, स्यात।

शाब्दबोधे परमशिवस्य हेतुताया अनिवार्यतां प्रदर्श्येदानीं शब्दोच्चारणे ऐन्द्रियप्रत्यक्षे वाऽपि तां पुष्णाति—**तथात्मेच्छेति। तथा** = परमशिवतत्त्वस्यानङ्गीकरणात्। **आत्मेच्छावशादिति**—तथा चोक्तं **पाणिनिशिक्षायाम्**—

"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥" इत्यादि।

शब्दोच्चारण के विषय में या इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में जो यह सिद्धान्त है कि आत्मा के कारण ही सर्वत्र प्रवृत्ति होती है; यह भी तभी उपपन्न होगा जब आप एक तत्त्व मानेंगे। अन्यथा आत्मा की इच्छा के वश इन्द्रियाँ चेष्टावान् होती हैं यह सम्भव नहीं होगा। क्योंकि प्रेरक कोई मूर्त्त पदार्थ होना चाहिए और आत्मा अमूर्त्त है। इसी कारण मन भी इन्द्रियों का प्रेरक नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञानाधिकरण न होने से उसे भी कोई प्रेरक चाहिए। यदि आप एक सत्ता को मान लेते हैं तो वही प्रेरक हो जायगी एवं सर्वत्र संगति बैठ जायगी ॥१००–१०१॥

न चापि भेदे भावानां ग्रहणं ज्ञानमेव वा ।
संयोगेनोपपद्येत यदि दृष्ट्यादिना भवेत् ॥१०२॥
नैवमक्षार्थसंयोगमात्रात् किं बोद्धुरुद्यमः ।
संयोगेऽन्यस्य संजाते कथमन्यस्य बोद्धृता ॥१०३॥
मनसोऽभिन्नकालत्वात्, स्मृतिज्ञानमथोच्यते ।
प्रारब्धश्चासमाप्तश्च वर्त्तमानः क्रियामनु ॥१०४॥

आत्मन इच्छा, तद्वशात्, **अक्षग्रामे** = इन्द्रियग्रामे, **चेष्टा** = कायव्यापारः, न सिध्यति । तत्र हेतुमाह—मूर्त्तचोदकवैकल्यादिति । आत्मा यदेच्छावांस्तर्हीच्छा मूर्त्तस्य धर्मः । प्रेरणाऽपि मूर्त्तस्यैव गुणः । आत्मा च भवन्मतेऽमूर्त्तः; तस्मादमूर्त्तस्यात्मनः प्रेरकत्वं न सम्भोभवीति । ननु मा भूदात्मनः प्रेरकत्वम्, मनसैव चेष्टासिद्धिः स्यात् इति चेत् ? न; प्रेरकत्वाभावे **अस्य** = मनसः, **प्रेर्यता** = प्रेरणानुयोगित्वम्, **नो** = न स्यात् । यद्यात्मा मनो न प्रेरयेत् तर्हि मनः कथमिन्द्रियाणां प्रेरकं स्यादिति तात्पर्यम् । अस्मन्मते तु परमशिवस्य मूर्त्तामूर्त्तसर्ववैशिष्ट्यविशिष्टत्वान्न कापि विसंगतिः ॥१००-१०१॥

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां वैफल्यमपि स्यात्स्वस्वकर्मणि–इत्याह—**न चापीति** । **भावानाम्** = पदार्थानाम्, **भेदे** = सर्वथा भिन्नत्वाङ्गीकारे सर्वेषां मूलभूतपरमसत्ताऽनङ्गीकारे इत्यर्थः; तेषां पदार्थानां **ग्रहणम्** = तद्विषये कर्मेन्द्रियाणां व्यापारः; **ज्ञानम्** = बुद्धीन्द्रियाणां व्यापारः न सम्भवति । ननु चक्षुरादिना पदार्थानां **संयोगेन** = सन्निकर्षेण, ग्रहणं ज्ञानं वा सिद्धयति इति चेत् ?–तत्राह—**नैवमिति** । **अक्षाणाम्** = इन्द्रियाणाम्, **अर्थैः** = पदार्थैः सह संयोगे सम्पन्ने तेनैव च ज्ञानग्रहणसिद्धौ **बोद्धुः** = आत्मनः **उद्यमः** = यत्नः **किम्** = किमर्थम् स्यात्?–इत्यर्थः । विषयेन्द्रियाणां संयोगे संजाते आत्मनश्च तदभावात्कथमात्मनो विषयस्य ज्ञानं स्यात् ?– इति काक्वा योजनीयम् । तदेवाह—**संयोग** इति । **अन्यस्य** = इन्द्रियस्य पदार्थेन सह

पदार्थों को सर्वथा भिन्न मानने पर और एक सत्ता न मानने पर न तो उन पदार्थों का ज्ञान हो सकता है और न ग्रहण । यह भी नहीं कह सकते कि चक्षु आदि इन्द्रिय तथा विषयों का संयोग होने से ज्ञान की सिद्धि हो जायगी क्योंकि इन्द्रिय और विषय का संयोगमात्र होने से ज्ञाता अर्थात् आत्मा का उसमें क्या प्रयास है ? और संयोग विषय तथा इन्द्रिय का है तो ज्ञान आत्मा को कैसे होगा ? ॥१०२–१०३॥

यदि आप कहें कि अभिन्न अर्थात् एक ही काल में मन का आत्मा तथा इन्द्रिय दोनों से संयोग होता है इस कारण आत्मा को विषय का ज्ञान हो जाता है ? तो

प्रक्रियामात्रमेवैतद् यतः पूर्वापरात्मता ।
क्रियायाः कारकाणां हि क्रमोऽस्त्येव स्वकर्मणि ॥१०५॥
यत्र पूर्वापरौ शब्दौ कालैक्यं तत्र युज्यते ।
मनसा नीयते तस्य किं पदार्थस्वरूपता ॥१०६॥

संयोगे जाते, **अन्यस्य** = आत्मनः **बोद्धृता** = ज्ञातृता **कथम्** ? कथमपि नास्तीत्यर्थः ॥१०२-१०३॥

मनसः, अभिन्नः कालो यस्य, तस्य भावः, तस्मात्; एकस्मिन्नेव काले मनस आत्मनेन्द्रियेण च सह संयोगाज् ज्ञानमुपपद्येतेति चेत् ? **अथ** = तर्हि **स्मृतिज्ञानम्** कथं भविष्यति ?—इति उच्यताम् । यतो हि विषयाणां प्रत्यक्षं वर्त्तमानकालिकं भवति; वर्त्तमानश्च कस्याश्चिदपि क्रियायाः प्रारम्भादारभ्य समाप्ति यावल्लक्ष्यते । स्मृतिश्च वर्त्तमानकालिकस्य ज्ञानस्य न भवतीति एतत्सर्वं मनसि निधायाह—**प्रारब्धेत्यादि** ॥१०४॥

न च पूर्वापरत्वादीनां भविष्यद्भूतवर्त्तमानत्वादिकस्य वा व्यवहारः संसारस्य **प्रक्रियामात्रम्**, संसारस्य संसरणाय केवलं भवति न तु पारमार्थिकम् । दृश्यते चैवं यत्कारकैः स्वस्वकर्मणां विषये निष्पाद्यमानानां **क्रियाणां क्रमो** भवत्येव; आवश्यकमपि च तत्, क्रमं विना फलावाप्तेरभावात् । क्रमश्च काल एव । अन्यच्च यत्र **पूर्वापरौ शब्दौ** विद्यमानौ स्तः तत्रापि कालस्त्वेक एव भवति । तस्मात् वर्त्तमान-

---

यह बताइये कि प्रत्यक्ष के विषय में तो यह बात ठीक है किन्तु स्मृति ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि विषय का प्रत्यक्ष वर्त्तमान काल में होता है और वर्त्तमान किसी क्रिया के प्रारम्भ से लेकर असमाप्ति तक का काल होता है तथा स्मृति तो वर्त्तमान की होती नहीं ? ॥१०४॥

यदि यह कहिये कि पूर्वता और परता या भूत वर्त्तमान और भविष्य का व्यवहार तो संसार की प्रक्रिया मात्र है अर्थात् संसार को चलाने के लिए है क्योंकि कारकों की क्रिया का अपने कर्म के विषय में क्रम होता ही है । विना क्रम के कार्यरूप फल की प्राप्ति ही नहीं होगी । और यह क्रम ही काल है । इसके अतिरिक्त जहाँ पूर्व तथा पर दोनों शब्द वर्त्तमान रहते हैं वहाँ काल तो एक ही होता है । इसलिए वर्त्तमानकालिक स्मृति तथा अतीत का अनुभव दोनों में कालिक सामञ्जस्य बन जाने से स्मृतिज्ञान की भी उपपत्ति हो जाती है ॥१०४½–१०५½॥

अब प्रश्न है कि क्या आप काल की पदार्थस्वरूपता मन से स्वीकार करते हैं ? उत्तर है कि यह असम्भव है, क्योंकि काल अमूर्त्त है । यदि कोई कहे कि उसका रूप है ? तो फिर हम पूछते हैं कि वह रूप गुण होने के कारण गुणी से

साऽशक्याऽमूर्त्तरूपत्वाद्रूपं चेन्न कथं गुणः ।
गुणिनो नीयतेऽन्यत्र [तृषार्त्तं चातकं][1] प्रति ॥१०७॥
अथ ज्ञानं न, मनसस्तज्ज्ञानमुपपद्यते ।
करणत्वाज्जडत्वाच्च तस्य चेदात्मनाऽत्र किम् ॥१०८॥
करणे ज्ञानसम्बन्धाद् बाह्यार्थे किं न कल्प्यते ।
बुद्धेर्गुणत्वं, मनसि प्राप्नुयादथ, चेतसा ॥१०९॥

कालिकस्मृतेरतीतानुभवस्य चोभयोर्मध्ये कालिकविसंगतेरभावात् स्मृतिज्ञानमुपपद्यते ॥१०४-१०५½॥

ननु तस्य = कालस्य पदार्थत्वेन स्थितिः मनसा नीयते = स्वीक्रियते किम् ? सांख्यादिदर्शनेषु पदार्थगणनायां कालस्यानुक्तत्वादिति चेत् ? तत्राह— **साऽशक्येति** । तत्र हेतुमाह—**अमूर्त्तरूपत्वादिति** । ननु कालं नामूर्त्तरूपम्, यद्द्रव्योपाधिमादाय कालस्य व्यवहारः क्रियते तस्यैव द्रव्यस्य रूपं कालस्यापि रूपम्; तस्मात् न कालोऽमूर्त्तः किन्तु तस्य द्रव्यस्य गुणो रूपमिति चेत् ? यथा जलवतो मेघस्य गुणो जलं गुणिनो मेघात् पृथक्कृत्य **तृषार्त्तं चातकं प्रति नीयते** तथा कालोऽपि स्वाधारोपाधेः पृथक्कृत्य कथं न नीयते ? न चैतद् दृश्यते लोके । तस्मात् कालस्यैक्यं तस्य द्रव्यत्वादिकं च तावत्कालमसम्भवि यावत् त्वं सर्वान्तर्यामिनीं महासत्तां नोररीकरोषि ॥१०७॥

अथेति नन्वर्थे । ननु कालो हि गुणो गुणिनः पृथक् वर्त्तते स्वभावतः; अस्माकं तु तस्य **ज्ञानमेव** न भवति इति चेत् ? न; मनसस्तज्ज्ञानस्योपपत्तेः । न च मनसो **ज्ञानकरणत्वाज्जडत्वाच्च** यदि तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिः स्वीक्रियते भवता तर्हि आत्मनः किं सार्थक्यम् ? आत्मा हि ज्ञानाधिकरणमिति तत्तत्तन्त्रेषूक्तम् । अन्यच्च ज्ञानस्य **करणे** = साधने, ज्ञानस्य सम्बन्धो मन्यते यदि भवद्भिस्तर्हि **बाह्यार्थे** = घटपटादौ, ज्ञानस्य साधने बुद्धेर्गुणस्य ज्ञानस्योत्पत्तिः किं न **कल्प्यते** = स्वीक्रियते । यदि ज्ञानस्योत्पत्ति**र्मनसि प्राप्नुयाद्** भवन्मते तर्ह्येवं मन्तव्यं यत्

पृथक् क्यों नहीं व्यवहृत होता ? जैसे जलवान् मेघ का गुण जल, मेघ से अलग होकर तृषार्त्त चातक से पास पहुँच जाता है उसी प्रकार काल भी गुणी से पृथक् पहुँचना चाहिए । पर ऐसा होता नहीं । अतः काल की एकता इत्यादि तब तक सम्भव नहीं जब तक आप इसके पीछे एक स्वप्रकाश शुभ्र सत्ता को नहीं मान लेते ॥१०६–१०९॥

---

१. तृषार्त्तश्चाकृति ।

एवंविधो घटोऽत्रास्त इत्यात्मा प्रतिबोध्यते ।
तदेवं पूर्वदृष्टस्य वर्णनासदृशं भवेत् ॥११०॥
वर्णनेन च चैतन्यमेतावन्मनसो यदि ।
स्वात्मशक्तिसमावेशादमूर्त्तविशता कथम् ॥१११॥

चेतसा = मनसा कारणेनात्मन्यधिकरणे ज्ञानमुत्पद्यते उत्पाद्यते च । तस्य ज्ञानस्य स्वरूपमाह—**एवंविध** इति । **एवंविधः** = पूर्वदृष्टप्रकारकः **घटोऽत्रास्ते इत्यात्मा प्रतिबोध्यते** मनसा । **तत्** = तस्मात् कारणात्, **एवम्** = पूर्वकथनानुसारेणेदं प्रतिबोधनं **पूर्वदृष्टस्य** घटस्य वर्णनायाः **सदृशं भवेत्** ॥१०८–११०॥

ननूपर्युक्त**वर्णनेन** यदीदमायातं यन्मनसाऽऽत्मा प्रतिबोध्यते तस्येदं तात्पर्यं यन्मन **एतावत्** = कयाचिन्मात्रया, चैतन्येन संयुक्तमस्ति, तच्च स्वशक्तेः **समावेशात्** = साहाय्येन आत्मनो बोधं कारयति । तर्हि **अमूर्त्तविशता कथम्** = मूर्त्तेन मनसा सह, **अमूर्त्तस्य आवेशता** = संयोगः कथम् ? मूर्त्तयोरेव संयोगनिष्पत्तेः । ननु **तेन** = मनसा **वाऽर्थावबोधे** जाते **तदात्मना** = तेन = मनसा युक्तेनात्मना **किं क्रियते** ? न च विषयस्वरूपात्मसंयोगः क्रियत इति वाच्यम्; **अभिन्नप्रदेशयोः** = एकस्मिन् स्थाने काले च वर्त्तमानयोरेव संयोगात् । अत्र तु आत्मा शरीरावच्छेदेनान्तर्वर्त्ती

यदि आप कहें कि कालरूप गुण गुणी से पृथक् रहता है उसका हमको ज्ञान नहीं होता ? तो यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि मन से उसका ज्ञान होना सिद्ध है । तब पुनः प्रश्न होता है कि मन तो ज्ञान का करण और जड़ है उसको ज्ञान होता है यदि आप ऐसा मानेंगे तो फिर आत्मा का सार्थक्य किस प्रकार सम्भव होगा ? दूसरी बात यह कि यदि ज्ञान का सम्बन्ध आप ज्ञान के करण से मानते हैं तो बाह्य पदार्थ भी ज्ञान के करण होते हैं फिर घट पट आदि में भी बुद्धि के गुण ज्ञान की उत्पत्ति आप क्यों नहीं मानते ? यदि आप ज्ञान की सत्ता मन में मानते हैं तो यह मानिये कि ज्ञान मन में नहीं उत्पन्न होता बल्कि मन के माध्यम से आत्मा को यह ज्ञान कराया जाता है कि 'एवंविध अर्थात् पूर्वदृष्ट-प्रकारक घट यहाँ है' । और इस प्रकार यह प्रतिबोधन पूर्वदृष्ट घट के वर्णन के सदृश होता है ॥१०९–११०॥

अब यहाँ प्रश्न है कि उपर्युक्त वर्णन से यदि यह सिद्धान्त निकला कि मन आत्मा को बोध कराता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह किसी मात्रा में चैतन्ययुक्त है और अपनी शक्ति के समावेश अर्थात् साहाय्य से बोध कराता है, तो यह बताइये कि आत्मा तो अमूर्त्त है फिर उसके साथ मन का आवेश अर्थात् संयोग कैसे होता है ? ॥१११॥

तेन वा सम्प्रतीतेऽर्थे क्रियते किं तदात्मना ।
तत्स्वरूपात्मसंयोगः संयोगोऽभिन्नदेशयोः ॥११२॥
मनसाऽऽवेदितार्थस्य तद्देशित्वमथोच्यते ।
वर्णिते योगिता कस्य, यदि वा तत्स्वरूपतः ॥११३॥
संस्करोति तदात्मानममूर्त्ते संस्कृतिः कथम् ।
तद्रूपमात्मन्येतद्येनाश्लेषो यदि चोच्यते ॥११४॥

विषयश्च बाह्यप्रदेशे संस्थितः इति देशयोर्भिन्नत्वम् । इत्याह—**मनसेति** । मनसो-मध्यमपरिमाणत्वादात्मनश्च विभुत्वान्मनसा पदार्थेन सहात्मा सन्निकृष्यते इत्यात्ममनसोः **तद्देशित्वम्** = एकदेशित्वम्; **उच्यते** = उपपन्नं भवति ।

ननु पूर्वस्मिन् काले **वर्णिते** = प्रत्यक्षीकृतेऽधुना च स्मर्यमाणे इति द्वयोः पदार्थयोर्मध्ये **कस्य** = पदार्थस्य आत्मना सह **योगिता** = संयुक्तता = संयोगः भवति ? यदि तस्मिन् काले, **तत्** = मनः, **स्वरूपतः** न तु ज्ञातं सत् आत्मानं संस्कुरुतेऽनन्तरं च विषयस्मृतिः संजायते तर्हीदमुच्यतां यदमूर्त्तस्यात्मनः संस्कारः कथं सम्भवति ? संस्कारो नाम गुणाधानम्; तच्च मूर्त्तस्यैव क्रियते न त्वमूर्त्तस्य । **येन** = मनसा **तद्रूपम्** = संस्कारस्वरूपम्, आत्मनि, **एतत्** = संस्कारः **मिलति** = प्रतिबिम्बितं भवति, तदेव च **यदि आश्लेषः** = संयोगः = सम्बन्ध उच्यते तर्हि **अमूर्त्तेन चैतन्येन** = आत्मना, **अन्यस्य** = अमूर्त्तातिरिक्तस्य मूर्त्तस्य मनसः **मिश्रता** = संयोगः, कीदृशी ?–न कथमपि स्यादित्याशयः ॥११०–११४½॥

यदि यह कहिये कि मन से ही विषय का ज्ञान होता है तो फिर आत्मा उस समय क्या करता है ? यदि आत्मा विषय के स्वरूप से अपना संयोग करता है यह कहें ? तो प्रश्न होता है कि संयोग तो एक स्थान में रहने वाले दो पदार्थों के बीच होता है; यहाँ तो आत्मा शरीरावच्छेदेन अन्दर है और विषय बाहर ? तो इसका उत्तर यह है कि चूँकि मन आत्मा को विषय का बोध कराता है इसलिए मन के देश में आत्मा और विषय का सदेशत्व उपपन्न हो जाता है ॥१११½–११२½॥

अब प्रश्न उठता है कि पूर्व काल में वर्णित अर्थात् प्रत्यक्षीकृत किन्तु अधुना स्मर्यमाण पदार्थ में किसका आत्मा से संयोग होता है ? यदि आप कहें कि उस समय मन स्वरूपतः (स्वरूपं सत् न कि ज्ञातं सत्) आत्मा का संस्कार करता है और विषय का स्मरण हो जाता है ? तो यह बतलाइये कि अमूर्त्त आत्मा का संस्कार कैसे ? जिस कारण मन का स्वरूप आत्मा में मिल जाता है अर्थात् प्रतिबिम्बित हो जाता है यदि यही आश्लेष अर्थात् संयोग है तो यह बताइये कि अमूर्त्त चैतन्य के साथ मन की मिश्रता कैसी ? ॥११३–११४½॥

चैतन्येनाप्यमूर्त्तेन मिश्रताऽन्यस्य कीदृशी।
किं स्वयं तत्प्रमेयत्वमस्य चेदतिरेकतः ॥११५॥
मनसा किं किमक्षेण तेन चेत्तत्परम्परा।
एवं तदन्धपारम्पर्यत्वरूपमिदं स्फुटम् ॥११६॥
किमात्मप्रेरणेनात्र ज्ञातेऽज्ञातेऽथवा बहिः।
ज्ञाते तु ज्ञानरूपत्वात् प्रेरणं केन हेतुना ॥११७॥
अज्ञातेऽमुत्र याहीति प्रेर्यते केन मानसम्।
प्रेर्यप्रेरणतत्कर्त्तृद्वयैक्यादुपपद्यते ॥११८॥

ननु अस्य = आत्मनः, अतिरेकतः = अभावेऽपि, सार्वविभक्तिकस्तसिः, तत्प्रमेयत्वम् = तस्य = विषयस्य, प्रमेयत्वम् = प्रमाविषयत्वम् चेत् = यदि मन्यते भवता तर्हि मनसः इन्द्रियाणां च किं सार्थक्यम् ? अपि च, एकोऽपि विषयः स्वयं प्रमेयः संजातश्चेदन्येषामपि विषयाणां स्वप्रमेयत्वमापतिष्यतीत्यन्धपारम्पर्यत्वं स्फुटमेव ॥११५–११६॥

अन्यमपि दोषं प्रकटयति—किमित्यादिना। यदि विषयाणां स्वप्रमेयत्वं मन्यते भवता तर्हि बहिः = बाह्ये, ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते विषये यन्मनुष्य आत्मानं योजयति तेनात्मप्रेरणेन अत्र = अस्यां परिस्थितौ किम् = को लाभः ? अज्ञाते विषये तज्ज्ञानाय, ज्ञाते च परं प्रतिबोधयितुमात्मनो ज्ञानं वा दृढीकर्त्तुं नरः स्वं योजयति। ज्ञाते विषये, स्वात्मप्रेरणानर्थक्यं वर्त्तते; विषयस्य ज्ञानरूपत्वात् यतो हि

और यदि यह मानें कि आत्मा के विना ही विषय स्वयंप्रमेय है तो फिर मन की, इन्द्रियों की सार्थकता क्या होगी ? साथ ही यदि एक विषय स्वयं प्रमेय हो गया तो फिर अन्यान्य विषयों के प्रमेयत्व की अन्धपरम्परा हो जायगी ॥११५–११६॥

यदि विषय स्वयंप्रमेय है अर्थात् विषय को स्वयं अपना ज्ञान होता है तो बाहरी ज्ञात अथवा अज्ञात पदार्थों के विषय में व्यक्ति स्वय को लगाता है इससे क्या लाभ होगा ? यदि पदार्थ ज्ञात है तो उसके ज्ञान की आवश्यकता नहीं फिर मन को प्रेरित किसलिये किया जायगा ? और यदि अज्ञात है तो फिर 'वहाँ जाओ' इस प्रकार मन को प्रेरित कौन करेगा क्योंकि ज्ञान के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है और यहाँ विषय के स्वयं ज्ञानमय होने से आत्मा का उससे सम्बन्ध है नहीं ? यह प्रेर्य की प्रेरणा और प्रेरक मन दोनों को एक मानने पर ही 'वहाँ चलो' ऐसी प्रेरणा की उपपत्ति होगी। इस कारण समग्र संसार को एक पदार्थ शिव में ही प्रतिष्ठित मानिये ॥११७–११८½॥

**तस्माज्ज्ञेयं समग्रैक्यवस्तु शैवं व्यवस्थितम् ।
तथा स्मरणयोगाच्च स्मर्यते किं तथा विधम् ॥११९॥
यादृग् दृष्टं दृष्टता स्यादथवा ज्ञानमेव तत् ।
दृष्टस्मरणयोरैक्ये स्थिते तदुपपद्यते ॥१२०॥
तथा सा प्रत्यभिज्ञानात् स एवायमिति स्थितिः ।
युज्यते कथमत्रैव ज्ञानयोः कालभिन्नयोः ॥१२१॥
द्वयोरैक्यमनैक्यं वा तदैक्यं भिन्नयोः कथम् ।
अनैक्ये न स एवायमिति स्याद् घटदण्डयोः ॥१२२॥**

विषयः स्वं सदा जानाति । यदि चाज्ञातो विषयस्तर्हि 'त्वम् अमुत्र याहि' इति केन मनः प्रेरितो भविष्यति ? ज्ञानायात्मन आवश्यकत्वं भवति, अत्र तु विषयस्य स्वयं ज्ञानमयत्वादात्मनो वैयर्थ्यमापतितमिति प्रेरकस्यैवाभाव आसन्नः । तस्मात् **प्रेर्यस्य प्रेरणं तत्कर्त्ता** चेत्यनयोर्द्वयोरैक्यस्य स्वीकरणादेव सर्वं समञ्जसं स्यात् ।

तस्मात् समस्तमपि एकतापन्नं पदार्थजातं **शैवम्** = शैवसिद्धान्तस्वीकारे सत्येव व्यवस्थितत्वमाप्नोति नान्यथा ॥११७–११८½॥

अन्यच्च यदा मनसः स्मरणेन योगो भवति, अर्थान्मनः कञ्चिद् विषयं स्मरति, तदाऽतीते यादृग् दृष्टं, **तथाविधम्** = तत्प्रकारकम्, **किम्**=कथम्, **स्मर्यते** ! ननु च **यादृग् दृष्टं** वस्तु तस्य स्मरणं **दृष्टता** वा भवेज् **ज्ञानमेव** वा । एतद्द्वयातिरिक्तं न कोऽपि तृतीयः पन्था वर्त्तते । दृष्टता तु दृष्टपदार्थगतो धर्मः पदार्थान्तिर्वर्त्ती । ज्ञानं चात्माधिकरणकम् । **तत्** = स्मरणम्, **दृष्टस्मरणयोरैक्ये** = पूर्वकाले दृष्टस्य इदानीं स्मरणविषयीभूतस्य च पदार्थस्यैकत्वे, **स्थिते** = सिद्धान्तरूपेण स्वीकृते उपपद्यते ॥११९–१२०॥

यदि च भवता नाङ्गीक्रियत ऐक्यं तर्हि 'अयं स एव' इति वर्त्तमानकाल-विशिष्टस्य अयमितिपदवाच्यस्य तथाऽतीतकालविशिष्टस्य सइतिपदवाच्यस्य पुरुषस्य सम्बन्धिनोः; कालौ भिन्नौ ययोः तौ, तयोः **ज्ञानयोः**, **अत्रैव** = अस्मिन्नेव

इसके अतिरिक्त जब मन का स्मरण से योग होता है अर्थात् जब किसी विषय का स्मरण होता है तो अतीत में जैसा देखा है उसी प्रकार का स्मरण किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसका स्मरण होता है वह या तो दृष्टता है या ज्ञान । दृष्टता या ज्ञान का यह स्मरण तभी संगत होगा जब दृष्ट और स्मरणविषयक पदार्थों में ऐक्य माना जाय ॥११९–१२०॥

इसी प्रकार 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा से, कालिकरूप से भिन्न दो ज्ञान 'वही' तथा 'यह' इन दोनों की एकत्व की स्थिति कैसे संगत होगी जब तक कि

तस्मादैक्यमिह स्पष्टं संसारे समवस्थितम् ।
एषैव वार्त्ता संयोगे वस्तुरूपतया स्थिते ॥१२३॥
परस्परेण चाप्यत्र तेषां रूपेण वाऽन्यथा ।
तस्मात् समस्तभावानामैक्येनैवास्ति संगमः ॥१२४॥

प्रकरणे **स्थितिः** = संगतिः कथं युज्यते ? न कथमपि संगतिः स्यादेकतत्त्वानङ्गीकारे—इत्यर्थः ।

उच्यतां भवतैव, 'सः' 'अयम्' अनयोर्द्वयोर्मध्ये किमैक्यमस्ति ? अनैक्यं वा ? यद्यैक्यमिति मन्यते ? तदसंगतम्; तद्देशतत्कालाभ्यामेतद्देशैतत्कालाभ्यां विशिष्टत्वाद् भिन्नयोर्द्वयोः पदार्थयोरैक्याभावात् । अनैक्ये च स्वीकृते यथा परस्परं सर्वथा भिन्नयोर्घटदण्डयोर्नैकत्वं तथा प्रत्यभिज्ञातपदार्थेऽपि । **तस्मात्** इह = पुरोदृश्यमाने चराचरात्मके **संसारे**, **ऐक्यम्** = एकतत्त्वस्यानुस्यूतता, **स्पष्टम्** = असदिग्धम् **समवस्थितम्** । **एषैव** = पुरो वर्णितैव, **वार्त्ता** = एकतत्त्वात्मता जगति **वस्तुरूपतया** = वस्तुस्वरूपेण, **स्थिते** = वर्त्तमाने **संयोगे** = विशिष्टसम्बन्धे,अप्यस्ति । प्रत्येकमपि वस्तु केनाप्यन्येन वस्तुना संयुक्तमेव तिष्ठति । न कोऽपि पदार्थ एकाकी इति । एष च संयोगः सैव स्फुरणशीलमहासत्ताऽस्ति । ते च संयोगवन्तः पदार्थाः **परस्परेण** = परस्परं संयुक्ताः दृश्यन्ताम् **अन्यथा वा** = न वा दृश्यन्ताम्; समस्तपदार्थानां एकत्वाभिमतावेव **संगमः** = संगतिः अस्ति ॥१२१–१२४॥

आप एक तत्त्व नहीं मानेंगे ? यह बताइये कि 'सः' तथा 'अयम्' इन दोनों में ऐक्य है ? या अनैक्य ? यदि ऐक्य है तो तद्देश तत्काल तथा एतद्देश एतत्काल रूप से भिन्न दो पदार्थ एक कैसे हो सकते हैं ? और यदि एक नहीं हैं तो जिस प्रकार दण्ड और घट के बारे में 'स एवायम्' (यह घट पूर्वदृष्ट दण्ड है या यह दण्ड पूर्वदृष्ट घट है) इस प्रकार का ऐक्यावबोध नहीं होता वैसे ही एक ही देवदत्त के बारे में भी 'स एवायम्' बोध नहीं होगा ॥१२१–१२२॥

इसलिए इस संसार में स्पष्ट रूप से एक तत्त्व वर्त्तमान है । यही बात वस्तुओं के रूप में स्थित संयोग के बारे में भी है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु किसी न किसी से संयुक्त है । कोई भी पदार्थ अकेला नहीं है । और यह संयोग और कुछ नहीं वही एक स्फुरणशील महासत्ता है चाहे वे पदार्थ पारस्परिक रूप में प्रत्यक्षतया संयुक्त दिखाई पड़ें या न पड़ें । समस्त पदार्थों का सामञ्जस्य एक तत्त्व को मानने से ही होगा ॥१२३–१२४॥

शिविकोद्वाहकानां च न्याय एषोऽनुवर्त्तताम् ।
परचित्तपरिज्ञानात् तस्माज्ज्ञेयैक्यता ततः ॥१२५॥
सार्थसेनावनाद्यात्मजगत्यैक्यं स्फुटं स्थितम् ।

इति श्री शिवदृष्टौ अनुपपत्तिचोदनालक्षणं चतुर्थमाह्निकं सम्पूर्णम् ।

अस्मिन् विषये न्यायमुदाहरति—**शिविकेति** । यथा शिविकाया **उद्वाहकाः** = स्कन्धधाराः परस्परं पृथक् पृथक् सत्तावन्तो दृश्यन्ते किन्तु तेषां मनसि शिविकोद्वाहनविषयिणी एका भावना सर्वानपि तानेकस्यामेव दिशायां प्रवाहयति अन्यथा परस्परं भिन्नास्ते भिन्नां दिशमेव यास्यन्ति, तथैवास्मिन् जगति पृथग्दृश्यमानेषु पदार्थेषु एकैव महासत्ता वर्त्तमाना राजते, यया समग्रमपि विश्वं स्वस्वातन्त्र्योद्दिष्टां दिशं नेनीयते । परेषां मनसि वर्त्तमानानां विचाराणां **परिज्ञानादपि ऐक्यता ज्ञेया** ।

इदं जगत् सार्थवत्, सेनावत् वनवद् वा वरीवर्त्ति । यथा सार्थे यात्रिणामस्तित्वं पृथग् भवति; यथा वा सेनायां योद्धारः पृथग् भवन्ति; यथा च वने वृक्षाणां सत्ता पृथक् परिलक्ष्यते किन्तु व्यवहारस्तु, सार्थः, सेना, वनम् इति एकत्वेन भवति यतस्तत्र पार्थक्येऽप्यैक्यमन्तर्हितम्, तथैवात्र पुरोदृश्यमाने सर्वतो विलक्षणाकारे संसारेऽपि पृथक् पृथक् प्रतिभासमानेष्वपि पदार्थेषु एका परमशिवात्मकसत्ता राराजमाना अस्तीति नात्र सन्देहलेशावसरः ।

इति श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिकृतायां शिवदृष्टिवृत्तौ चतुर्थमाह्निकम् ।

इसलिए जैसे पालकी ढोनेवाले कहाँर स्वयं पृथक् प्रतीत होते हैं फिर भी उन सबके अन्दर पालकी ढोनेवाली एक सत्ता (शिविकावाहकत्व) काम करती है, अन्यथा वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते और कार्य न हो पाता; इसी प्रकार यहाँ भी पृथग् दृश्यमान पदार्थों में एक सत्ता है जो सृष्टि को एक निर्दिष्ट दिशा में ले चल रही है । यह ऐक्य दूसरे के विचारों को समझने वाली स्थिति से भी जाना जा सकता है ।

यह संसार सार्थ अर्थात् काफिला, सेना या वन के समान है । जैसे काफिला का हर एक यात्री पृथक् होता है या सेना का हर सिपाही अलग होता है या वन के हर वृक्ष का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, फिर भी व्यवहार एक काफिला, एक सेना एक वन का होता है उसी प्रकार इस संसार में भी एक परमशिवात्मकसत्ता विराजमान है । व्यवहार के लिए सर्वत्र भेद की प्रतीति होती है ।

•

पञ्चममाह्निकम्

अथ चेत् सर्वभावानां न विना तत्त्वमेककम् ।
समन्वयोऽस्ति तदिदं कथमैक्यं विभेदितम् ॥१॥
तदपि सर्वदाऽस्तीह तदर्थमिह वर्ण्यते ।
यथा सर्वेषु भावेषु समताऽस्त्येकरूपता ॥२॥

वृत्तिः—एकतत्त्वानङ्गीकारे लोकयात्रायामनेका अनुपपत्तीः संचोद्येदानीं सर्वत्र चराचरात्मके जगति परमैकतत्त्वस्य समन्वयं संसाधयितुमुपक्रमते—**अथ चेदिति** । सर्वपदार्थानाम् **एककम्** = एकम्, स्वार्थ कन्, **तत्त्वम्** = परमशिवात्मकम् विना, **समन्वयः** = समता, संगतिः, **नास्ति तत्** = तर्हि **ऐक्यम्** = एकतत्त्वस्य शाश्वद्रूपेण वर्त्तमानता, **कथं विभेदितम्**=भिन्नतां प्रापिता । एकमेव परमं तत्त्वं नानारूपेण केन-कारणेनाविरभूत् । **तदपि** = भिन्नरूपतां प्राप्तमपि एकतत्त्वं स्वेन रूपेण अर्थादिक-रूपेणापि **इह** = विश्वब्रह्माण्डे **सर्वदा** = कालानवच्छिन्नत्वेन, **अस्ति**; परमशिवः स्वस्वातन्त्र्येणात्मानं नानारूपेण स्फोरयन्नपि स्वकीयं मौलिकं रूपमेकतत्त्वात्मकं न जहाति; यथोक्तं **प्रत्यभिज्ञाहृदये** 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसृष्टिहेतुः, (सू० १) 'सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' (सू० २) इति । **यथा** च **सर्वेषु भावेषु** = चिदचित्स्वरूपेषु पदार्थेषु **एकरूपता समता अस्ति**, **तदर्थम्** = तस्मै प्रयोजनाय = तमेव विषयमवगमयितुं **इह** = अस्मिन् आह्निके, **वर्ण्यते** = वर्णना क्रियते । **यथा जातु चिदपि** = कदाचिदपि, **विभेदित्वम्**=भेदावस्थानम् = पदार्थेषु परस्परं भिन्नत्वम्, **न** = नास्ति **तथा तत्** = भिन्नत्वाभाववत्त्वम्; **उपकर्ण्यताम्** = श्रूयताम् ।

पूर्वं भूमिकामुपक्रम्येदानीं विषयं प्रस्तौति—**चित्त्वादिति** । सर्वे च ते पदार्थास्ते-षाम्, **चित्त्वात्** = एकचिदात्मशक्तिस्वरूपत्वात्, **विशेषः** = भेदः, **केन** हेतुनाऽस्ति इति भवद्भिः शैवाद्वैतशास्त्रममन्वद्भिः **कथ्यताम्** । **विभेदेष्वपि** = नानारूपेणभास-मानेष्वपि पदार्थेषु, **तस्य** = एकतत्त्वस्य **व्याप्त्या**, **भेदेष्वपि एकता**, **स्थिता** =

चि०—यदि समस्त पदार्थों का एक तत्त्व के बिना समन्वय सम्भव नहीं है तो फिर वह एक तत्त्व कैसे भिन्न हुआ, तथा वह भिन्नरूपता को प्राप्त एक तत्त्व इस विश्वब्रह्माण्ड में सर्वदा शाश्वत रूपेण वर्तमान है—यही इस आह्निक का वर्णनीय विषय है । समस्त पदार्थों में एकरूप समता जिस प्रकार है तथा जिस प्रकार कभी भी भिन्नता नहीं है—यह आप इस आह्निक में सुनें ॥१–२½॥

न जातुचिद् विभेदित्वं तथा तदुपकर्ण्यताम् ।
चित्त्वात् सर्वपदार्थानां विशेषः केन कथ्यताम् ॥३॥
विभेदेष्वपि तद्व्याप्त्या भेदेष्वप्येकता स्थिता ।
इच्छावन्तः सर्व एव व्यापकाश्च समस्तकाः ॥४॥
अमूर्त्ताश्च तथा सर्वे सर्वे ज्ञानक्रियात्मकाः ।
प्रभवश्च तथा सर्वे इच्छाऽऽमर्शास्तथाऽखिलाः ॥५॥
सर्वे स्वात्मपरिच्छेदवन्तो नित्यमवस्थिताः ।
विकासाह्लादवन्तश्च सर्वे निर्वृतियोगिनः ॥६॥

सिद्धा । एकत्वं संसाधयति—**इच्छावन्त** इति । यतो हि परमशिवः इच्छाज्ञान-क्रियारूपशक्तित्रितयस्वभावः यतश्च सर्वपदार्थरूपेण स एव भगवान् स्फुरितोऽस्ति, यथाह—

> सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्त्तते ।
> चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ (शि० दृ० १.४)

एवं सर्वेषु यथा सा शिवरूपता ।

> नीरूपता निर्वृतिर्वा शक्तित्रितययोगिता ॥
> सचित्त्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाऽग्रतः ॥
> (शि० दृ० १.४६.४७)

तस्मात्; सर्वेऽपि पदार्थाः **इच्छावन्तः**; समस्ता एव **समस्तकाः**, स्वार्थे कन्, सर्वे इत्यर्थः । **व्यापकाः** = परममहत्परिमाणवन्तः, परमशिवस्य व्यापकत्वात्; व्यवहारात्मके जगति मूर्त्तत्वमादधाना अपि **सर्वे** पदार्थाः परमार्थतोऽमूर्त्ताः; तथा परमेश्वरस्य ज्ञानक्रियात्मकत्वात्, तत् एव च प्रादुर्भावात् सर्वेषां **सर्व** एव पदार्थाः **ज्ञान-क्रियात्मकाः** । **सर्वे प्रभवः** = परस्य, स्वस्य वा स्वामिनो जनका वा सन्ति । तथा चाखिला इच्छामर्शशालिनः । **सर्वे स्वात्मपरिच्छेदवन्तः** । एतेन परमशिवस्य जगत्स्वरूपत्वं लक्ष्यते । यथाह—

चूंकि सभी पदार्थ चित्स्वरूप हैं अतः किस कारण से भेद कहा जाय ? चूंकि भिन्नता में भी वह चित्तत्त्व व्याप्त है अतः भेद में भी एकता की सिद्धि हो जाती है ॥३–३½॥

संसार में सब कुछ या सभी कोई इच्छावान् व्यापक अमूर्त ज्ञान-क्रिया वाले तथा प्रभु अर्थात् अपने या किसी न किसी के स्वामी या जनक हैं । तथा इच्छामर्श वाले अर्थात् इच्छासहित सभी आत्मचेतना वाले हैं । सभी विकासशील आनन्दपूर्ण तथा मोक्ष चाहने वाले हैं ॥४–६॥

घटादीनां समस्तानामिच्छादेरल्पताऽस्ति चेत् ।
अन्यत्र देहे सर्पादौ दीपादौ नाग्निताऽल्पके ॥७॥
स्वल्पतेजसि दार्ढ्याद्वा सर्वत्र शिवतुल्यता ।
भवेदिच्छादिविषये सर्वत्र प्रविसारिणी ॥८॥

आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथंचन ।
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ॥
(शि० दृ० १.३२)

एवंभूतास्ते पदार्थाः नित्यं तिष्ठन्ति । अथवा **परिच्छेदः** = ज्ञानम् । सर्वेऽपि आत्मज्ञानिनः । **विकासाह्लादवन्तो निर्वृतियोगिनः** इत्येताभ्यां परमशिवमयत्वं समेषां भावानां दर्शितम् ॥१-६॥

ननु घटादीनां समस्तानां जडतया ज्ञायमानानां पदार्थानां मध्ये इच्छाज्ञान-क्रियाणामल्पतमत्वं परिदृश्यते चेत् ? न कापि क्षतिः । **अन्यत्र देहे सर्पादौ** तथात्वा-भावात् । किं **स्वल्पतेजसि** = क्षीणप्रकाशके **अल्पके** = स्वल्पाकृतौ दीपादौ; आदिना उल्मुकार्चिरादिकं ग्राह्यम् । **अग्निता** = अग्नेः सत्त्वं **न**=नास्ति ? अवश्यमेवास्ति इति काक्वा योजनीयम् । **दार्ढ्याद्** = दृढतया विचारे कृते, **सर्वत्र** = निखिलेऽपि संसारे, **शिवतुल्यता** = परमशिवस्य तुल्यरूपेण सत्त्वम् अस्ति । **सर्वत्र इच्छादिविषये** = इच्छाज्ञानक्रियात्मके जगति सैव शिवतुल्यता, **प्रविसारिणी** = प्रसृयमाणाऽस्ति । यथोक्त**मीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्**—

तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः ॥
(ई० प्र० १.६.७)

तथा **भट्टनारायणेन**—

प्रतिक्षणमविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः ।
कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥८॥ इति ।

यदि यह कहिये कि घट आदि समस्त जड पदार्थों में इच्छा ज्ञान और क्रिया नहीं के बराबर है ? तो अन्यत्र सर्प आदि के शरीर में ऐसा नहीं है । इसी प्रकार छोटे से दीपक आदि में अग्नि स्वल्प है । किन्तु इन स्वल्प तेज वाले पदार्थ, जो कि इच्छा ज्ञान और क्रिया के विषय हैं, में भी दृढ़तापूर्वक विचार करने पर सर्वत्र शिवतत्त्व का साम्य फैला हुआ परिलक्षित होता है ॥७–८॥

दुःखादिना विशेषश्चेत् तत्राप्यशिवता न च।
दुःखेऽपि प्रविकासेन दुःखार्थे धृतिसंगमात् ॥९॥
दृश्यते बन्धनं तेषु धृतिः कीटादिके तथा।
निर्वृत्या यत्र योगोऽस्ति तत्रैव शिवता स्फुटम् ॥१०॥
अथ चेच्चिद्वतामेतद्वक्तुं युक्तं कदाचन।
पृथिव्यादेर्हि मूर्त्तस्य घटादेर्वा न युज्यते ॥११॥

ननु परमशिवस्य चिद्रूपाह्लादपरमत्वात् यत्र दुःखादिना **विशेषः** = भिन्नत्वम् दृश्यते तत्र शिवत्वं नास्तीति चेत् ? न; दुःखेऽपि तस्यैवेच्छाया प्रसारत्वात्। दुःखेन संयुक्तोऽर्थः, **दुःखार्थः** (मध्यमपदलोपि समासः), = दुःखमयो विषय; तत्रापि **धृतिसंगमात्; धृतिः** = धैर्यम् = स्थिरता सा च शिवस्य स्वरूपम्। तस्या **संगमः** = संसृष्टिः, तस्मात्। **तेषु** = दुःखार्थेषु **बन्धनम्** = मोहः, दृश्यते। **तथा कीटादिके** = कूकरशूकरकीटपतङ्गादिषु चापि **धृतिः** = धीरता, परिलक्ष्यते। एतेनेदमवसेयं यद्यत्रदुःखादिकं परिस्फुटं तत्र शिवतत्त्वमपरिस्फुटम् यत्र च **निर्वृत्या** = मोक्षेण = दुःखपरिहाण्या **योगः** = संश्लेषः अस्ति, तत्र शिवतत्त्वं सुस्फुटमिति स्पष्टार्थः।

ननु **चिद्वताम्** = चैतन्यशीलानां भावानां विषये **कदाचन** = तुष्यतु दुर्जनन्यायेन, **एतत्** = शिवतत्त्वस्य स्फुटत्वारोपः, **वक्तुम्** = सिद्धान्तयितुम्, **युक्तम्** = समीचीनमस्तु, पृथिव्यादेस्तु महत्परिमाणवत्त्या मूर्त्तस्य घटपटादेर्वा विषयस्या-

---

प्रश्न है कि शिवतत्त्व तो सुखात्मक है अतः जहाँ दुःख दिखाई देता है वहाँ हम विशेष मानेंगे ? अर्थात् वहाँ शिवतत्त्व का प्रसार नहीं समझा जायगा ? उत्तर है कि वहाँ शिवतत्त्व नहीं है ऐसी बात नहीं है। दुःख में भी उसी का विकास है। दुःख होने पर भी जो धैर्य का संयोग दुःख के साथ रहता है वह धैर्य शिवतत्त्व ही है। दुःख मोह प्रमाद आलस्य आदि विषयों में बन्धन की दृष्टि रहती है तथा दुःख आदि से परिपूर्ण कीट पतङ्ग आदि में धैर्य भी देखा जाता है। इससे यह समझना चाहिए कि जहाँ दुःख आदि परिस्फुट है वहाँ शिवतत्त्व अपरिस्फुट है और जहाँ दुःख आदि से छुटकारा मिल गया वहाँ शिवतत्त्व परिस्फुट है ॥९-१०॥

अब यदि आप यह कहें कि चेतन पदार्थों के विषय में यह कहना तो ठीक है परन्तु पृथिवी जल आदि अचेतन तथा घट आदि मूर्त्त पदार्थों के बारे में यह कथन ठीक नहीं ? तो आपका यह कथन अनुचित है, क्योंकि घट के अन्दर भी चैतन्य है; कारण, उसे अपने कर्म के विषय में ज्ञान है। तभी तो उससे जलाहरण होता है किन्तु वह गृहनिर्माण का उपादान नहीं बनता। विना ज्ञान के घट जलाहरण

नैवं, घटस्य चैतन्यमस्ति ज्ञानात् स्वकर्मणि ।
नाज्ञात्वा कर्त्तुमिष्येत तथा चिदवबोधनात् ॥१२॥
प्रकाशज्ञानजननाज्जनेः कर्त्ता जडः कथम् ।
जडेन व्यज्यते नापि चैतन्यमजडात्मकम् ॥१३॥

न्यन्तरे शिवस्य सत्तास्वीकारो न युक्त इति चेत ? मैवम् । अत्रानुमानमाह—घटस्य, चैतन्यमस्ति, **स्वकर्मणि ज्ञानात्** । घटः स्वकर्मणां विषये ज्ञानवानस्ति; एतस्मादेव कारणात् स जलाहरणादिकां क्रियां निष्पादयति न तु गृहनिर्माणादिकां क्रियाम् । अत्र तर्कसंगतिं प्रदर्शयति—**नाज्ञात्वेति** । ज्ञानाभावे सति किमपि कर्त्तुमिच्छा न जायते । यथा विद्युज्जनिकां क्रियामजानन् पांशुलपादो हालिको न विद्युज्जननाय स्पृहयति । अन्यमपि हेतुमाह—**तथेति** । **चितः** = ज्ञानस्य, **अबोधनात्** । यदि भवान् घटादिकं सर्वथा जडमेव मन्यते तर्हि प्रकाशस्वरूपज्ञानस्यैव बोधो भवति न त्वप्रकाशस्य जडः ॥१२॥

प्रकाशस्वरूपज्ञानस्य **जननात्**, **जनेः** = जनिक्रियायाः, **कर्त्ता** घटः, **जडः** = चैतन्यरहितः कथं स्यात् ? न स्यादित्यर्थः । अपि च अजडात्मकं चैतन्यं जडेन घटेन न व्यज्यते; घटादिकं भावजातं तु तस्यैव चितो विमर्शः, तच्च निरुपादानमिति सुतरां सिद्धं घटादीनां चैतन्यात्मकत्वम् । **बाह्यसम्पत्तेः** = बाह्यार्थजातस्य, चेतनेच्छावशादुत्पत्तेः कारणात् घटः, **अजडः** = चेतनः **कथं** नास्ति ? अस्त्येव चेतनो घट इत्यर्थः । तथा चोक्त**मीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—**

"चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥"
(१.५.७) इति ।

तस्मात् **'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'** इति न्यायात् इदं बाह्यं जगत् कथं चेतनं न स्यात् ? स्यादेवेत्यर्थ । किं च 'घटस्तिष्ठति' इतिव्यवहारो लोके प्रत्यक्षः । शाब्दबोधस्तु—'घटत्वावच्छिन्नघटानुकूलकर्तृकवर्त्तमानकालिको गतिनिवृत्यनुकूलो व्यापारः ।' एककर्तृकवर्त्तमानकालिकगतिनिवृत्यनुकूलव्यापाराश्रयो घटत्वावच्छिन्नो

आदि क्रिया कैसे करता ? इससे वहाँ भी चैतन्य का ज्ञान होता है । यदि आप घट आदि को जड़ मानेंगे तो प्रकाशस्वरूप ज्ञान का जनन करने से जनिक्रिया का कर्त्ता घट जड़ कैसे होगा ? साथ ही यदि घट जड़ है तो अजड चैतन्य को कैसे व्यक्त करेगा ? इसके अतिरिक्त यह बाह्यसम्पत्ति अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड चेतन इच्छा से उत्पन्न हुआ है तो फिर 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस के अनुसार यह बाह्यजगत् भी अजड अर्थात् चेतन क्यों नहीं होगा

को
सिद्धान्त
इसके अति-

चेतनेच्छावशाद् बाह्यसम्पत्तेरजडः कथम् ।
तिष्ठत्यादिक्रियायां हि कर्त्तृत्वं न जडे भवेत् ॥१४॥
कर्त्तृत्वमुपचाराच्चेत् क्रियाया अप्यसत्यता ।
प्रयोज्यत्वमथोच्येत प्रवृत्तं हिं प्रवर्त्तते ॥१५॥
जानन् कर्त्तारमात्मानं घटः कुर्यात् स्वकां क्रियाम् ।
अज्ञाते स्वात्मकर्त्तृत्वे न घटः सम्प्रवर्त्तते ॥१६॥
स्वकर्मणि ममैतत्तदित्यज्ञानान्न चेष्टनम् ।
कूलं पिपतिषति गोर्व्यवहारः प्रसिद्धयति ॥१७॥

घटः, इति वा । यदि घटो जडः स्यात्तर्हि स्थाधातोः कर्त्तृत्वं तस्मिन् कथं प्रसज्येत ? न च घटो जडः, **कर्तृत्वं** च तस्मिन् **उपचारात्** = लक्षणया, स्यात्, अर्थात् घटे वास्तविकं कर्त्तृत्वं नास्तीति वाच्यम्; तदा तिष्ठतीतिक्रि**याया अप्यसत्यत्वापत्तेः** । ननु घटः प्रयोज्यः, अर्थात् स्वयं स्थाधातोः कर्त्ता नास्ति किन्तु केनापि प्रयोजकेन घटः प्रयुज्यते इति चेत् ? तदापि प्रयोजकः कश्चित् **प्रवृत्तन्** = प्रवर्त्तनक्रियावन्तम् एव; **प्रवर्त्तते** = प्रवर्त्तयति, न त्वप्रवृत्तम् । एतेनापि घटस्य चेतनत्वमायाति ॥१५॥

किं च **घटः आत्मानं कर्त्तारं** जानन्नेव स्वकीयां जलाहरणादिकां क्रियां करोति । यदि तस्य स्वात्मकर्त्तृत्वमज्ञातं स्यात् तर्हि स **न** जलानयनादिके सम्प्रवर्त्तेत ॥ स्वस्य **कर्मणि** = जलानयनादिके **मम** = चेतनस्य घटस्य, **एतत्** = कर्म, इत्याकारकाज्ञानात् जलानयनादिके **न चेष्टनम्** = कायव्यापारः, स्यात् । एतामेवात्मनो युक्तिं दृष्टान्तेन पुष्णाति—**कूलं पिपतिषती**त्यादिना । पतितुमिच्छति पिप-

---

रिक्त 'घटः तिष्ठति' यह व्यवहार प्रत्यक्ष है । यदि घट सर्वथा जड़ है तो वह 'स्था' धातु का कर्त्ता कैसे होगा क्योंकि कर्त्तृत्व तो चेतन का धर्म है ? ॥११–१४॥

यदि कहिये कि जड़ घट में कर्त्तृत्व लाक्षणिक है अर्थात् वास्तविक कर्त्तृत्व नहीं है ? तब तो क्रिया भी वास्तविक नहीं है ऐसा भी मानना पड़ेगा । यदि यह कहें कि घट प्रयोज्य है अर्थात् स्वयं 'स्था' धातु का कर्त्ता नहीं है बल्कि किसी के द्वारा कर्त्ता बनाया गया है ? तब भी तो जो प्रवृत्त होता है प्रयोजक उसी को प्रवृत्त कराता है और प्रवृत्त होनेवाले को आत्मकर्त्तृत्व का बोध रहता ही है ॥१५॥

घट अपने को कर्त्ता समझ कर ही अपनी जलानयन आदि क्रिया करता है । यदि उसे आत्मकर्त्तृत्व का बोध न होता तो वह जलानयन आदि में कभी भी प्रवृत्त न होता । अपने कर्म के विषय में जिसको यह ज्ञान नहीं रहेगा कि 'यह मेरा है', वह कभी भी उस कर्म को प्राप्त करने के लिए चेष्टा नहीं करेगा । इसीलिए 'कूलं पिपतिषति' यहाँ पत् धातु का कर्त्ता कूल है । यदि कूल जड है तो वह गिरने

घटादेर्भवता ज्ञातमाचैतन्यं कथं यदि।
चेष्टोन्मेषाद्यभावात्तन्मूर्च्छिते किं करिष्यसि ॥१८॥
प्राणाद्युन्मेषविरहादभिव्यक्तं नु कस्य तत्।
सर्वचैतन्यवादे तु चार्वाकोऽत्र न सिध्यति ॥१९॥

तिषति, इच्छायां सन्। कूलं पतितुमिच्छति अत्र पतनेच्छाश्रयः कूलम्। यदि तच्चेतनं न स्यात्तर्हि कथं पतितुमिच्छेत्? एवमेव 'गोर्व्यवहारः' इत्यपि लोके प्रसिद्धिरस्ति। व्यवहारो हि नाम बुद्धिमतः कृत्यम्। स च जडे मूर्खे गवि यद्यस्तीति स्वीक्रियते तदैतदपि स्वीकर्त्तव्यं यत् सर्वत्र चैतन्यमस्त्येव। क्वचिदस्फुटं क्वचिच्च परिस्फुटम् ॥१७॥

अथेदं भवता वक्तव्यं यद् घटादेः **अचैतन्यम्**, **भवता कथम्** = केन प्रकारेण, आज्ञातम्? ननु घटादौ **चेष्टोन्मेषाद्यभावा**च्चैतन्याभाव इति चेत्? न; **मूर्च्छिते**ऽपि मनुष्ये पश्वादौ वा चेष्टोन्मेषाद्यभावोपलब्धौ तत्र जडत्वस्वीकारात्। तदेवाह— **तत्** = तर्हि, **मूर्च्छिते, किं करिष्यसि?** = किं जडत्वं मंस्यते भवता? १८॥

न च घटादौ प्राणाद्युन्मेषस्य **विरहः** = अभावः, तस्मात्, तत्र जडत्वं स्वीक्रियत इति वाच्यम्; **कस्य** = पुरुषस्य **तत्** = प्राणादिकस्याभावत्वम् **अभि-**

की इच्छारूप कार्य कैसे करेगा? इसी प्रकार 'गोर्व्यवहारः' इस स्थल में भी व्यवहार समझदार प्राणी का कार्य है फिर भी जड अर्थात् मूर्ख बुद्धिहीन गौ का भी व्यवहार मानना पड़ता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वहाँ भी चैतन्य है; भले ही वह परिस्फुट न हो ॥१६–१७॥

इसके अतिरिक्त आप यह बताइये कि घट आदि का चैतन्याभाव आपने जाना कैसे? यदि चेष्टा ओर उन्मेष आदि के अभाव के कारण आप उसे अचेतन मानते हैं तो मूर्च्छित आदमी को भी चेष्टा उन्मेष आदि के अभाव में, क्या कीजियेगा? जड़ मानियेगा? यदि यह कहिये कि वहाँ घट आदि में प्राण आदि का उन्मेष नहीं है इसलिए वह जड़ है? तो यह बताइये कि घट आदि में प्राण आदि के उन्मेष का अभाव किसको ज्ञात है? जब समस्त स्थूल पदार्थ पञ्चीकृत हैं तो घट में भी वायु है और वायु ही तो प्राण आदि हैं; अतः घट में प्राण आदि की सत्ता इसी प्रमाण से सिद्ध है। इस प्रकार आपको या तो सबको जड़ मानना पड़ेगा या चेतन। सबको चेतन मानने पर चार्वाक मत का खण्डन भी हो रहा है क्योंकि चार्वाक चैतन्य की पृथक् सत्ता नहीं मानता। उसका मत है कि पञ्चमहाभूत ही विशिष्टमात्रा में मिलकर चैतन्य उत्पन्न करते हैं[1] ॥१८–१९॥

---

१. किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्। बृह० सू० ५।

emend — मातन चैतन्यं
मातन्यमात्र ? how ?

प्रत्येकं परमाणौ चेच्चैतन्येऽनेकचेतनाः ।
घटादयः प्रसज्यन्ते परमाणुकथा नहि ॥२०॥
तथा वा शिवतत्त्वस्य सम्भूतेरथवाऽतथा ।
एकैकशोऽस्ति चैतन्यमनभिव्यक्तरूपकम् ॥२१॥
इतश्च तेऽपि चिद्वन्तः स्वात्मनि ज्ञानयोगतः ।
स्वयमेव न चेज्ज्ञानमात्मन्येषां प्रजायते ॥२२॥

व्यक्तम् = परिस्फुटम् ? न कस्यापीत्यर्थः । यदा जगति सर्वेऽपि पदार्थाः पञ्चीकृताः तेन घटादिष्वपि वायोः सत्त्वात्, वायोरेव च प्राणादित्वात् घटादावपि प्राणादेः सत्त्वं सुसिद्धमिति । एवं च संसारेऽस्मिन् सर्वेऽपि पदार्था भवता चेतना वा स्वीकर्त्तव्याः स्युः ? अचेतना वा ? **सर्वचैतन्यवादे तु** भवन्मित्रस्य चार्वाकस्य सिद्धान्तः खण्डितो भवति; तेन पञ्चमहाभूतातिरिक्तस्य कस्यापि चेतनतत्त्वस्या- स्वीकरणात् । यदि च भवता एकैकोऽपि परमाणुश्चेतनः स्वीक्रियते तर्हि एक- स्यामेव घटव्यक्तौ अनेके चेतना आपतेयुरिति **वैशेषिकस्य** परमाणुवाद एव निरस्तः स्यात् । तदेवाह—**परमाणु कथा न हीति** । तस्मादेवं मन्तव्यं यत् **शिव- तत्त्वस्य** = परमेश्वरस्य **तथा** = तेन तेन परिदृश्यमानप्रकारेण **सम्भूतेः** = उत्पत्तेः = प्राकट्यात् सर्वं समञ्जसम् । अथवा, **अतथा** = यदि भवता तेन तेन रूपेण शिवतत्त्वस्य सम्भूतिर्न मन्यते तर्हीदमेव मन्तव्यं यदे**कैकश एव** चैतन्यमस्ति, सर्व- त्रैवास्तीत्यर्थः । स्थूलधियां पुंसां मतिर्यत्र जडत्वमुपलक्षयति तत्रापि परमार्थतश्चैतन्य- मस्त्येवेत्याशयेनाह—**अनभिव्यक्तस्वरूपकम्** इति ॥२०–२१॥

घटादीनां चैतन्ये हेत्वन्तरमुपस्थायति—**इतश्चेति** । यतः **स्वात्मनि** = स्वस्या- भ्यन्तरे, **ज्ञानयोगतः** = ज्ञानस्य मिश्रणम्, तस्मात् कारणात् **ते** = घटादयः,

---

इसके अतिरिक्त यह बताइये कि क्या घट आदि में प्रत्येक परमाणु पृथक्- पृथक् चेतन हैं ? यदि ऐसा है तो घट में असंख्य परमाणुओं के रहने से घट आदि असंख्य चेतनवाले हो जायेंगे और इस प्रकार वैशेषिक का परमाणुवाद का सिद्धान्त ही समाप्त हो जायगा । इसलिए आप यह मानिये कि शिवतत्त्व की उत्पत्ति इस प्रकार की है कि वह एक-एक चैतन्य के रूप में सर्वत्र (अभिव्यक्त या) अनभि- व्यक्त है । अर्थात् जहाँ आप स्थूल बुद्धिवालों को जड़ता प्रतीत होती है वह जड़ पदार्थ भी अपने पारमार्थिक रूप में जड़ नहीं अपितु चेतन है । अन्तर इतना ही है कि वह चैतन्य अभिव्यक्त नहीं है ॥२०–२१॥

इस कारण भी वे चैतन्यमय हैं कि उनके अन्दर ज्ञान भी है । यदि उनके अन्दर आत्मज्ञान न हो तो देवदत्त आदि को उनका ज्ञान कैसे हो सकेगा ? यदि

नान्यथा ग्रहणं तेषां देवदत्तेन चेद् भवेत् ।
देवदत्तोऽत्र किं कुर्याच्चक्षुश्चेत् प्रेरयेद् घटे ॥२३॥
गोलकं न प्रयातीह, शक्तेरव्यतिरेकतः ।
शक्तिमद्भोगतायां वा तत्रैव यदि वेदनम् ॥२४॥
आत्मनो व्यापकत्वेन शरीरे व्यर्थता भवेत् ।
जडत्वादथवा शक्तस्तच्छक्त्या तद्घटो भवेत् ॥२५॥
पुरा शक्तेरानयने चक्षुः शक्तं न वेति वा ।
तस्यापि शक्तेः कल्प्यत्वे भवत्यानन्त्यसंगमः ॥२६॥

चिद्वन्तः = चेतनाः । यदि तेऽचेतनाः स्युस्तर्हि देवदत्तादिना तेषामवबोधः कथं क्रियेत ? तदेवाह–**स्वयमेव नेति** । स्वोक्तमेव स्फोरयति—**नान्यथेति** । यदि देवदत्तः **घटे चक्षुः प्रेरयेत्** = नयति तर्हि किं करोति तेन नयनेन ? तस्य चक्षुर्गोलकं घटपर्यन्तं न प्रयाति, प्रत्यक्षदृष्टत्वात् । ननु शक्तेः, **अव्यतिरेकात्** = सर्वत्र सत्त्वात्, **शक्तिमतो** = देवदत्तस्य **भोगतायाम्** = भोगसम्पादनविषये, **तत्रैव** = देवदत्तशरीर एव, **वेदनम्**=घटादेर्ज्ञानम्, जायत इति चेत् ? न; आत्मनः परममहत्परिमाणवत्त्वेन यत्र यत्रात्मसत्ता तत्र सर्वत्र ज्ञानोत्पत्तौ शरीरस्य व्यर्थत्वापत्तेः । न च शरीरोऽयं **जडत्वात्** = चैतन्याभाववत्त्वात् **शक्तः** = शक्तिस्वरूपचैतन्यमपेक्षत इति वाच्यम्; घटस्यापि **तच्छक्त्या** एव अपेक्षत्वे तत्रापि चैतन्यस्यावश्यमेव स्वीकारात् । तस्मात् घटादावपि चैतन्यमुरीकर्त्तव्यमित्याशयः ॥२२-२५॥

ननु घटे ज्ञेयताशक्तिः स्वाभाविकी नास्ति किन्तु चक्षुषा तत्राधीयत इति चेत् ? तर्हि वक्तव्यं यत् तच्छक्त्याधानसामर्थ्यं चक्षुषि स्वाभाविकम् ? परेणाहितम्

देवदत्त घट पर दृष्टि डाले तो वह दृष्टि डालकर भी क्या कर लेगा ? क्योंकि देवदत्त का चक्षुर्गोलक तो घट तक जाता नहीं ? यदि आप यह कहें कि शक्ति के अव्यतिरेक अर्थात् सर्वत्र सत्ता के कारण शक्तिमान् देवदत्त आदि का भोग सम्पादन करने के लिये देवदत्त में ही घट आदि का ज्ञान हो जाता है तो आत्मा तो व्यापक हैं फिर जहां-जहां आत्मा होगा सर्वत्र ज्ञान हो जायगा फिर शरीर की क्या आवश्यकता ? यदि प्रश्न हो कि शरीर जड होने के कारण शक्त होता है अर्थात् शक्तिस्वरूप चैतन्य की अपेक्षा रखता है ? तो उत्तर है कि फिर उसी शक्ति की अपेक्षा जड घट को भी है । अतः वहाँ भी चैतन्य मानिये ॥२२–२५॥

यदि आप यह कहें कि घट में शक्ति नहीं हैं किन्तु वहां चक्षु के द्वारा लाई जाती है ? तो यह बताइये कि चक्षु में वह शक्ति लाने का सामर्थ्य अपना है ? या कहीं से लाया गया हैं ? यदि इसमें सामर्थ्य अपना है तो फिर घट में क्यों नहीं ?

प्राक्शक्तेरथसामर्थ्यं शक्तेः शक्तत्वमापतेत् ।
मनसो न च बाह्येऽस्ति तस्यापि प्रसरः क्वचित् ॥२७॥
शक्तिर्घटेऽत्र किं कुर्याद् गृहीत्वाऽन्तरथाऽऽविशेत् ।
बुध्नोदरादिकं तत्तु गृहीत्वा न च युज्यते ॥२८॥

वा ? स्वाभाविकं चेद् घटे एव किं न मन्यते भवता सा स्वाभाविकी शक्तिः ? परेणाहितं चेद् भवत्यानन्त्यसंगमः = अनवस्थाऽऽपातः । न च शक्तौ सामर्थ्यं न कुतोऽप्यानीतं किन्तु तस्यां शक्तौ तत् प्रथमत एव विद्यमानमस्तीति वाच्यम्; **शक्तेः** शक्तत्वस्यापातात् । अपसिद्धान्तश्चैवः । शक्तिशक्तिमतोर्भिन्नत्वात्, एकस्य गुण-रूपत्वादपरस्य चाश्रयत्वात् ॥ मनस इयं शक्तिरिति मन्येद्यदि, तर्ह्यत्राक्षेपद्वयम्— **न्यायवैशेषिकनयेन, तस्य मनसः क्वचिदपि, बाह्ये** = बहिःप्रदेशे, **प्रसरः** = गमनं नास्ति, तस्याणुत्वात्; तेन घटपटादीनां ज्ञानमसम्भवि स्यात् । यदि वेदान्तादि-शास्त्रमनुसृत्य तस्य मध्यमपरिमाणतया बाह्यप्रसरः स्वीक्रियेत्तर्हि शक्तिः **अत्र** घट-विषये **किं कुर्यात्** ?–इति प्रश्नः । उत्तरं ददाति–**गृहीत्वेति** । मनः घटादिकमुपसृत्य **घटव्यक्तिम् गृहीत्वा** = आदाय, **अन्तरथा** = शरीराभ्यन्तरम्, **आविशेत्** = प्रविशेत्, इत्यापत्तिः । वेदान्तनये यथा जलं तडागोदरस्थं ततो निर्गत्य कुल्यात्मना केदारादिकं प्राप्य केदाराद्याकारेण परिणमते, तथैव मनोऽपि इन्द्रियप्रणालिकया शरीराद् बहिर्निर्गत्य विषयप्रदेशं प्राप्य विषयाकारेण परिणमते । त्वत्सिद्धान्तेन च **तत्तु** = मनस्तु, **बुध्नोदरादिकम्** बुध्नं च तदुदरं तदादिर्यस्य स बुध्नोदरादिकः 'शेषाद्

और यदि उसमें शक्ति अपनी नहीं है अपितु कल्पित है तो वह जहां से कल्पित हुई उसमें भी वह कहीं से कल्पित हुई होगी फिर उसमें भी कल्पित । इस प्रकार आनत्य या अनवस्था दोष आ जायेगा । यदि यह कहा जाय कि शक्ति में शक्ति या सामर्थ्य कहीं अन्यत्र से नहीं आया प्रत्युत उसमें पहले से ही विद्यमान था तब तो शक्ति को शक्त मानना पड़ेगा ओर यह अनुचित है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् दोनों भिन्न हैं । एक गुण अथवा आश्रयी है दूसरा गुणी या आश्रय ॥२६–२६½॥

यदि यह माना जाय कि यह शक्ति मन की है तो इसमें दो आपत्ति है— १. न्यायवैशेषिकसिद्धान्त के अनुसार मन का शरीर के बाहर प्रसरण होता नहीं । अतः घट पट आदि का ज्ञान असम्भव है । २. यदि उसका प्रसार मान भी लिया जाय जैसा कि वेदान्त या जैनदर्शन आदि का सिद्धान्त है (कि मन या अन्तःकरण मध्यम परिमाण का है) तो मन घट तक पहुँच कर घट व्यक्ति को लेकर ज्ञाता के शरीर में घट के साथ प्रवेश करने लगेगा जो कि अनुचित और अव्यावहारिक है । क्योंकि वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि अन्तःकरण विषयप्रदेश में जाकर तदा-

तथाऽऽकारगुणत्वान्न द्रव्याच्च चलनं पृथक्।
शक्तेर्न चापि तज्ज्ञानं येन सा तन्निवेदयेत् ।।२९।।
अन्तर्विशति चेच्छक्तिरन्तरप्युपलम्भनम्।
अप्रवेशान्न मनसः सम्बन्ध उपपद्यते ।।३०।।
विभुत्वेनेन्द्रियाणां ते किं वृथैव शरीरता।
चक्षुषा चेदर्पितं मे मनसाऽऽत्मन्यथार्प्यते ।।३१।।

विभाषा' इति कप्; तम् घटादिकम्, **गृहीत्वा** शरीराभ्यन्तरं **निविशेत**। यतो हि मनसोः घटादिभ्यः पृथग्भूय चलनादिकमसम्भवि। तदेवाह—**न द्रव्याच्चेति**। शक्तेः पार्श्वे तथाभूतं ज्ञानमपि नास्ति, येन **सा** = शक्तिः, **तम्** = घटम्, **निवेदयेत** = ज्ञापयेत्।

ननु घटाभ्यन्तरे वर्त्तमाना शक्तिरेव शरीराभ्यन्तरं प्रविशतीति चेत् ? न; शक्त्या सह शक्त्याश्रयस्य घटस्यापि प्रवेशस्यावश्यकत्वात्। यावच्च न घटस्य शरीरे प्रवेशस्तावदणुप्रमाणेन मनसा घटस्यासम्बन्धाद् घटज्ञानस्यानुत्पत्तेः। अतः घटे शक्तिस्वीकृतिरसगता ।।२६-३०।।

यदीन्द्रियाणां विभुत्वेन = मध्यमपरिमाणवत्त्वेन, घटादिज्ञानानां सिद्धिर्मन्यते तर्हि **किं ते** = तव मते, **शरीरता** = शरीरस्य सत्त्वम्, **वृथैव**=व्यर्थमुरीकरिष्यते ?– नेत्यर्थः। ननु चक्षुषा विषयमादाय मनसे समर्प्यते; मनश्च तमात्मने समर्पयतीति

काराकारित हो जाता है।[1] इस कारण जब मन घटाकाराकारित हो जायेगा तो वह घट के साथ ही शरीर में प्रवेश करेगा। उसका घट पट आदि द्रव्य से पृथक् होकर चलना सम्भव नहीं। और शक्ति के पास वह ज्ञान है नहीं जिससे वह ज्ञाता के पास आकर घट को बतलाये ।।२७-२९।।

यदि घट में वर्त्तमान शक्ति को ही शरीर के अन्दर प्रविष्ट मानें तो भी ठीक नहीं क्योंकि शक्ति के साथ-साथ शक्त्याश्रय घट का भी शरीर में प्रवेश होना चाहिये। जबतक घट का प्रवेश नहीं होगा तब तक अणु मन से घट का सम्बन्ध नहीं होगा फलतः घटज्ञान भी नहीं होगा। अतः घट में शक्ति मानना सम्भव नहीं ।।३०।।

यदि आप इन्द्रियों को व्यापक मानें और इस कारण घटादिज्ञान की सिद्धि होनी मान लें तो फिर यह बतलाइये कि क्या आप शरीर को व्यर्थ मानने के लिये तैयार है ? यदि यह कहें कि चक्षु विषय का समर्पण मन को करता है और मन

---

१. वे० प०, प्रत्य० परिच्छेद।

तदात्मन्यपरोक्षत्वे भवेदाप्तवचः स्फुटम् ।
ये विकल्पाः शक्तिगतास्तेऽप्यायान्ति मनः प्रति ॥३२॥
चक्षू रश्मिगमत्वं चेत् स प्रत्यक्षोऽर्करश्मिवत् ।
भावानां प्रतिविम्बत्व आत्मनोऽपि न युक्तता ॥३३॥
प्रतिविम्बेष्वसत्यत्वादमूर्त्तेष्वेष्वगोचरात् ।
तस्माद् घटः स्वमात्मानमवगच्छन्नवस्थितः ॥३४॥

सरण्याऽऽत्मनो घटादेरपरोक्षानुभूतिर्भवति इति चेत् ? तर्हि भवताम्, **आप्तवचः** = शैवसिद्धान्तः, **स्फुटम्** = मनसि आयातम्=स्वीकृतं भवता मत्सिद्धान्तितम्—इत्याशयः; अस्माभिः सदैवात्मनो ज्ञानेच्छाक्रियावत्त्वीकारात् । शक्तेर्ज्ञानस्य हेतुत्वस्वीकारे **ये विकल्पाः** समुत्थिताः मनसो ज्ञानस्य हेतुत्वस्वीकारे, **त** एवापतन्ति । अतः सर्वेऽपि पदार्थाः इच्छाज्ञानक्रियावन्तः स्वीकर्त्तव्याः । इच्छादिकं च परमशिवस्य स्यातन्त्र्यम् ॥३१–३२॥

यथा **अर्कस्य** = सूर्यस्य, रश्मयोः विषयस्य प्रकाशनं विषयप्रदेशं गत्वा कुर्वन्ति तथैव लोके घटादीनां पदार्थानां **चक्षू रश्मिगमत्वमस्ति** । भावानां च प्रतिविम्बमात्मनि समापतति ततश्च घटज्ञानं जायते इति चेत् ? आत्मनो विषय एतस्यापि

वही विषय आत्मा को समर्पित करता है, फलतः आत्मा को घटादि विषय का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है ? तब तो आप हमारे ही मत का मण्डन कर रहे हैं । क्योंकि हम तो सदैव से आत्मा को ज्ञान इच्छा और क्रिया वाला मान रहे हैं । शक्ति को ज्ञान का कारण मानने में पहले जितने विकल्प उठ खड़े हुए हैं मन को ज्ञान का हेतु मानने पर उतने ही विकल्प उठ खड़े होंगे । अतः आप सभी पदार्थों को इच्छा ज्ञान क्रिया वाला मानें और यह इच्छादि परमशिव की शक्ति ही है । ३१–३२॥

यदि यह कहा जाय कि जैसे सूर्य की किरणें विषय का प्रकाशन विषयप्रदेश तक जाकर करती हैं उसी प्रकार चक्षु की रश्मि ही घट तक जाकर घट को प्रकाशित करती है और उसका प्रतिबिम्ब आत्मा में पड़ता है फलतः घटज्ञान होता है ? तो आत्मा के विषय में यह ठीक नहीं, क्योंकि १. प्रतिबिम्ब असत्य होता है जबकि घटज्ञान सत्य होता है अतः घटज्ञान का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता । २. आत्मा अमूर्त्त है अमूर्त्त में घट आदि का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं । इसलिए यह मानिये कि घट स्वयं अपने को जानता हुआ विद्यमान है । उसके साथ चक्षु का ऐक्य होने से यह प्रत्यक्ष को प्रक्रिया चलती है । उसी प्रकार शिव का सृष्टि के साथ ऐक्य होने से शिव का या आत्मा का ज्ञान होता रहता है ॥३३–३४॥

तदैक्यात्तच्चक्षुषैव प्रक्रिया चेत् कथं स्थिता।
तथा शिवस्य सर्गाद्वा प्रक्रियायास्तथात्मनः ॥३५॥
अन्धादेरन्यदृष्ट्याऽत्र घटः किं प्रथते न चेत्।
शिवत्वस्य तथा व्यक्तेर्घटस्येच्छा तथाऽस्ति वा ॥३६॥
इच्छावत्त्वमनेनैव न्यायेनास्य निजां क्रियाम्।
अनिच्छुर्न करोत्येवं यत एवास्ति निर्वृतिः ॥३७॥

युक्तता न। अत्र हेतुमाह—**प्रतिबिम्बेष्विति**—प्रतिबिम्बमसत्यम् घटज्ञानं च सत्यम् इत्यनयोः पारस्परिको विरोधः, आत्मा चामूर्त्तः। **अमूर्तेषु एषु** = घटाद्यात्मासु, **अगोचरात्** = घटादेः प्रतिबिम्बासम्भवात् ॥ तस्माद् घटः **स्वम्** = **आत्मानम्, अवगच्छन्** तिष्ठति; इच्छाज्ञानक्रियावान् घट इत्यर्थः। तेन सह **ऐक्यात्** प्रत्यक्षस्य **प्रक्रिया चक्षुषा** चेत् **कथम्** = केन कारणेन, **स्थिता** = अवरुद्धा ? **तथा शिवस्य सर्गात्** = सृष्ट्याः हेतुना **ऐक्यात् तथाऽऽत्मनश्च** विषयैः सहैक्यात् **प्रक्रियायाः** = विषयप्रत्यक्षादेः सिद्धिर्भवति ॥३३–३५॥

ननु सर्वत्रैकस्यैव चैतन्यस्य सत्त्वादन्धादेरपि प्रत्यक्षं स्यात् ?–इत्याशंकमान आह—**अन्धादेरिति**। **अन्यदृष्ट्या** = चक्षुष्मतो दृष्ट्या, **अन्धादेः**। आदिना बधिरत्वविशिष्टस्यान्यश्रवणेन्द्रियेण शाब्दप्रत्यक्षं बोध्यम्। **घटः** = घटप्रत्यक्षं **किं न प्रथते** = कथं न भवति ? उत्तरमाह—**शिवत्वस्येति**। परमशिवः स्वयमेवात्मानं तथा व्यनक्ति येनान्धस्य घटप्रत्यक्षं न भवति चक्षुष्मतश्च भवत्येव। विकल्पमाह—**घटस्येति**। अथवा पक्षान्तरे घटो यतश्च ज्ञानेच्छाकृतिमांस्तेन तस्यैवेदृशीच्छा

अब प्रश्न हैं कि यदि घट अपने को स्वयं जानता हैं तो यह सिद्धान्त कि चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर घटज्ञान होता है, कैसे संगत होगा ? शिव का सृष्टि के साथ कारणकार्य सम्बन्ध कैसे बनेगा ? तथा आत्मा का भिन्न-भिन्न आभ्यन्तर और बाह्य विषयों के साथ ज्ञाताज्ञेयसम्बन्ध कैसे बनेगा ? इसी प्रकार यदि सर्वत्र एक चैतन्य है तो अन्धे को भी उसी आँख से उसी प्रकार ज्ञान होना चाहिए जिससे कि चक्षुष्मान् को होता है क्योंकि चक्षुष्मान् और चक्षुहीन का चैतन्य एक है ? ॥३५–३५½॥

उत्तर है कि यह भिन्नता शिव की इच्छा से है; अथवा घट व्यक्ति की उसी प्रकार की इच्छा है कि वह चक्षुष्मान् को दृष्ट होता है और अन्धे को नहीं। इसी न्याय से इच्छा का सिद्धान्त सर्वत्र शमझना चाहिए। जो इच्छारहित होता है वह अपनी क्रिया नहीं करता। और इसीलिए निर्वृति अर्थात् कर्म करने के प्रति उन्मुखता होती है ॥३६–३७॥

नानिर्वृतौ प्रवर्त्तेत स्फुटे ज्ञानक्रिये स्थिते ।
कर्मप्रभवणत्वात्तत्प्रभुत्वमवधार्यते ॥३८॥
स्वेच्छाकर्मविमर्शेन स्वेच्छाकर्मत्वमादृतम् ।
सर्वे पदार्थरूपेण सामान्येनार्थवत्तया ॥३९॥
व्यापका व्यपदिश्यन्ते स्वकार्यव्यापनादथ ।
यदि ते न स्वयंग्राह्या गृह्यन्ते नैव चक्षुषा ॥४०॥
बाह्यावयवतद्योगात्तदन्तरवियोगतः ।
पटो गृहीतः सकल इति न स्यात् प्रमा क्वचित् ॥४१॥

येनान्धस्य न चाक्षुषं प्रत्यक्षं घटस्य । **अनेनैव न्यायेन अस्य** = शिवस्य घटादेर्वा **इच्छावत्त्वम्** = इच्छायाः सिद्धान्तो ज्ञेयः सर्वत्र । यदा इच्छावांस्तदा क्रियां करोति; **अनिच्छुः** = इच्छारहितश्च, **निजाम्** = स्वेन निष्पाद्यमानां **क्रियाम्** = व्यापारम्, न करोति, **अत एव** = इच्छावत्त्वादेव; **निर्वृतिः** = कर्मौन्मुख्यम्, **अस्ति** = भवति ॥३६–३७॥

ज्ञानक्रिययोः स्पष्टतया वर्त्तमानत्वेऽपि, **अनिर्वृतौ** = कर्मौन्मुख्याभावे सति, कश्चिदपि पुरुषः **न प्रवर्त्तेत**—कर्म कर्त्तुम् इति शेषः । **कर्मप्रभवणत्वात्**=प्रभवत्यस्मादिति **प्रभवणम्**=कारणम्; करणे ल्युट्, कर्मणः प्रभवणम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्; कर्मणो हेतुत्वात्—इत्यर्थः । **तत्प्रभुत्वम्** = कर्मणः स्वामित्वम्, **अवधार्यते** = निश्चीयते । स्वेच्छायास्तथा च क्रियमाणस्य कर्मण इत्युभयोः **विमर्शः** = अवबोधस्तेन,

---

जब तक निर्वृति नहीं होगी कोई भी व्यक्ति ज्ञान और क्रिया के स्पष्ट रहने पर भी प्रवृत्त नहीं होगा । व्यक्ति चूँकि कर्म का प्रभवण अर्थात् कारण होता है अतः वह कर्म का प्रभु कहा जाता हैं । अपनी इच्छा और उस इच्छा के अनुसार किये जानेवाले कर्म का अवबोध होने के कारण ही स्वेच्छाकर्म का सर्वत्र आदर है ॥३८–३८½॥

जगत् के समस्त पदार्थ पदार्थ के रूप में सामान्यतः अर्थक्रियाकारी होने और अपने-अपने कार्य को व्याप्त करने के कारण व्यापक कहे जाते हैं । यदि उनमें स्वयं ज्ञान कराने की शक्ति न हो तो चक्षु आदि से उनका ज्ञान असम्भव है । यदि आप पदार्थों में ग्राहकता शक्ति नहीं मानेंगे तो चक्षुरिन्द्रिय का संयोग कपड़े के थान के बाहरी अंश से तो होता है परन्तु थान के भीतरी भाग से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता फिर भी 'हमें कपड़ का सम्पूर्ण ज्ञान है' ऐसा व्यवहार होता है । यदि कपड़े के थान में ग्राहकता शक्ति न हो तो यह यथार्थ ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं होगा ॥३९–४१॥

सर्वज्ञत्वमप्रवेशाद् व्यवधानादियोगतः ।
न चान्यावयवत्वेन तदन्येष्वनुमानता ॥४२॥
न चान्यावयवैः सार्धं सम्बन्धग्रहणं पुरा ।
तस्मान्नान्येन गृह्यन्ते प्रत्यक्षेण कदाचन ॥४३॥

स्वेच्छाकर्मत्वमुभयमपि **आदृतम्**=समाद्रियते जनैरिति शेषः। अस्मिन् विचित्रभावाभरणे अनन्तव्यवहरणे जगति **सर्वे** = समस्तपदार्थाः **सामान्येन पदार्थरूपेण** = पदार्थत्वेन= घटपटादिकस्य सर्वस्यापि वस्तुनो विषये 'अयं पदार्थः' इति दृष्ट्या व्यवहारेण च; **अर्थवत्तया** = अर्थक्रियाकारित्वेन च कारणात्, **अथ च स्वकार्यव्यापनात्** = जलाहरणादिकृत्ये सक्षमत्वात् तत्पूरकत्वाच्च, **'व्यापका इमे'** इति **व्यपदिश्यन्ते** = व्यवह्रियन्ते । **यदि ते स्वयं** ज्ञातुं योग्या न स्युः कथं चक्षुषा गृह्येयुः ? पदार्थेषु ग्राहकताशक्तिर्न स्याच्चेत् परिवेष्टितस्य पटस्य बहिर्भागेन, **तद्योगात्** = चक्षुरादीनां सन्निकर्षात् **तदन्तः** = तस्य पटस्याभ्यन्तरे, **अवियोगतः** = विशिष्टो योगः वियोगः, वैशिष्ट्यं च संयोगसंयुक्तसमवायादिना; न वियोगोऽवियोगः = सन्निकर्षाभावः, तस्मात् । 'सम्पूर्णः पटो ज्ञातो मया' इति. **प्रमा** = यथार्थानुभवः, **क्वचित्** = कदाऽपि कस्मिन्नपि पटे **न स्यात्** ॥३८–४१॥

पटस्य सर्वस्मिन्नप्यवयवे चक्षुरादीनाम् **अप्रवेशात्**, व्यवधानादिकारणात् **सर्वज्ञत्वम्** न स्यादिति शेषः । नन्वेकस्यावयवस्य दर्शनादवशिष्टस्यानुमानं स्यादिति चेत् ? न; **अन्यावयवैः** = इदानीं चक्षुषा प्रत्यक्षीक्रियमाणावयवैः **सार्धं पुरा** = अतीते, **सम्बन्धग्रहणं न** = नास्ति; भवन्मते पदार्थस्य क्षणिकत्वात् । **तस्मात् अन्येन प्रत्यक्षेण** कारणेन, अप्रत्यक्षा अवयवा **न गृह्यते** = ज्ञायन्ते । एतत्सर्वमालोच्येदं **विमृश्यताम्** = विचार्यतां निश्चीयतामित्यर्थो यद् भिन्नभिन्नेषु स्थानेषु भिन्नभिन्नज्ञानशालिनी **एषा** = पुरोवर्णिता, **संविद्** = ज्ञानम्, अस्तीति शेषः ॥४२–४३½॥

कपड़े के सम्पूर्ण अवयव में चक्षुरिन्द्रिय का प्रवेश न होने से तथा व्यवधान आदि के होने से कपड़े के विषय में सर्वज्ञत्व असम्भव हो जायगा । यह भी नहीं है कि एक अवयव को देख कर दूसरे अवयव के बारे में अनुमान हो जाय, क्योंकि एक अवयव का दूसरे अवयव के साथ सम्बन्ध का ज्ञान आपको पहले से है नहीं । इसलिये प्रत्यक्ष एक अवयव के द्वारा अन्य अवयवों का ज्ञान नहीं हो सकता । अतः आप यह मानिये कि भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न ज्ञानवाली एक संविद अर्थात् चैतन्य अवश्य वर्त्तमान है ॥४२–४३½ ॥

तत्स्थान एव तज्ज्ञाना संविदेषा विमृश्यताम् ।
न चाप्यस्त्यनुमानेन परेषां ग्रहणं क्वचित् ।।४४।।
धूमात् तत्र गृहीतं किं सामान्यं नैव गृह्यते ।
अग्राह्यत्वात्तस्य तदा विशेषे दूरतैव ते ।।४५।।
देशोऽपि न गृहीतोऽत्र धूमलेखानुरूपतः ।
न चापि निम्ने ह्रस्वे वा निश्चयोऽत्रावगम्यते ।।४६।।

चिद्रूपस्यैकत्वानङ्गीकारे पदार्थानां प्रत्यक्षप्रमानुपपत्तिं प्रदर्श्येदानीमनुमानेनापि तेषां ग्राह्यत्वासिद्धिं सन्दर्शयति—**न चाप्यस्त्यनुमानेनेति** । **परेषाम्** = अन्येषां पदार्थानाम्, अनुमानेनापि **क्वचित्** = कस्मिंश्चिदपि देशे काले च ग्रहणं नास्ति । यद् वा **परेषाम्** = एकत्वानङ्गीकर्त्तृणां मते । ननु भवतैव निगद्यताम् पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यनुमितौ कस्य ज्ञानं जायते भवतः ? वह्निसामान्यस्य ? तद्विशेषस्य वा ? नाद्यः; वह्निसामान्यस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञानासम्भवात् । तदाह—**सामान्यं नैव, गृह्यते** = जायते । तत्र हेतुमाह—**तस्य** = सामान्यस्य, **अग्राह्यत्वात्** = अज्ञेयत्वात् निर्गुणत्वेन । नापि द्वितीयः; विशेषज्ञानस्य सामान्यज्ञानपूर्वकत्वात् । तदाह—**विशेषे दूरतैव** ते इति ।।४४–४५।।

ननु साध्यसामान्यस्य तद्विशेषस्य वा ज्ञानं नावश्यकीम् अपि तु हेतुसम्बद्धेन पक्षेण साध्यसम्बद्धस्य पक्षस्यैवानुमा क्रियत इति चेत् ? तत्रोत्तरयति—**देशोऽपीति** । **धूमलेखानुरूपतः** = अविच्छिन्नमूलधूमलेखासम्बद्धतया, **देशोऽपि** = वह्निसम्बद्धप्रदेशोऽपि, **अत्र** = अनुमाने **न गृहीतः** = न जिज्ञास्यः । तत्र हेतुमाह—**न चापीति** । धूमलेखा यदि दूरस्थे निम्नप्रदेशेऽत्यन्तसूक्ष्मप्रदेशे वोत्तिष्ठति तदाऽत्राग्नेर्निश्चयो

सर्वत्र एक तत्त्व की स्वीकृति के अभाव में प्रत्यक्ष के द्वारा दूसरे पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं है—यह सिद्ध करने के पश्चात् अब अनुमान के द्वारा उनकी ज्ञेयता की असिद्धि बतला रहे हैं—अनुमान से भी दूसरे पदार्थों का कहीं भी कभी भी ज्ञान नहीं हो सकता। यह बतलाइये कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में ज्ञान किसका होता हैं ? वह्निसामान्य का ज्ञान हो नहीं सकता क्योंकि सम्पूर्ण अग्नि का प्रत्यक्ष या उसकी अनुमिति सम्भव नहीं । और जब सामान्य का ज्ञान नहीं हो सका तब विशेष के ज्ञान की बात ही दूर हो गई । क्योंकि विशेष का ज्ञान सामान्यज्ञानपूर्वक होता है । यदि यह कहें कि हमें साध्य के सामान्य या विशेष के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है; हम तो हेतु से सम्बद्ध पक्ष के द्वारा साध्य से सम्बद्ध पक्ष का अनुमान करते है ? तो यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि अविच्छिन्नमूलधूमलेखा यदि किसी दूरस्थ निम्नप्रदेश या किसी अत्यन्त छोटे स्थान

अत्रापि क्वापि वाऽस्तीति कल्पना कल्पनैव हि ।
यत्र यत्र भवेद् धूमस्तत्राग्निरित्यनिश्चयात् ॥४७॥
तत्राकाशे स्थितो धूमो न वह्नेः कणमात्रकम् ।
धूमेन व्यापितो देशो भवेदग्निमयोऽखिलः ॥४८॥
तद्बुध्नावयवैर्वाऽथ तेऽपि यान्त्यूर्ध्वतां क्षणात् ।
बुध्नस्तैर्न च सम्बद्धः कदाचिच्चक्षुषो भवेत् ॥४९॥
सम्बन्धो ग्रहकाले तु न चोर्ध्वावयवैर्भवेत् ।
वह्नेर्दूरतरस्थित्या वह्निश्लिष्टेष्वलक्ष्यता ॥५०॥

नावगम्यते । धूमलेखां दृष्ट्वा, **अत्रापि क्वापि** = अत्रैव क्वचित् अस्त्यग्निरिति **कल्पना कल्पनैव** = तस्याः सत्यतायाः सन्दिग्धत्वात् । अत्रानिश्चितत्वं कारणमुपदर्शयति—**यत्र यत्रेति** । 'यत्र यत्र **धूमस्तत्र** तत्र वह्निरिति व्याप्तेर**निश्चयात्** । अनिश्चयः कथम् ?–इति प्रदर्शयति—**तत्राकाशे** इति । यत्राकाशे धूमस्य सत्ता तत्र **वह्नेः कणमात्रकमपि** नास्ति । स्वार्थे कन् । व्याप्तिः सत्या स्याच्चेत् यो **देशः** = आकाशादिः धूमेन व्याप्तः स्यात् सः सम्पूर्णो देशोऽग्निव्याप्तः स्यात् । न चेदृगस्ति ॥४६–४८॥

ननु मा भूदाकाशस्थधूमेन वह्नेः सम्बन्धलेशः, निम्नप्रदेशे यतो धूम उत्तिष्ठति तत्र **तद्बुध्नावयवैः** = धूमस्याधोविद्यमानावयवैः सम्बन्धोऽस्त्यवेति चेत् ?–तत्राह—**तेऽपीति** । **क्षणात्** = क्षणमात्रादेव, **तेऽपि** = अधस्तात् सम्बद्धाः धूमावयवा अपि **ऊर्ध्वतां यान्ति** । तस्मादयत्र सम्बन्धाभावः । तुष्यतुदुर्जनन्यायेन च यदि धूमस्योर्ध्वादारभ्याधस्ताद्यचत्तया सम्बन्धो गृह्येतापि ततोऽपि **तैः** = धूमावयवैः,

---

से उठ रही है तो उस प्रदेश का ज्ञान सम्भव नहीं है । अविच्छिन्नधूमलेखा को देखकर दूरस्थ किसी स्थान की कल्पना करना कि, 'वहीं कहीं वह प्रदेश है जहाँ से धूम उठ रहा है, कल्पनामात्र है । उसकी सत्यता या निश्चितता सन्दिग्ध है । यह इसलिये कि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इस व्याप्ति का निश्चय ही नहीं हो सकता । धूम आकाश में बराबर उठता है किन्तु अग्नि का कणमात्र भी वहाँ नहीं रहता । यदि यह व्याप्ति सही होती तो धूम से व्याप्त समस्त आकाश आदि प्रदेश अग्निमय हो जाता है ॥४४–४८॥

यदि आप यह कहें कि आकास्थ धूम से वह्नि का सम्बन्ध नहीं है तो नहीं सही किन्तु निम्नप्रदेश से, जहाँ से धूम उठ रहा है वहाँ से तो सम्बन्ध है ही ? तो यह कथन भी असंगत है । क्योंकि एक ही क्षण में सम्बद्ध धूमावयव ऊपर चले जाते हैं अतः सम्ब्रन्ध नहीं रहता । पुनश्च तुष्यतु दुर्जनन्यायेन यदि ऊपर से नीचे तक सम्बन्ध

न चापि वह्निर्जनकः काष्ठेष्वेव हि दर्शनात् ।
अत एव यत्र वह्निर्भास्वान्नो धूमिताऽत्र तु ॥५१॥
सन्निधानादथाग्नेश्च चुल्ल्यादेः सन्निधिर्न किम् ।
धूमेन जन्यते ज्ञानं वह्निरत्रेति ते यदि ॥५२॥
कुत्र तेऽन्यत्र दृष्टत्वात् तद् दृष्टेरग्निदृष्टता ।
अत्रेति धर्मिता कस्य पर्वतादौ समस्तके ॥५३॥

चक्षुषा **बुध्नः** = अधःस्थितः सम्बन्ध **कदाचित्** = कदापि दूरत्वात् **न भवेत्** ॥ **ग्रहकाले** = धूमप्रत्यक्षकाले, **धूमस्योर्ध्वावयवैः** सह वह्नेः सम्बन्धो नास्ति यतो हि तत्र वह्नेः स्थितिर्दूरतरनिम्नप्रदेशेऽस्ति धूमस्य चोर्ध्वतरप्रदेशे । ये च धूमावयवा वह्निना श्लिष्टास्तेषु **वह्निश्लिष्टेषु** धूमावयवेषु **अलक्ष्यता** = चक्षुषा तत्सम्बन्धाभावः । तस्माद् व्याप्तिरसम्भवा ॥४९–५०॥

धूमाग्न्योर्मध्ये जन्यजनकसम्बन्धोऽपि न संबोभवीति । धूमस्य **काष्ठेष्वेव** = आर्द्रेन्धनेष्वेव, दर्शनात् । **अत एव यत्र** = ज्वलदङ्गारादौ, **वह्निर्भास्वान् अत्र तु धूमिता** = धूमस्य सत्ता **नो** = नास्ति ॥ नन्वग्नेः सन्निधानाज्जन्यजनकभावस्तयोरिति चेत् ? **चुल्ल्यादे**रपि किं **सन्निधि**र्नास्ति ? अस्त्येवेत्यर्थः । तेन चुल्लीवन्ह्योरपि जन्यजनकसम्बन्ध आपतेत् । ननु **यदि ते** मते **धूमेन** हेतुना '**अत्र** = पर्वते, **वह्निः**' इति ज्ञानं **जन्यते** = उत्पाद्यते, तर्हि वक्तव्यमत्र भवतैव यत् **ते** ईदृशं ज्ञानं **कुत्र** जन्यते ? **अन्यत्र** = चत्वरगोष्ठमहानसादौ धूमेन सह अग्नेर्दृ**ष्टत्वात्, तद्दृष्टे** = तेन दर्शनेन, **अग्निदृष्टता** पर्वते कथमापतिष्यति ? अन्यच्च 'अत्र वह्निः' इति ज्ञाने

मान भी लें तो चक्षु का उन धूमावयवों से निम्नप्रदेशवर्त्ती सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है । धूम के प्रत्यक्ष काल में धूम के ऊर्ध्ववर्त्ती अवयवों का अग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अग्नि दूरतम निम्नप्रदेश में है और धूम उच्च प्रदेश में और जो धूमावयव वह्नि से सम्बद्ध हैं उनका चक्षु से सम्बन्ध ही नहीं हैं अतः व्याप्ति सम्भव नहीं ॥४९–५०॥

वह्नि को धूम का जनक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि धूम तो गोली लकड़ी में देखा जाता है । इसीलिये जहाँ अंगार रूप में वह्नि रहती हैं वहाँ धूम का अस्तित्व रहता ही नहीं ॥५१॥

यदि यह कहिये कि अग्नि की सन्निकटता काष्ठ के साथ है इस कारण अग्नि को धूम का जनक मानते हैं ? तो काष्ठ के साथ चूल्हे आदि की भी निकटता है अतः चूल्हे आदि को भी धूम का कारण मानिये । इसके अतिरिक्त धूम के द्वारा यदि आपको 'अत्र पर्वते वह्निः' यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो बताइये यह कैसे ? क्योंकि अन्यत्र

तत्सामस्त्यस्याग्रहणाददृष्टे धर्मिता कुतः ।
दृष्टश्चेत् सर्वघटवत् तदङ्गस्याग्निदर्शनम् ॥५४॥
स्वार्थानुमानं नैवं चेन्न शब्दैरन्तरे स्थितम् ।
अग्निरेषोऽत्र धूमो वा दर्शयेन्न ह्यदर्शने ॥५५॥

अत्रेति पदेन कस्य **धर्मिता** गृह्यते ? को नाम धर्मी भवता मन्यते ? यदि **समस्तके**= सम्पूर्णे; समस्त एव समस्तकः, स्वार्थे कन्; **पर्वतादौ** इति कथ्यते ? तदयुक्तम्; **तत्सामस्त्यस्य** समस्तस्य भावः सामस्त्यम्; **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः** कर्मणि ष्यञ् (पा० सू० ५.१.१२४) । इति भावे ष्यञ् **तस्य** = सम्पूर्णत्वस्य, **अग्रहणात्**= अज्ञानाददर्शनादित्यर्थः । **अदृष्टे**=पर्वतांशे **धर्मिता कुतः** ? यदि च **घटवत्** सर्वाङ्गीणतया **दृष्टः** पर्वतस्तदा तत्संश्लिष्टस्याग्नेरपि प्रत्यक्षं जातमेवेति नावश्यकत्वमनुमायाः ॥५१–५४॥

एवम् = उपर्युक्तप्रणालिकया, **स्वार्थानुमानं** न चेत्, **अन्तरे** = स्वस्य हृदि, **स्थितम्** = अवगतम् 'अत्र धूम एष अग्निः' इत्याकारकं ज्ञानं परं परार्थानुमानाय न दर्शयेत्; स्वयमदर्शनात् । तदाह—**ह्यदर्शने न दर्शयेदिति** ॥ ननु **'एष अग्निः'** अत्र 'एषः' इति लोकव्यवहारायोच्यत इति चेत् ? तर्हि अत्र **एष** इति पदेन सूच्यमानं **ज्ञानं कथं जनयेत्** = जातम् । यतो हि कस्यचिदपि वस्तुन उत्पत्तौ **करणत्वे**= करणज्ञाने जाते कर्त्रपेक्षा, कर्तृत्वे च ज्ञाते कर्तृज्ञानस्यापेक्षा भवति ॥ अत्र **वह्नेः**, **अपेक्ष्यत्वे** = अपेक्षायां तस्य कर्त्ता अपेक्षितो भवति । तदेवाह—**जनकत्वम्** =

अर्थात् चत्वर गोष्ठ महानस आदि में धूम के साथ अग्नि का आपने दर्शन किया; उस दर्शन से अग्नि की दृष्टता पर्वत पर कहाँ से आयेगी ? इसके अतिरिक्त 'अत्र' करके जो पक्ष या धर्मी लेते हैं वह कौन है ? क्या वह सम्पूर्ण पर्वत है ? यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण पर्वत का एक काल में प्रत्यक्ष सम्भव न होने से अदृष्ट पर्वत धर्मी कैसे हो सकेगा ? साथ ही यदि सर्वाङ्गत्वेन देखा गया तो फिर उसके अङ्गभूत अग्नि का भी प्रत्यक्ष हो गया फिर उसके लिए अनुमान प्रमाण की क्या जरूरत ? ॥५२–५४॥

इस प्रकार स्वार्थानुमान यदि सम्भव नहीं है तो अपने अन्दर स्थित इस अनुमान को 'अत्र धूमः; एष अग्निः' इस प्रकार कोई दूसरे को नहीं दिखायेगा क्योंकि उसे स्वतः उसका दर्शन नहीं हुआ है । यदि आप 'एष अग्निः' यहाँ पर 'एषः' यह व्यवहार करते हैं तो यह बताइये कि इस 'एषः' शब्द से सूच्यमान ज्ञान की उत्पत्ति केसे हुई ? क्योंकि किसी की उत्पत्ति में यदि कारण का अस्तित्व ज्ञात हैं तो कर्त्ता की अपेक्षा होती है और यदि कर्त्ता का अस्तित्व ज्ञात हो तो

एष इत्यपदिश्येत तज्ज्ञानं जनयेत् कथम् ।
करणत्वे कर्त्रपेक्षा कर्तृत्वे तदपेक्षता ॥५६॥
वह्नेस्तु तत्रापेक्ष्यत्वे जनकत्वं व्यवस्थितम् ।
यच्च यद्विषयं ज्ञानं तज्जन्यं तस्य दृष्टवत् ॥५७॥
धूमादग्निप्रतीतिश्च न चायं नियमः स्थितः ।
कक्षभूर्जादिजो वह्निर्गुहाकारे ज्वलन् गृहे ॥५८॥
महान्तं धूममुत्पाद्य तत्कालं वारिणा हतः ।
तत्र केवलधूमास्था न वह्निप्राप्तिरस्ति ते ॥५९॥
तस्मात्तद्व्यपदेशे न वह्निः स्वं विनिवेदयेत् ।
वीक्ष्यात्मना तथाऽऽत्मानं विनीतवदवस्थितम् ॥६०॥

कर्तृत्वम्, **व्यवस्थितम्** = निश्चितम्, भवति । सिद्धान्तश्चायं यत्—**यद्**=अनुमात्मकं **ज्ञानं यद्विषयकं** भवति तज् ज्ञानं तस्मादेव विषयात्प्रसूतं भवति; तस्य प्रत्यक्षवत् । एतत्सरण्याऽग्नेः प्रतीतिरग्निनैव स्यात् न धूमेनेति । धूमादग्निप्रतीतिरित्ययं नियमो **न स्थितः** = समुचितः ॥५५–५७$\frac{1}{2}$॥

कक्षः = तृणपुञ्जविशेषः, **भूर्जः** = वृक्षविशेषत्वक्, एतादृग्भ्यो हेतुभ्यो जायमानो **वह्निर्यदा गुहाकारे गृहे** = भ्राष्ट्रे **ज्वलन्** वारिणोपशामितो भवति तदा **तत्र** = भ्राष्ट्रे, केवलं धूम एवोत्तिष्ठन् दृश्यते **न वह्निप्राप्तिः**=न तु वह्निकणिकाऽपि लभ्यते । **तस्मात्** = उक्तदृष्टान्तात्, **तद्व्यपदेशे**=धूमादग्निप्रतीतिरिति सिद्धान्ते, **ते अस्ति**= धूमादग्निप्रतीतिरिति सिद्धान्तं मन्यमानस्य तव तत्र भ्राष्ट्रे वह्निप्राप्तिर्भवितव्यैव ।

कारण की अपेक्षा होती है । यदि यहाँ वह्नि का ज्ञान अपेक्ष्य है तो निश्चित रूप से कोई न कोई उसका कर्त्ता होगा । और यह सिद्धान्त है कि जो ज्ञान यद्विषयक होता है उसके प्रत्यक्ष के समान वह ज्ञान उसी विषय से जन्य होता है । इस प्रकार अग्नि की प्रतीति (ज्ञान) अग्नि से ही उत्पन्न होगी । धूम से अग्नि का ज्ञान उत्पन्न होगा यह नियम ठीक नहीं । ॥५५–५७$\frac{1}{2}$॥

गुफा के समान वर्त्तमान घर (सम्भवतः भाड़) में तृणपुंज या भोजपत्र आदि से उत्पन्न जलते हुए अग्नि से जब पर्याप्त धूम उत्पन्न हो जाता है और फिर अग्नि को पानी से बुझा देते हैं तो वहां केवल धूम ही रह जाता है अग्नि की प्राप्ति नहीं होती । किन्तु आपके सिद्धान्त के अनुसार वहाँ अग्नि होनी चाहिये । और हम त्रिकमतानुयायी तो यह मानते हैं कि अग्नि स्वयं अपने द्वारा अपने को विनीतवत् (विशेषरूप से अपनीत अर्थात् छिपाया गया) समझकर अपने को हमारे सामने प्रकट नहीं करता ॥५८–६०॥

एतयैव दिशा दूष्यं स्वभावाद्यमसंशयम् ।
परानुमाने पक्षादौ धर्मादेर्भेद्यभेदिता ॥६१॥
अनुमानस्यान्यथाऽन्यैर्दूषणा प्रविधीयते ।
अवस्थादेशकालानामित्यादिभिरुदाहृतैः ॥६२॥

वयं त्रिकमतानुगामिनो मन्यामहे यद् वह्निः **स्वम्** = आत्मानं **न विनिवेदयेत्** = न प्रकटयति । तत्र हेतुमाह—वीक्ष्येति । **आत्मना तथा** = तेन रूपेण, **विनीतवत्** = विशेषेण **नीतवत्** = अपनीतवत् = निलीनवत्, **वीक्ष्य** = दृष्ट्वा, **आत्मानम्** = स्वयम् न विनिवेदयेत् ॥५८—६०॥

एतयैव दिशा = उपरिदर्शितसरण्या, चार्वाकाणां बौद्धानां च **स्वभावाद्यम्** = व्याप्तिनिश्चायकम्, **अशंसयम्** = निर्बाधि निःसंकोचम्, **दूष्यम्** = दूषितं ज्ञेयम् ॥ तत्रापि वृक्षत्वशिंशपात्वयोरेकं चैतन्यं स्वीकरणीयमेव, तदभावे कार्यानिर्वहणात् । वृक्षत्वशिंशपात्वधर्मौ च परस्परभिन्नावेति तयोर्धर्मिणावपि भिन्नौ स्यातामिति कथमेकेन सह द्वितीयस्य तादात्म्यम् ? **परानुमाने** = परार्थानुमाने, **पक्षादौ**, "सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः" (त० सं० अनु०) तस्मिन्, आदिना सपक्षविपक्षौ ज्ञेयौ । **धर्मादेः** = अयं वृक्षः; शिंशपात्वात्—इत्याकारकानुमाने शिंशपात्वादेः, **भेद्यभेदिता**=

जिस प्रकार नैयायिक की व्याप्ति और अनुमान का खण्डन आपने समझा उसी प्रकार चार्वाक और बौद्धों के स्वभाव[1] आदि को भी दूषित समझना चाहिए । अर्थात् वहाँ भी वृक्ष और शिंशपा में एकज्ञानात्मक चैतन्य की स्वीकृति के बिना काम नहीं चलेगा । क्योंकि वृक्षत्व और शिंशपात्व दोनों धर्म भिन्न-भिन्न है । अतः धर्मी भी भिन्न होंगे ही । फिर एक के साथ दूसरे का तादात्म्य कैसे बनेगा ? परार्थानुमान में पक्ष आदि में धर्म अर्थात् शिंशपात्व आदि की जो भेद्यभेदिता अर्थात् भेद्य वृक्षत्व की अनुमापकता बतलाई जाती है यहाँ अन्यथा अर्थात् मेरा सिद्धान्त न मानने पर अनुमान के दोष का ही विधान किया जाता है ॥६१॥

'अवस्थादेशकालानाम्' इत्यादि उदाहरणों के द्वारा दूसरे (वैयाकरण) लोग भी अनुमान को भिन्नरूप से दूषित बताते हैं । जिस देश और काल में धूम से अग्नि के अनुमान के लिए प्रवृत्ति होती है उसी देश और काल में धूम और अग्नि का

१. अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥ स० द० सं० चा० ॥
स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्महेतुः ।
यथा वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति ॥ न्यायवि० २.१५-१६ ॥

यत्र देशे च काले च प्रवृत्तिस्तत्र संगमः ।
तत्रैव व्यवहारित्वसम्बन्धान्तरता यतः ॥६३॥
न चापि स्थिरभावानां क्वाप्यस्ति व्यभिचारिता ।
सूर्यः प्रकाशकः क्वापि काले देशेऽन्यथा भवेत् ॥६४॥

भेद्यस्य = वृक्षत्वस्य, **भेदिता** = भेदिनो भावः, अनुमापकता, सा **अन्यथा** = मत्-सिद्धान्तास्वीकारे, **अन्यैः** = वैयाकरणैः, **दूषणा** = दोषः, **प्रविधीयते** = क्रियते । यथोक्तमनुमाने दोषमुद्भावयता **भर्तृहरिणा**—

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥[1]
(वा० प० १.३२)

कथं **दूषणा प्रविधीयते** ?–इत्याह—**अवस्थादेशकालानामिति** । **यत्र देशे काले** धूमादग्निमनुमापयितुमनुमातुं वा **प्रवृत्तिर्भवति तत्र** धूमाग्न्योः **संगमः** = सम्बन्धः, आरोपितो भवति । तत्र हेतुमाह—**यतः** = यस्मात् कारणात् । **तत्रैव** = तस्मिन्नेव देशे काले च, **व्यवहारित्वसम्बन्धान्तरता** = व्यवहारगतः सम्बन्धोऽपि भवति ॥६१–६३॥

स्थिरभावानाम् = स्थायिपदार्थानाम्, **क्वापि** = कस्मिंश्चिद्देशे कालेऽपि **व्यभिचारिता** = स्वभाववैपरीत्यम् नास्ति । उदाहरणेन पुष्णाति—**सूर्य** इति । सूर्यः स्वभावेन **प्रकाशकः क्वापि काले देशे अन्यथा** = अप्रकाशकः **भवेत्** ?–इति काक्वा योजनीयम् । न भवतीत्यर्थः ।

यच्च वैयाकरणैरुच्यते—**शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते** इति **एवं क्व निश्चयः** । यतो हि शब्दस्तु क्षणावस्थायी अर्थप्रतीतिपर्यन्तं स नष्टो भवति । ननु अर्थानां प्रतीतिस्तु स्फोटाद्भवति शब्दास्तु तेषामर्थानां व्यञ्जका एव केवलमिति चेत् ?–इत्थमपि **क्व निर्णयः** ? न क्वापीत्यर्थः । तैः=शब्दैः । **तस्यापि** =

सम्बन्ध आरोपित होता है । एवं वहीं व्यवहारगत सम्बन्ध भी होता है ॥६२–६३॥

स्थायी पदार्थों में भी कहीं इस प्रकार का व्यभिचार दृष्टिगत नहीं होता । सूर्य जो कि प्रकाश करने वाला है, किसी भी समय किसी भी स्थान में अन्यथा अर्थात् प्रकाश न करने वाला नहीं होता ॥६४॥

---

१. यद्यप्येष श्लोको व्याकरणशास्त्रस्यानुमानेन गतार्थत्वं खण्डयितुमुट्टंकितस्तत्र-भवता; तथापि **सोमानन्दनाथेन** एकतत्त्वस्य परमशिवत्वस्यास्वीकारादनुमानस्य प्रमाणत्वमेव दूषितं स्यादिति बोधयितुमुल्लिखितः ।

शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते सर्वत्रैवं क्व निश्चयः ।
स्फोटादर्थप्रतीतिश्चेद् व्यज्यते तैः क्व निर्णयः ॥६५॥
तस्यापि सर्वदेश्यत्वान्निश्चयः केन लभ्यते ।
भोजनादेरचेष्टत्वे व्यवहारविलोपिता ॥६६॥
अनुमानं न चास्तीति पक्षादिर्नोपयुज्यते ।
गोपालघटिकाऽन्यैश्च घटिता न ह्यसम्भवात् ॥६७॥

स्फोटस्यापि, **सर्वदेश्यत्वात्** = सर्वस्मिन् स्थाने सर्वकाले च विद्यमानत्वात् । **निश्चयः केन लभ्यते** ? न केनापीत्यर्थः । अयमभिप्रायः—स्फोटस्तु नित्यः सार्वत्रिकः । वैयाकरणानां मते स्फोटं विहाय परमार्थतया न किमपि तत्त्वान्तरं स्वीक्रियते, अद्वैतवादित्वात् । यदि स्फोटाद्भिन्नः कश्चित् पदार्थः स्यात् तदा तं पदार्थमर्थप्रतीतिः स्यात् प्रत्येयप्रतीयमानयोर्भिन्नत्वात् । न चेत्थं भवन्मते; तस्मादर्थः प्रत्येय एव न स्याद्यमर्थं प्रत्याययेच्छब्दः । अस्मन्मते तु स एव निर्वृतचिद्विभुः आत्मानं प्रत्येय-प्रतीयमानादिनानारूपैराविष्करोति स्वस्वातन्त्र्येण । तस्मात् सर्वं समञ्जसं भवति ।

किं च भोजनादिकमपि स्फोटरूपं शब्दब्रह्म । स्फोटश्चाचेतन इति भोजनादिकमप्यचेतनम् । तेन तत्र चेष्टाऽभावाज्जगद्व्यवहार एव न स्यात् । अस्मन्मते तु भोजकभोक्तृरूपेण स एव परमशिव आस्ते इति न क्वाप्यसंगतिलेश इति भवताऽपि स्फोटातिरिक्तमेका शुभ्रा स्वप्रकाशविमर्शशालिनी सत्तोररीकर्तव्या ॥६४–६६॥

पञ्चचत्वारिंशत्श्लोकादारभ्य चतुष्षष्ठिश्लोकपर्यन्तं पदार्थानां ग्रहणेऽनुमानस्या-

और जो वैयाकरण लोग यह कहते हैं कि शब्दों से अर्थ की प्रतीति होती है— यह निश्चय सर्वत्र कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि शब्द भी तो क्षणिक हैं । अर्थ की प्रतीति के समय तक वह नष्ट हो जाता है । यदि यह कहिये कि वस्तुतः अर्थ की प्रतीति तो स्फोट से होती है शब्द तो उन अर्थों के व्यञ्जकमात्र होते हैं ? तो यह भी निश्चय कैसे माना जाय ? क्योंकि स्फोट यदि नित्य है तो सर्वत्र विद्यमान रहेंगे और चूंकि आप वैयाकरण अद्वैतवादी हैं इसलिए स्फोट के अतिरिक्त किसी और की सत्ता तो आप मानेंगे नहीं फिर यह बताइये कि शब्द से अर्थ की प्रतीति का निश्चय होगा किसे ? क्योंकि आप चैतन्य या आत्मा को तो मानते नहीं केवल शब्द ब्रह्म को मानते हैं । फिर भोजन आदि के विषय में जड शब्द की चेष्टा न होने सारा जागतिक व्यवहार ही लुप्त हो जायगा । अतः एक शुभ्र स्व-प्रकाशविमर्शवाली सत्ता को अवश्य स्वीकार कीजिये ॥६५–६६॥

जब पूर्वोक्त रीति से (पदार्थों के ज्ञान के लिए) अनुमान की सार्थकता नहीं है तो पक्ष आदि का फिर कोई उपयोग नहीं है । अहीरों के घट में वर्त्तमान धूम से

This is somewhat incongruous with later statements re UP & AG

न भाण्डे शक्यते धूमः प्रवेष्टुं वह्निवर्जिते।
तस्माद् वर्णनिकैवेयं परस्यान्ध्याय कल्पिता ॥६८॥
यैरुक्तं सिद्धसाध्यत्वं सामान्ये तत्र दूषणम्।
अत्रेति तत्प्रयोगत्वाद्दिग्देशाद्यैर्विशेषिता ॥६९॥

शक्तत्वं निरूप्येदानीमनुमानस्याङ्गभूतपक्षादिकस्यासिद्धिं सन्दर्शयति–**अनुमानमिति**। यदाऽनुमानमेव ज्ञानस्य साधकं नास्ति तदा पक्षादेः क उपयोगः ? निरर्थकः पक्षादिः–इत्यर्थः। **गोपालघटिकेति**–अयमभिप्रायः—पुरा गोपाला गोष्ठे दुग्धं दुग्ध्वा तत् उष्णं कर्त्तुं गोष्ठ एव खनिं खनित्वा तत्र शुष्ककरीषं संस्थाप्याग्निना तत्सन्दीप्य मृद्भाण्डस्थितं दुग्धमुष्णयन्ति स्म। करीषादुत्थितो धूमः तस्मिन् मृन्मये घटेऽनवरतं मुहुर्मुहुः पतति स्म; ततश्च बहिर्गच्छति स्मेत्यधुनाऽपि यत्र तत्र ग्रामटिकासु द्रष्टुं शक्यते। तेन गोपालघटिकासंस्थेन धूमेन **ततोऽन्यैश्च घटिता** = संयुक्ता, **गोपालघटिका** न सम्भवति पक्षरूपेण वर्त्तितुमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह–**असम्भवात्** इति। तत्र वह्नेरभावाद् धूमस्यासम्भवादित्यर्थ। अयमाशयः—आभासवस्तुत्ववादिनां मतेऽनाभातोऽग्निः अवस्तु, अवस्तुत्वाच्च न स धूमस्य कारणमिति। तेन धूमाग्न्योः कार्यकारणभावाभावे न धूमेनाग्नेरनुमानं शक्यम्! गोपालघटिका च तदा न पक्षत्वेन स्थातुं शक्या। तदेव विवृणोति–**न भाण्ड** इति। अग्निरहिते **भाण्डे** = सदुग्धे मृन्मये पात्रे **धूमः प्रवेष्टुं न शक्यते**। **तस्मात् इयम्** = पूर्वोक्ता **वर्णनिका** = कुत्सितवर्णना; **परस्य** = मूर्खस्य शैवागममजानतः पुरुषस्य, **आन्ध्याय** = जाड्याय एव **कल्पिता** = रचिता ॥६७–६८॥

ननु—"विशेषेऽनुगमाभावात्सामान्ये सिद्धसाधनात्।
..............................अनुमानकथा कुतः ॥"

इति वचनादनुमानस्यानुपयोग एव ज्ञान इति ? तत्राह—**यैरिति**। **यैः** = बौद्धैः **सामान्ये** = वह्नित्वसामान्यस्यानुमितौ, **सिद्धसाध्यत्वदूषणमुक्तम्; तत्र**। अयमा-

---

अग्नि का अनुमान तो सम्भव नहीं ही है उससे भिन्न अन्यत्र घट आदि में वर्त्तमान धूम से भी अग्नि की अनुमिति होगी ऐसा भी सम्भव नहीं है। क्योंकि अग्निरहित घट में धूम का प्रवेश सम्भव नहीं है। इस कारण धूम से अग्नि के ज्ञान का यह वर्णन दूसरे को अन्धा अर्थात् मूर्ख बनाने के लिए है ॥६७–६८॥

जिन बौद्धों ने अनुमान के बारे में सिद्धसाध्यत्व दोष की चर्चा की थी उसके विषय में हमें यह कहना है कि जहाँ तक वह्निसामान्य के ज्ञान की बात है वहाँ यह दोष नहीं है क्योंकि अनुमान के द्वारा वह्निसामान्य का ज्ञान होता ही नहीं कारण उसका सर्वत्र अस्तित्व है ही; (अपितु पर्वतीय आदि विशिष्टवह्नि का ज्ञान

न सर्वेषां विशेषाणां प्रत्यक्षेऽपि भवेद् ग्रहः ।
विशेषपूर्वताऽध्यक्षेऽविशेषोऽस्त्यनुमानतः ॥७०॥
अतो नास्त्यनुमानस्य दूषणाद्यैः प्रभाषितैः ।
तेन पूर्वोक्तया नीत्या भावानां स्वग्रहः स्थितः ॥७१॥
नाप्याप्तवचनग्राह्याः, सामान्याद्वा विशेषतः ।
सामान्यादनुमानोक्तदूषणं, तद्विशेषतः ॥७२॥

शयः—धूमेनाग्नेरनुमितौ न वह्नित्वसामान्यस्यानुमा; तस्य सर्वत्र सत्त्वात्, अनुमानेन च तस्य ज्ञानासम्भवात् । तेन वह्नौ पर्वतीयत्वमस्ति न वेति संशीतौ धूमदर्शनात् वह्नेः पर्वतीयत्वस्यैवानुमितिः । तदेवाह—**अत्रेति** । 'अत्र पर्वते वह्निः; धूमात्' इति दृष्टान्ते, **तत्प्रयोगत्वात्** = अत्र पर्वते इति विशिष्टशब्दप्रयोगात् **दिग्देशाद्यैः**, आदिना कालो ग्राह्यः विशेषिता अनुमितिः इति शेषः ॥६९॥

प्रत्यक्षेऽपि = प्रत्यक्षप्रमास्थलेऽपि सर्वेषां विशेषाणां घटपटादीनाम्, **ग्रहः** = ज्ञानम्, न भवति । **विशेषपूर्वताऽध्यक्षे** = प्रत्यक्षस्थलेऽपि विशिष्टस्यैव ननु सामान्यस्य, ज्ञानसत्त्वात्, **अनुमानतः** = अनुमितेः, **अविशेषः** = वैशिष्टयाभावः । प्रत्यक्षानुमानयोर्न किञ्चिदन्तरमित्यर्थः । **अतः** = तस्मात्, प्रभाषितैः उपर्युक्तैः **दूषणाद्यैः**, **अनुमानस्य अस्ति** = अस्तित्वम्, **न** = नास्ति । पदार्थानां ज्ञप्तौ निष्प्रयोजनाऽनुमितिरित्यर्थः । प्रत्यक्षानुमानयोर्दूषणमभिधायेदानीं प्रकृतमनुसरन्नाह—**तेनेति** । **पूर्वोक्तया** = 'अमूर्त्ताश्च तथा सर्वे सर्वे ज्ञानक्रियात्मकाः' इत्यादिकया, **नीत्या** = सिद्धान्तसरण्या, **भावानाम्** = घटपटादिपदार्थानाम्, **स्वग्रहः** = स्वस्य स्वयमेव ज्ञानम्, **स्थितः** = सिद्धान्तितः ॥७०-७१॥

होता है) इसके अतिरिक्त अनुमान में 'अत्र' शब्द का जब प्रयोग करते हैं तब तो अग्नि दिशा स्थान काल आदि से विशिष्ट हो गई फिर वह सामान्य कहाँ रही ? इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष स्थल में भी सभी विशेष वह्नि का तो ज्ञान होता नहीं किसी विशेष का प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार जब प्रत्यक्ष भी किसी विशिष्ट पदार्थ का होता है और अनुमान भी विशिष्ट का ही तो फिर अनुमान से प्रत्यक्ष का वैलक्षण्य कुछ भी नहीं रहा । इस प्रकार ऊपर कहे गये दोष आदि के कारण पदार्थों के ज्ञान के विषय में अनुमान का अस्तित्व ही नहीं है । इसलिये पूर्वोक्त सरणि के द्वारा यह समझना चाहिये कि पदार्थों का ज्ञान स्वयं होता है । अर्थात् पदार्थ अपना ज्ञान स्वयं कराते हैं न कि उनके ज्ञान के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता पड़ती है ॥६९–७१॥

आप्तवचन से भी पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं है । क्योंकि पदार्थों का ज्ञान या

प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत, तथाऽऽप्तत्वेऽप्यनिश्चयात् ।
स्वातन्त्र्यं न च शब्दस्य रचनात्वेन युज्यते ॥७३॥

पदार्थप्रमितौ प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यं निरस्येदानीमाप्तवाक्यस्य प्रामाणिकत्वनिरसनायोपक्रमते—**नाप्याप्तवचनग्राह्या** इत्यादिना । पदार्था आप्तवचनैरपि ज्ञातुं न शक्याः । ननु ब्रवतामेव भवान् किं पदार्था आप्तसामान्याद् ज्ञायन्ते भवता ? तद्विशेषाद् वा ? आप्तसामान्याच्चेदनुमानोक्तं दूषणमत्रापि प्रसज्येत । न सर्वेषामाप्तपुरुषाणामाप्तवचनानां वा एकत्र समवायः शक्यः । तदेवाह—**सामान्यादनुमानोक्तदूषणमिति** । अथ **तद्विशेषतः** = आप्तविशेषस्य वचनाद् भवति पदार्थग्रह इति चेत् ? **प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत** । तत्त्वित्थम्—यदा शिशुं सम्बोधयन्ती माता पुरःस्थितं काकमभिलक्ष्याङ्गुल्या शिशवे तं दर्शयन्ती ब्रूते—'वत्स ! काकः' । तदा शिशुः ककारोत्तराकारोत्तरककारोत्तरात्वरूपानुपूर्वीकाकशब्दस्य श्रावणप्रत्यक्षं करोति काकव्यक्तेश्च चाक्षुषं प्रत्यक्षमिति काकज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं सिद्धम् । दूषणान्तरमाह—**तथेति** । क्रोधरागादिभिरुपहत आप्तोऽपि कदाचित्स्वाप्तत्वं जह्यात् । यथा क्रुद्धा माता किञ्चिद्वस्त्वभिलक्ष्य 'मातः किमिदम् ?' इति पृच्छन्तं शिशुं ब्रवीति—'अपेहि ! तव मुखम्' । इति । रागाद् यथा पितुः प्रतिकृतिं समक्षमवलोक्य पुत्रं दर्शयन्ती कथयति—'वत्स ! तव पिता ।' इत्युभयत्र तस्या अनाप्तत्वम् । यत्र च न पुरुष आप्तः किन्तु शब्दस्यैवाप्तत्वं तत्र दोषमाह—**स्वातन्त्र्यमिति** । शब्दाः, न स्वतन्त्राः; रचनात्वेन कस्यचिदधीनत्वात्, घटादिवत्—इत्यनुमानम् । इत्थं शब्दानां बुद्धिमत्कृतरचनावत्त्वात् स्वातन्त्र्याभावः; तेन च शब्दानां पदार्थबोधाजनकत्वमिति तात्पर्यम् । **तत्रापि** = शब्दद्वारापदार्थग्रहणेऽपि । **व्यञ्जकापेक्षा** = व्यञ्जकस्य पुरुषस्यावश्यकता ॥७२–७३½॥

तो आप आप्तसामान्य से मानेंगे या आप्तविशेष से । यदि आप्तसामान्य से पदार्थों का ज्ञान मानते हैं तो अनुमानोक्त दोष यहाँ भी उपस्थित हो जायगा । और यदि आप्तविशेष के द्वारा मानते हैं तो फिर वह प्रत्यक्षप्रमाण ही हो जायगा । इसके अतिरिक्त आप्तपुरुष का आप्तत्व भी निश्चित नहीं है क्योंकि वक्ता अनाप्त भी हो सकता है । जहाँ पुरुष नहीं शब्द ही आप्त माना जाता हैं वहाँ भी शब्द का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । क्योंकि रचना अर्थात् उत्पत्ति का विषय होने से वह पराधीन है । यह तो शब्दानित्यत्ववादी के पक्ष की बात रही । जो लोग शब्द को नित्य मानते हैं उनके यहाँ भी नित्यशब्द को व्यवहार जगत् में चलाने के लिये व्यञ्जक की अपेक्षा होती है । इस कारण नित्यशब्द भी पराधीन है । अतः शब्द से ज्ञान सम्भव नहीं ॥७२–७३½॥

तत्रापि व्यञ्जकापेक्षा स्यात् परायत्ततैव हि ।
अर्थापत्यादिना नापि तदनर्होपयोगतः ॥७४॥
प्रतिभा च प्रमाणत्वे वर्ण्यमाना न शोभते ।
काकतालीयरूपत्वादश्वादेस्तरणादथ ॥७५॥
तदहर्जातकस्यापि वासना साऽन्यजन्मजा ।
तत्तज्जातीयधर्मो वा तथा ज्ञानस्वभावता ॥७६॥

ननु मा भूत् प्रत्यक्षानुमानशब्दैः पदार्थानां ग्रहणम्, अर्थापत्त्यादिप्रमाणैस्तु भवितुं शक्नोत्येवेति तन्निरसितुमाह–**अर्थापत्त्यादिनेति** । नापि = भावानां ग्रहणं न सम्भवति । तत्र हेतुमाह—**तदनर्होपयोगत** इति । **तस्याः** = अर्थापत्त्यादेः **अनर्होपयोगतः** = अयोग्यस्थले उपयोगात् । अर्थापत्तेरुपयोगस्तु तत्र युक्तो यत्रोपपाद्यस्य प्रत्यक्षं ज्ञानमस्ति उपपादकस्य च नास्ति । तत्रोपपादकस्य कल्पना क्रियते । अत्र तु पदार्थग्रहणे न तादृशी स्थितिः । **प्रतिभा** = नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञाऽपि; **प्रमाणत्वे** = पदार्थज्ञानस्य साधनरूपेण, **वर्ण्यमाना न शोभते** । **काकतालीयरूपत्वात्** । काकतालीयन्यायो यथा—एकदा कश्चित् काक उड्डयमानो गच्छन्नासीत् । स यदा एकस्य तालवृक्षस्याधस्तात् प्राप्तस्तदैवैकं तालफलं तस्योपर्यपतत् मृतश्च सः । एवमेवाश्वतरणन्यायोऽपि यथा—अश्वो भूमौ धावतीत्यस्य स्वभावः । कदाचित् भूमौ धावन्नश्वः नदीं प्राप्तः, तत्र प्रविष्टश्च नदीमतरत् पारं च गतः । तेनाश्वस्य स्वभावो नदीतरणस्येति न निश्चेतव्यम् । तथैव कदाचित् केनचित् प्रातिभज्ञानेन पदार्थो ज्ञात इति न प्रतिभा सर्वत्र पदार्थज्ञानसाधनमिति पदार्थानां ग्रहणं न केनापि प्रमाणेन सम्भवि इति सिद्धान्तितं ग्रन्थकर्त्रा ॥७४-७५॥

ननु पदार्थाः स्वात्मनैवात्मानं ग्राह्यन्तीति सिद्धान्तिते प्रौढपुरुषवर्त्यन्तःकरणस्य प्रौढत्वात्तस्य ग्रहणशक्तिः समर्था पदार्थग्रहणायेति भवतु नाम तस्य पदार्थग्रहणम्, सद्योजातस्यार्भकस्य त्वपुष्टान्तःकरणत्वात्कथं स्तनपानादौ प्रवृत्तिरिति चेत् ? तत्राह—**तदहर्जातकस्यापीति** । 'स्तनौ पेयौ' 'दुग्धं मधुरम्' इत्याकारा या सद्यो-

---

अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के द्वारा भी पदार्थो का ज्ञान नहीं हो सकता, क्यों कि उसका उपयोग सर्वत्र योग्य या उचित नहीं हैं । प्रतिभा को भी प्रमाण मानना अशोभनीय है क्यों कि वह तो काकतालीय या अश्वतरण जैसा है । इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान किसी भी प्रमाण से असम्भव है ॥७४-७५॥

प्रश्न है कि प्रौढ़ प्राणी को पदार्थ अपना ज्ञान इस लिये करा देते है कि उनका मन या अन्तःकरण उसके योग्य होता है किन्तु सद्योजात शिशु को 'दूध मीठा है या पीने योग्य है' इत्यादि ज्ञान कैसे होतां है क्यों कि वह तो अपुष्ट अन्तःकरण वाला

व्यापकत्वाच्छिवत्वस्य सर्वज्ञत्वाद् भवेदथ ।
तस्मादेतच्च संज्ञेयं सर्वः स्वात्मानमात्मना ॥७७॥
जानन्नवस्थितो दूरे स्वर्गादौ निरयेऽथवा ।
प्रत्यक्षादिप्रक्रियायास्तथा शिवकृतस्थितेः ॥७८॥
नौतरभ्रान्तिनाशादौ सम्यग्दृष्टिसमुद्गमात् ।
यमसैनिकसद्दृष्टिधरादेश्चलनोद्गमात् ॥७९॥

जातस्य शिशोर्वासना सा **अन्यजन्मजा** = पूर्वजन्मजा । अथवा पृथक् पृथग् जातीनां धर्मोऽपि पृथगेव भवति; यथा पशूनां शिशवो जन्मदिनत एव चलन्ति धावन्तीति । **तथा** = एवं च तेनैव रूपेण, **ज्ञानस्वभावता** सद्योजातस्य शिशोः स्तनपानादौ इति शेषः । यतो हि शिवो व्यापकः सर्वज्ञश्च, सर्वे च प्राणिनः शिवस्वरूपाः, **तस्मात्** = तेन हेतुना, एतच्च **संज्ञेयम्** = सम्यगवधेयं यत् सर्व **स्वात्मानमात्मना** जानन् सन्तिष्ठते । स च स्वर्गे वा भवतु नरके वा, आत्मनाऽऽत्मज्ञानस्य विषये दिक्-कालकृतावरोधो नास्तीत्यर्थः । आत्मनाऽऽत्मनः प्रत्यक्षे एषैव प्रक्रिया प्रौढादीनां कृते । बालानां च कृते, **शिवकृतस्थितिः** = परमशिवेनैतादृशी व्यवस्था कृता यथा बालोऽपि स्तनपानादौ इष्टसाधनबुद्ध्या प्रवर्त्तते ॥७६–७८॥

नावा तरतीति **नौतरः**, तस्य **भ्रान्तिः** = नाव्यारूढे सति 'तटस्था वृक्षादयो विपरीतदिशं चलन्तो धावन्तो वा सन्ति' इत्येवंरूपो भ्रमः, तस्य नाशे, नौत अवरूढे अहमेव नावारूढो नावा सह चलन्नासम्, नेमे वृक्षादयः इति **सम्यक्दृष्टेः** = यथार्थ ज्ञानस्य, **समुद्गमात्** = समुदयात्; **काऽन्या भवति चेतनः**—इत्यनेनान्वयः ।

है ? उत्तर है कि उसके अन्दर ज्ञान की वासना या संस्कार होता है जो पूर्व जन्म में अर्जित किया गया रहता है अथवा भिन्न भिन्न जाति के प्राणियों का भिन्न भिन्न धर्म होता है और इस प्रकार तत्तत्स्वभावानुकूल ज्ञान होना उनका स्वभाव हो जाता है । चूंकि शिव व्यापक है और सर्वज्ञ है अतः सर्वत्र सब प्रकार का ज्ञान होता है । इसलिये यह मान लेना चाहिये कि सब कुछ, चाहे वह दूर स्वर्ग में हो या नरक में, सर्वत्र अपने द्वारा अपने को जानते हुए स्थित है । यह मानना पड़ता है कि प्रौढ़ व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष आदि की प्रक्रिया ही ऐसी है । और जहाँ बाल आदि के विषय में प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं वहाँ यह मानना पड़ता है कि शिव के द्वारा रची गई ज्ञान की स्थिति ही वैसी है ॥७६-७८॥

नाव के द्वारा नदी इत्यादि में चलने वाले व्यक्तियों का भ्रम नष्ट होने पर यथार्थ ज्ञान का उदय होने से, यमदूतों की वर्त्तमान दृष्टि जब मुमूर्षु व्यक्ति पर पड़ती है तब उसको पृथ्वी आदि चलती हुई दिखाई देने से, शेषनाग के चलने के

भूकम्पनाच्च शेषादिचलना[च्चैवं] सर्वतः ।
गमागमेन वाय्वादेः काऽन्या भवति चेतना ॥८०॥
सर्वत्र देवतात्मत्वाज्जडेष्वप्युपवर्णिता ।
पोतादेश्चेदुपायेन दृष्टे दीपाद्युपायता ॥८१॥

हेत्वन्तराण्याह—**यमसैनिके**ति । **यमसैनिकानाम्** = यमदूतानां या **सद्दृष्टिः** = मृत्युकाले सती = वर्त्तमाना घोरा भयावहा दृष्टिः तया भीतचित्तस्य मुमूर्षोः **धरादेः**=भुवो गृहादेः, **चलनोद्गमात्**=एते सर्वे भ्रमिं कुर्वन्ति इत्ययथार्थज्ञानोत्पत्तेः । एतद्द्वयं व्यक्तिगतं यथार्थायथार्थज्ञानमाध्यात्मिकम् । अथाधिभौतिकमाह—**भूकम्पनाच्चे**ति । **शेषः** = धराधारको पुराणोपवर्णितो नागविशेषः । आदिना दिक्कुञ्जरादयो ग्राह्याः । तत्सर्वस्य **चलनात्** = स्वस्थानादपगमात् भुवः कम्पनं भवति तस्मात् । इदानीमाधिदैविकमाह—**सर्वतः गमागमेनेति** । **सर्वतः** = सर्वत्र पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्लोकादौ **वाय्वादेः** = आदिना कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धीनां परिग्रहः । तस्य **गमागमेन** = आवागमेन हेतुना **का अन्या चेतना भवति** ? शिवमपहाय । तदेव विवृण्वन्नाह—**सर्वत्रे**ति । सर्वेषु स्थानेषु व्यक्तिषु वा **देवतात्मत्वात्** = शिवात्मत्वात् । **जडेष्वपि** = पृथिव्यादिषु अपि **उपवर्णिता** चेतनेति शेषः । तथा चोक्तम्—

"यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥
"विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम् ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥"
(शि० सू० वि० ३-२४) इति ।

"तस्माच्छब्दार्थ चिन्तासु[२] न साऽवस्था न या शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥"
(स्प० का० २.४) इति च ॥ ७९–८०½॥

कारण भूकम्प आने से और वायु आदि के गमनागमन—इन सभी कारणों से प्रश्न होता है कि शिव के अतिरिक्त और कौन चेतना ऐसी हो सकती हैं जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न कार्य कर सकती है ? समस्त जगत् चूंकि देवतात्मक अर्थात् शिवात्मक है अतः जड पदार्थों में भी वही चेतना वर्णित है ॥७९-८०½॥

अब प्रत्यक्ष जगत् में कार्यकारणभाव में शिवत्व की स्थापना करते हैं—जहाज आदि के ज्ञान का कारण अर्थात् उपाय दीपक आदि जैसे दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष

१. चेन्न इति पाठान्तरम् ।
२. चिन्तासु = विकल्पज्ञानादिषु ।

तत्र चेत् सुप्रसिद्धत्वे तथा तत्र प्रसिद्धितः ।
तुल्यकालं द्वयोर्द्वैधं नैवं यत् तदलक्ष्यता ॥८२॥
तद्देशत्वं पुनः कस्मादिति चेत्तत्तथाऽग्रतः ।
भावा मूर्त्ताः सर्व एव सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिना ॥८३॥
ज्ञेया अवयवेनैते यावद् यावददर्शनाः ।
अणूनामथ मूर्त्तत्वादेवं चेत् किं न दर्शनम् ॥८४॥

इदानीं प्रत्यक्षे जगति वर्त्तमाने कार्यकारणभावेऽपि शिवतत्त्वमेवेति धिया प्राह—**पोतादेश्चेदिति** । यथा **दृष्टे** = प्रत्यक्षे व्यावहारिके जगति, **पोतादेः** = समुद्रे गच्छतां पोतनावादीनाम्, **उपायेन**=ज्ञानसाधनेन आगमनसूचकेनेत्यर्थः । **दीपादेः** = अत्यूर्ध्वं लम्बमानस्य प्रकाशकस्य, **उपायता** = पोताद्यागमनसूचकता, **तत्र** = दृष्टे जगति, **सुप्रसिद्धत्वे** = प्रसिद्धा अस्ति । **तथा** = तेनैव प्रकारेण **तत्र** = अप्रत्यक्षे सूक्ष्मेऽपि जगति, **प्रसिद्धितः** = ज्ञानकारणरूपेण वर्त्तमानस्य कस्यचिदपि हेतोः प्रसिद्धत्वात् कः स हेतुर्भवितुमर्हति ऋते शिवतत्त्वात् । **द्वयोः** = दृष्टादृष्टपदार्थयोः **तुल्यकालम्** = एकस्मिन्नेव काले, **द्वैधम्** = द्वित्वम्, भिन्नत्वमित्यर्थः । **यत् एवं न** = यो हि पदार्थो न दृष्टो नाप्यदृष्टः, **तदलक्ष्यता**=स पदार्थोऽलक्ष्यो बुद्धेर्विषयो नास्तीति भावः । ननु भवतु नाम दृश्यादृश्यपदार्थानां तुल्यकालत्वं **तद्देशत्वम्** = तुल्यदेशत्वं तेषां कथ स्यादिति चेत् ? न; **तत्** = तुल्यदेशत्वम्, यथा स्यात् **तथा अग्रे**=**'आत्मेच्छातः स्थिता भावा'**···· **'स्वशक्त्या घनरूपत्वे' 'एवं सर्वेषु भावेषु'** इत्यादिश्लोकैर्वक्ष्यते इति शेषः ।

जगत् में सुप्रसिद्ध है उसी प्रकार अप्रत्यक्ष अर्थात् सूक्ष्म जगत् में भी ज्ञान का कोई न कोई कारण प्रसिद्ध है । एक ही काल में दृष्ट और अदृष्ट का द्वैध अर्थात् द्वित्व या भिन्नता रहती है । जहाँ ऐसा नहीं है वह पदार्थ अलक्ष्य अर्थात् बुद्धि का विषय नहीं है । प्रश्न है कि फिर दृष्टादृष्ट पदार्थों का तुल्यकालत्व तो ठीक है परन्तु तद्देशत्व अर्थात् तुल्यदेशत्व कैसे होगा ? उत्तर है कि यह हम आगे के श्लोकों में बतायेंगे ॥८१-८२½॥

अब सिद्धान्तरूप में पदार्थों की अमूर्त्तता को उपस्थापित करने के लिये पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—जितने मूर्त्त पदार्थ हैं वे सूक्ष्म सूक्ष्मतर अवयवों के द्वारा तब तक जाने जा सकते हैं जब तक उनका देखना असम्भव न हो जाय । प्रश्न है कि फिर मूर्त्त होने के कारण परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? उत्तर है कि सूक्ष्म होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । पुनः प्रश्न है कि तब तो परमाणुओं में अदृश्यत्व अस्पृश्यत्व और अमूर्त्तत्व ये सभी विशेषतायें आ जायेंगी और

सूक्ष्मत्वात्तर्ह्यदृश्यत्वमस्पृश्यत्वममूर्त्तता ।
तैरदृश्यैर्यदारब्धं तत्तथैवाथ संहतेः ॥८५॥
दृश्यत्वं तेषु, संघातात् किं तेषां रूपताक्षतिः ।
स्वरूपमिश्रीभावो वा नैवं चेत्तर्ह्यमूर्त्तता ॥८६॥
ये तत्र पृष्ठतो वृत्तास्ते प्रत्येकममूर्त्तकाः ।
अमूर्त्तत्वेन भावानां दर्शनं नान्यथा भवेत् ॥८७॥

इदानीं पदार्थानाममूर्त्तत्वं सिद्धान्तयितुं तेषां मूर्त्तत्वमुत्थापयति पूर्वपक्षरूपेण—**सर्व एवेति** । **भावाः** = पदार्थाः, **सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिना** स्वरूपेण **मूर्ताः** = आकृतिमन्तः । एते च **सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिना** = चतुरणुकत्रसरेणुद्व्यणुकरूपेण **अवयवेन यावत्** = यावत्कालम्, **यावत्** = यावत् परिमाणं च **अदर्शनाः** = दर्शनायोग्याः न भवन्ति तावत्कालं तावत्परिमाणं च **ज्ञेयाः** । **एवं चेत्** = यदा भावाः मूर्त्तास्तदा, **अणूनाम्** = परमाणूनां द्व्यणुकानां च मूर्त्तत्वात् **दर्शनम्** = प्रत्यक्षम् **किम्** ? = केन कारणेन नास्ति ?–इति प्रश्नः । तथा हि—महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्त्वं प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकम्, तच्च परमाणौ द्व्यणुके वा नास्तीति प्रत्यक्षत्वाभावस्तेषाम् । तदेवोत्तरयति—**सूक्ष्मत्वादिति**; अनुद्भूतरूपवत्त्वादित्यर्थः । ननु **तर्हि** परमाणूनाम**दृश्यत्वमस्पृश्यत्वममूर्त्तता** च स्यात्, **तै**श्चादृश्यास्पृश्यामूर्त्तैः परमाणुभि**र्यदारब्धं** घटादिकं **तत्** = तदपि घटादिकं **तथैव** = अदृश्यमस्पृश्यममूर्त्तं च स्यात्, समानजातीयकारणानां स्वोत्कृष्टतरसमानजातीयकार्यजनकत्वनियमात् इति चेत् ? तत्राक्षेपान्तरमाह—**अथ संहतेरिति** । भवतु नाम परमाणूनां पार्थक्ये अदृश्यत्वादिकम्, संहतौ सत्यां तु तेषु दृश्यत्वादिकं स्यादिति का हानिः ? स्वोक्तमेव द्रढयति—**संघातादिति** । **किं संघातात् तेषाम्** = परमाणूनाम्, **रूपताक्षतिः** = नीरूपत्वम्, स्यात् ? **स्वस्य** = शिवस्य यद्रूपं तेन सह जडपरमाणुरूपाणां मिश्रीभावो वा स्याद् येन तेऽदृश्याः सन्तो घटादिकमदृश्यतां नेष्यन्ति ? **नैवं चेत्** = यद्युपर्युक्तकारणद्वये नाप्येकं

उन अदृश्य परमाणुओं से जो घट पट आदि बनेंगे वे भी उन्हीं का संघात होने से अदृश्य आदि होने लगेंगे ? यदि यह कहें कि संघात में होने के कारण वे दृश्य हो जाते हैं क्या संमूह में आने से उनकी रूपता नष्ट हो जायगी ? या इन जड परमाणुओं का स्व अर्थात् शिव के रूप में मिश्रण हो जायगा जिससे वे नहीं दिखाई पड़ेंगे ? यदि ऐसा नहीं है तो यह यथार्थ है कि पदार्थ अपने स्वरूप में अमूर्त्त हैं । जो पृष्ठभूमि में वर्त्तमान हैं अर्थात् द्व्यणुक और परमाणु, वे प्रत्येक अमूर्त्त है । पदार्थों के अमूर्त्त होने के ही कारण सभी पदार्थों का एक साथ दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं होगा ॥८३-८७॥

ज्ञानस्वरूपग्रहाणां तद्ग्रहात् तद्ग्रहः किल।
अतत्स्वरूपरूपत्वे नान्यस्यान्यग्रहाद् ग्रहः ॥८८॥
एवमिन्द्रियशक्तीनां ज्ञानमन्तःप्रवेशनात्।
सामान्या मूर्त्तता व्याप्ता ह्यमूर्त्तत्वं तदग्रतः ॥८९॥

युक्ततरं तर्हि, स्वीक्रियतां भवता **तेषाम्** = घटादीनाम् अमूर्त्तता। **तत्र** = घटादिषु **ये** = अवयवाः परमाण्वादयः, **पृष्ठतो वृत्ताः** = कारणस्वरूपेण वर्त्तमानाः सन्ति। ते प्रत्येकममूर्त्तकाः सन्ति। **अमूर्त्तत्वेन** = हेतुना **भावानाम्** = जगति वर्त्तमानानां सकल-पदार्थानामेककालावच्छेदेनैकेनैव पुरुषेण, **दर्शनम्** = प्रत्यक्षं न भवति। **अन्यथा** = यदि भावा अमूर्त्ता न स्युस्तर्हि, **भवेत्** = सकलपदार्थप्रत्यक्षं स्यात् ॥८३–८७॥

गृह्यन्त इति **ग्रहाः** = पदार्थाः (ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च पा० सू० ३.३.५८) इत्यनेन 'अप्'। ज्ञानमेव स्वरूपं येषाम्, ते च ते ग्रहाः, **तेषाम्** = ज्ञानस्वरूप-पदार्थानाम्; **तद्ग्रहात्** = ज्ञानग्रहात्, अनुव्यवसायादित्यर्थः। **तद्ग्रहः** = पदार्थ-ज्ञानम्। यतो हि पदार्था ज्ञानस्वरूपा अतो ज्ञानस्य ज्ञानेनानुव्यवसायापरपर्यायेणैव पदार्थानां ज्ञानं जायते। यावत्कालमहं घटज्ञानवान्नास्मि तावत्कालं घटज्ञानस्य नैरर्थक्यमित्यभिप्रायः। तथा चोक्त**मीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्**—

'**प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना।**' इति।

अतत्स्वरूपत्वे = अज्ञानस्वरूपपदार्थरूपत्वे = यदि पदार्था ज्ञानस्वरूपा न स्युस्तदा, **अन्यग्रहात्** = ज्ञानग्रहात् = अनुव्यवसायात्, **अन्यस्य** = पदार्थस्य घटपटादेः, **ग्रहः** = ज्ञानम्, 'अयं घटः' इत्याकारकम्, **न** = नैव स्यादित्यर्थः। यतो हि ज्ञानम-मूर्त्तं पदार्थश्च ज्ञानस्वरूपास्तस्मात्तेषाममूर्त्तत्वे नास्ति सन्देहलेशावसरः। एवमेव **अन्तःप्रवेशनात्** = अनुव्यवसायात्, **इन्द्रियशक्तीनाम्** = ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु वर्त्तमान-रसनश्रवणविहरणादिशक्तीनाम् **ज्ञानम्** = 'रसयामि' 'चाक्षुषयामि' 'शब्दयामि' इत्याकारकं जायत इति शेषः ॥८८–८८½॥

चूंकि पदार्थ ज्ञानस्वरूप है अतः ज्ञान का ज्ञान अर्थात् अनुव्यवसाय होने से पदार्थों का भी ज्ञान निश्चित हो जाता है। यदि पदार्थों को अतत्स्वरूप रूप वाला अर्थात् अज्ञानस्वरूपरूप वाला मानेंगे, तात्पर्य यह है कि ज्ञानस्वरूप नहीं मानेंगे तो अन्य अर्थात् ज्ञान के ग्रह अर्थात् ज्ञान के द्वारा अन्य अर्थात् पदार्थों का ग्रह = ज्ञान नहीं होगा। इसी प्रकार अन्तःप्रवेश अर्थात् अनुव्यवसाय के द्वारा इन्द्रियों की शक्ति का भी ज्ञान होता है ॥८८½॥

चूंकि संसार शिवस्वरूप है या उसका स्वातन्त्र्योल्लास है अतः सामान्य शिवस्वरूप मूर्त्तता तो सर्वत्र व्याप्त है। विशेष-विशेष स्थानों पर अमूर्त्तता आ

कथमाकारघटना, व्योम्नि नित्येव नीलता ।
आत्मेच्छातः स्थिता भावाः स्थितैवासावमूर्त्तता ॥९०॥
मायीयत्वे जगति वा प्राकृते वाऽन्यथाऽपि वा ।
अमूर्त्तकारणैर्योगात्तन्मूर्त्तत्वं निवार्यते ॥९१॥
अविद्यायोगतो वापि शाक्तरूपत्वतोऽपि वा ।
ज्ञानस्यापि बही रूपे शब्दरूपेऽपि वा तथा ॥९२॥

ननु पदार्थानाममूर्त्तत्वे सिद्धान्तिते **'प्रत्क्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिः'** इत्यभिज्ञा-**नशाकुन्तलोक्त्या** सह विरोधः स्यात्, तत्र भूम्यादेः प्रत्यक्षत्वस्योक्तत्वेन मूर्तत्व-सिद्धेः ? इत्याशंकायामाह=**सामान्येति** । समान्यरूपेण मूर्त्तता सर्वत्र व्याप्ता, सर्वस्य शिवमूर्त्तित्वात् । तथा चोक्तं **संविदुल्लासे—**

'विश्वं मूर्तिर्वैखरी नाममाला यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि' इति ।

तदग्रतः = विशेषरूपेण हि **अमूर्त्तत्वम्** पदार्थानामिति शेषः ।

ननु पदार्थानाममूर्त्तत्वे पदार्था नानारूपा नानाकारा यद् दृश्यन्ते तत्कथम् ?—इति शंकमान आह—**कथमिति** । घटपटाद्यारभ्य गिरिनदीसागरादीनामाकृतयः कथं संजायन्ते प्रत्यक्षीभवन्ति च ? उत्तरमाह—**व्योम्नि** = स्वच्छे नीरुप आकाशे **नित्या** = अबाधं प्रतीयमाना प्रत्यक्षीक्रियमाणा नीलतेव । नन्वेतेन किमायातम् ? तत्राह—**आत्मेच्छात** इति । पदार्थाः आत्मनः = परमशिवस्य **इच्छातः** = स्वेच्छया **स्थिताः** = उत्पन्नास्तिष्ठन्ति । यथोक्तं **श्रीमालिनीविजये—**

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छा त्वं तस्य सा देवि ! सिसृक्षोः संप्रपद्यसे ॥' इति ।

जाती है । अब प्रश्न है कि अमूर्त्त परमाणु आदि से आकार की रचना कैसे होती है ? उत्तर है कि यह उसी प्रकार है जैसे नीरूप आकाश में नित्यनीलता । परमार्थिक रूप में यह कहना पड़ेगा कि परमात्मा अर्थात् शिव की इच्छा से पदार्थों की सत्ता है और अमूर्त्तता भी उसी प्रकार की इच्छा से है ॥८९-९०॥

संसार को चाहे आप माया का विकार माने या प्रकृति का कार्य या परमाणुओं से उत्पन्न, अमूर्त्त कारणों से उत्पन्न होने के कारण इस संसार के मूर्त्तत्व के खण्डन का प्रश्न खड़ा हो उठता है । चाहे इस संसार को अविद्या के सम्बन्ध से उत्पन्न मानिये जैसा कि बौद्ध मानते हैं, अथवा इसे शक्ति से उत्पन्न मानिये, या विज्ञानवादी बौद्धों जैसे लोगों के मत में इस संसार को ज्ञान का ही बाह्यरूप में अस्तित्व मानिये, अथवा वैयाकरणमतानुसार इसे शब्द से उत्पन्न मानिये, किसी भी मत के मानने पर युक्त यही है कि घट आदि का जो बाह्य अस्तित्व है वह एक ही तत्त्व से है ॥९१-९२१/२॥

एतदेव हि युक्तं तु घटादेर्बाह्यमेकतः ।
कुड्यादिनिर्गताच्चैव योगिनां क्वापि दर्शनात् ॥९३॥
अग्रकव्यवधानादेरथ चेत् कार्यनाशिता ।
पदार्थवित्प्रक्रियया प्रक्रिया प्रक्रियैव सा ॥९४॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां च—

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः ॥' इति ।

तथैव **असौ** = वर्ण्यमाना पदार्थानाममूर्त्ततापि आत्मेच्छातः स्थितेत्युन्नेयम् ॥८९-९०॥

जगति = विश्वे, **मायीयत्व** = मायाया विकारत्वे, **प्राकृते** = प्रकृतितः सम्भूते, **अन्यथा** = परमाण्वादिजनिते वा । एतत्त्रयं क्रमशः वेदान्तसांख्यवैशेषिकाणां मतम् । तथापि **अमूर्त्तकारणैः** = मायादिभिः **योगात् तन्मूर्त्तत्वम्** = पदार्थानां मूर्त्तत्वम्, **निवार्यते** = न स्वीक्रियते । यद्यपि 'क्रियावत्त्वं मूर्त्तत्वम्' इति सिद्धान्तेन परमाणुषु क्रियासत्त्वात् तेषां मूर्त्तत्वं वर्त्तते तथापि सर्वसाधारणप्रत्यक्षविषयत्वाभावादत्र तेषाममूर्त्तत्वमुक्तम् । विश्वस्योत्पत्तिविषये मतान्तराण्याह—**अविद्यायोगत** इति । बौद्धमतानुसारेणैतत् । बौद्धा हि अविद्यया जगदुत्पत्तिं मन्यन्ते । **शाक्तरूपत्वतोऽपि वा** इत्यत्र शाक्तमतसंकेतः । **ज्ञानस्यापि बहीरूपे** इति विज्ञानवादिबौद्धमतम् । **शब्दरूपेऽपि वा** इति वैयाकरणानां शब्दविवर्त्तवादः । यत्किमपि मतमनुसृत्य विश्वस्योत्पत्तिं मनुतां भवान् **एतदेव हि** युक्तं यत्, यद् घटादीनामस्तित्वं प्रत्यक्षीक्रियते बाह्यं तत् **एकतः** = एकस्मादेव शिवतत्त्वात् ।

ननु परमशिवोऽमूर्त्तः, कथं तस्मादमूर्त्तादिदं मूर्त्तं जगदाविर्भवतीति चेत् ? तत्राह-

---

यदि आप यह कहें कि वह तत्त्व तो अमूर्त्त है फिर उससे यह बाह्य मूर्त्त जगत् कैसे उत्पन्न होता है ? तो उत्तर है कि व्यवहार जगत् में भी दीवाल आदि से उत्पन्न होने वाले योगियों का भी कहीं-कहीं प्रत्यक्ष होता है अतः जगत् की उत्पत्ति सन्देह का विषय नहीं । पुनः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष वर्त्तमान संसार का व्यवधान अर्थात् अप्रत्यक्ष होने से कार्य अथवा संसार का नाश होता है यह कैसे क्योंकि संसार को तो आप सिद्धान्ती नित्य परमात्मस्वरूप मानते हैं ? उत्तर है कि यह तो तत्तत्पदार्थवेत्ता अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप से पदार्थों के बारे में विचार करने वालों की प्रक्रिया से माना जाता है । लेकिन प्रक्रिया तो प्रक्रिया ही है वह यथार्थ परम सत्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्य तो एक है फिर उसके स्वरूप के बारे में भिन्न-भिन्न मत यथार्थ नहीं हो सकते ॥९३-९४॥

कार्यस्य नाशे तत्कार्यकार्ये तत्कार्यनाशिता।
क्षणलक्षाणि जायन्ते क्रमात् तत्तद्विनाशतः ॥९५॥
तथोत्पत्तौ क्षणानन्त्यमीश्वरेच्छावशादथ।
क्षण एको न चैवं तच्चेश्वरेच्छाविरोधकृत् ॥९६॥

कुड्यादीति। व्यावहारिकेऽपि जगति **योगिनः** = निरुद्धचित्तवृत्तिकस्यात एवालौकिकशक्तिमतः पुरुषस्य, **कुड्यादिनिर्गतात् दर्शनात्** = प्रत्यक्षात् नास्ति विचिकित्साऽवसरोऽमूर्त्ताज्जगतः प्रादुर्भावे ॥९१-९३॥

ननु **अग्रकव्यवधानादेः** = अग्रे वर्त्तमानस्य पदार्थजातस्वरूपजगतो यद् व्यवधानम् = अप्रत्यक्षत्वं तदादेः हेतोः **कार्यनाशिता** = संसारस्य विनाशः = प्रत्यक्षकार्याभावः इति कथम्, तस्य **एकतः** = नित्यादुत्पत्तेरिति चेत् ? तत्राह—**पदार्थविदिति**—एषा पुरोदृश्यमाना **कार्यनाशिता** पदार्थविदाम्=पृथग्दृष्ट्या पदार्थविचारणाविधातॄणां दार्शनिकानाम् **प्रक्रियया** = सिद्धान्तसरण्या वर्ण्यते। किन्तु **सा** = तैर्वर्णिता **प्रक्रिया प्रक्रियैव** न यथार्थतेत्यर्थः। यतो हि पदार्थानां याथार्थ्यमेकमेव तत्तु तेषां परमार्थतोऽनश्वरत्वम्। तेषां विषये वैमत्यं जल्पनामात्रमेव। कार्यनाशितास्वीकारे आपत्तिं दर्शयति—**कार्यस्येति**। **कार्यस्य** = घटादेः **नाशे**, जाते **तत्कार्यकार्ये** = प्रथमक्षणजायमाननिर्गुणघटोत्पत्तिरूपं यत् कार्यं तस्य कार्ये = तत्र द्वितीयक्षणे जायमाननीलपीतादिरूपोत्पत्तिस्वरूपकार्ये, **तत्कार्यनाशिता** = तस्य = घटादेः कार्यम् = नाशः घटव्यक्तेः, तत्प्रयोज्यनाशिता = घटव्यक्तिनाशप्रयोज्यनाशिता = घटरूपे भवति। एवमाश्रयाश्रयिनाशेषु क्रमात् **तत्तद्विनाशतः**=घटनाशे कपालद्वयम्, तन्नाशे कपालिकाचतुष्टयमित्येवंरूपेण क्रमशो द्व्यणुकस्य विनाशे परमाणुशेषतां यावत्, **क्षणलक्षाणि** = अनन्तक्षणानि **जायन्ते** = व्यतीयन्ति, इति कथं पदार्थानां क्षणिकत्वम् ?—इत्याक्षिप्तो बौद्धराद्धान्तः। पुनराक्षिपति—**तथोत्पत्ताविति**। यथा पदार्थनाशे, तथा पदार्थानामुत्पत्तावपि क्षणानन्त्यमित्यहो-

घटकार्य का नाश होने पर घटकार्य के कार्य घटरूप के विषय में घटनाश स्वरूपकार्य की प्रयोज्य नाशिता अर्थात् घटनाश से उत्पन्न होने वाली नाशिता होती है। इस प्रकार घटनाश से लेकर घटरूप के नाश तक तत् पदार्थों—घट घटरूप आदि, के नाश तक लाखों क्षण लग जाते हैं। इसी प्रकार घट की उत्पत्ति में भी आद्योपान्त लाखों क्षण लगते हैं। फिर आप-बौद्ध का क्षणिकवाद कैसे उचित माना जाय ? यदि यह कहिये कि ईश्वरेच्छा के कारण घटनाश घटोत्पत्ति आदि में एक ही क्षण मानेंगे तो ऐसा उचित नहीं क्योंकि यह मत ईश्वरेच्छा का विरोधी है। विश्व के समस्त पदार्थ जो कि लक्ष्य हैं एकक्षणावस्थायी हैं, उनकी

एकक्षणत्वं लक्ष्यस्य बहुकालस्य नार्हता ।
क्षणभङ्गान्न चैवं हि स निवार्य इहाग्रतः ॥९७॥
स्वशक्त्या घनरूपत्वे शिव आस्ते क्वचित्तथा ।
स्थितं सर्वममूर्त्तत्वे सर्वेषां समता स्फुटा ॥९८॥
सर्वज्ञत्वादशेषस्य तदहर्जातदारके ।
क्षीरादिके निगलनात् तदा कालेऽप्यशिक्षिते ॥९९॥

ऽविचारचातुर्यं बौद्धविदुषाम् ! न चेश्वरेच्छावशादेक एव क्षणः कार्योत्पत्ति-विनाशयोरस्त्विति वाच्यम्; तन्मतस्येश्वरेच्छाविरोधकारित्वेनायुक्तत्वात् । **लक्ष्यस्य** = पदार्थस्य = **एकक्षणत्वम्** = एकक्षणवर्त्तमानत्वम्, **बहुकालस्य** = पदार्थस्यानेकक्षणस्थितेः; **अर्हता न** = नास्ति; **क्षणभङ्गात्**=पदार्थानां द्वितीयक्षणविनाशित्वात् इति यद्भवतां मतं **न चैवम्** = तन्न । **सः** = क्षणभङ्गवादः । ननु तर्हि **'क्षणपरिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेः,** इति **योगसूत्रभाष्योक्तेः** किं स्वारस्यम् ? इति प्रश्ने परिणामो नाम नैव विनाशः किन्तु रूपान्तरता; सोऽपि न द्वितीयक्षणवृत्तिः अपि तु तृतीयक्षणे जायमानः । सेयं प्रवाहनित्यता प्रकृतिविकृतीनाम्; अन्यथा कूटस्थनित्यत्वे तु प्रकृतिविकृतेः, संसार एव न स्यात्—इत्यलमन्यथा विचारितेन; प्रकृतमनुसरामः । **शिव** एव **क्वचित्** = पदार्थे, **स्वशक्त्या** = विमर्शरूपया, **घनरूपत्वे** = स्थूलरूपेण, **आस्ते**; क्वचिच्च सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेणेति । **तथा** = तस्मात्, तेन प्रकारेण, **सर्वम्** = प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया वर्त्तमानं जगत्, **अमूर्त्तत्वे** = शैव्यां विमर्शस्वरूपायां मालिन्याम्, **स्थितम्** । तेन **सर्वेषाम्** = चराचराणां स्थूलसूक्ष्माणाम् **समता स्फुटा;** सर्वेषां शिवरूपत्वात् ॥९४–९८॥

परमतं निरस्य सर्वेषां च समत्वं संस्थाप्येदानीं केन रूपेण समत्वम् ?—इति जिज्ञासाप्रशमनाय सर्वज्ञत्वेन साम्यं विशदयति द्वादशश्लोकैः—**सर्वज्ञत्वादि**त्यादिभिः । **अशेषस्य** = निखिलविश्वप्रपञ्चस्य, **सर्वज्ञत्वात्** शिवमयत्वेनेति शेषः । तेन हेतुना **तदहर्जातदारके** = सद्योजाते शिशौ, **तदा** = तस्मिन् **अशिक्षितेऽपि-**

स्थिति में अनेक क्षणों की योग्यता नहीं है । क्योंकि पदार्थ क्षणभङ्गुर है ऐसा आप मानते हैं । किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । आगे क्षणभङ्ग का खण्डन किया जायगा । इसलिये यह मानिये कि शिव ही अपनी शक्ति से कहीं स्थूल रूप में रहता हैं । परमार्थतः समस्त जगत् अमूर्त शिव में स्थित है अतः सब की तुल्यता स्पष्ट है ॥९५-९८॥

चूंकि समस्त ब्रह्माण्ड सर्वज्ञ है इसी कारण सद्योजात शिशु जो कि दूध पीने की शिक्षा नहीं पाया है फिर भी दूध पीता है । माता के पेट में वर्त्तमान शिशु

उदरस्थस्य च ग्रासग्रहणान्मातुरन्तरे ।
अशिक्षितानां तरणात् प्राणिनां निम्नगाजलात् ॥१००॥
सर्वज्ञत्वे न किं सर्वे सर्वज्ञाः स्युः शरीरिणः ।
सर्व एव हि सर्वज्ञा मनःसंकल्पनावशात् ॥१०१॥
संकल्पकेन चित्तेन तत्तज्ज्ञानमसंशयम् ।
संकल्पानां च सत्यत्वं पुरस्तात् प्रतिपादितम् ॥१०२॥

काले, क्षीरादिके विषये **निगलनात्** = पानात् सर्वज्ञत्वं स्फुटम् । सर्वज्ञत्वे हेत्वन्तरमाह—**उदरस्थस्येति** । **मातुरन्तरे** = जननीकुक्ष्यभ्यन्तरे, **उदरस्थस्य** = गर्भस्थस्य शिशोः, **ग्रासग्रहणात्** = मात्राऽशितपीतादिजनितरसादानात् । यथोक्तं **गर्भोपनिषदि** = **"सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति (गर्भः) अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति । अथ मात्राशितपीतनाडीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते ।"** इति । अन्यच्च **अशिक्षितानाम्** = जडानाम्, **प्राणिनाम्** = महिषगोऽश्वादीनाम्, **निम्नगाजलात् तरणात्** उदाहरणात् **सर्वज्ञत्वे** सिद्धे **किं सर्वे शरीरिणः** आकृमेरा च महत्तमतिमीन्द्रं यावत् सर्वज्ञा न स्युः ? स्युरेवेति काक्वा योजनीयम् । स्वोक्तमेव द्रढयति—**सर्व एवेति । मनःसंकल्पनावशात् सर्व एव सर्वज्ञाः ।** नास्त्यत्र सन्देहलेश इति हीत्यनेन सूचितम् ॥९९–१०१॥

संकल्पस्य महत्त्वमुपदर्शयति—**संकल्पकेनेति** । संकल्पोऽस्यास्तीति संकल्पकः **'शेषाद्विभाषा'** (पा० सू० ५.४.१५४) इति कप् तेन, संकल्पवता दृढनिश्चयवतेत्यर्थः । **चित्तेन** = मनसा; **तत्तज्ज्ञानम्** = भिन्नभिन्नविषयाणां ज्ञानम्, असंशयं भवतीति शेषः । तथा च पातञ्जलयोगसूत्रम्—**'प्रातिभाद्वा सर्वम्'** (३.३३) **'प्रातिभं नाम तारकं तेन वा सर्वं जानाति योगी'**इति तद् भाष्यमपि !

माता के द्वारा खाये पीये अन्न जल के रस को ग्रहण करता है; कुत्ते गाय भैंस आदि अशिक्षित प्राणी भी नदी आदि पार कर जाते हैं इससे भी समस्त जगत् की सर्वज्ञता सिद्ध होती है ॥९९-१००॥

जब व्यापक परमात्मा शिव सर्वज्ञ है और संसारस्वरूप भी वही है तो क्या सभी शरीरधारी सर्वज्ञ नहीं होंगे ? अवश्य होंगे । मन के संकल्प के कारण सभी सर्वज्ञ हैं । चित्त यदि दृढ़निश्चय वाला है तो तत्तत् पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता ही है । संकल्प सत्य होते हैं यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है ॥१०१-१०२॥

सर्वभावग्रहणतायोग्यत्वाद्वा क्रमस्थितेः ।
प्रत्यक्षाद्यैरुपायैर्वा निरुपायतयाऽपि वा ॥१०३॥
तत्तद्रूढिवशाद्वापि सर्वज्ञत्वप्रवर्त्तनात् ।
सर्वे सर्वात्मभावेन सर्वज्ञा वा व्यवस्थिताः ॥१०४॥
सर्वे भावाः स्वमात्मानं जानन्तः सर्वतः स्थिताः ।
मदात्मना घटो वेत्ति वेद्म्यहं वा घटात्मना ॥१०५॥

संकल्पानां च सत्यत्वं पुरस्तात् = प्रथमाद्याह्निकेषु **प्रातिपादितम्** । अन्यान्यपि कारणान्यावेदयति सर्वज्ञत्वस्य—**सर्वभ**ावेत्यादिना । **क्रमस्थितेः** = क्षणतत्क्रमयोश्च ध्यानधारणासमाधिभिः, **सर्वभावग्रहणतायोग्यत्वात्** = अतीतानागतवर्त्तमानस्थूल-सूक्ष्मसकलपदार्थज्ञाने योग्यत्वमायाति । तथा च योगसूत्रम्—**'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्'** (३.५२) । योगजप्रत्यक्षाद्यैरुपायैः **: निरुपायतया** = आगमशास्त्रेषु वर्णितेनानुपायेन, **वा, तत्तद्रूढिवशात्** = गुरुपरम्परया; **वा सर्वज्ञत्व-प्रवर्त्तनात्** सर्वज्ञत्वं स्थिरमिति शेषः ॥१०२–१०३½॥

उक्तक्रमेण सर्वज्ञत्वस्यासम्भावनाकणिकामपि निरस्येदानीं निरसनफलमाह—**सर्वे** = पदार्थाः **सर्वज्ञाः** सन्तः **सर्वात्मभावेन व्यवस्थिताः** । सर्वज्ञानां सर्वात्मभावेन न केवलं स्थितिरेव, अपितु ते घटादय आत्मानमपि जानन्तस्तिष्ठन्ति; तदेवाह—**सर्वे भावा** इति । **मदात्मनेति** । सर्वात्मभावेनावस्थितेः स्वरूपं विशदयति–'अहं घटं जानामि' इति व्यावहारिके ज्ञाने परमार्थतो द्वयी स्थितिः **घटो मदात्मना वेत्ति अहं च घटात्मना वेद्मि** । अत्र ज्ञानविषयत्वं ज्ञानाधिकरणत्वं चोभयत्रेति लक्षितं ग्रन्थकर्त्रा । अतः परं सर्वस्य शिवात्मकत्वात् शिव एव ज्ञानकर्त्ता न तु कश्चिदन्य

सभी पदार्थों के ज्ञान की योग्यता प्राप्त होने से, क्षण और उनके क्रमों में संयम करने से, योगज प्रत्यक्ष आदि उपायों से, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में वर्णित अनुपाय से, अथवा गुरुपरम्परा के द्वारा सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है । अथवा यह कहिये कि सब कुछ सर्वात्मभाव के द्वारा सर्वज्ञ के रूप में स्थित है ॥१०३-१०४॥

सर्वत्र सभी पदार्थ अपने आपको जानते हुए स्थित हैं । घट मेरे रूप में अर्थात् ज्ञाता के रूप में स्वयं को जानता है । मैं अपने को घटरूप में समझता हूँ । मैं अपने को सदाशिव के रूप में जानता हूँ और सदाशिव अपने को मेरे रूप में जानते हैं । यज्ञदत्त अपने को शिव के रूप में और शिव अपने को यज्ञदत्तरूप से जानते हैं । घट अपने को सदाशिवरूप में और सदाशिव अपने को घटरूप में

सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना ।
शिवात्मना यज्ञदत्तो यज्ञदत्तात्मना शिवः ॥१०६॥
सदाशिवात्मना वेत्ति घटः स च घटात्मना ।
सर्वे सर्वात्मका भावाः सर्वसर्वस्वरूपतः ॥१०७॥
सर्वस्य सर्वमस्तीह नानाभावात्मरूपकैः ।
मद्रूपत्वं घटस्यास्ति ममास्ति घटरूपता ॥१०८॥
नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः ।
चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम् ॥१०९॥

इति निदर्शयति—**सदाशिवात्मनेति** । स एव देवदत्तयज्ञदत्तादिज्ञातृरूपेण घटपटादि ज्ञेयरूपेण कदाचित्, कदाचिच्च विपरीतरूपेण सर्वत्र सर्वं जानाति । **स च** = शिवश्च । सर्वस्य सर्वज्ञत्वं शिवमयत्वं च निर्वर्ण्याधुना सर्वस्य सर्वरूपत्वमुपवर्णयितुमुपक्रमते—**सर्व** इति । **सर्वे भावाः** = पदार्थाः **सर्वात्मकाः** । सर्वस्य तत्त्वं सर्वत्र वर्त्तते—इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—**सर्वसर्वस्वरूपत** इति । सर्वस्यापि पदार्थस्य सर्वपदार्थस्वरूपत्वात् । **सर्वस्य** = जडचेतनपदार्थस्य, **नानाभावात्मरूपकैः** = भिन्नभिन्नपदार्थस्वरूपेण, **सर्वमस्ति** = घटपटदेवदत्तादिकं सर्वं रूपमस्ति । एतदेवोदाहरणेन दर्शयति—**मद्रूपमिति** । घट इत्युपलक्षणं सकलपदार्थजातस्य । मदित्यपि सकलव्यक्त्युपलक्षणम् । उपसंहरति—**नानाभावैरिति** । **शिवः** कर्त्ता **स्वयम्** = अद्वितीयः, **नानाभावैः** = भिन्नस्वरूपैः करणैः, **स्वमात्मानम्** = कर्म, **जानन्नास्ते** = ज्ञानक्रियावानस्ति । एवं यदिदं विश्वं पुरोदृश्यमानं विचित्रतया राजमानमस्ति **नानाभेदभिन्नमनन्तकं** च, तदेतत् **चिद्व्यक्तिरूपकम्** = चितोऽभिव्यक्तिस्वरूपम् । तदेवोक्तं **क्षेमराजेन—चितिः स्वतन्त्रा विश्वसृष्टिहेतुः, 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' 'तन्नाना, अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्'** (प्र० हृ० सू० १.२.३) ।

इदानीं प्रकरणमुपसंहरन्नाह—**एवमिति** । **एवम्** = पूर्ववर्णनानुसारम्, **सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते** = सिद्धान्तिते; **सर्वं सर्वगतं शिवरूपं च** इति निरूपितमनेन प्रकरणेनेति शेषः । तदेवोक्तं—**स्पन्दनिर्णये**—

जानते है । सभी पदार्थ सभी पदार्थों के समस्त स्वरूप में वर्त्तमान है । नाना द्रव्य के रूप में सबका सब कुछ है । घट का रूप मेरा है, मेरा रूप घट का है । इस प्रकार शिव भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में अपने को जानते हुए स्थित है । यह अनेक भेदों से भिन्न अनन्त विश्व एक चित् शक्ति की अभिव्यक्तिमात्र है । इस प्रकार सभी पदार्थों में सबकी समता निश्चित होने पर यह मानिये कि सर्वत्र

एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते ।
तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम् ॥११०॥

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्गमात् ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥२.३॥
तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न या शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ २.४॥

इति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिकृतायां श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ पञ्चममाह्निकम् ।

शिव ही है। इसलिए सब कुछ जो सर्वत्र वर्त्तमान है शिवस्वरूप है यह बतलाया गया ॥१०५-११०॥

अथ षष्ठमाह्निकम्

अथ शक्तेः शक्तिमतो न भेदो द्रव्यकर्मवत् ।
स्थापितो द्रव्यतो भिन्ना क्रिया नो न च नास्ति सा ॥१॥
एवं तथा शक्तिमतः शक्तस्य समवस्थिता ।
जगद्विचित्रता शैवे न पुनर्दर्शनान्तरे ॥२॥
यथा प्रकल्पिता चित्रा चित्रब्रह्मादिवादिता ।
नानात्मवादितां यावत् तत्सर्वं प्रविचार्यताम् ॥३॥

वृत्तिः— चिदात्मा विश्वात्मा प्रथयति निजैश्वर्यवपुषा
जगन्नोपादानं विकसितनिजोल्लासविभवात् ।
न मिथ्या नो शून्यं प्रकृतिविकृतिर्वा न च परं
हृदिस्थं सत्यं, तं मुदितमनसा नौमि परमम् ॥

गताह्निके **"सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते सर्वगतं सर्वं शिवरूपम्'** इति व्यवस्थापयन् इच्छाज्ञानक्रियारूपाणां शक्तीनां शिवतत्त्वादभेदं प्रदर्श्य विश्वस्मिन्नस्मिन् कुत्रापि **'न जातु चिद् विभेदित्वम्'** इति संसाध्यास्मिन् षष्ठाह्निके अनेकेषां वेदान्तबौद्धादीनामात्मविषयकं क्षणिकत्वविषयकं च सिद्धान्तं निरस्यन् एकशिवतत्त्वस्य च सर्वत्र समदर्शनत्वं प्रतिपिपादयिषुरुपक्रमते—**अथेति । द्रव्यकर्मवदिति**-यथा न्यायवैशेषिकमते **'क्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्'** इति द्रव्यलक्षणे आश्रयाश्रयिणोर्द्रव्यक्रिययोर्भेदः प्रत्यक्षसिद्धस्तथा अत्र शैवे **शक्तेः शक्तिमतो भेदो न स्थापितः** = न साधितः । तथा चोक्तम्—**शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते'** इति (शि० दृ० ३.३) ननु परमत इवात्रापि द्रव्यक्रिययोर्भेदः स्यात् ?—इत्याशंक्याह—**द्रव्यतो भिन्ना क्रिया नो** = नास्तीत्यर्थः । न च तर्हि क्रियाया द्रव्यतोऽभिन्नत्वाद् द्रव्यस्यैव

चि०—यदि द्रव्य और कर्म के समान शक्ति का शक्तिमान् से भेद सिद्ध नहीं है तो द्रव्य से भिन्न क्रिया नहीं है; और ऐसा भी नहीं है कि क्रिया का अस्तित्व ही न हो ॥१॥

उसी प्रकार शक्तिमान् शक्त की जगद्विचित्रता शैवदर्शन में मानी गई है जब कि दूसरे दर्शनों में ऐसा नहीं हैं ॥२॥

जिस प्रकार विचित्र चित्रब्रह्मादिवादिता दूसरे दर्शनों में कल्पित है, वहाँ से लेकर नानात्मवाद तक सबके ऊपर विचार करना चाहिए ॥३॥

यत्र ब्रह्मोच्यते चित्रं कैश्चिद् वेदान्तवादिभिः ।
एकस्य चित्रता केन हेतुना ब्रह्मणो भवेत् ॥४॥
तथाविधा विभिन्नास्ते सर्वदा निजभावतः ।
विभिन्ना एव ते, नैक्यं मृत्पिण्डात् प्रागवस्थितेः ॥५॥

सत्ताऽङ्गीकरणीया न क्रियाया इति वाच्यम्; तत्सत्ताया अपि निःसन्दिग्धत्वात् । तदेवाह—**न च नास्ति सेति** । यथा शक्तिमतः शक्तेरभिन्नता तथैव **शक्तिमतः** अत एव **शक्तस्य जगद्विचित्रता** = जगत एकत्वेऽप्यनेकता, एकरूपत्वेऽप्यनेकरूपता, समत्वेऽपि विषमतादयः **शैवे** = शैवाद्वैतदर्शन एव, **समवस्थिता** = व्यवस्थिता सिद्धान्तितेत्यर्थः । **दर्शनान्तरे** = बौद्धवेदान्तादौ न । दर्शनान्तरेषु वेदान्तादिषु **यथा चित्रा** = नामरूपाभ्याम्; विचित्रा **चित्रब्रह्मादिवादिता** = चित्रं विचित्रम्—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

इति **कठोपनिषदोक्त**रीत्या,

'नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥'

इति **श्वेताश्वतरोक्त**नीत्या च, **ब्रह्म,** तदादौ यस्य, इत्थंभूतो यो **वादः** = सिद्धान्तः सोऽस्ति येषां ते चित्रब्रह्मादिवादिनः, तेषां भावः । तत आरभ्य, **नानात्मवादितां यावत्** = अनेकात्मवादपर्यन्तम्, **तत्सर्वम्** अस्मिन्नाह्निके प्रविचार्यताम् ॥१-३॥

कैश्चिद् वेदान्तवादिभिः = औपनिषदैः, **यत्र** = चरमतत्त्वचर्चासु, **ब्रह्म चित्रमुच्यते**—

"दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो .... ॥" इति

मुण्डकोक्तरीत्याऽप्राणत्वम्, तथा च **'अन्योऽन्यतर आत्मा प्राणमयः'** इति **तैत्तिरीयोपनिषदि** तस्यैव प्राणमयत्वमिति परस्परविरुद्धवर्णनेन ब्रह्मणश्चित्रत्वम् ।

जहाँ कुछ वेदान्तियो के अनुसार ब्रह्म विचित्र कहा जाता है, वहाँ यह बताइये कि एक ब्रह्म की विचित्रता किस कारण से होती है ? ॥४॥

यदि आपके मत में जगत् के समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में उस प्रकार भिन्न हैं तो वे हमेशा भिन्न ही रहेंगे । मृत्पिण्ड के पहले घटादि की स्थिति की

घटादीनां द्विरूपत्वं न घटादेः सदा स्थितेः ।
निमित्तकल्पना कल्प्या तर्ह्यविद्या तदुद्‌गमात् ॥६॥
भावा भवेयुस्तत्प्राप्ता ह्यस्माकं सर्वसत्यता ।
अविद्यादेरयोगश्चेत्तेनैतदतिरिक्तता ॥७॥

तत्रैकस्य **ब्रह्मण** श्चित्रता केन हेतुना **भवेद्**'। यदि **ते** = पदार्थाः, **तथाविधाः** = नामरूपादिभेदवन्तः सन्तः, **विभिन्नास्तदा** ते **निजभावतः** = स्वभावाद् हेतोः, **सर्वदा** भिन्नाः । उदाहरणेन तत्साधयति—**नैक्यमिति** । **मृत्पिडात् प्राक्** = कुम्भकारेण रासभादीनां सहायतयाऽऽनीतचूर्णमृदाया जलेन सम्मृद्य पिण्डनिर्माणात् प्राक् **घटादीनाम्** = मृत्पात्राणाम्, **ऐक्यं न**, मृत्पिण्डे एव घटादीनामैक्यं शक्यते वक्तुम् ततः पूर्वं यथाकथंचित् भिन्नत्वमेव । तेषां घटादीनां **द्विरूपत्वम्** = एकस्मिन्नेव मृत्पिण्डे अयं मृत्पिण्डः, अयं च घटः इति, अथवा एकस्मिन्नेव घटे, अयं घटः अयं च कपालः इति द्विरूपत्वम् वक्तुं न शक्यते । **घटादेराप्रध्वंसं सदास्थितेः** = शाश्वतं वर्त्तमानत्वात् । एवमेव ब्रह्मैकं चेन्न चित्रम् चित्रं चेन्नैकम् । ननु घटादीनां द्विरूपत्वे **निमित्तकल्पना** = अज्ञानाङ्गविकृत्यादिकल्पना कर्त्तव्या स्यात् इति चेत् ? **तर्हि कल्प्या स्यात्** । **तदुद्‌गमात्** = तत्कल्पनात्, **भावाः** = पदार्थाः अनेके विभिन्ना वा **भवेयुः**; **तत्** = तदा **अस्माकम्** = शैवमतावलम्बिनाम् मतस्य **सर्वसत्यता** = सर्वदा समीचीनत्वम्, **प्राप्ता** । अथवा **अस्माकं सर्वसत्यता** = सर्वं शिवमयमिति शिवस्य सत्यत्वात्सर्वेऽपि पदार्थाः सत्याः; ते भिन्ना वा भवेयुरभिन्ना वा नास्ति दोषलेशावसरः । यदि **अविद्यादेः**, आदिना माया तस्या पञ्चकञ्चुकादिकं च ग्राह्यम् तस्य, **अयोगः** = सम्बन्धाभावः, ब्रह्मणा परमेश्वरेण वा सह, **तेन** = तर्हि, **एतदतिरिक्तता** = एतस्या = अविद्याया अतिरिक्तता = ब्रह्मण अतिरिक्तपदार्थता स्वीकर्त्तव्या स्याद् भवन्मते घटादीनां ब्रह्मणो भिन्नत्वप्रतिपादनायेति द्वैतापत्तिः स्यात् ॥४–७॥

एकता नहीं रहती । और घट आदि का द्विरूपत्व भी नहीं है । क्योंकि उन घट आदि की ध्वंस के पहले तक स्थिति शाश्वत है । यदि यह कहिये कि द्विरूपत्व के लिये निमित्त की कल्पना कर लेंगे ? तो फिर अविद्या को मानना पड़ेगा । और अविद्या के उत्पन्न होने पर सारे पदार्थ उसी से उत्पन्न माने जायेंगे फिर हम शैवदर्शन वालों को सर्वसत्यता सिद्ध हो गई । यदि आप अविद्यादि का सम्बन्ध किसी के साथ नहीं मानेंगे तो यह एक अतिरिक्त स्वतंत्र पदार्थ सिद्ध हो जायगी और इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त के विपरीत द्वैतापत्ति हो जायगी ॥५-७॥

येऽन्ये वेदान्तविद्वांस आत्मब्रह्मैव विश्वताम् ।
यात्युपादानरूपत्वात् तथाऽन्ये भ्रान्तिरूपताम् ॥८॥
विश्वं न सत्यरूपत्वं तथाऽन्ये त्वात्मवादिनः ।
भूतजीवपरात्मत्वं ये चान्ये नेतिवादिनः ॥९॥

भेदाभेदवादिनो भास्कराचार्यस्य मतमुत्थापयति—येऽन्ये इति । अन्ये = भास्कराचार्याः, आत्मब्रह्मैव विश्वतां याति, ब्रह्मणो जगदुपादानरूपत्वात्[1] । **तथाऽन्ये भ्रान्तिरूपताम्** = एतदद्वैतवेदान्तस्य मतम् । यथोक्तम्—"**अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शरीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शरीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति,** (ब्र० सू० भा० २.१.१४) । तेषां मते विश्वस्य सत्यरूपत्वं नास्ति । उक्तं च—

"**श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।**
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ इति ।

उपनिषदुक्तं मतं कथयति—**तथान्ये** इति । **भूतजीवपरात्मत्वम्** = भूतानि पृथिव्यादीनि जीवाश्चान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं एतद्द्वयमपि परात्मस्वरूपं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । तथा च **तैतिरीये—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत; आकाशाद्वायुः; वायोरग्निः अग्नेरापः; अद्भ्य पृथिवी; पृथिव्या ओषधयः; ओषधीभ्योऽन्नम्; अन्नात् पुरुषः; अयमात्मा"** इति । औपनिषदमेव मतान्तरमुपन्यस्यति—**ये चान्ये** इति । **यस्यां प्रतीतौ नेत्यस्य प्रसरो न भवेत्** सा प्रतीतिः = प्रज्ञानमेव ब्रह्म । तथा च ऐतरेयोपनिषदि—**'संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति प्रज्ञानस्य नामधेयानि''''सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानं ब्रह्म'** इति । **स्फुलिङ्गात्मवादिन** इत्यादिना **मुण्डकोपनिषदुक्तं** मतं संकेतयति । तथा च तत्र—**तदेतत्सत्यम्**—

जो अन्यवेदान्त के विद्वान् यह कहते हैं कि आत्म ब्रह्म ही उपादानस्वरूप होने के कारण विश्वरूप हो जाता है । दूसरे लोग विश्व को भ्रमस्वरूप मानते हैं सत्यस्वरूप नहीं । कुछ लोग भूत और जीव को परमात्मा मानते हैं । दूसरे लोग नेतिवादी हैं उनके अनुसार जिस प्रतीति अर्थात् ज्ञान में 'न' का अवसर नहीं है

१. परमात्मा स्वमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास । स हि स्वेच्छया स्वमात्मानं लोकहितार्थं परिणामयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणामयति ।
—भास्करभाष्य १.४.२५.

यस्यां प्रतीतौ नेत्यस्य प्रसरो न प्रवर्त्तते।
तद् ब्रह्मेति वदन्त्येके ये स्फुलिङ्गात्मवादिनः ॥१०॥
प्रतिबिम्बतया चान्ये ये वा सर्गमुखे स्वयम्।
ब्रह्मैव गृह्णात्यात्मानं ततो भेदोपपादनम्। ११॥
इत्याहुर्येऽपि क्रीडार्थमेवमात्मा व्यवस्थितः।
इत्यूचुर्येऽप्रबुद्धत्वं पश्चाद् ब्रह्म प्रबुध्यते ॥१२॥

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ (२.१.१)

सर्गमुखे = सृष्टेः प्रारम्भे, स्वयं ब्रह्मैवात्मानं प्रतिबिम्बतया गृहणाति = जानाति। बिम्बमपि ब्रह्म प्रतिबिम्बमपि तत् तदेव च प्रतिबिम्बाधारोऽपि। तथा चोक्तं ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (१.१२)

'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इति व्याससूत्रभाष्येऽपि—'अत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमपा दीयते मोक्षशास्त्रेषु—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥' इति।

तदेवाह—ततो भेदोपपादनमिति। केचित्तु आत्मा = ब्रह्मेश्वरो वा एवम् = जगद्रूपेण, व्यवस्थितः = आत्मानमुपास्थापयद् इत्यूचुः = उक्तवन्तः। तथा च पारमर्षं सूत्रम्—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् इति। "यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति···एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति।···परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्, अपरि-

---

वही ब्रह्म हैं ऐसा वे लोग कहते हैं। कुछ लोग स्फुलिङ्गात्मवादी है। अन्य लोग प्रतिबिम्बात्मवादी हैं। उनका कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म ही अपना ज्ञान करता है अर्थात् अपने को अपने से पृथक् जानता हैं फिर भेद की उपपत्ति होती है ॥८-११॥

जो लोग यह कहते हैं कि आत्मस्वरूप ईश्वर क्रीडा के लिये इस प्रकार व्यवस्थित हुआ है। और जो लोग संसार को ब्रह्म का ही अप्रबुद्धत्व अर्थात् अज्ञान

देहे देहे पृथक्त्वे तु तथा भेदो भवात्मकः ।
जलधारांशुमन्यायो येषां वा समवस्थितः ॥१३॥
अविद्यां वेत्यविद्यैव बध्नात्यात्मानमेव वा ।
सैवेति वादो येषां वा तेषां वेदान्तवादिनाम् ॥१४॥
सर्वेषामप्यविद्यैव कल्प्या ब्रह्मणि संगता ।
तथा भावेष्वसत्यत्वमित्यवश्यमवस्थितम् ॥१५॥

मितशक्तित्वात्" इति तद्भाष्यमपि । (ब्र० सू० भा० २.१.३३) **गौडपादेनापि**—भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे । इत्युक्तम् (मां० का० १.९) । **ब्राह्मपुराणीयं** मतं दर्शयति—**येऽप्रबुद्धत्वमिति** । इदं जगत् **अप्रबुद्धत्वम्** = ब्रह्मणो ज्ञानाभावरूपम्; आत्मनैवात्मानमजानन् नानात्मरूपेण जगद्रूपेण वा तिष्ठतीत्यर्थः । **पश्चात्** = ज्ञानाभावे निरस्ते ज्ञाने जाते—इत्यर्थः, **ब्रह्म** = परमात्मा, **प्रबुध्यते** = आत्मनाऽऽत्मानं जानाति–**'अहं ब्रह्मास्मि'** इति । तेषामेव मते **देहे देहे** = प्रतिशरीरम्, **पृथक्त्वे** = जीवात्मनः पार्थक्ये योऽयं **भेदः** कुक्कुरशूकरकीटपतंगमानवदानवादिरूपः, स **भवात्मकः** = व्यावहारिकसत्तात्मकः अस्ति न तु पारमार्थिकः । **येषाम्** = तेषामेव **जलधारांशुमन्न्यायो समवस्थितः** । तथा च ब्राह्मपुराणे—

आकाशस्य घनीभावो नीलत्वं स्निग्धता तथा ।
एकश्च सूर्यो बहुधा जलधारेषु दृश्यते ॥
आभाति परमात्मापि सर्वोपाधिषु संस्थितः ।
द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या विकल्पो न च तत्तथा ॥
स्वमायया स्वमात्मानं मोहयेद् द्वैतरूपया ।
गुहागतं स्वमात्मानं लभते च स्वयं हरिम् ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतावपि—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् पृथक् ।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलधारेष्विवांशुमान् ॥
(३.१४४) इति ।

केषाञ्चिद् वेदान्तिनां मते **अविद्यैव अविद्यां वेत्ति बध्नाति वाऽऽत्मानम्** इति । इत्येतेषामुपर्युक्तानां सर्वेषां मते **अविद्या** = अज्ञानापरपर्यायवती माया **कल्प्यैव** =

मानते हैं। जैसे कि जलधारा में एक ही सूर्य अनेक दिखाई देता हैं। उसी प्रकार जिनके मन में प्रत्येक शरीर में आत्मा का पार्थक्य या भेद भवात्मक अर्थात् सांसारिक है या वे वेदान्ती जो यह कहते हैं कि अविद्या ही अविद्या को जानती है या अपने को बांधती है—इन सभी सिद्धान्तों में अविद्या की कल्पना करनी ही

पाञ्चरात्रविदश्चान्ये वदन्ति परिनिष्ठितम् ।
ब्रह्मास्ति वासुदेवाख्यं स एव जगदीश्वरः ॥१६॥
विद्याऽविद्ये द्वयं चास्य साधनं समवस्थितम् ।
अविद्यया जगत् कुर्याद् विद्यया मोक्षयेत् पशून् ॥१७॥

अवश्यमेव कल्पनीया स्यात्; तां विना तत्तन्मतस्याप्रसिद्धत्वात् । सा चाविद्या **ब्रह्मणि संगता** = नियतरूपेण वर्त्तमाना स्वीकृता । **तथा भावेषु** = पदार्थेषु **असत्यत्वम्** = मिथ्यात्वम्, **अवश्यमवस्थितम्** = अपरिहार्यरूपेण वर्त्तमानमस्ति ॥१४–१५॥

वेदान्तमतमुपस्थाप्यातःपरं पाञ्चरात्रमतमानयति—**पाञ्चरात्रविदश्चे**त्यादिना । तेषां मते **परिनिष्ठितम्** = सर्वतः परिपूर्णम्, वासुदेव इति आख्या = नाम यस्य तत् **वासुदेवाख्यं ब्रह्मास्ति; स एव जगदीश्वरः** जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्त्वादैश्वर्यं तस्य ।

तथा च **भागवते**—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥ (२.५.१४)

ब्रह्मसूत्रभाष्येऽपि उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणे—**तत्र भागवता मन्यन्ते**–

भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम्...।
तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम् ॥
इति (ब्र० सू० भा० २.२.४२)

अस्य = वासुदेवाख्यस्य ब्रह्मणः **च विद्याविद्ये द्वयं** साधनं, **समवस्थितम्** = निश्चितम् । स **अविद्या** = साधनेन **जगत् कुर्यात्**=संसारस्य सृष्टिं सृष्टिस्थितिविनाशं वा करोति । तथा च **भागवते**—

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वाऽनुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद् विभासि ॥ (४.९.७)

पड़ेगी तथा उसका ब्रह्म से सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा । तथा पदार्थों को अवश्य असत्य मानना पड़ेगा । इसी प्रकार पञ्चरात्र के विद्वान् कहते हैं कि चरम निष्कर्ष यह है कि जिसे अन्य लोग ब्रह्म कहते हैं वे वस्तुतः वासुदेव ही हैं । वही संसार के ईश्वर हैं । विद्या और अविद्या दोनों इनके साधन हैं । अविद्या के द्वारा वे संसार की रचना करते है तथा विद्या के द्वारा पशुओं (बद्ध जीवों) को मुक्त करते हैं ॥१२-१७॥

ताभ्यां न चास्योपरागः प्रबुद्धत्वात् प्रभुत्वतः ।
तथाऽन्येषां स्वात्मनैव विद्यया जगदात्मता ॥१८॥
न चाविद्या बाधिकाऽस्य यतः साधनमस्य सा ।
प्रोक्तं भगवतो वीर्येणेत्याद्यैस्तत्त्वदर्शनैः ॥१९॥

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्त्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥ (४.७.३९)

इति च । विद्यया च पशून् = पशुरूपजीवान् मोक्षयेत् । **श्वेताश्वतरेऽपि—**

'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥' (५.१)

क्षरं त्वविद्या क्षरणहेतुः = संसृतिकारणम् । **अमृतं तु विद्या** मोक्षहेतुः । **यस्तु** पुनर्विद्याविद्ये **ईशते** = नियमयति स ताभ्यामन्यस्तत्साक्षित्वात् ।' (५.१) इति तद्भाष्यमपि । तदेवाह—**ताभ्यामिति** । **अस्य** = वासुदेवस्य **ताभ्यां नोपरागः** = आसञ्जनमासक्तिर्न इत्यर्थः । तत्रानुपरागे हेतुद्वयमाह—**प्रबुद्धत्वात् प्रभुत्वत** इति । यतो हि ज्ञानवान् स प्रभुश्चानयोः; तयोः साधनत्वात्; साधनप्रयोगे च तत्प्रयोक्तुः कर्त्तुः स्वतन्त्रत्वात् । **तथा**=अथ च, **अन्येषाम्**=पशुकल्पानां जीवानाम्, **स्वात्मनैव**= आत्मस्थयैव=ब्रह्मवर्त्तिन्यैव, **विद्यया** = ज्ञानेन प्रबुद्धत्वेन । **जगदात्मता** = जगद्वर्त्तिनां देहपुत्रकलत्रादीनां विषये आत्माऽऽत्मीयभावः । अस्यां जगदात्मतायां **अस्य** = वासुदेवस्य, अविद्या न बाधिका, यतः सा अविद्या **अस्य** = वासुदेवस्य **साधनम्** = पशूनां जगदात्मत्वे सहायकम्, **प्रोक्तम्** । **अत एव** = यतोऽविद्या परमेश्वरस्य बाधिका न तस्मात्, अथवा परमेश्वरस्याविद्याद्वारा जगदात्मकत्वात् **भगवतः**, **वीर्येण** = ऐश्वर्येण **गीतासु** विश्वरूपत्वं **प्रदर्शितम्** । तथा च तत्र—

प्रभु होने के कारण तथा ज्ञानमय होने से विद्या और अविद्या के साथ उनका कोई उपराग नहीं है । जब कि अन्य बद्ध पशु उसकी अपनी विद्या के द्वारा अपने साथ संसार का तादात्म्य स्थापित करते हैं । चूंकि अविद्या ईश्वर का साधन है इसलिये वह उसकी बाधिका नहीं होती । इसीलिये प्राचीन तत्त्वदर्शियों के द्वारा गीता में भगवान् का विश्वरूपत्व उनकी महिमा के द्वारा दिखलाया गया है ॥१८-१९½॥

गीतासु विश्वरूपत्वमत एव प्रदर्शितम् ।
द्वयोरप्यनयोर्युक्तिः पक्षयोर्नोपपद्यते ॥२०॥
अविद्या वस्तुरूपा चेद्विद्यया साकमेकता ।
अवस्तु वा नह्यसत्यं सत्यरूपस्य साधनम् ॥२१॥
तथा जघन्यरूपायाः सम्बन्धोऽ[स्या] विरुध्यते ।
तथा जगत्समुत्पत्तौ निमित्तान्तरकल्पना ॥२२॥

'इहैकस्थं जगत्कृस्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥
एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ (११.७-९)

अनयोः = पूर्वोक्तयोः **द्वयोरपि** = वेदान्तपाञ्चरात्रविदोरपि पक्षयोः, **युक्तिः** = तर्कसंगतिः **नोपपद्यते** = न सिद्धयति ॥१६–२०॥

पूर्वप्रस्तुतामयुक्तिं स्पष्टयति—**अविद्येति** । नन्वविद्या वस्तुरूपा ? अवस्तुरूपा वा ? **वस्तुरूपा चेद्** विद्यया साकम् **एकता** = एकत्र स्थितिः कथम् ? तमःप्रकाशयोरिव तयोः परस्परं विरुद्धत्वात् । अयावस्तुरूपा चेत् ? तर्ह्यवस्तुत्वेनासत्यस्वरूपत्वात् सा **सत्यरूपस्य** = वासुदेवस्य कर्त्तुः विश्वस्य वा कर्मणः **साधनम्**—करणं कथम् ? **न ह्यसत्यं** सत्यस्य साधनं भवितुमर्हति । सम्बन्धासिद्धौ हेत्वन्तरमाह—**तथेति** । **जघन्यरूपायाः** = हेयरूपायाः, **अस्याः** = अविद्याया उपादेयेन भगवता **सम्बन्धः**=कर्त्त करणरूपः विरुध्यते; तुल्यकोटिकयोरेव द्वयोः सम्बन्धस्य युक्ततरत्वात्; न हि श्मशानाग्निः यागादिकार्यार्थं प्रयुज्यते । यदि जगत्करणायाविद्या साधनत्वेन न स्वीक्रियते तदा **जगत्समुत्पत्ते**र्विषये **निमित्तान्तरकल्पना** कर्त्तव्या स्यात् । अविद्यादेरसाधनत्वे तृतीयं हेतुमुपदर्शयति—**अविद्यादेरिति** । यद्यविद्या जगत्सृष्टेर्निमित्तं स्यात् तदा वेदान्तैः साम्यमागतम् । वेदान्ता अप्यविद्यामेव जगत्कारणं मन्यन्ते । तथा च **शाङ्करभाष्यम्—'मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदम्' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः । तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अवि-**

इन दोनों पक्षों का तर्क युक्तिसङ्गत नहीं है । यदि अविद्या वस्तुस्वरूप है तो विद्या के साथ उसकी एकता कैसे सम्भव है ? यदि अवस्तुरूप माने तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि असत्य अविद्या सत्यस्वरूप वासुदेव या विश्व का साधन नहीं हो सकती । फिर जघन्यरूप इस अविद्या का परमोत्कृष्ट के साथ सम्बन्ध भी विरुद्ध ही है । यदि सम्बन्ध नहीं मानते तो संसार की उत्पत्ति के लिये कारणान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी । और यदि अविद्या को कारण मानते हैं तो वेदान्तों के

अविद्यादेर्निमित्तत्वे वेदान्तैः साम्यमागतम् ।
पक्षे द्वितीये ताद्रूप्यं जडत्वादिह तस्य कः ॥२३॥
करोति विद्यासंयोगं तर्ह्यन्येश्वरकल्पना ।
आर्हतास्तु जिनो देवो जीवाः सन्ति पृथक् पृथक् ॥२४॥
प्रतिदेहं न विभवस्ते प्रबुद्धास्तु तन्मयाः ।
इत्येवमाहुस्तेषामप्यविद्यायोगकल्पनम् ॥२५॥
स्वाविद्याप्रक्षयादर्हन् देवो भवति निश्चितम् ।
येषां देवो निराकारः शून्य एव किमुच्यते ॥२६॥

ह्येति मन्यन्ते ।' इति (१.१.१) । **द्वितीये पक्षे** = अविद्यादेरुपादानत्वे तस्याश्च परिणामरूपे संसारे, **ताद्रूप्यम्** = अविद्यारूपत्वं संसारस्य, इति । **इह**=संसारे, सर्वस्य संसारस्य **जडत्वात् तस्य** = जीवस्य कः विद्यासंयोगं करोति ? जडातिरिक्तस्य कस्यापि चैतनस्यासत्त्वात्; संयोगस्य च चेतनकर्तृकत्वात् न जीवस्य विद्यया संयोगः सम्भवति, ततश्च जीवस्याविद्यातो मुक्तिरेव न स्यादित्याक्षेप्तुराशयः । **अथवाऽन्येश्वरकल्पना** कर्त्तव्या स्यात् ॥२१–२३$\frac{1}{2}$॥

आर्हन्मतं चिखण्डयिषुराक्रमते—**आर्हतास्त्विति** । तेषां मते **जिनः** = जैनधर्मप्रवर्त्तकः पार्श्वनाथः, **देवः** = परमात्मा; **जीवाश्च पृथक् पृथक्** = अनेके सन्ति । **प्रतिदेहम्** = प्रतिशरीरं **न विभवः** = जीवा व्यापका न, जिनत्वरूपं वैभवं व्यापकत्वं वाऽऽत्मनः न शक्यते निगदितुम् । किन्तु यदा **ते** = जीवाः, **प्रबुद्धाः** = संवरनिर्जराभ्यामास्रवस्यैकान्तिकात्यन्तिकनाशे सति ज्ञानवन्तो मोक्षमनुभवन्त इत्यर्थः सन्ति तदा, **तन्मयाः** = सिद्धशिलायामनन्ताय वसन्तः तन्मयत्वं लभन्ते, **अर्हन्मया** वा भवन्ति । **इत्येवमाहुः** = कथयन्ति । **तेषामप्यविद्यायोगकल्पनम्** = जीवा अविद्या

साथ आपके मत का साम्य हो जाता है । और दूसरे पक्ष में विश्व के जड होने के नाते उस विश्व का विद्या के साथ संयोग कौन कराता है ? इस संयोग के लिये पृथक् ईश्वर की कल्पना करनी पड़ेगी ॥२०-२३$\frac{1}{2}$॥

जैनदर्शन वालों का कहना है कि तीर्थङ्कर ही देव हैं । सभी जीवात्मायें भिन्न हैं । उनके मतानुसार प्रत्येक शरीर में जीवात्मायें व्यापक अर्थात् परममहत् परिमाण की नहीं हैं; हां इतना है कि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद जीवात्मा जिनत्व प्राप्त कर सकती है । यह उनका सिद्धान्त है । उनके मत में भी अविद्या का संसार या जीव से सम्बन्ध माना गया है । अपनी अविद्या का पूर्णक्षय होने के बाद जिन निश्चित रूप से देव अर्थात् ईश्वर के तुल्य हो जाते हैं । फिर जिनके मत में देव निराकार शून्य हैं उनके मत का क्या कहना ॥२४-२६॥

ये सांख्या आत्मस्वातन्त्र्यवादिनो येऽप्यनीश्वराः ।
तत्राप्यस्त्यविवेकाख्यो मलो बन्धविमोक्षता ॥२७॥
पृथक्त्वमीश्वरस्यास्ति सर्वात्मभ्यः पृथक् कुतः ।
न्यायवैशेषिकाणां तु बन्धमोक्षौ पृथक्स्थिती ॥२८॥
प्रकृत्यादीश्वरत्वेन सर्वदैव तदात्मता ।
संवित्तिशून्यब्रह्मत्ववादिनां जडतैव सा ॥२९॥

युक्ता अनादिकालादिति तैरप्यवश्यं मन्तव्यं भवति । स्वस्य, स्वस्मिन् वा वर्त्तमाना, अविद्या स्वाविद्या; तस्याः **प्रक्षयात्** = निःशेषेण नष्टत्वात्, **अर्हन्**, **देवः** = ईश्वर-तुल्यो भवति । अथवा जीवः स्वाविद्याप्रक्षयात् अर्हन् चासौ देवः सः, तत्तुल्यो, वा भवति । **येषाम्** = बौद्धानां शून्यवादिनाम्, **देवः** = ईश्वरः, **निराकारः शून्य एव** तेषां **किमुच्यते** = किं वक्तव्यम् ? न किमपीत्यर्थः ॥२४–२६॥

निरीश्वरसांख्यमतमाक्षिपति—**ये सांख्या** इति । तेषां मते आत्मा **पुरुषो** वा स्वतन्त्रः; यथोक्तमीश्वरकृष्णेन—**'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्'** तद्विपरीतः = सावयवं परतन्त्रमित्याद्युक्तिविपरीतः, स्वतन्त्रः । **अनीश्वराः** = प्रकृतिपुरुषातिरिक्तं तृतीयमीश्वरतत्त्वमस्वीकुर्वाणाः । **तत्रापि** = तेषामपि मते **अविवेकः** = बुद्धिपुरुषान्य-ताऽज्ञानं सत्त्वपुरुषान्यताऽख्यातिर्वा, स एव **आख्या** = संज्ञा यस्य सः तादृशः **मलः**= अविद्या वाऽस्ति । तेन तत्रापि **बन्धविमोक्षता** = बन्धमोक्षौ स्तः । न्यायवैशेषिकमत-मालोचयति—**पृथक्त्वमिति** । तेषां मते ईश्वरः पृथक्तत्त्वम् । तथा च **न्यायकुसु-माञ्जलौ उदयनः**—

'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥' (५.१)

स चायमीश्वरः, **सर्वात्मभ्यः**=सर्वजीवेभ्यः, पृथग् अस्ति **कुतः**=कस्मात् कारणात् । सोऽपि शरीरिवत् कार्यादिकरणात् साधारणात् साधारणजीव इव कथं न स्वीक्रियेत भवद्भिः ? नारदसंग्रहमनुसृत्य मतान्तरं पुरस्कुरुते—**प्रकृत्यादीश्वरत्वेनेति** । प्रकृते-रारभ्येश्वरतत्त्वपर्यन्तं ते **सर्वदैव** = शाश्वतम्, **तदात्मता** = ईश्वरात्मता, तामेव

जो सांख्यमत वाले आत्मा को स्वतन्त्र मानते हैं उनमें भी जो निरीश्वर सांख्यवादी हैं उनके मत में भी अविवेक नामक मल है ही । बन्धमोक्ष उनके यहाँ भी है । न्यायवैशेषिक मत में यदि ईश्वर समस्त आत्माओं से पृथक् है तो ऐसा क्यों ? यह प्रश्न हमेशा उपस्थित है । बन्ध और मोक्ष की ईश्वर से अलग स्थिति है । प्रकृति से लेकर ईश्वर तक सबको वे लोग ईश्वरात्मक मानते हैं । ब्रह्म को ज्ञान से शून्य मानने वालों के मत में वह संवित्तिशून्यता जडता ही तो है ।

वदन्ति ते हि सकलमेतन्नारदसंग्रहात् ।
कालकारणिकानां तु नामता जडताऽथवा ॥३०॥
अव्याप्तिरन्तःकृत्यादेर्भवेत्षड्धामवादिनाम् ।
तत्र चित्पक्षपातश्चेत् प्राप्नुयात् सततं ग्रहः ॥३१॥

स्वीकुर्वन्ति । तेषां मते ब्रह्म संवित्तिशून्यमस्ति । यद्येवं तर्हि **सा** = संवित्तिशून्यता, संवित्तिशून्यब्रह्मवादिता वा **जडतैव** = चैतन्यराहित्यमेव । एवं च सकलमपि जगज्जडमेव स्यात् । **नारदसंग्रहो** ग्रन्थविशेषः । ये तु कालमेव जगत्कारणं मन्वते यथा माण्डूक्यकारिकायाम्—**कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ।** इति (मा० का० १.८) तेषां मते जगदिदं नामस्वरूपं जडं वा प्रसज्येत ॥२७–३०॥

अथागममतमुपन्यस्यति–**अव्याप्तिरिति** । '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' इति पातंजलयोगसूत्रे मन्त्रजपेन सह मन्त्रार्थभावनाप्यावश्यिकी । आगमविदः कथयन्ति-जपेन साकं मन्त्रावयवसमूहे षट्शून्यानां भावना कर्त्तव्या । तेषु पञ्चानां शून्यानां नैजं पृथङ्मण्डलाकारं वर्णवैचित्र्यमयं रूपमस्ति । षष्ठं तु नीरूपं महाशून्यम् । प्रणवस्य बीजमन्त्रस्य वा प्रथमत्रयोऽवयवा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां द्योतकाः । तदूर्ध्वं ये ये सूक्ष्मतरा अवयवास्ते सर्व एव तुरीयायास्तुरीयातीताया वाऽवस्थायाः द्योतकाः । तेषां संख्या द्वादश—बिन्दुः, अर्धचन्द्रः, रोधिनी, नादः, नादान्तः, शक्तिः, व्यापिनी, समना उन्मना चेति । जाग्रदवयवादारभ्योन्मनां यावद् द्वादशावयवा भवन्ति । एतेषु प्रतिद्वितीयं शून्यत्वेन भावयेत् । तदित्थं द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशाश्चेति षडवयवाः शून्यपदवाच्याः । तत्र प्रथमपञ्चावयवा अवान्तरशून्यं षष्ठश्च महाशून्यम् । एतान्येव षड्धामानि, तद्वादिनाम् मते, **अन्तःकृत्यादेः** = रागद्वेषादेः **अव्याप्तिः;** जपद्वारोत्पन्नशुद्धिसत्त्वात् । ततो निरर्थिका भावनेति तात्पर्यम् । ननु तत्र **चितः** =

ये सब बातें वे नारदसंग्रह के आधार पर कहते हैं। काल को जगत् का कारण मानने वालों के मत में संसार या तो केवल नाममात्र होगा या जड़ होगा ॥२७-३०॥

शक्तिसाधना करने वाले षड्धामवादी हैं। उनके अनुसार अन्तःकृत्य आदि की अव्याप्ति प्राप्त होती है। यदि आप वहाँ चित् का पक्षपात अर्थात् ज्ञान की सत्ता मानते हैं तो सबको सबका ज्ञान हमेशा होना चाहिये। स्वर्ग को ही मुक्ति मानने वालों के मत में भी बन्धमोक्ष व्यवस्थित है; अर्थात् उन्हें भी बन्धमोक्ष की भिन्नता स्वीकारनी पड़ती है जब कि हमारे मत में ऐसा नहीं है। जो बाह्य सत्ता को मानने वाले वैभाषिक बौद्ध हैं वे तो भेदवाद को ही मान रहे हैं क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त वे बाह्य जगत् को भी सत्य मानते हैं। और विज्ञानवादी बौद्धों के

स्वर्गमुक्तिवादिनां तु बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ।
ये बाह्यवादिनो बौद्धास्ते भेदं समुपाश्रिताः ॥३२॥
विज्ञानवादिनां ज्ञानं सत्यं प्रत्येत्यसत्यताम्।
बहिः, कथं नह्यसत्यं सत्याद् भवितुमर्हति ॥३३॥
कामिनां कथमेतच्चेदुक्ता प्रागस्य सत्यता।
ज्ञानस्य करणत्वेन कर्त्रपेक्षा प्रसज्यते ॥३४॥

ज्ञानस्य पक्षपातः=सत्ता, तेन रागादयः स्युरेवेति नानर्थक्यं भावनाया इति चेत् ? न; तथा सति **ग्रहस्य**=ज्ञानस्य बन्धस्य वा सततप्राप्तेर्मोक्षस्याशक्यत्वात्। ये च स्वर्गमेव मुक्तिं मन्यन्ते तेषां मते **बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ**=स्थिरौ क्रमेण परिवर्त्तमानावित्यर्थः। तथा हि—स्वर्गः पुण्यकर्मजनितसुखविशेषः। **'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति'** इति **गीतो**क्त्यनुसारं स्वर्गभोगानन्तरं मृत्युलोकप्रवेशे सति बन्धताया अपरिहार्यत्वम्! चतुर्विधेषु बौद्धमतावलम्बिषु **ये बौद्धा बाह्यवादिनः** = वैभाषिकाः **ते भेदं समुपाश्रिताः** = विज्ञानेन सह बहिर्दृश्यमानजगतोऽपि सत्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति। तत्रैव **विज्ञानवादिनां** मते **सत्यं ज्ञानं बहिः** = बाह्यं जगद्रूपेण **असत्यतां प्रत्येति**। सत्यं ज्ञानमसत्यस्वरूपेण बहिर्जगदाकारेण भासते। तथा चोक्तं **प्रमाणवार्त्तिके**—

'दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहात् तद्ग्रहे ग्रहात्।
दर्शनं नीलनिर्भासं; नार्थो बाह्योऽस्ति केवलम् ॥ (२.३३५)

ननु **कथमेतत्** ? नहि असत्यं सत्याद् **भवितुम्** = उत्पत्तुम्, **अर्हति** ? न च स्वाप्नदोषादौ स्वप्ने कामिनीदर्शनकाले तेषां कामिनां **एतत्** = असत्यात् कामिनीदर्शनात् सत्यस्य वीर्यपातादेरुत्पत्तिः कथं भवतीति वाच्यम्; तत्सत्यत्वस्य प्रागुक्तत्वात्। तदेवाह—**अस्य**=कामिकाण्डस्य **सत्यता प्राक्** = व्यावहारिके जगति, **उक्ता**=अनुभूता। तस्मादत्र सत्यादेव सत्योत्पत्तिरिति ॥३१–३३½॥

अधुना सविस्तरं बौद्धसम्मतक्षणभङ्गवादमुत्थापयति सोपक्रमम्—**ज्ञानस्येति**।

मत में ज्ञान सत्य है फिर वह बाह्य असत्यता को भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ रज्जुसर्पस्थल में सर्पज्ञान उत्तरकाल में असत्य हो जाता है। प्रश्न है कि यह कैसे होता है ? सत्य से असत्य तो कभी नहीं पैदा हो सकता ? उत्तर है कि होता है, नहीं तो यह बताइये कि स्वाप्न दोष आदि के समय कामी पुरुषों को असत्य सत्य कैसे भासित होता है ? जैसे स्वाप्न जगत् में कामीकाण्ड की सत्यता है उसी प्रकार व्यवहारजगत् में असत्य प्रतीत होने वाले पदार्थ की परमार्थजगत् में सत्यता है ॥३१–३३½॥

यदि आप ज्ञान को करण मानते हैं तो कर्त्ता की अपेक्षा होती है : यदि

कर्त्तृत्वे ज्ञप्तिमात्रत्वे आकांक्षा करणे भवेत् ।
द्विरूपत्वे विरुद्धत्वसक्रमत्वं प्रवर्त्तते ॥३५॥
अक्रमत्वेऽस्मन्मतत्वं तदैक्यं परिनिष्ठया ।
न चापि, क्षणभङ्गित्वे युक्ता वैनाशिकी स्थितिः ॥३६॥
अहं वेद्मि स मां वेत्ति न कर्त्तृकरणादिता ।
ज्ञानस्यैक क्षणे युक्ता, तद्‌द्वित्वेन क्षणक्षयः ॥३७॥

भवदभिमतं विज्ञानं करणं भवितुमर्हति कर्त्ता वा । तद् यदि करणम्, तदा तस्य **ज्ञानस्य** करणत्वेन कर्त्तुरपेक्षा **प्रसज्यते** = भवति । तदा ब्रवीतु भवानेव कः कर्त्ता ? यतो हि ज्ञानमतिरिच्य न किमप्यन्यत् स्वीक्रियते श्रीमता ? **ज्ञप्तिमात्रत्वे**= ज्ञानमात्रे, **कर्त्तृत्वे** = कर्त्तृ सर्वं इति स्वीकारे **करणे आकाङ्क्षा** भवेत् । तच्च न लभ्यते; पूर्वोक्तहेतुत्वात् । ज्ञानस्य **द्विरूपत्वे** = कर्त्तृत्वे करणत्वे च **विरुद्धत्व-सक्रमत्वम्** = विरुद्धत्वं कर्त्तृकरणयोः; एकस्यामेव व्यक्तावेकसत्त्वेऽपरस्यासत्त्वात्; सक्रमत्वं चादौ कर्त्तृत्वं पश्चात्करणत्वमित्येवंरूपम्, इत्यापत्तिद्वयं प्रवर्त्तते । सक्रमत्वे च विज्ञानस्य द्वितीयक्षणसत्त्वं प्राप्नोतीति खण्डितं भवन्मतम् । कर्त्तृत्वकरणत्वयो-**रक्रमत्वे**ऽस्मन्मतं प्राप्तम् । तथा चाहुः—पश्यन्तीसदाशिवतत्त्वयोरैक्यवर्णने ।

सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम् ।
ब्रह्मतत्त्वं पराकाष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥ (शि० दृ० २.५)

परिनिष्ठया = परमार्थतस्तु **तदैक्यम्** = कर्त्तृकरणयोरैक्यं स्वीकरणीयमेव स्यादिति शेषः । दोषान्तरमाह—**न चापीति** । **क्षणभङ्गित्वे** = ज्ञानस्य क्षणिकत्वे **वैनाशिकी** = नश्वरा, **स्थितिः** = सत्ता, **न युक्ता** = असङ्गता नश्वरत्वं सत्त्वं च सहैव वर्त्तेतामिति सर्वथाऽसङ्गतमित्यर्थः । 'अहं वेद्मि' इत्यत्रास्मत्कर्त्तृत्वात्मकस्य 'स मां वेत्ति' इत्यत्रास्मत्कर्मत्वात्मकस्य ज्ञानस्य **कर्त्तृकरणादिता**, आदिना कर्मत्वं

ज्ञान को ही कर्त्ता मान लें तो करण के विषय में आकांक्षा होती है । दोनों मानने पर परस्परविरुद्धत्व दोष आता है । फलतः सक्रमत्व मानना ही पड़ता है । यदि आप क्रम नहीं मानेंगे और ज्ञान को एक ही काल में करण तथा कर्त्ता दोनों मान लेंगे तो हमारा ही मत उपस्थित हो रहा है । और अन्त में आपको एकत्व मानना ही पड़ रहा है । क्षणभङ्गवाद मानने पर विनाशयुक्त सत्ता युक्तिसंगत नहीं है । 'मैं जानता हूँ'; 'वह मुझको जानता है ।' इसमें कर्त्ता और करण आदि का ज्ञान एक ही क्षण की सत्ता में होना सम्भव नहीं है । अतः यदि दूसरे क्षण में भी ज्ञान की सत्ता मानियेगा तो यह सम्भव नहीं; क्योंकि तब आपका क्षणभङ्गवाद ही नष्ट हो जायगा ॥३४–३७॥

विभागकालग्रहणकालयोर्भिन्नकालता ।
विनष्टत्वात् फलं कस्य क्रमात् कर्मफले यतः ॥३८॥
भेदवानिति लक्ष्यत्वे दृष्टान्तोऽस्ति न तादृशः ।
"ग्राह्यग्राहक संवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते" ॥३९॥
न च शुद्धस्य बाह्यार्थाभासता चेदविद्यया ।
वासनारूपया, शुद्धे नाशुद्धा वासना भवेत् ॥४०॥

ग्राह्यम्, **एकक्षणे न युक्ता**; असम्भवात् । **तद्द्वित्वेन**=क्षणद्वित्वेन कर्तृकरणादिज्ञानस्य क्षणद्वयावस्थितत्वेन, **क्षणक्षयः** = क्षणभङ्गवादभङ्गः स्यादिति शेषः ॥३४–३७॥

विभागकालेति—एकविज्ञानस्यापरविज्ञानाद् विभागोत्पत्तौ यः कालः तद्विभागस्य च ज्ञानकालः तयोर्द्वयोः कालयोर्भिन्नकालता; द्वयोः कालौ भिन्नौ इत्यर्थः । किञ्चिद्विज्ञानं विभागकर्तृ किञ्चिच्च विभागज्ञातृ, ते च क्रमश उत्पत्तिमती, इति यदा विभागकर्तृज्ञानं नष्टं तदा विभागज्ञानं कस्य स्यात् कर्मकर्तुर्ज्ञानस्य **विनष्टत्वात्** ? कर्मफलयोश्च पूर्वापरभावित्वात् ? तदेवाह—**क्रमात् कर्मफले यत** इति । ननु अर्थग्रहो **भेदवान्** स्यात् इति **लक्ष्यत्वे** = मत्कथनस्य तात्पर्ये, का हानि ?–तत्राह—**दृष्टान्तोऽस्ति न तादृशः** इति । योगाचारनये तथाभूतमुदाहरणं नास्ति । ननु कथं भेदबुद्धिर्व्यावहारिके जगति ?–तत्राह—**ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते**ऽर्थग्रहो न तु यथार्थः । तथा चोक्तं **धर्मकीर्तिना**—

'ऽर्थग्रहः कथम् ? सत्यं न जानेऽहमपीदृशम् ॥
अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

(प्र० वा० २.३५३-५४) इति ।

एक विज्ञान का दूसरे विज्ञान से विभाग का काल और उसके ज्ञान का काल इन दोनों में भिन्नकालता है अर्थात् दोनो का काल भिन्न है। फिर कर्म करने वाला विज्ञान जब नष्ट हो गया तो फल किस विज्ञान को मिलेगा क्यों कि कर्म और फल दोनो क्रम से होते हैं । यदि यह कहिये कि अर्थज्ञान स्वतः भेदवान् है अर्थात् एक ही विज्ञान अर्थज्ञान का कर्त्ता भी है ओर कर्म भी, पर भिन्न सा दिखाई देता है । वही लक्ष्य है । तब कहते हैं कि ऐसा तो दृष्टान्त ही नहीं मिलता । ग्राह्य और ग्राहक की संवित्ति के कारण अर्थग्रह भिन्न प्रतीत होता है । प्रश्न है कि शुद्ध विज्ञान तो बाह्य पदार्थ के रूप में भासित नहीं हो सकता ? यदि यह कहिये कि वासनारूप अविद्या के कारण हो सकता है तों यह कथन अनुचित है क्यों कि शुद्ध आलयविज्ञान में अशुद्ध वासना हो नहीं सकती ॥३८–४०॥

नेत्रादिव्यापृतेः पूर्वं घटं पश्यामि तादृशी ।
जायते प्रथमैवेच्छा नामाजातस्य यादृशी ॥४१॥
ज्ञानात् पूर्वमिच्छाजाते ज्ञातृकल्पनमुज्ज्वलम् ।
न घटो निर्विशेषोऽस्ति ग्रहे यज्ज्ञातृशुद्धता ॥४२॥
उत्पत्तिकाले स्वात्मानं किमादौ वेत्ति वा बहिः ।
प्रतिभासस्य वैचित्र्याद्युगपद ग्रहणं कथम् ॥४३॥

ननु **वासनारूपया अविद्यया शुद्धस्य** = आलयविज्ञानस्य बाह्यार्थभासता स्यात् न तु वास्तविकी सेति चेत् ? न; शुद्धे विज्ञानेऽशुद्धवासनासत्त्वस्यासम्भवात् । तदेवाह— **शुद्धे नाशुद्धा वासना भवेदिति** । उपर्युक्तालयविज्ञानस्य शुद्धतामाक्षिपति सिद्धान्ती— **नेत्रादिव्यापृतेरित्यादिना** । **अजातस्य** = अनुत्पन्नस्य शिशोर्नामकरणादिविषये **यादृशी** = यथा, मातापित्रोरिच्छा जायते 'जनिष्यमाणः पुत्रश्चेदिदं नाम भविष्यति पुत्री चेदिदम्' इति तथैव, **नेत्रादिव्यापृतेः** = चक्षुषा घटादिसन्निकर्षरूपव्यापारात्, **पूर्वम्** = प्राक्, **'घटं पश्यामि'** इत्येतादृशी=एवंरूपा **प्रथमैवेच्छा** जायत इति लोकप्रसिद्धिः । **ज्ञानात् पूर्वम्** = घटादिज्ञानात् प्राक्, **इच्छाजाते** = एषणासमूहे, उत्पन्ने **ज्ञातृकल्पनम्** = ग्रहीतृकल्पना **उज्ज्वलम्** = सन्देहलेशशून्यं सर्वथा स्वाभाविकमित्यर्थः । इच्छानन्तरं यदा घटज्ञानं जायते तदा **घटः, निर्विशेषः** = नामजात्यादियोजनारहितः, **नास्ति** = न वर्त्तते येन **ग्रहे** = घटज्ञाने, **ज्ञातृशुद्धता** = आलयविज्ञानशुद्धता स्यात् ॥३८-४२ ॥

प्रकारान्तरेण क्षणभङ्गमाक्षिपति—**उत्पत्तिकाल** इति । नन्वालयविज्ञान**मुत्पत्तिकाले, आदौ** = प्रथमम्, **स्वात्मानम्** = 'अहमित्याकारेण स्वम्, **वेत्ति** = जानाति किम् ? **वा** = आहोस्वित्, **बहिः** = बाह्यार्थान् घटादीन् ? न चैकस्मिन्नेव क्षणे स्वं बाह्यपदार्थांश्च युगपदेव जानात्यालयविज्ञानमिति वाच्यम्; **प्रतिभा-**

जिस प्रकार अनुत्पन्न शिशु या पदार्थ के विषय में नामविषयिणी इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार नेत्र आदि के व्यापार के पूर्व 'घटं पश्यामि' ऐसी इच्छा पहले उत्पन्न होती है । किसी विषय के ज्ञान के पूर्व इच्छासमूह के उत्पन्न होने पर ज्ञाता की कल्पना करना यथार्थ हैं । घट निर्विशेष कभी नहीं रहता जिससे कि ज्ञान के समय आलयविज्ञान शुद्ध हो । अतः अपका विज्ञानवाद समीचीन नहीं हैं ॥४१–४२॥

इसके अतिरिक्त यह बताइये कि आलयविज्ञान उत्पत्तिकाल में पहले अपने को जानता है या प्रवृत्तिविज्ञानरूप बाह्य जगत् को ? यदि यह कहें कि दोनों को युगपत् जानता है तो आत्मविषयक और बाह्यविषयक ज्ञानों के विलक्षण होने

क्रमेण वा परिच्छेदे क्षणान्तरमवस्थितिः ।
दृष्ट्वा तां सम्परिच्छेदे क्षणद्वैधमथोच्यते ॥४४॥
उत्पद्यमाने विज्ञाने नार्थनिष्पन्नता मता ।
न चार्थजातेऽवस्तुत्वं नावस्तुग्रहणादरः ॥४५॥
प्रकाशमप्रकाशं वा ज्ञानं तस्य प्रकाशते ।
विद्यारूपादनाशित्वं न हि तत्त्वं विनश्वरम् ॥४६॥

सत्र = ज्ञानात्मकक्रियाफलस्य **वैचित्र्यात्** । आत्मज्ञाने ज्ञानकर्त्तर्यैव कर्मत्वबुद्धिः, बाह्यार्थज्ञाने च बाह्ये विषये कर्मत्वबुद्धिरिति विषयदृष्ट्या वैचित्र्यं प्रतिभासस्य । बाह्यार्थात्मज्ञानयोर्युगपद्ग्राह्यत्वं निरस्येदानीं तयोः क्रमिकत्वं निरस्यति--**क्रमेण** वेति । क्रमशश्च तयोः स्वात्मबाह्यार्थज्ञानयोरुत्पत्तौ ज्ञातुरालयविज्ञानस्य **क्षणा-न्तरम्** = द्वितीयक्षणे, **अवस्थितिः**—सत्ता, स्वीकर्त्तव्या स्यादिति शेषः । प्रथमक्षणे स्वात्मज्ञानस्य द्वितीयक्षणे च बाह्यार्थज्ञानस्य जायमानत्वात् । **परिच्छेदे** = ज्ञाने । **संपरिच्छेदे** = ज्ञाते, **ताम्** = क्षणान्तरमवस्थितिम्, **दृष्ट्वा क्षणद्वैधम्** = जायमान-स्यालयविज्ञानस्य क्षणद्वयावस्थायित्वम्, **उच्यते** = वक्तव्यमेव स्यात् । एवं च क्षण-भङ्गभङ्ग आपतेत् ॥ **विज्ञाने** = आलयविज्ञाने, **उत्पद्यमाने**, **अर्थनिष्पन्नता** = पदार्थस्योत्पत्तिः, **न मता** = भवता बौद्धेनापि न स्वीक्रियते । न चापि **अर्थजाते** = प्रत्यहं प्रत्यक्षीक्रियमाणघटपटाद्यर्थसमूहे, **अवस्तुत्वम्** = अपदार्थत्वं, मन्यते । **अवस्तुग्रहणे** = अपदार्थस्यादाने लोकस्य **आदरः** = प्रवृत्तिरपि नास्ति । नन्वेतेन किमायातम् ? इत्युच्यते--आलयविज्ञानं न क्षणिकम्, स्वोत्पत्त्यनन्तरं प्रवृत्ति-विज्ञानस्य घटादेर्ज्ञानकर्त्तृत्वात्; घटादीनि पदार्थजातानि च नावस्तूनि; अवस्तु-ग्रहणाप्रवृत्तिमतां ग्रहण आदरात् इति निष्कृष्टोऽर्थः ॥४३-४५॥

घटादिकं प्रवृत्तिविज्ञानं **प्रकाशम्** = प्रत्यक्षं वा स्यात् **अप्रकाशम्**=अप्रत्यक्षं वा, **तस्य** = घटादेः, **ज्ञानम्** = ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वम् अनुव्यसायो वा 'घटमहं जानामि'

से दोनो का ज्ञान एक ही साथ कैसे होगा ? और यदि आप क्रम से ज्ञान मानेंगे तो आलयविज्ञान की सत्ता दूसरे क्षण में भी माननी पड़ेगी । उस अवस्थिति को ज्ञान के विषय में देखकर विज्ञान को क्षणद्वयावस्थायी कहना पड़ता है ॥४३–४४॥

जिस समय आलय विज्ञान उत्पन्न होता है उस समय पदार्थ की उत्पत्ति तो आप भी नहीं मानते । और पदार्थ को अवस्तु भी नहीं माना जाता तथा अवस्तु के आदान या ज्ञान में किसी का आदर अर्थात् प्रवृत्ति भी नहीं है ॥४५॥

घट आदि प्रवृत्ति विज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष उसका ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता है जिसका स्वरूप है—'घटमहं जानामि' । चूंकि यह ज्ञान विद्यारूप

अथ दीपप्रकाशत्वे न नित्यत्वं न कर्त्तृता ।
कर्त्तृता तत्र दीपादेः करणत्वं तदीक्षणे ॥४७॥
प्रकाशतात्मन्यचले स च प्रोक्तोऽप्यनश्वरः ।
ज्ञानस्य करणत्वेन भवेच्चेदनवस्थितिः ॥४८॥
दीपचक्षुःक्रमफलदर्शनात्तदबाधकम् ।
भावे कथं विनाशित्वं स्याद्विना कारणान्तरम् ॥४९॥

इत्येवंरूपम्, **प्रकाशते** = ज्ञातं भवति । यतो हि तज्ज्ञानं विद्यारूपं तस्मात् तस्य **अनाशित्वम्** = अविनश्वरत्वमस्ति । तत्र हेतुमाह—**न** हीति । **तत्त्वम्** = विज्ञानं चित् चैतन्यं वा अविनश्वरमेव । ननु 'न हि तत्त्वं विनश्वरम्' इति यद् भवतोक्तं तदसङ्गतम्; वक्ष्यमाणहेतुत्वात् । तथा च यथा **दीपप्रकाशत्वे न नित्यत्वं न च कर्त्तृता** तथैवेति चेत् ? न; प्रकाशस्वरूपकार्यं प्रति दीपस्य कर्त्तृत्वात् । **तत्र** = दीपप्रकाशत्वे । **तदीक्षणे** = तेन = दीपेन घटादेरीक्षणे तस्य दीपस्य **करणत्वमपि** । यथा दीपस्तथाऽऽत्मापि प्रकाशस्वरूपः प्रकाशकोऽचलश्चेत्यस्माकं मतम् । **स च** = आत्मा, **प्रोक्तोऽपि** = प्रकाशस्वरूपः कथितोऽपि प्रदीपप्रभावन्नश्वरो नास्ति किन्तु **अनश्वरः । ज्ञानस्य करणत्वेन** = भवन्मतानुसारं यद्यात्मा ज्ञानस्य करणं स्यात् तदा **अनवस्थितिर्भवेत्** । सा त्वित्थम्—घटादेर्ज्ञाने आत्मा करणम्, करणं ज्ञात्वैव तदादाय कर्त्ता प्रवर्त्तत इति तस्यात्मनो ज्ञानेऽन्य आत्मा करणम्, तस्यापि ज्ञानेऽन्य

है इसलिए यह अविनश्वर है । क्योंकि जो तत्त्व अर्थात् यथार्थ वस्तु है वह विनश्वर नहीं होतो । प्रश्न है कि फिर दीपक भी तो प्रकाश करता है लेकिन उसकी नित्यता भी नहीं है और न वह प्रकाश का कर्त्ता ही माना जाता है फिर आप यह कैसे कहते हैं कि वस्तु का प्रत्यक्ष करानेवाला ज्ञान अनश्वर है ? उत्तर है कि प्रकाशस्वरूप कार्य के विषय में दोपक कर्त्ता है हो साथ हो उसके द्वारा घट आदि के दर्शन में वह करण भी है ॥४६–४७॥

आत्मा अचल और प्रकाशस्वरूप है यह हमारा मत है । और वह प्रकाशस्वरूप उक्त होने पर दोपप्रभा के समान नश्वर नहीं है बल्कि अनश्वर है । यदि आपके अनुसार हम आत्मा को ज्ञान का कारण मान लें तो अनवस्था दोष आ जायगा; वह इस प्रकार—घट आदि के ज्ञान में आत्मा करण होगा उस आत्मा के ज्ञान में दूसरी और दूसरी के ज्ञान में तीसरी; इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा और घटज्ञान नहीं होगा । दीपक और चक्षु के क्रम से जायमान फल को देखने से अनवस्था दोष घटज्ञान का बाधक नहीं होता । यदि वस्तु भावस्वरूप है तो विना किसी अन्य कारण के उसका नाश कैसे हो सकता है ? ॥४८–४९॥

अथ नश्वररूपत्वात्, तद्रूपस्योद्भवः कथम् ।
उद्भवो नश्वरत्वं च द्वौ स्वभावौ कथं तथा ॥५०॥
न च नश्यदवस्थायां स्वकार्यं तस्य युज्यते ।
कृत्वा कार्यं विनश्येच्चेत्क्षणान्तरमवस्थितिः ॥५१॥
कुर्वद्वा चार्थकार्यत्वं कुतो नश्वररूपता ।
कारणान्तरजन्यत्वे कारणान्तरसंगता ॥५२॥

इत्यनवस्था स्यात् । घटज्ञानोत्पत्तिरेव च न स्यात् । **दीपचक्षुरिति**—दीपस्य चक्षुषश्च, क्रमाज्जायमानस्य फलस्य **दर्शनात्**, **तदबाधकम्** = अनवस्थादूषणम्, घटज्ञानस्य बाधकं नैव स्यात् ॥४६ ४८½॥

भावे = वस्तुनो भावस्वरूपत्वे, **विनाकारणान्तरम्** = हेत्वन्तरमनपेक्ष्य विनाशित्वं कथं स्यात् ? न कथमपीत्यर्थः । यथा घटनाशो दण्डादिकमनपेक्ष्य न भवितुमर्हति तथैव । ननु वस्तुनो **नश्वररूपत्वात्** हेत्वन्तरं विनाऽपि नाशः स्यादेवेति चेत् ? न; नश्वररूपस्योत्पत्तेरसम्भवात् । तदेवाह—**तद्रूपस्येति** । रूपं नश्वरं चेत्तस्योत्पत्तिरेव न शक्यते कल्पयितुमित्यर्थः । तदेव विवृणोति—**उद्भव** इति । एकस्यैव वस्तुन **उद्भवः** = उत्पत्तिः, तस्यैव च **नश्वरत्वम्** = विनाशस्वभाव इति द्वौ स्वभावौ परस्परं विपरीतौ **कथं** स्याताम् अशक्यत्वात् ? ॥४९-५०॥

यदा वस्तु नश्वरं तदा उत्पत्तिक्षण एव **नश्यदवस्थायां तस्य**=विनाशं प्राप्नुवतो वस्तुनः, **स्वकार्यम्** = प्रकाशकत्वादिकं **न युज्यते** = न संगतिमावहति । यदि च तद् वस्तु दीपादिकं घटादिकं वा, **स्वकार्यम्** = प्रकाशादिकं ज्ञानादिकं वा **कृत्वा** विनश्येत् तदा **क्षणान्तरमवस्थितिरिति** भवदभिमतक्षणभङ्गवादभङ्गः । दूषणान्तरमाह—**कुर्वद् वेति** । अथवा यदि तद्वस्तु **अर्थकार्यत्वम्**=ज्ञानप्रकाशादिकम् **कुर्वद्**=

यदि आप प्रश्न करें कि उस वस्तु का स्वरूप नश्वर है इसलिए वह नश्वर है ? तो यह बताइये कि उस नश्वर रूप का उद्भव कैसे होता है ? एक ही वस्तु का उद्भव भी हो और वह नश्वर भी रहे यह दोनों उसका स्वभाव कैसे होगा ? जब वस्तु नश्वर अवस्था में होगी तो उसका कार्य होना युक्तिसंगत नहीं है और यदि कार्य सम्पन्न करके वह नष्ट होती है तब तो वह दो क्षण तक रहने वाली होगी फिर आपका क्षणभङ्गवाद का सिद्धान्त ही खण्डित हो जा रहा है ॥५०–५१॥

अथवा यदि वह अर्थक्रिया कर रही है तब वह नश्वररूप कैसे होगी ? यदि नश्वररूपता को कारणान्तर से उत्पन्न मानेंगे तो कारणान्तर से उसका सम्बन्ध होगा और उस कारणान्तर का फिर कारणान्तर से और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा । इसके अतिरिक्त एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करता है

भावस्य भावजनने युक्तत्वं न क्षणस्थितेः ।
न घटाद् घटसम्भूतिः समवायाद्यपेक्षया ॥५३॥
नष्टस्य समवायित्वमनष्टस्य घटस्य वा ।
नष्टस्य तदकर्तृत्वमनष्टस्य स्वरूपिता ॥५४॥
यत्सत्तत्क्षणिकत्वेऽपि सत्त्वमप्यक्षगोचरम् ।
सादृश्याद् भ्रान्तमक्षं चेददुष्टं प्राग्ग्रहे यथा ॥५५॥

सम्पादयत् नश्यतीति भवता कथ्यते तदा तस्य वस्तुनो **नश्वररूपता** = क्षणभङ्गिमा कुतः ? नैव स्यादित्यर्थः । नश्वररूपतायाः **कारणान्तरजन्यत्वे** = हेत्वन्तरादुत्पत्तौ स्वीकृतायाम्, **कारणान्तरसंगता**=हेत्वन्तरेण सम्बद्धता स्यात् तस्या नश्वररूपतायाः, तच्च कारणान्तरं कारणान्तरेण जन्यं तच्चान्येनेत्यनवस्था प्रसज्येत । भवतां बौद्धानां मते कारणान्तरजन्यत्वमेवापसिद्धान्तः, **भावस्य** = पदार्थस्य, **भावजनने** = पदार्थान्तरोत्पत्तौ हेतुत्वस्वीकारे **युक्तत्वम्** = औचित्यम् नास्ति, कुतः ? **क्षणस्थितेः** = सर्वेषां भावानां क्षणमात्रमेव सत्त्वेन द्वितीयक्षणानवस्थानात् पदार्थान्तरस्य च द्वितीयक्षण एवोत्पद्यमानत्वात् । उदाहरणेन स्वोक्तं द्रढयति—नेति । घटाद् घटोत्पत्तिर्न भवति, कुतः ? **समवायाद्यपेक्षया** । यथा समवायेन घटं प्रति तादात्म्येन कपालं कारणम्, न तथा समवायेन घटं प्रति तादात्म्येन घट एव कारणम्; घटे घटसमवायाभावात् । तुष्यतुदुर्जनन्यायेन यदि घट एव स्वात्मनः समवायिकारणं स्वीक्रियेत तथापि यद् **घटस्य समवायित्वं** तन्नष्टस्य ? अनष्टस्य वा ? **नष्टस्य** चेत् ? अकर्तृत्वं घटस्य । अनष्टस्य चेत् ? **स्वरूपिता** = घटः स्वरूपेणैव वर्त्तमान आस्ते न तु घटान्तरमुत्पादयन्निति ॥५१-५४॥

'यत् सत् तत्क्षणिकम् यथा जलधरः' इति सिद्धान्तोऽपि युक्ततरो नास्ति यतः **सत्त्वमपि** = पदार्थः सन्नपि, **अक्षगोचरम्** = इन्द्रियप्रत्यक्षविषयः । प्रत्यक्षविषयता

यह भी ठीक नहीं हैं क्योंकि पदार्थ क्षणस्थायी है । घट से घट की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि घटरूप कार्य को उत्पत्ति के लिए समवायी, आदि कारणों की अपेक्षा होती है । अब आप यह बताइये कि घट की उत्पत्ति में जो वस्तु समवायि कारण बनेगी वह नष्ट रहेगी ? या अनष्ट ? यदि नष्ट वस्तु को आप समवायि कारण मानते हैं तो वह तो घट को बना ही नहीं सकती । और यदि अनष्ट को मानते हैं तो वह तो घटस्वरूप ही रहेगी फलतः कार्यान्तर को उत्पन्न नहीं कर सकेगी ॥५२–५४॥

जो आपका यह सिद्धान्त है कि 'जो सत् है वह क्षणिक है' इसमें भी असंगति यह है कि पदार्थ तो सत् भी है और प्रत्यक्ष भी; अतः वे क्षणिक नहीं है । यदि

दृष्टान्तेऽपि हि सादृश्ये प्रत्यक्षेण क्षणग्रहः।
दीपज्वालासमूहेषु कम्पनं, न विनाशिता ॥५६॥
नापि क्रमयौगपद्यविकल्पाः, सहकारिणाम्।
सन्निधौ कृतशक्तित्वादनेकेषां तथा स्थितेः ॥५७॥

चानेकक्षणावस्थायिनीति न क्षणिकत्वं लोकप्रतीतिसंगतमित्यर्थः। ननु प्रथमक्षण-वर्त्तिभावः द्वितीयक्षणे स्वसदृशं भावमुत्पाद्य विनश्यतीति सिद्धान्ते द्वितीयक्षणे भावस्य प्रत्यक्षं कुर्वद् **अक्षम्** = इन्द्रियम्, **सादृश्याद्** = प्रथमक्षणवर्त्तिपदार्थतुल्यत्वात् **भ्रान्तम्** = अयथार्थज्ञानकर्त्तृ इति **चेत्**? न, **यथा प्राग्ग्रहे** = प्रथमक्षणवर्त्तमाने ज्ञाने, **अदुष्टम्** अक्षं तथा द्वितीयज्ञानेऽप्यदुष्टत्वात्कथं भ्रान्तत्वं तस्य? '**यथा जलधरः**—इति **दृष्टान्तेऽपि सादृश्ये** सति **प्रत्यक्षेण**, **क्षणग्रहः** = जलधरादीनां ज्ञानम्। तच्च ज्ञानं नामजात्यादियोजनासहितं भवति। अतः पदार्था न्यूनतमं क्षणद्वयावस्थायिनः सन्त्येव येन प्रथमक्षणे निर्विकल्पकं **द्वितीयक्षणे** च सविकल्पकं ज्ञानं जायते। **दीपज्वालासमूहेषु** यद्यपि **कम्पनमस्ति** तथापि तत्र **विनाशिता** = द्वितीयक्षणविध्वंसिता **न**। **न चापि** तेषु दीपज्वालासमूहेषु **क्रमयौगपद्यविकल्पानां** प्रसरः, यतो हि दीपज्वालासमूहाः क्रमेण नश्यन्ति युगपद् वा इत्यादिविकल्पप्रसक्ति-स्तदैव स्यात् यदा सहकारिणस्तत्र सन्निहिताः स्युः। तदेवाह—**सहकारिणामिति**। निमित्तकारणानां **सन्निधौ** = उपस्थितौ सत्यामेव, **कृतशक्तित्वात्** = कर्त्तुः कार्योत्पादनसामर्थ्यात्। **अनेकेषाम्** = उत्पत्स्यमाणपदार्थानाम् विषये **तथास्थितेः** = तुल्यदशात्वात् सहकारिसन्निधानात् कृतशक्तित्वं तेषाम्। अथवा अनेकेषां सहकारिणां चक्रचीवरकुलालादीनां, **सन्निधौ** = समीपोपस्थितौ, **तथास्थितेः** = घटस्व-

आप यह कहें कि पदार्थ सत् होते हुए क्षणिक हैं इन्द्रियाँ उस पदार्थ के सादृश्य के कारण भ्रान्त हैं अर्थात् अयथार्थ प्रत्यक्ष करती हैं? तो ऐसा नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार प्रथम पदार्थज्ञान के समय इन्द्रिय अदुष्ट थी भ्रान्त नहीं, उसी प्रकार परवर्त्ती ज्ञानकाल में भी वह अदुष्ट ही है भ्रान्त नहीं। सादृश्य के रहने पर जलधर इत्यादि दृष्टान्तस्थल में भी पदार्थों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही होता है और वह नामजात्यादियोजनायुक्त होता है अतः पदार्थ कम से कम क्षणद्वयावस्थायी तो हैं ही जिससे उनका प्रथम क्षण में निर्विकल्पक और द्वितीय क्षण में सविकल्पक ज्ञान होता है। इसी प्रकार दीपज्वालासमूहों में कम्पन तो होती है किन्तु वे द्वितीयक्षण-विध्वंसी नहीं हैं और न तो उनमें क्रम यौगपद्य तथा विकल्प हैं क्योंकि जब सहकारी अर्थात् निमित्त कारणों का सान्निध्य होता है तभी कार्योत्पत्ति में कोई वस्तु समर्थ होती है। अनेक पदार्थों के विषय में यही स्थिति है ॥५५–५७॥

भावानां चित्रशक्तीनामभेदो हेमभेदवत् ।
वैलक्षण्यमपूर्वत्वं बाह्याभासक्रियोद्गमात् ॥५८॥
अर्थक्रियासमर्थत्वे वस्तुता शुक्तिकादिके ।
तत्र स्थिताऽवस्तुता चेन्नोक्तत्वादेषु वस्तुता ॥५९॥
घटो नश्यत्यात्मनेति किञ्चित्कुर्वन् किमात्मना ।
नश्यत्यात्मन्यकुर्वन्वा तदेवं स्थित एव सः ॥६०॥

रूपेण पदार्थस्य **स्थितेः** = सत्त्वस्य विषये कृतशक्तित्वं मृत्पिण्डादीनामिति शेषः ॥५५-५७॥

हेमभेदवत् = यथा कटककुण्डलादयो हेम्नो भिन्नाः किन्तु तेषु हेम अभिन्नमेव तथैव, **चित्रशक्तीनाम्**=विविधरूपाकृतिकृत्यवताम्, **भावानाम्** = पदार्थानां घटमणिकमल्लकादीनाम्, परस्परं भेदेऽपि मृदात्मनाऽभेदः । ननु तेषु वैलक्षण्यं नूतनत्वं च कथं व्यवह्रियते इति ? तत्राह—**बाह्याभासक्रियोद्गमात्** = **बाह्ये** = लोके **आभासः** = प्रतीतिः यासां **क्रियाणाम्** = अर्थक्रियाणाम्, तासामुद्गमात्=उत्पत्तेः । शुक्तिकादिके जागतिकपदार्थे **वस्तुता** = 'इदं वस्तु' इति व्यवहारः **अर्थक्रियासमर्थत्वे** = प्रयोजनसिद्धिसामर्थ्ये सत्येव भवति । ननु **तत्र** = शुक्तिकादौ **अवस्तुता** = अयथार्थता; यथा चोक्तं धर्मकीर्तिना—

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ (प्र०वा० १.४)

इति चेत् ? न; **उक्तत्वात्** = अर्थक्रियासमर्थत्वादेव **एषु** = शुक्तिकादिषु **वस्तुता** ॥५८-५९॥

इदानीं पुनः क्षणिकत्वनिरासायोपक्रमते विस्तरेण—**घट** इति । ननु यदि **घटो** द्वितीयक्षणे **आत्मना** = स्वयमेव नश्यति तर्हि इदं ब्रवीतु भवान् यत् **किमा-**

जिस प्रकार सुवर्ण के कटक कुण्डल आदि भिन्न-भिन्न आभूषण भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाकारी होने पर भी सुवर्णत्वेन अभिन्न हैं उसी प्रकार विचित्र शक्तिवाले पदार्थों में भी परस्पर अभेद है । और उनमें जो वैलक्षण्य या अपूर्वता दिखलाई पड़ती है वह तो बाह्य जगत् में आभासमान क्रिया की उत्पत्ति के कारण होती है । अर्थक्रिया में समर्थ होने के कारण ही शुक्तिका आदि पदार्थ मानी जाती हैं । यदि आप यह कहना चाहते हैं कि उनमें वस्तुता नहीं है तो ऐसा आप नहीं कह सकते क्योंकि पूर्व श्लोक में उक्त होने के कारण उनमें वस्तुता है ॥५८–५९॥

अब आप यह बताइये कि घट जब द्वितीय क्षण में नष्ट होता है तो वह अपने द्वारा अपने अन्दर कुछ करता हुआ नष्ट होता है ? अथवा न करता हुआ ? दोनों

कुर्वन् वा किं तदा कुर्वन्, न भावं, तद्घटादिकात् ।
अनन्यं व्यतिरिक्तं वा, यद्यनन्यस्तथाविधः ॥६१॥
अन्यत्वेऽन्यसमुत्पत्तौ घटस्यायातमत्र किम् ।
आत्मना परतो वापि विनाशेऽत्रापि तादृशाः ॥६२॥
विकल्पाः, अथवा नश्येदसावेतावदेव सत् ।
तत्रापि किञ्चित्कुर्वन् किं स नश्यति, तथाविधाः ॥६३॥

त्मना = केन रूपेण, नश्यति ? किमात्मनि किञ्चित्कुर्वन् नश्यति ? अकुर्वन् वा ? **तदेवम्** = यद्यकुर्वन्नश्यति तदा **सः** = घटः, **स्थित एव** = न नश्यतीत्यर्थः, तत्र-क्रियाया अभावात् । अथ किञ्चित् **कुर्वन्** नश्यतीत्युच्यते भवता तर्हि किं कुर्वन् नश्यति ? **न भावम्** = नैव भावपदार्थस्योत्पादनं कुर्वन् । ननु कथमेतत् ? तत्राह—**तदि**ति । यदि भावोत्पत्तिं कुर्वन् नश्यति तर्हि सोत्पत्तिर्घटादेरनन्या भविष्यति ? व्यतिरिक्ता वा ? यद्यनन्योत्पत्तिस्तदा **तथाविधः** = घटस्वरूपावस्थः; स एव घट आस्ते इति नो नूत्ना कृतिरित्यर्थः । **अन्यत्वे** = यद्यन्योत्पत्तिः क्रियते तदा **अन्यसमुत्पत्तौ** = घटाद् भिन्नवस्तूत्पत्तौ **अत्र** = उत्पत्तिस्थले **घटस्य** = घटव्यक्तौ तदतिरिक्तं **किमायातम्** ? न किमपि नवत्वं दृश्यतेऽनुभूयते वा लोकैः । यथोत्पत्तौ तथाऽऽत्मना **परतो वापि** कारणेन 'सार्वविभक्तिकस्तसिः, घटस्य **विनाशे** गृहीते **अत्रापि** = विनाशपक्षेऽपि **तादृशा एव विकल्पा** समुत्तिष्ठन्तीति शेषः । अथवा यदि **असौ** = घटः **नश्येत्** = नश्यति **एतावदेव** यदि **सत्** = सत्यम्, **तत्रापि सः** = घटः, किं **किञ्चित् कुर्वन् नश्यति** ? अकुर्वन् वा ? इति **तथाविधाः** = पूर्वोक्त-सदृशा **विकल्पाः** पुनरायान्ति । **ते** = तव बौद्धस्य मते, **अभावक्रियाम्** = ध्वंसकार्यं

परिस्थितियों में वह स्थायी है क्षणिक नहीं । यदि आप कहते हैं कि वह कुछ करता हुआ नष्ट होता है तो बताइये क्या करता हुआ नष्ट होता है ? भाव पदार्थ को तो वह उत्पन्न करता नहीं । क्योंकि यदि भाव पदार्थ को बनाता हुआ नष्ट होता है तो वह भाव पदार्थ उस नश्यमान घटादि से अभिन्न होगा या भिन्न ? यदि अभिन्न है तब तो नश्यमान घटस्वरूप ही है कोई नवीन कृति नहीं; और यदि भिन्न है तो दूसरे की उत्पत्ति होने पर यहाँ इस उत्पादन में घट के अतिरिक्त क्या आया ? अर्थात् न तो घट में कोई परिवर्त्तन हुआ और न पृथक् ही किसी पदार्थ का अस्तित्व दृष्ट हुआ । इसी प्रकार अपने द्वारा या दूसरे के कारण घट के विनाश की स्थिति में भी उसी प्रकार के विकल्प प्रस्तुत होने लगते हैं ॥६०–६२॥

यदि आप यह कहें कि घट नष्ट होता है बस इतना ही सत् है तो यहाँ पर भी क्या वह कुछ करता हुआ नष्ट होता है ? या न करता हुआ ? इस प्रकार के

विकल्पाः पुनरायान्ति, न चाभावक्रियां प्रति।
घट एव करणत्वे सामग्री जनिकेति ते ॥६४॥
दर्शनं यद्यभावस्य तुच्छस्य करणं कथम्।
बहुभिस्तर्हि तुच्छं हि घटोऽपि जनयेत् कथम् ॥६५॥
नाशं घटस्य जनयेत् तत्सम्बन्धितया स्थितम्।
मृत्पिण्डस्य घटोत्पत्तौ सति तज्जननात्मके ॥६६॥
रूपे हेत्वन्तरापेक्षा यत्र तत्र तथा कृता।
घटस्य नश्वरात्मत्वे मुद्गरादेरपेक्षणम् ॥६७॥

प्रति **घट एव** = घटव्यक्तौ एव **करणत्वे** = करणत्वस्वीकारे, **सामग्री** = घटाद्भिन्ना सामग्री जनिकेति न स्वीक्रियते। यदुक्तं **मनोरथनन्दिना**—"**परनिरपेक्षाश्च भावाः स्वनाश इति**' "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" इत्यकम्पः सौगतः सिंहनादः।" इति (मा० का० वृ० ४.२८५) अलोकप्रत्यक्षमव्यावहारिकञ्चैतदिति ॥६०-६४॥

यदि तुच्छस्य = शब्दज्ञानानुपातिनो वस्तुशून्यस्य **अभावस्य दर्शनम्**=प्रत्यक्षत्वं स्वीक्रियते भवता न्यायवैशेषिकवत्, तर्हीदं वक्तव्यं यत् **तुच्छस्य** = असतः, **अभावस्य करणम्** = उत्पत्तिः कथं क्रियते ? ननु **बहुभिरेवं** प्रतीतिः क्रियते यद् घटाभाव उत्पन्न इति ? तथापि **घटः** सद्वस्तु कर्तृ **तुच्छम्** = शून्यमभावमसद्वस्तु कर्म कथं जनयेत् ? न कथमपीत्यर्थः। न च **तत्सम्बन्धितया** = घटसम्बन्धितया, **स्थितम्** = वर्त्तमानम् **घटस्य नाशं** जनयेत् इति वाच्यम्; उत्पत्तिवद् विनाशेऽपि निमित्तान्तरापेक्षात्वात्।

विकल्प पुनः उपस्थित हो जाते हैं। यदि घट में ही घटनाश का कारण मानेंगे तो आपके मतानुसार अभावात्मक कार्य के प्रति घट से पृथक् सामग्री उस कार्य की जनक नहीं होगी जो कि लोकप्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि लोक में अभावात्मक कार्य के लिए भी निमित्त कारण की अपेक्षा होती है ॥६३–६४॥

यदि आप अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं जैसा कि लोकव्यवहारसिद्ध है तो यह बताइये कि अभाव तो तुच्छ अर्थात् असद् वस्तु है फिर उसका उत्पादन कैसे आप मानते हैं ? यदि यह कहिये कि बहुत लोगों को ऐसी प्रतीति होती है कि घटाभाव उत्पन्न होता है तो भी घट तुच्छ को कैसे उत्पन्न करेगा ? यदि यह कहें कि घट अपने से सम्बद्ध रूप में वर्त्तमान घटनाश को उत्पन्न करता है ? तो जैसे मृत्पिण्ड से घट की उत्पत्ति के विषय में घटजननात्मकरूप कार्य के लिए जहाँ तहाँ कारणान्तर की अपेक्षा की जाती है उसी प्रकार घट की नश्वरात्मकता के विषय में मुद्गर आदि की अपेक्षा होती है न कि घट अपने से अपने को नष्ट करता है ॥६५–६७॥

किं वा नाश्यं न मृत्पिण्डं घटस्य जनकं भवेत् ।
तदनाशे न किञ्चित् स्याद् घट एव न जायते ॥६८॥
विनाशे कारणानां हि विनाशः कारणात्मना ।
स्वयं विनश्येन्मृत्पिण्ड एवं चेत्स विनश्यति ॥६९॥
किं विधाय, घटं, नो वा स मृत्पिण्डोऽभिधीयताम् ।
अकृत्वाऽकरणं कुम्भे, कृत्वा तस्य स्वरूपिता ॥७०॥

तदेवाह—**मृत्पिण्डस्येति** । **मृत्पिण्डस्य** = समवायिकारणस्य घटोत्पत्तौ सति, **तज्जननात्मके** = घटजननात्मके **रूपे** = कार्ये, **यत्र तत्र** = क्वचित्, योगिकृतसृष्टि विहाय सर्वत्र, **हेत्वन्तरापेक्षा** = चक्रचीवरकुलालादेरपेक्षा **कृता** = क्रियते **तथा** = तथैव, **घटस्य नश्वरात्मत्वे** कार्ये हेत्वन्तरस्य मुद्गरादेरपेक्षणं क्रियते न तु घटः स्वयं स्वं नाशयतीत्यर्थः ॥६५-६७॥

क्वचित्तु विनाशेनापि सृष्टिर्भवति किं बहुना नाशो न स्याच्चेत् सृष्टिरेव न भवेत् । तदेवाक्षेपेण कथयति—**किं वेति** । **किं वा** = अथवा, किं मृत्पिण्डं **न नाश्यं घटस्य** च **जनकं** भवेत् ? इति काक्वाऽऽक्षेपः; न कदापीत्यर्थः । यतो हि **तदनाशे** = मृत्पिण्डस्य विनाशाभावे, **किञ्चित्**=घटादिकं **न स्यात्** = नोत्पद्येत । तदेव स्फोरयति—**घट एवेति** । घटस्योत्पत्तिरेव न स्यान्मृत्पिण्डानाशे इत्यर्थः । **कारणानाम्** = मृत्पिण्डादीनाम् विनाशे यो **विनाशो** भवति स **कारणात्मना** = कारणस्वरूपेणैव भवति न कार्यरूपेण नश्यद्वस्तुनः कारणतैवालक्षिता भवति । यद् भवानभिदधाति कारणं स्वयमेव नश्यति इति तत्राहं पृच्छामि भवन्तमेतद् यदि **मृत्पिण्डः** स्वयं विनश्येत् **एवं चेत्** तर्हि **स** मृत्पिण्डः **किं विधाय** = किमुत्पाद्य **विनश्यति** ? एकमेवोत्तरं स्याद्-**घटम्** इति । **नो वा** = यदि घटं नोत्पादयति विनश्यति चेति भवता-

---

अथवा कहीं-कहीं तो विनाश से सृष्टि होती है और यदि विनाश न हो तो सृष्टि हो नहीं होगी । क्या नष्ट होने वाला मृत्पिण्ड घट का जनक नहीं होता ? इसके विपरीत यदि मृत्पिण्ड का नाश न हो तो कुछ भी नहीं होगा अर्थात् घट ही नहीं पैदा होगा । इस प्रकार यह समझिये कि कारणों का जब विनाश होता है तो कारणात्मकरूप में विनाश होता है । मृत्पिण्ड स्वयं नष्ट होगा । यदि वह इस प्रकार नष्ट होता है तो क्या बना कर नष्ट होता है ? उत्तर है—घट । यदि ऐसा नहीं है तो फिर उस मृत्पिण्ड ही कहिये घट नहीं ॥६८–६९½॥

यदि मृत्पिण्ड ने कुछ नहीं किया अर्थात् नष्ट नहीं हुआ तो फिर घट के विषय में वह कुछ नहीं कर सकता । और यदि कर दिया अर्थात् नष्ट हो गया तो फिर मृत्पिण्ड की स्वरूपता कहाँ रही क्योंकि तब तो वह घट के जन्म उसके नाम

कुतो, घटस्य जननाकारनामावधारणम् ।
यावता प्राग्दशा नष्टा न प्रवृत्तिरथान्यथा ॥७१॥
विरोधे दण्डघटयोर्दृष्टान्तोऽस्ति न ते क्वचित् ।
तेजसा तमसो यस्मान्न विनाशस्त्वयेष्यते ॥७२॥
अकार्यत्वाद्विनाशस्य प्रतिबन्धो न चापि ते ।
स्थिरस्य प्रतिबन्ध्यत्वात् क्षणिकस्य न युज्यते ॥७३॥

ऽभिधीयते तदा **स** 'मृत्पिण्डः' इत्य**भिधीयताम् अकृत्वा** = यदि मृत्पिण्डः किमपि न करोति न नश्यतीत्यर्थः, तदा **कुम्भे** = घटस्य विषये, **अकरणम्** = किमपि न कृतं तेन मृत्पिण्डेन । **कृत्वा** = नाशं प्राप्तवांश्चेन्मृत्पिण्डः, तदा **तस्य** = मृत्पिण्डस्य **स्वरूपिता** = पिण्डस्वरूपता कुतः ? कथमपि नावशिष्येदित्यर्थः । हेतुमाह—**घटस्येति** । तदा स मृत्पिण्डः **घटस्य जननाकारनामावधारणम्** = तदुत्पत्तितदाकारतन्नाम्नां च निश्चयं करोति । अवधारणे हेतुमाह—**यावते**ति । यस्मात् कारणात् मृत्पिण्डस्य **प्राग्दशा** = मृत्पिण्डदशा, नष्टा घटाकृत्यादयश्च लब्धाः तस्मात्, अथ **अन्यथा** = यदि प्राग्दशा नाशो न स्यात्, तदा किं भवेत् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—**न प्रवृत्तिः** = स मृत्पिण्ड एव स्यात् फलतो घटाभावे जलाद्याहरणे प्रवृत्तिरेव न स्यात् ॥६८–७१॥

दण्डघटयोर्विरोधे, तयोर्विनाशकविनाश्यत्वात्, विरोधः तत्र **ते** मते क्वचिदपि दृष्टान्तो नास्ति । तत्र हेतुमाह—**तेजसेति** । **यस्मात्** = यतो हि **त्वया तेजसा** = प्रकाशेन, तमसो विनाशः, नेष्यते । अयमभिप्रायः—बौद्धमते तेजोऽन्धकारयोर्न परस्परं विनाशकविनाश्यभावः, मन्दप्रकाशसत्तायामपि तमसाधिक्यस्य सत्त्वात् । अत एव च प्रकृष्टप्रकाशोपस्थितौ तदपसृतो भवति । तस्मान्न तेजस्तमसोर्विरोधः । अपरं च, भवन्मते विनाशस्याकार्यत्वात् **प्रतिबन्धोऽपि नास्ति**, **प्रतिबन्धः** = अवरोधो

और उसके आकार का निश्चायक हो जाता है ? चूंकि मृत्पिण्ड की पहले वाली दशा (पिण्डदशा) नष्ट हो गयी इसलिए यह सब घट का जन्म आकार आदि हुआ । यदि अन्यथा होता अर्थात् प्राग्दशा नष्ट न होती मृत्पिण्ड ही रहता तो जल आदि के आनयन में प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥७०–७१॥

आपके पास दण्ड और घट के पारस्परिक विरोध के विषय में कहीं दृष्टान्त नहीं है क्योंकि आप तो तेज के द्वारा अन्धकार का नाश नहीं मानते । (बौद्ध मत में प्रकाश अन्धकार का नाश नहीं करता । इसीलिए क्षीण प्रकाश के समय अन्धकार का जो आधिक्य रहता है प्रकृष्ट प्रकाश के आने पर वह हट जाता है ऐसा इनका मत है ।) फिर आपके यहाँ न तो विनाश को कार्य माना जाता है और न प्रतिबन्ध

कपालादिकजन्यत्वमभावस्तस्य संगता ।
सत्यस्य कारणापेक्षा घटादिजनने यथा ॥७४॥
नश्वरानश्वरत्वेऽपि स्वभावे प्रविकल्पनाः ।
अत्र नैव प्रवर्त्तन्ते हेतुसन्निधिनश्वराः ॥७५॥
स्वभावत्वात्स्थितं तस्मादेकं तत्त्वं, तथा स्थितेः ।
भेदेन वाऽप्यभेदेन, यदि वा नैकरूपता ॥७६॥

व्याप्तिर्वा । यतो हि स्थिरस्य = द्वितीयक्षणाध्वंसिनः पदार्थस्य, एव प्रतिबन्ध्यत्वं भवितुमर्हति । क्षणिकस्य प्रतिबन्ध्यत्वं न युज्यते । **कपालादिकजन्यत्वम्**=कपालादिकस्य जन्यत्वं मृत्पिण्डस्याभावः । अथवा कपालादिकेन (घटस्य) जन्यत्वं कपालस्याभावः । **तस्य**=तादृशस्य, **सत्यस्य** = स्थायिपदार्थस्य कपालादेः, **कारणापेक्षा** = चक्रचीवराद्यपेक्षा, **संगता** = समीचीना । उदाहरणमाह—**घटादिजनने** इति । **यथा** घटादीनामुत्पत्तौ दण्डचक्रचीवरादीनां निमित्तकारणानामावश्यकता, तथा सर्वत्रेति शेषः ॥७२–७४॥

अधुना स्वभाववादं मनस्याधाय कथयति—नश्वरानश्वरत्वेऽपीति । **नश्वरानश्वरत्वेऽपि** = पदार्था नश्वराः=क्षणिका वा स्युः अनश्वराः=अक्षणिका वा, अत्र पदार्थानां **स्वभावे हेतुसन्निधिनश्वराः** = हेतूनां सन्निधेः नश्वरास्ते इति हेतुः सन्निधिः नश्वर इत्याद्याः **प्रविकल्पनाः न प्रवर्त्तन्ते** । तत्र हेतुमाह—**स्वभावत्वात्** इति । येषां वस्तूनां ये स्वभावास्ते तथैव स्थास्यन्ति, न तत्र परिवर्त्तनविनाशादीनां शंकालेशोऽपि । सः च स्वभावः सर्वत्रैकः सच्चिदानन्दक्रियारूपः । **तस्मादेकं तत्त्वं स्थितम्** । तत्र कटककुण्डलादिवद् **भेदेनाथ वा** सुवर्णत्वादिना**ऽभेदेन वा** विचारयतु भवान्; **तथास्थितेः** = स्थितेः = दशायाः सर्वत्र तथात्वात् । ननु **सामान्याभावतः** = प्रतिबन्धस्य

अर्थात् अवरोध या व्याप्ति को ही स्वीकार किया जाता है क्योंकि जो प्रतिबन्ध्य होता है वह स्थायी पदार्थ होता है। क्षणिक पदार्थ की प्रतिबन्ध्यता समीचीन नहीं है। कपाल आदि के द्वारा घट का जन्य होना ही कपाल आदि का अभाव है। तो इस प्रकार के सत्य अर्थात् स्थायी कार्यों के जनन के विषय में कारणों की अपेक्षा संगत प्रतीत होती है जैसे कि घट आदि की उत्पत्ति में ॥७२–७४॥

अब स्वभाववाद को दृष्टि में रखकर कहते हैं कि चाहे आप पदार्थों को नश्वर अर्थात् क्षणिक मानें या अनश्वर अर्थात् स्थायी, जो वस्तुओं का स्वभाव है उसमें किसी भी प्रकार की हेतु सन्निधि या नश्वरत्व की कल्पना के लिए स्थान नहीं है क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव जैसा है वही रहेगा और वही वास्तविक है। वह स्वभाव सर्वत्र एक है जो कि सत् चित् आनन्द तथा क्रिया स्वरूप है।

सामान्याभावतस्तर्हि भवतो नानुमानता ।
सा भविष्यत्यपोहेन, सोऽपि केनोपपद्यते ॥७७॥
घटमानय शब्दस्य प्रतिषेधेन वाच्यता ।
अघटादेरपोहेन किं घटं प्रतिपद्यसे ॥७८॥
शून्यतां वा, शून्यतायां व्यर्थता शब्दगोचरे ।
युगपद्वा घटाद्यर्था जगत्यानन्त्यमागताः ॥७९॥

व्याप्तेर्वाऽभावात्, **एकरूपता** = सर्वत्रैकतत्त्वस्य सत्ता, नास्तीति चेत् ? न; भवन्मतस्यानुमानप्रमाणस्योच्छेदापातात् । तदाह—**भवतो नानुमानतेति** । न च **सा** = अनुमानता, **अपोहेन** = तद्भिन्नभिन्नत्वरूपेण व्यावृत्त्या भविष्यतीति वाच्यम्; तस्यैवानुपपन्नत्वात् । तदाह—**सोऽपीति** । **सोऽपि** = अपोहोऽपि, केन साधनेन **उपपद्यते** = सिध्यति ? न केनापीत्यर्थः । स्वोक्तमुदाहरणेन द्रढयति—**घटमानयेति** । 'घटमानय' इति **शब्दस्य** = वाक्यस्य, **वाच्यता** = वाक्यार्थबोधः 'घटकर्मकपूर्वदेशवियोगानुकूलोत्तरदेशसंयोगजनकव्यापारवास्त्वं भव' इत्येवंरूपः किं **प्रतिषेधेन** = निषेधमुखेन भवति ? न भवतीति शेषः । 'घटः' इति केनचिदुक्ते **किम्** = **अघटादेः** = घटभिन्नानां यावत्पदार्थानाम्, **अपोहेन** = व्यावृत्त्या निषेधेन वा **घटम्** = भावात्मिकां कम्बुग्रीवादिमतीं व्यक्तिम्, **प्रतिपद्यसे** = जानासि ? **शून्यतां वा** ? **शून्यतायाम्** = यदि

इस कारण एक ही तत्त्व सम्पूर्ण विश्व में है यह निश्चित हो गया क्योंकि चाहे आप कटक कुण्डल आदि के समान भेदात्मक विचार रखें या सुवर्ण के समान अभेदात्मक, स्थिति वैसी ही है; अर्थात् सर्वत्र एक ही तत्त्व स्थित है । यदि आप प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति के सामान्याभाव के कारण एकरूपता अर्थात् सर्वत्र एक तत्त्व की स्थिति नहीं मानेंगे तो आप (बौद्ध) के द्वारा स्वीकृत अनुमान प्रमाण का अस्तित्व ही नहीं रह पायेगा । यदि आप यह कहें कि अनुमान की सत्ता अपोह के द्वारा सिद्ध होगी तो यह बताइये कि वह अपोह किसके द्वारा सिद्ध होगा क्या 'घटमानय' इस वाक्य की वाच्यता अर्थात् वाक्य का ज्ञान प्रतिबन्ध के द्वारा सम्भव है ? यह बताइये कि अघट के अपोह से आप घट का ज्ञान करते हैं ? अथवा शून्यता का ? यदि आपको शून्यता का ज्ञान होता है तब तो घट शब्द का कोई विषय ही नहीं रहा फलतः 'घटमानय' वाक्य का उच्चारण उन्मत्तप्रलापवद् व्यर्थ हो जायगा ? और यदि घट और घट से भिन्न सभी पदार्थों का युगपद् ज्ञान आपको अघट के अपोह से होता है तो फिर संसार में घट आदि पदार्थों का आनन्त्य उपस्थित हो जायगा क्योंकि जैसा ज्ञान होगा वैसी ही उपस्थिति होगी ? ॥७५–७९॥

निवृत्ते वाच्यसम्बन्धे प्रद्वेषो विधिगः परम् ।
अघटत्वं न सामान्यं किं न वा ह्यविशेषकम् ॥८०॥
तस्याप्यवस्तुरूपत्वे न किञ्चित्कथितं भवेत् ।
एतावान् वाच्यसम्बन्धो यदन्तःस्फुरणात्मता ॥८१॥

शून्यतायाः प्रतिपत्तिर्भवति तदा, **शब्दगोचरे** = घटशब्दोच्चारणविषये, **व्यर्थता** । 'घटः' इति शब्दोच्चारणमेव व्यर्थं स्यादिति भावः । अथ **युगपदेव** = एकसहैव **घटाद्यर्थाः** = घटज्ञानं शून्यज्ञानमपोहज्ञानं च जायेरन् इति ? तदा घटाद्यर्था **जगति आनन्त्यम्** = असंख्यताम्, **आगताः** = प्राप्ताः । एकस्यैव घटशब्दस्यानन्ता अर्था भवेयुरित्यर्थः । ज्ञानमनतिक्रम्यार्थोपस्थितेर्नियमात् । 'घटमानय' इत्यादिविधिवाक्येषु **वाच्यसम्बन्धे** = वाच्यवाचकभावे, **निवृत्ते** = अपसृतेऽस्वीकृते, **विधिगः** = अनुष्ठानेषु वर्तमानः, **परं प्रद्वेष** उत्पत्स्येत । विधिवाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेकाऽपि न स्यादिति भावः । दूषणान्तरमाह—**अघटत्वमिति** । अघटत्वं सामान्यं भवितुं नार्हति; घटं विहाय विश्वब्रह्माण्डे तस्य सत्त्वात् । ननु यदि तन्न सामान्यं तदा **किमविशेषकमपि** तत् **न** भविष्यति ? विशेषो नाम व्यवहारप्रयोजकत्वे सतीतरव्यावर्त्तकः । अघटत्वं तु न सामान्यं न वा विशेषकम्, तेनाविशेषकं न भविष्यतीत्यस्य अवश्यमेवाविशेषकं भविष्यतीत्यर्थः । एतदतिरिक्तं त्वया बौद्धेन **तस्यापि** = अपोहस्यापि **अवस्तुरूपत्वे न किञ्चित् कथितं भवेत्** न किमप्युक्तमित्यर्थः । तस्मात् घटादिपदानां **एतावानेव वाच्यैः** = अर्थैः सह सम्बन्धः यत् **अन्तःस्फुरणात्मता** = तत्तच्छब्दश्रवणसमनन्तरं यदन्तःकरणे चितेः प्रकाशो भवति स एवोपलब्धिः; पुनश्च **प्रमाणान्तरगोचरा** = प्रत्यक्षानुमानादीनां प्रमाणानां विषया, ज्ञेया सैवान्तःस्फुरणात्मता ॥७५–८१½॥

यदि घट पद और घट अर्थ के बीच वर्त्तमान वाच्यवाचकसम्बन्ध हट गया जैसा कि ऊपर कहा गया है, तो 'घट मानय' इत्यादि विधिवाक्यों में बहुत बड़ा द्वेष उत्पन्न हो जायगा । अर्थात् विधिवाक्य को सुनकर प्रवृत्ति निवृत्ति कुछ भी नहीं होगी । इसके अतिरिक्त अघटत्व तो सामान्य होगा नहीं क्योंकि घटत्व तो समस्त घटव्यक्ति में रहता है अघटत्व घटव्यक्ति को छोड़कर समस्त ब्रह्माण्ड में रहेगा अतः वह सामान्य तो होगा ही नहीं, तो क्या वह अविशेष भी नहीं होगा ? अर्थात् अविशेष अवश्य होगा । इसके अतिरिक्त अपोह के अवस्तुस्वरूप होने के विषय में कुछ नहीं कहा गया । इसलिये घट आदि पदों का अपने-अपने वाच्यों से इतना ही सम्बन्ध है कि उन-उन पदों को सुनने के बाद अन्तःस्फुरणात्मक उपलब्धि होती है और फिर वह बाह्य पदार्थों के प्राप्त होने पर प्रमाणान्तर का

उपलब्धिः पुनर्ज्ञेया प्रमाणान्तरगोचरा ।
धूमात् सम्बन्धतो वह्नेः परोक्षे स्फुरणं न किम् ॥८२॥
अप्रत्यक्षोऽक्षसम्बन्धो दूरस्थः शक्तिरुह्यते ।
तस्मान्न ज्ञानशून्यत्वं न शून्यं चोपपद्यते ॥८३॥
शून्यस्य बोधाभावत्वात् कः केनात्र विबोध्यते ।
न हि शून्यस्य शून्येन बोधनं न च बाधनम् ॥८४॥

तदेवोदाहरणेन पुष्णाति—**धूमादिति** । किं **धूमात्** हेतोः वह्नेः **सम्बन्धतः** = अनुमित्यात्मकज्ञानसम्बन्धसत्त्वात्, **परोक्षे** वर्त्तमानस्य वह्नेरनुमातुरन्तःकरणे **स्फुरणं न** भवति ? भवत्येवेत्यर्थः । यदा **अक्षसम्बन्धः** = इन्द्रियाणां स्वस्वविषयैः सह वर्त्तमानः सन्निकर्षः, **दूरस्थः अत** एव **अप्रत्यक्षः**, यथा श्रवणेन्द्रियस्य दूरस्थेन घनध्वानेन; तदा **शक्तिरुह्यते** = इन्द्रियाणां विषयग्रहणसामर्थ्यस्य कल्पना क्रियते । सा च शक्तिरन्तःस्फुरणात्मिका ज्ञानमेव । उपस्थितं शून्यवादमपि कतिपयैः श्लोकैः खण्डयितुमाह—**तस्मादिति । तस्मात्** अस्मिन् संसारे **ज्ञानशून्यत्वं न** = किमपि वस्तु ज्ञानशून्यं नास्ति । **न** वा **शून्यं उपपद्यते** = केनापि सत्त्वेन साधयितुं शक्यते । **शून्यस्य बोधाभावत्वात्** = ज्ञानाभावत्वात्, संसारो ज्ञानशून्यो भविष्यतीति **कः केन अत्र** = संसारे, **विबोध्यते** ? न कोऽपीत्यर्थः । कथं न विबोधनम् ? तत्राह—सर्वस्य शून्यत्वे सति **शून्यस्य शून्येन बोधनं** नैव, न चापि **बाधनम्** युज्येत । ननु संवृत्यैव = ज्ञानेन बुद्धया वा, **हि प्रमाणम्** = प्रमाकरणम्, **उपपद्यते** = सिद्धयति, सा संवृतिर्हि, **निवार्या** = बाध्या । यथा शुक्तिरजतप्रत्यक्षस्थले पूर्वं ज्ञानेनैव शुक्तिका रजत्वेन गृह्यते, पश्चात् तद्रजतज्ञानमेव प्रमाणात्मकज्ञानेन निवार्यते, इति **चेत्** ?

विषय बन जाती है । क्या धूम से बह्नि के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर परोक्ष में वर्त्तमान वह्नि का अनुमाता के अन्तःकरण में स्फुरण नहीं होता ? जब इन्द्रियों का पदार्थों के साथ दूर का सम्बन्ध होता है जैसे श्रवणेन्द्रिय का दूरस्थ घनध्वान आदि के साथ, तब शक्ति की कल्पना की जाती है और वह शक्ति दूसरा कुछ नहीं ज्ञान ही है । इस कारण संसार में कोई भी पदार्थ ज्ञान से शून्य नहीं है और न तो कहीं किसी के द्वारा शून्य की उत्पत्ति ही की जा सकती है ॥८०–८३॥

शून्य ज्ञानाभावस्वरूप है । अतः सबकुछ शून्य होने पर कौन किसको ज्ञान करायेगा । शून्य के द्वारा शून्य का बोधन सम्भव नहीं और सब कुछ शून्य मानने पर शून्य के ही द्वारा किसी की बाध में युक्तियुक्तता नहीं प्रतीत होती । यदि यह कहिये कि बाध का अर्थ है संवृति के द्वारा प्रमाण की उपपत्ति अर्थात् शुक्तिरजत आदि स्थल में मिथ्या संवृति का निवारण होता है और सत्य संवृति की प्राप्ति

शून्यत्वे सति युज्येत, प्रमाणं वोपपद्यते ।
संवृत्यैव, संवृतिर्हि निवार्या चेदसङ्गमः ॥८५॥
शून्यत्वे सति तस्याः स्यात्तस्माद् बौद्धमयुक्तिमत् ।
अन्यत्र युज्यतेऽपोहः शब्दार्थानामसङ्गमात् ॥८६॥
सर्वस्य सर्वभावत्वादिहासौ नोपपद्यते ।
चर्मोपमश्चेदित्यादि यद् बौद्धैः समुदाहृतम् ॥८७॥

असंगमः = असङ्गतिः स्यात् । असङ्गतौ हेतुमाह—**तस्याः** = संवृतेः **शून्यत्वे सति** । यदा सर्वमेव शून्यं तदा संवृतिरपि शून्यैवेत्यसङ्गतिः । **तस्मात् बौद्धं** मतं शून्यवादः **अयुक्तिमत्** = असंगतिभिरावृतम् ॥८२–८५½॥

शब्दार्थानामसङ्गमात् = शब्दार्थयोर्मध्ये वाच्यवाचकसम्बन्धास्वीकारात् । बौद्धैरितिशेषः; **अन्यत्र** = अस्मच्छैवमतादन्यत्र बौद्धमत इति भावः; **अपोहः** = व्यावृत्तिः **युज्यते** = सङ्गतिमाप्नोति । किन्तु **असौ** = अपोहः, **इह** = शिवाद्वैत-सिद्धान्ते **नोपपद्यते** । अनुपपत्तौ हेतुमाह—**सर्वस्य सर्वभावत्वात्** इति । तथा चोच्यते—

नानात्मभावे शैवे वा शैवे वाऽभेदवादिनि ।
सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वात्मत्वमवारितम् ॥
(शि० दृ० ६.१२५) इति ।

ननु कथं सर्वं सर्वात्मकमिति, यावता क्षणिकाक्षणिकत्वेनार्थक्रियाकारित्वतद्भिन्नत्वेन च पदार्थानां परस्परभिन्नात्मकत्वमिति । तथा चोक्तं बौद्धमतावलम्बिभिः—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥
(स० द० सं० २.४)

होती है ? तो यह भी कथन असंगत है क्योंकि शून्यवाद में सब कुछ शून्य होने पर कौन किसका निवारण और उपलब्धि करायेगा ? इस कारण बौद्धसिद्धान्त युक्तिविहीन है ॥८४–८५½॥

जहाँ तक अपोह (= तद्भिन्नभिन्नत्व) की बात है शब्द और अर्थ का सम्बन्ध न मानने के कारण किसी दूसरे (बौद्ध) मत में यह ठीक है किन्तु यहाँ शैवमत में तो 'सर्वं सर्वमयम्, का सिद्धान्त मान्य होने के कारण अपोहवाद असिद्ध है ॥८६–८६½॥

और जो बौद्धों ने "चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः" का उदाहरण दिया वह तो ?र्वत्र सर्व संवित्तेः अर्थात् 'सर्वत्र सर्वज्ञ शिव है । इसके द्वारा खण्डित कर दिया

सर्वत्र सर्वसंवित्तेस्तत्सर्वं विनिवारितम् ।
विकल्पा येऽपि चार्वाकैरुक्तास्तेऽपि न बाधकाः ॥८८॥
सर्वत्र सारभूतत्वात्सर्वत्रैवाजडत्वतः ।
सर्वभावस्वभावत्वादभावस्यापि भावतः ॥८९॥
घटात्मककटात्मादेः पदार्थपदयोगतः ।
अभावस्य कपालादिरूपत्वाद् वस्तुता स्थिता ॥९०॥

इति चेत् ? तत्राह—**सर्वत्रेति** । सर्वाः संवित्तयो यस्यासौ सर्वसंवित्तिः, तस्य **सर्व-संवित्तेः** = शिवस्य, **सर्वत्र** सत्त्वात्, **तत्सर्वम्** = बौद्धानां समुदाहृतम्, **विनिवारितम्** = खण्डितम् ॥८६–८७$\frac{1}{2}$॥

येऽपि विकल्पाः = चतुर्विधमहाभूतातिरिक्तात्मनोऽस्तित्वाभावः, तस्यानित्यत्वम्, अनुमानादेरप्रामाण्यमित्यादिस्वरूपाः, **चार्वाकैरुक्तास्तेऽपि** सर्वसंवित्तेः शिवस्य सार्वत्रिकत्वे **न बाधकाः** । अत्र हेतुमाह—**सर्वत्रेति** । शिवस्य **सर्वत्र** = सर्वस्मिन्नपि तत्त्वे **सारभूतत्वात्** = तत्त्वरूपेण स्थितत्वात् । **सर्वत्रैव च अजडत्वतः** = चैतन्यस्य सत्त्वात् । सर्वे च **भावाः** = पदार्थाः चिदचिद्रूपाः । तस्यैव शिवस्य **स्वभावाः** तस्मात्, शिवरूपत्वादित्यर्थः । **अभावस्यापि** = लोके व्यवह्रियमाणस्याभावपदस्यापि, **भावतः** = अर्थस्वरूपेण व्याप्नुवतः व्याप्तत्वादित्यर्थः । **घटात्मककटात्मादेरिति**—घटः = पदं तस्यात्मा = अर्थः, तौ स्तः अस्य सम्बन्धस्येति घटात्मकः सम्बन्धः एवं कटात्मकः; तौ आदी यस्य सम्बन्धसमुदायस्य तस्य; घटकटस्वरूपपदपदार्थयोः सम्बन्धस्य सत्त्वात् तेन रूपेणापि शिव एवास्ते । यथा घटादेः **अभावस्य कपालादिरूपत्वात् अभावस्य वस्तुता** = वस्तुस्वरूपत्वं न चावस्तुस्वरूपत्वम्, **स्थिता** = प्रत्यक्षतया वर्त्तमाना दृश्यते; तथैव सर्वस्याप्यभावस्य, **वस्तुत्वे** = येन केनापि रूपेण सत्त्वात्, **कस्यचिदपि** वस्तुनो **विनाशो नास्ति** । एवं च सिद्धा

गया । जो चार्वाकों ने विकल्प उपस्थापित किये वे भी एकतत्त्व की सिद्धि में बाधक नहीं हैं । क्योंकि सर्वत्र तत्त्वरूप में शिव वर्त्तमान है और इस कारण सर्वत्र अजड अर्थात् चेतन विद्यमान है । संसार में समस्त पदार्थ उसी के स्वभाव हैं, यहाँ तक कि जिसे हम लोकव्यवहार में अभाव मानते हैं वह भी भावस्वरूप शिव ही है॥ ८७–८९॥

जिसप्रकार घट पट आदि पदार्थों का पद से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार घटाद्यभाव रूप पद का भी किसी अर्थ से सम्बन्ध है और वह है कपाल । इस प्रकार अभाव की भी वस्तुस्वरूपता सिद्ध है । और जब अभाव भी वस्तुस्वरूप हो गया तो फिर किसी भी वस्तु का नाश सम्भव नहीं हैं । और अभाव को यदि

अभावस्यापि वस्तुत्वे न विनाशोऽस्ति कस्यचित् ।
अभावस्यापि करणे सम्पत्तिर्नोपपद्यते ॥९१॥
कुण्डलादिषु भावेषु सर्वथैव सुवर्णता- ।
व्याप्तेरखण्डितैवास्ते शिवता सर्वगामिनी ॥९२॥
सर्वज्ञानातिरेकत्वे स्थिते वक्ष्यसि किं स्वके ।
दर्शने, [यच्च][1] नानात्वं बन्धमोक्षावुदाहृतौ ॥९३॥

अभावस्य वस्तुता । तस्य क्रियात्वनिराकरणायाह—**अभावस्यापीति । अभावस्यापि, करणे** = क्रियास्वरूपत्वस्वीकारे, **सम्पत्तिः** = कपालादिरूपेण प्राप्तिर्घटाभावस्य, **नोपपद्यते** = न सिध्यति । तस्मान्नाभावः क्रिया, अपि तु वस्तु । **कुण्डलादिषु, भावेषु** = कार्यरूपेण विद्यमानेषु पदार्थेषु **सर्वथैव** = सर्वात्मना, कारणरूपेण **सुवर्णता-व्याप्तेः**, एतदवगन्तव्यं यत्सर्वत्र **सर्वगामिनी** = सर्वव्यापिनी **शिवता अखण्डितैवास्ते** न तु नानाकार्येषु नानाकारणरूपेणेति भावः । अथवा तस्याः खण्डनं न शक्यते विधातुमिति तात्पर्यम् ॥८८–९२॥

सर्वज्ञानातिरेकत्वे इति—शिवस्य **सर्वज्ञानातिरेकत्वे** = सकलज्ञानातिशायित्वे **स्थिते** = सिद्धान्तरूपेण स्वीकृते, त्वं बौद्धः **स्वके** = विज्ञानवादिनि शून्यवादिनि वा, दर्शने **किं वक्ष्यसि** ? न किमपि वक्तुं शक्नोषीत्यर्थः । ननु शैवदर्शनेऽपि नानात्वं बन्धमोक्षादिकं चोच्यत इति कथमुच्यते सर्वगामिनी शिवताऽखण्डितेति ? तत्राह— **यच्चेति । यच्चा**स्मच्छैवदर्शने पदार्थानां **नानात्वमुक्तम्**, पशुरूपाणां जीवात्मनां च **बन्धमोक्षौ** कथितौ; **आत्मनाम्** = पशुकल्पानां जीवानां **मलित्वम्** = आणवमायीय-

क्रिया मानेंगे तो 'घटाभावो जायते' कहने पर कपालरूप सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं होगी । तथा कुण्डल आदि पदार्थों में सबप्रकार से सुवर्णता व्याप्त होने के कारण सर्वगामिनी शिवता का खण्डन आपकी शक्ति के बाहर हैं ॥९०–९२॥

सर्वज्ञानातिरेकत्व अर्थात् संसार में शिवस्वरूप ज्ञान को छोड़कर और कुछ नहीं हैं; वही सर्वातिशायी हैं, यह जब सिद्ध हो चुका तो आप अपने दर्शन में और क्या कहेंगे । जहाँ तक नानात्व को लेकर बन्ध-मोक्ष की बात कही गई हैं या आत्माओं का समलत्व कहा गया है या समस्त पदार्थों में भेद की बात भी शैव दर्शन में सत्य कही गई है तो वह तो परमसत्य की खोज में चलने वाले जिज्ञासु के क्रमिक ज्ञान के लिए कही गई है । यदि प्रारम्भ से ही एकरूपत्व की बात कह दी जाय तो सिद्धान्त में ही सन्देहबुद्धि हो जाएगी । फलतः व्यावहारिक नानातत्त्वों

१. क यत्र ।

मलित्वमात्मनां प्रोक्तं सर्वभावेषु भेदिता ।
सत्यमुक्तमारुरुक्षोस्तत्क्रमप्रतिपत्तये ॥९४॥
अन्यथा ह्येकरूपत्वे विचिकित्सा प्रवर्त्तते ।
विना बोधं प्राथमिके निर्यत्नश्च भवेदसौ ॥९५॥
बन्धमोक्षाद्यभावेन निर्मलोऽत्र करोति किम् ।
न च वा प्रत्ययं गच्छेत् झटित्येकोक्तिमात्रतः ॥९६॥

कार्ममलयुक्तत्वं प्रोक्तम्, **सर्वेषु भावेषु** = पदार्थेषु **भेदिता** = भेदश्च प्रोक्तः, एतत्सर्वं सत्यमेवोक्तम्, किन्तु **तत्** = एषा सत्योक्ति; **आरुरुक्षोः** = शैवसाधनां प्रविविक्षोः, **क्रमप्रतिपत्तये** = क्रमिकज्ञानाय, उक्तमिति शेषः । लौकिक व्यवहारबुद्ध्या तत्सर्वं शास्त्रे उक्तम् । तथा चाहुः—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न दृश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥
(मा० का० २४.१८) इति

उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥
(मा० का० २४.१७)

इति च । **अन्यथा** = यदि व्यावहारिके जगति वर्त्तमानानां नानात्वादीनां चर्चा न क्रियेत **एकरूपत्वे** = अथ चैकस्यैव तत्त्वस्य सर्वत्र सिद्धान्ततया प्रतिष्ठा स्यात् तदा व्यवहारजगति वर्त्तमाननानात्वरूपस्य सिद्धान्ततया च वर्त्तमानैकरूपस्य परस्पर-भिन्नत्वात् शास्त्रस्य सिद्धान्ते किं वा परमशिवस्यैकत्वे सार्वत्रिकत्वे च **विचिकित्सा** = सन्देहः, **प्रवर्त्तते** । **बोधं विना** = व्यावहारिके जगति वर्त्तमानस्य नानात्वादेर्ज्ञानं विना, **असौ** = परमार्थोपलब्धिपथमारुरुक्षुः, **प्राथमिके** = साधनात्मक-प्रयासे, **निर्यत्नश्च** = चेष्टाहीनश्च, **भवेत्** । बन्धमोक्षयोरप्यनिवार्यतां ब्रूते—**बन्ध-मोक्षाद्यभावेने**त्यादिना । यदि जीवात्मनो बन्धमोक्षादिकं न स्यात् तदा **तदभावेन**

के ज्ञान के बिना प्राथमिक ज्ञान के विषय में जिज्ञासु प्रयत्न नहीं करेगा । यदि व्यवहारजगत् का बन्धमोक्ष न हो और पारमार्थिक निर्मलता ही हो तो जीव इस संसार में आकर क्या करेगा ? मात्र एक बार कह देने से तत्काल उसे परमज्ञान भी तो नहीं होगा । इसीलिए भगवान शंकर ने शैवदर्शन का प्रवचन किया न कि परमार्थ को बतलाने के ध्येय से । क्योंकि परमार्थ तो मलापसृति के बाद स्वयं ज्ञात हो जायगा ॥९३–९६½॥

तदर्थमुक्तमीशेन न परार्थविवक्षया ।
अनेकेषामणूनां च कथमेकत्र संस्थितिः ॥९७॥
अमूर्त्तत्वाद्यदि भवेदमूर्त्तत्वेऽपि वस्तुता ।
वस्तुत्वे संस्करोत्येव नानासत्तानुयोगतः ॥९८॥
व्याप्यः स देश एकेन व्याप्यतेऽप्यपरैः कथम् ।
परस्परेण व्याप्यत्वाद् व्याप्यव्यापकता भवेत् ॥९९॥

निर्मलः सन् **अत्र** = अस्मिन् संसारे **किं करोति** जीवः ? न किञ्चित् कुर्यादित्यर्थः । आपत्त्यन्तरमाह—**झटितीति** । **झटिति** = सहसा पूर्वपरिचयं विना, **एकोक्तिमात्रतः** = सर्वं सर्वात्मकं सर्वं शिवमयम्' इत्येकेनैव वचनमात्रेण, **प्रत्ययम्** = वस्तुतः शिव एव परमार्थो न पुरो दृश्यमानं जगद् इति विश्वासम्, **न गच्छेत्** = न प्राप्नुयात् । **तदर्थमेव ईशेन** = श्रीकण्ठरूपधारिणा परमेश्वरेण, एतच्छास्त्रम्, **उक्तम्** न तु **परार्थविवक्षया** = परमतत्त्वकथनेच्छया, तत्तत्त्वस्य कथनेऽपि साधनाद्वारेणैवोपलभ्यमानत्वात् ॥९३–९६½॥

ननु **अनेकेषामणूनाम्** = असंख्यजीवानाम्; **एकत्र संस्थितिः कथम्** इति चेत् ? उत्तरमाह—**अमूर्त्तत्वात्** तेषामिति शेषः, प्रकाशवत् । नचा**मूर्त्तत्वेऽपि** तेषां **वस्तुता** अस्त्येव तर्हि कथमेकत्र स्थितिः इति वाच्यम्; व्यवहारदृष्ट्या जीवात्मनां वस्तुत्वेऽपि परमार्थत एक एव परमेश्वरः **नानासत्ताऽनुयोगतः**=अनेकानेकसद्वस्तुस्वरूपेण स्वात्मानं **संस्करोति** क्रीडावशादित्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपीत्येवकारोक्तेरभिप्रायः । ननु यदि **एकेन** = पुरुषेण पदार्थेन वा कश्चिद्देशो व्याप्तः तदा **स देशोऽपरैरपि** पुरुषैः कथं व्याप्यते ? कथमपि न व्याप्तुं शक्नोतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—**परस्परेणेति** । **परस्पेण व्याप्यत्वात्** = द्वयोर्मिथो व्याप्यत्वात् **व्याप्यव्यापकता**रूपः सम्बन्धो **भवेत्** । यथा बंगीयत्वभारतीयत्वयोर्मध्ये । यदि **तत्र** = एकस्मिन् देशे, **पुरा** = प्रथमत एव, **अन्यः** = कश्चित्, **वर्त्तते** = वर्त्तमानोऽस्ति, तदा **असौ** = देशः, **अपरैः** = पुरुषैः व्याप्तो न भवेत् । एतद्व्यावहारिकीं यथार्थतां मनसि निधायाक्षिपति—**आकाशेति** ।

प्रश्न है कि अनेक अणुओं अर्थात् जीवों का एक स्थान पर रहना कैसे सम्भव होता है ? उत्तर है कि अमूर्त्त होने के कारण, प्रकाश के समान । फिर प्रश्न है कि यद्यपि वे अमूर्त्त हैं तथापि वस्तु तो हैं फिर एकत्र स्थिति असम्भव है ? उत्तर है कि वस्तु होने पर भी वह ईश नानासत्तास्वरूप में स्वयं क्रीडावश अपना संस्कार करता है । फिर प्रश्न है कि जैसे एक ही स्थान एक देश की अपेक्षा व्याप्य होता है और दूसरे की अपेक्षा व्यापक होता है । पारस्परिकरूप में व्याप्य होने से व्याप्यव्यापकता का सम्बन्ध सिद्ध होता है । इस प्रकार यदि एक स्थान पर कोई

वर्त्तेत यदि तत्रान्यो न व्याप्तोऽसौ पुराऽपरैः ।
आकाशबुद्धिचित्तादेः कथमेकत्र चेत् स्थितिः ॥१००॥
दोषोऽयं भवतामेव नैवमस्मासु तादृशः ।
सर्वस्य सर्वदेहेषु व्यापकत्वव्यवस्थितेः ॥१०१॥
सर्वेषां सर्वदेहस्था संवित् केन निवार्यते ।
कर्मणामानुरूप्याच्चेत्, संविद्बाधा न कर्मभिः ॥१०२॥
अकर्महेतुकेऽप्यस्ति योगिनोऽन्यशरीरके ।
न शवत्वं शरीरे स्यादन्यात्मस्फुरणस्थितेः ॥१०३॥

उक्तोदाहरणेन आकाशबुद्धिचित्तादेः एकत्र स्थितिः कथम् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—**दोषोऽयमिति** । अयं **दोषः** पूर्वोक्तो **भवताम्** = बौद्धानाम्, मत एव भविष्यति, **अस्मासु** = शैवमतवादिषु एवंभूतो दोषो न संभवति । तत्र हेतुमाह—**तादृश** इति । **तादृशः सर्वस्य** = आकाशादिस्वरूपविश्वमयस्य विभोः **सर्वदेहेषु व्यापकत्वव्यवस्थितेः** = व्यापकताऽस्ति—इति शास्त्रसिद्धान्तो व्यवस्थापितोऽस्माभिरित्यर्थः । आकाशादिवत् **सर्वदेहस्था** = चिदचित्सकलप्राणिषु वर्त्तमाना, **सर्वेषाम्** = सकलजीवात्मनाम्, **संवित् केन निवार्यते** ? न केनापीत्यर्थः । ननु **कर्मणामानुरूप्यात्** = प्रारब्धसंचितक्रियमाणत्रिविधकर्मणां न्यूनाधिक्यवत् संविदोऽपि न्यूनाधिक्यं स्यादिति चेत् ? न; **कर्मभिः संविद्बाधाया** अभावात् । तत्र प्रमाणमाह—**अकर्महेतुक** इति । नास्ति कर्म हेतुर्यस्य स तस्मिन्, **अकर्महेतुके** = कर्मानिपेक्ष्य योगशक्त्या निर्मिते, **अन्यशरीरके** = निर्माणचित्तात्मके **योगिनः** संविद्बाधा न भवति; तत्र योगिनः संविदो

क नामक पदार्थ है तो वह स्थान ख नामक पदार्थ से पहले से व्याप्त नहीं था अन्यथा वहाँ क नामक पदार्थ कैसे रह पाता । इसी प्रकार आकाश बुद्धि चित्त आदि की स्थिति एक स्थान पर कैसे होगी ? ॥९७–१००॥

उत्तर है कि यह दोष आप बौद्ध के यहाँ हो सकता है । हमारे मत में ऐसा दोष नहीं है । क्योंकि उस सर्वस्वरूपपरमात्मा की व्यापकता की व्यवस्था सभी शरीरों में है । सभी देहों में रहने वाली सबकी संवित् को कौन रोक सकता है ? यदि यह कहिये कि कर्मों के आनुरूप्य से संवित् का भी आनुरूप्य है अर्थात् संवित् कहीं न्यूनाधिक तो कहीं नहीं के बराबर है ? तो यह भी असंगत है । क्योंकि कर्मों के द्वारा संविद् की बाधा नहीं होती । क्योंकि बिना कर्म के योगी की योगशक्ति से बने हुए अन्य शरीर में भी संवित् या चैतन्य रहता है । वह शव नहीं बनता बल्कि सजीव रहता है । क्योंकि वहाँ भी योगी द्वारा निर्मित चित्त या संवित् की सत्ता विद्यमान रहती है ॥१०१–१०३॥

तत्र कर्म निमित्तं चेद् योगेनाप्यत्र संक्रमः ।
एकबोधो बोधशतैरभिभूतो भवेत्तदा ॥१०४॥
तद्बाधे न परव्याप्तिर्न वाऽव्याप्तेस्तदात्मता ।
मोक्षेऽपि शिवबाहुल्यान्नानानायकता भवेत् ॥१०५॥

सत्ता वर्त्तत एवेत्यर्थः । तस्मिन् योगिनिर्मिते **शरीरे शवत्वम्** = निर्जीवत्वम्, **न स्यात्** । शवत्वाभावे हेतुमाह—अन्यात्मेत्यादि । तत्र **अन्यात्मस्फुरणस्थितेः** = योगिन आत्मातिरिक्ततन्निर्मितचित्तस्य यत् स्फुरणं तस्य **स्थितेः** = सत्त्वात् ॥९७-१०३॥

ननु **तत्र** = योगिनिर्मितशरीरे योगिकृतं **कर्म** निमित्तमिति चेत् ? न, कर्मानपेक्ष्य केवल**योगेनापि अत्र** = निर्मितशरीरे संविदो **संक्रमस्य** शक्यत्वात् । संक्रमे कर्मणां निमित्तत्वस्वीकारे दूषणमाह—**एकबोध** इति । यथा लोके कर्मजनितशरीरवतां मध्ये एकशरीरं तत्रस्थो बोधश्चान्यैरनेकशरीरैस्तत्रस्थज्ञानैश्चाभिभूयते, यथा वा आकाशात्पतितं शुद्धं वर्षाजलं तडागस्थैर्मलिनतोयैरभिभूयते तद्वत् **एकबोधः** = योगिशरीरे वर्त्तमान; निर्माणचित्तस्थैर्बोधशतैरभिभूतो भवेत्; न चेत्थं भवति । तस्मात् कर्माणि न संविद्बाधकानि । **तद्बाधे** = योगिशरीरस्थसंविदोऽन्यनिर्मितशरीरस्थसंविद्भिर्बाधे, योगिचित्तेन **परेषाम्** = निर्माणचित्तानाम्, **व्याप्तिः** = नियमनम्, **न स्यात्** । फलतः स परशरीराणि निर्मातुं न शक्नुयात् । तुष्यतुदुर्जनन्यायेन निर्मातुं शक्नुयादपि तदापि तेषु योगिचित्तस्य **अव्याप्तेः** = अप्रभावित्वात्, तेषां निर्माणचित्तानां **तदात्मता** = योगिचित्तात्मता, न स्यात् । परिणामतः तानि निर्मितचित्तानि स्वतन्त्राणि स्युः । तत्प्रभावश्चायं स्याद् यत् तेषां निर्माणचित्तानां **मोक्षे** शिवबा-

यदि यह कहिये कि योगी के द्वारा निर्मित शरीर में आत्मा का स्फुरण होने में उसके द्वारा किया गया कर्म कारण है तो ऐसा भी हो सकता है कि योग के द्वारा भी उस अन्य शरीर में संवित् का संक्रमण हो जाता है । इसलिए आप (बौद्ध) संवित् के सक्रम में न तो कर्म को और न योग को कारण माने क्योंकि ऐसा मानने पर एक संवित्, जो कि योगी के पूर्वशरीर में वर्तमान है, का सैकड़ों निर्मित शरीरस्थ सवित् से उसी प्रकार अभिभव हो जायेगा जैसे कि वर्षा की स्वच्छ बूँदों से भरने वाले तालाब की गन्दगी से बूदों की स्वच्छता का । और जब योगी के मौलिक शरीर में वर्तमान संवित् का अन्यशरीरस्थ संवित् या बोध से बाध हो जायेगा । तब योगी की अपनी मूल संवित् दूसरे शरीरों में व्याप्त नहीं हो सकेगी अर्थात् वह अपने प्रमुख चित्त के द्वारा निर्माण चित्तों की रचना नहीं कर सकेगा । तुष्यतु दुर्जनन्यायेन यदि कर भी लिया तो उन पर वह व्याप्त अर्थात् प्रभावी नहीं रहेंगा । और जब प्रमुख चित्त की निर्माणचित्तों पर व्याप्ति नहीं रहेगी तो सारे

तस्याधिकमहेशित्वे मोक्षे न्यूनाधिके स्थितिः ।
बहूनां नायकत्वेऽपि नायकत्वं विहन्यते ॥१०६॥
तथा पञ्चविधे कृत्ये नानात्वादक्रिया भवेत् ।
याऽनन्यसदृशी भूमिः सा परा प्रान्तभूमिका ॥१०७॥

हुल्यात् **नानानायकता** = अनेकप्रमुखता **भवेत्** = आपतेत् । अपसिद्धान्तश्चैषः । ननु शिवबाहुल्येऽपि **तस्य** = योगिनः, **अधिकमहेशित्वम्** = अत्यधिकैश्वर्यं स्यात्, एवं च नानानायकता न स्यादिति चेत् ? तत्रोत्तरमाह—**मोक्ष** इति । तथा सति **न्यूनाधिके** = तुल्यत्वरहिते, **मोक्षे** मुक्तात्मनां **स्थितिः** स्यात् । सा तु न कस्यापि शास्त्रस्य सम्मता । दूषणान्तरमाह–**बहूनामिति** । अनेकनायकत्वे विश्वस्य नायकत्वमपहतं स्यात्, तस्य एकस्यामेव व्यक्तौ सत्त्वात् । अनेकनायकत्वे च **पञ्चविधे कृत्ये** = सृष्टिस्थित्यादिके कार्ये, **अक्रिया भवेत्** = पञ्चविधकृत्यात्मकं कार्यमेव न स्यात् । हेतुमाह—**नानात्वादिति** । सृष्ट्यादिकर्तॄणां नानात्वाद् । १०४-१०६½॥

अनेकनायकत्वे सत्यनेकभूमित्वादलक्ष्यता स्यादिति दर्शयति–**याऽनन्यसदृशीति** । **या भूमिः** = स्तरः, **अनन्यसदृशी** = अप्रतिमा अद्वितीया केवला; **सा परा प्रान्तभूमिका** = अन्तिमः स्तरः सदाशिवपर्यन्तं च सा भूमिः । ततः परं परमशिवस्यानन्तं निर्भूमिकं पदम् । यथोक्तम्, **आलमन्दारसंहितायाम्**—

'तत्स्थानं कोटिब्रह्माण्डमहाशून्याद् विलक्षणम् ।
मानं तस्यापि किमपि विद्यते नैव शाम्भवि ॥' इति ।

या पुनः अनेकशिवत्वात् **सर्वसदृशी, सा किम् अनुसार्या** = परलक्ष्यत्वेन प्राप्या

निर्मित चित्त प्रमुखचित्तात्मक न होकर स्वतन्त्र हो जायेंगे । फलतः मुक्तावस्था में भी अर्थात् शरीर छुटने पर जितनी मुक्त संविद् या जीवात्मायें हैं उतने शिव हो जाने से इस विश्व के अनेक नायक होने लगेंगे । यदि यह कहिये कि मुख्य योगी अधिक ऐश्वर्यवान् होगा तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि तब मोक्ष की दशा में भी मुक्त आत्माओं की स्थिति न्यूनाधिक्य में होगी जो कि असंगत और शास्त्रासम्मत है । दूसरी बात यह कि जब अनेक मुक्तपुरुष इस विश्व के नायक होंगे तो विश्वका नायकत्व ही खण्डित हो जायेगा क्योंकि वह एक व्यक्ति में निहित रहता है । अनेक नायक होने पर सृष्टि स्थिति आदि पञ्चविध कृत्य के भी नाना होने से अर्थात् भिन्न-भिन्न नायक के द्वारा भिन्न-भिन्न कृत्य करने के कारण कोई क्रिया ही नहीं होगी ॥१०४–१०६½॥

दूसरी बात यह है कि जो अप्रतिम भूमि होती है वह परा अर्थात् अन्तिम भूमि होती है । उसके बाद परम शिव पद का आनन्त्य है जहाँ कोई भूमि या स्तर

या पुनः सर्वसदृशी सानुसार्या किमुच्यते ।
सर्वज्ञत्वेन सर्वेषामेककार्यानुवर्त्तनात् ॥१०८॥
संसारस्यानुपाल्यत्वाद् द्वेषादिमलहानितः ।
अथवा स्वात्मविभवपरमानन्दतृप्तितः ॥१०९॥
तन्निष्ठत्वात् पञ्चविधकृत्यस्योन्मुखतैव नो ।
भवेन्मुक्तात्मभेदेऽपि, सा त्वनादौ शिवे स्थिता ॥११०॥
अनुवृत्तिः किमाधिक्याद्रागाद्वा तर्हि दूषणम् ।
अनादिशिवतत्त्वस्य स्वामोदः[1] किं न विद्यते ॥१११॥

भवेत् ? न कदापीत्यर्थः । शिवस्य नानात्वात् पञ्चविधकृत्यमेव न स्यादिति पूर्वमेवो-क्तम् । तुष्यतुदुर्जनन्यायेन यदि तेषु मुक्तात्मसु क्रिया भवेदपि तदापि पञ्चप्रकारिका क्रिया नैव स्यात् अपि तु एकप्रकारिकैवेति विशदयति—**सर्वज्ञत्वेने**त्यादिना । सर्वेषां मुक्तात्मनां **सर्वज्ञत्वेन** हेतुना **एककार्यानुवर्त्तनात्**, एककार्यानुवर्त्तने एकगुणत्वं सर्व-ज्ञत्वं हेतुः; **द्वेषादिमलहानितः** संसारस्यानुपाल्यत्वात्, संहाराय द्वेषादेर्हेतुत्वे, तद-नन्तरमेव सृष्टेः सत्त्वात्; अथवाऽनुपालनमपि न स्यात् स्वात्मविभवपरमानन्दतृप्तितः हेतोः; **पञ्चविधकृत्यस्य च तन्निष्ठत्वात्** = शिवनिष्ठत्वात्, **मुक्तात्मभेदे** = नाना-त्मजीववादे, **उन्मुखतैवापि नो** स्यात् । यतो हि **सा** = उन्मुखता, तु **अनादौ** एक-स्मिन्नेव **शिवे स्थिता** ।

ननु परमशिवस्थस्य पञ्चविधकृत्यस्यानुवृत्तिः किं तस्मिन् शिवत्वस्य **आधिक्याद्**

नहीं है । अनेक शिव होने पर सब शिवों की भूमि सबकी भूमि के समान होगी तो फिर क्या वह अनुसार्य अर्थात् मोक्ष रूप में प्राप्य कही जायेगी ? कथमपि नहीं । मुक्त आत्माओं में भेद मानने पर पञ्चविध कृत्य के प्रति उन्मुखता ही नहीं होगी क्योंकि वह तो अनादि शिव में स्थित है, जोकि एक है । यदि आप मुक्त आत्माओं को एक नहीं मानेंगे तो सभी सर्वज्ञ होंगे फलतः एक ही प्रकार का कार्य करेंगे; उनके लिए संसार रक्षणीय होगा; ईर्ष्या द्वेष आदि मल उनके अन्दर नहीं रहेंगे अथवा अपने वैभवस्वरूप परमानन्द के कारण वे सदा तृप्त रहेंगे इसलिए उनके अन्दर पञ्चविधकृत्य के प्रति उन्मुखता की सम्भावना ही नहीं है ॥१०७–११०॥

प्रश्न है कि पञ्चविध कृत्यों की अनुवृत्ति क्या शिवत्व की अधिकता से होती है या राग से ? यदि राग से होती है तब तो उस शिव के अन्दर भी मानवीय दोष आ जायगा । इसके अतिरिक्त यह बताइये कि क्या शिवतत्त्व का अपना

---

१. क दं ।

तदप्यस्ति कर्तृता चेत्तेषां तत्तादृशं न किम् ।
अथ राज्ञो यथा राजकर्म विदधतः सुखम् ॥११२॥
निजं तस्य न हीयेत तद्वत् परमकारणे ।
यदि तत्, तर्हि मोक्षेऽपि विशेषः किं निवार्यते ॥११३॥

भवति ? रागाद्वा ? यदि रागात् तर्हि **दूषणम्** = रागादयस्तु मनुष्यादीनां पशुप्रायणां जीवानां भवन्ति ते तु दोषा एव । अन्यच्च **किमनादिशिवतत्त्वस्य** नैज **आमोदो नास्ति** येन स रागादिवशात् पञ्चविधकृत्यं कुर्यात् ? तथा चोक्तं शिवमहिम्नस्तोत्रे—'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।' इति । तदेवाह—**स्वामोदं किं न विद्यते** ? इति ॥१०७–१११॥

तदप्यस्तीति—ननु तत् = आमोदतत्त्वम्, **अप्यस्ति** तथापि पञ्चविधकृत्यकर्मिका कर्तृताऽस्त्येवानादिशिवे सा तु दोषः, तस्याः पशुप्राणिकर्मत्वात्, इति चेत् ? तत्राह—**तत्तादृशमिति** । तत् = पञ्चविधकृत्यकर्मककर्तृत्वम्, **तादृशम्** = स्वामोदवत् स्वाभाविकं किं **नास्ति** ? अस्त्येवासन्दिग्धम् । तन्निदर्शनेन स्पष्टयति—**अथेति** । **यथा राज्ञो राज्यकर्म** = राज्यरक्षणं प्रजापालनादिकम्, **विदधतः तस्य निजं सुखं न**, **हीयेत** = न्यूनतां याति, **तद्वत् परमकारणे** = शिवेऽपि, पञ्चकृत्यं विदधतः तस्य स्वामोदो न हीयते । यदि, **तत्** = परमशिवे विद्यमानं पञ्चविधकृत्यं व्यवहारात्मके जगति वर्त्तमानात् कृत्याद् विशिष्टं भवता मन्यते, **तर्हि** = तदा **मोक्षेऽपि विशेषः** = आधिक्यरूपं वैशिष्ट्यं, **किम्** कथम्, **निवार्यते** = न स्वीक्रियते ? ॥११२–११३॥

आमोद नहीं है जिससे कि वह रागवश पञ्चविध कृत्य करेगा ? पुनः प्रश्न है कि मान लीजिये आमोद है भी किन्तु ऐसा मानने पर भी तो पञ्चविधकृत्यकर्मक-कर्तृता तो उसमें आयेगी जो कि दोष होगा क्योंकि कर्तृत्व पशुप्राणी का धर्म देखा जाता है ? उत्तर है कि फिर क्या उन पञ्चविधकृत्यों का कर्तृत्व वैसा अर्थात् स्वामीदवत् अर्थात् स्वाभाविक नहीं हैं ? अवश्य ही है । जैसे राज्यकार्य को करते हुए भी राजा का अपना सुख क्षीण नहीं होता उसी प्रकार परम कारण के विषय में भी जानना चाहिए ॥१११–११२$\frac{1}{2}$॥

यदि परमकारणस्वरूप परमशिव के अन्दर विशिष्ट पञ्चविधकृत्य है जो कि व्यवहार जगत् से भिन्न है यह आप मानते हैं तो मोक्ष के विषय में भी मैंने जो अधिक महेशित्व की चर्चा की थी उस वैशिष्ट्य का आप वारण क्यों करते हैं ? जैसे पशुकल्प जीवों का या शिवों का मोक्ष होता है वैसे ही उस परमशिव का भी मोक्ष मानने पर या जैसे अन्यजीवों का पञ्चविधकृत्य और तत्कर्मक कर्तृत्व होता है वैसा ही परमशिव का भी मानने पर अनेकात्मता के कारण वैसे ही दोष

तथा तस्य यथान्येषां यथान्येषां तथाऽस्य तु।
तस्मादनेकात्मतया दोषा आयान्ति तादृशाः ॥११४॥
तस्मादेकशिवत्वेऽत्र स्थिते नैकस्य बन्धता।
मोक्षता चोपपद्येत निर्मलं समलं तथा ॥११५॥
रूपद्वयं युक्तिमत् स्याज्जन्मादेर्युगपन्न च।
सम्भवः स्यात्, तथारूपशिवत्वादन्यदर्शने ॥११६॥
दूषणं संप्रसज्येत, न तथेह कदाचन।
एकत्वे बन्धताद्यस्ति, द्विषः [वा-][1] दिषु ते यथा ॥११७॥
एकस्यैवात्मनो यद्वदङ्गभेदो विचित्रता।
युग[पद् वान्ध्य][2]पीडादिस्तद्वन्नानाशरीरता ॥११८॥

यथा अन्येषाम्=पशुकल्पानां जीवानां शिवानां वा मोक्षः तथा तस्य=परमशिवस्य मोक्षस्वीकारे, किं च यथा अन्येषाम् = जीवानाम्, पञ्चविधकृत्यम्, तथा अस्य = परमशिवस्य तु स्वीकारे अनेकात्मतया तादृशा दोषा आयान्ति = उपतिष्ठन्ते। तस्मादेकशिवतत्त्वं स्वीक्रियताम्। तदेवाह—तस्मादेकशिवत्वे इति। अत्र स्थिते = अस्मिन् सिद्धान्ते सति, एकस्य = परमशिवस्य, बन्धता मोक्षता च नोपपद्येत। निर्मलमिति। विश्वमये च तस्मिन् समलं रूपं तस्य विश्वोत्तीर्णे च निर्मलमिति रूपद्वयं च युक्तिमत् स्यात्।

अन्यच्चानेकशिवानां जन्मादेर्युगपत् न सम्भवः। तत्र हेतुमाह—तथारूपशिवत्वादिति। परमशिवस्य तथारूपत्वादित्यर्थः। अन्यदर्शने = बौद्धवेदान्तादौ, अनेक-

उपस्थित होते हैं। इसलिए एक शिव मानिये। ऐसा मानने पर एक परमशिव की न तो लोकदृष्ट्या पञ्चविधकृत्यकारितास्वरूप बन्धन और न मोक्ष होगा। एक ही साथ उसका निर्मलत्व और समलत्व तथा विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दो रूप यह सब युक्तिसंगत हो जायगा। साथ ही अनेक शिव का जन्म आदि भी एक साथ नहीं होगा क्योंकि परमशिव उसी स्वरूप का है। दूसरे दर्शनों में यह दोष आ जायेगा। जैसे हमवादी के विषय में द्वेषी, तुम्हारे मत में एक परमेश्वर मानने पर बन्धता आदि दोष होता है वैसे यहाँ हमारे शैव मत में नहीं है ॥११३–११७॥

जिस प्रकार एक ही आत्मा अर्थात् शरीर में अङ्गभेदस्वरूप विचित्रता है अर्थात् एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार वाले अङ्ग हैं या एक ही आँख में एक साथ अन्धत्व और पीड़ा आदि होते हैं उसी प्रकार इस विचित्र विश्व

१. क—का। २. क—पट्वन्ध।

स्थितेऽपि वाऽत्र नानात्वे कैवल्ये न विशेषता ।
एकोऽपि तत्र वैरूपो बहवोऽप्येकरूपिणः ॥११९॥
सर्वज्ञत्वादिरूपेण सर्व एव शिवाः स्थिताः ।
व्यापकाश्च तथा सर्वे सर्व एवात्मसंविदः ॥१२०॥

परमात्मतायाः, दूषणं **सम्प्रसज्येत** अत्र तु न । **यथा वादिषु**=अस्मासु शैवदार्शनिकेषु **द्विषः** = द्वेषं कुर्वत , **ते** = तव बौद्धस्य, **एकत्वे** = एकेश्वरत्वस्वीकारे तस्य **बन्धताद्यस्ति**, तस्मिश्च बन्धमापन्ने एकात्मत्वात् सर्वषां जीवानां सहैव बन्धादिकं प्राप्यते **तथा इह** = शैवे शास्त्रे **कदाचनापि** नेत्यन्वयार्थः । **यद्वत्** = यथा, **एकस्यैव आत्मनः** = शरीरस्य, **अङ्गभेदः** = इमौ हस्ताविमौ पादाविति भिन्नता अत एव **विचित्रता** भवति; यथा वा एकस्यैव नेत्राङ्गस्य **आन्ध्यं पीडादिः** भवति, तथैव एकस्यैव परमशिवस्य कुक्कुरशूकरकीटपतङ्गमानवदानवरूपा **नानाशरीरता** वर्त्ततेऽस्मिन् जगच्छिल्पिनोऽद्भुतशिल्पचातुरीमुख्यप्रत्यक्षोदाहरणे विश्वब्रह्माण्डे । **अत्र** = अस्मिन् विश्वब्रह्माण्डे, **नानात्वे** = नानाशरीरात्मत्वे, **स्थिते** = सिद्धान्तरूपेण स्वीकृते वर्त्तमाने च, **कैवल्ये** = मोक्षे **विशेषता** = भिन्नत्वं न्यूनाधिक्यं वा नास्ति ॥११४–११८½॥

यथा व्यावहारिके जगति एकैव व्यक्तिर्नानारूपेण व्यवहरति; कस्याश्चित् पतिः, कस्याश्चित् पुत्रः, कस्यचिच्च पिता भवति सा एव, तथैव समष्टिरूपेणैक एव शिवः, **तत्र** = व्यष्टौ, **वैरूपः** = विविधरूपं विरूपं तदस्यास्तीति विरूपः (अर्श आदिभ्योऽच् पा० सू० ५.२.१२७) विरूप एव वैरूपः; स्वार्थेऽण् । नानारूपवान् । व्यष्टिबुद्धया ये बहवः प्रतीयन्ते तेऽपि समष्टिदृष्टया एकरूपिणः सन्ति । सर्वस्य शिवरूपत्वात् सर्वत्र सर्वज्ञत्वम् । आदिना व्यापकत्वं ग्राह्यम् । तेन रूपेण **सर्वे** एव जीवाः **शिवाः**= शिवरूपेण **स्थिताः** = वर्त्तमानाः सन्ति । **आत्मसंविदः** = आत्मज्ञानवन्तः । **एतस्यामपि** भिन्नत्वाद्यवस्थायां **नामभेदः** = नाम्ना कारणेन भेदः—भिन्नता न वर्त्तते ।

ब्रह्माण्ड में एक ही परमशिव का भिन्न-भिन्न शरीर है । और मान लीजिये आप इस जगत् में वर्त्तमान शरीरों में परस्पर भेद भी माने तो भी सबके द्वारा प्राप्य मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है ॥११८–११८½॥

जैसे इस जगत् में एक ही व्यक्ति अनेकरूपों वाला बन जाता है उसी प्रकार समष्टिरूप से एक होते हुए भी व्यष्टि रूप में यहाँ विरूपता है । और व्यष्टि की दृष्टि से शरीर बहुत होते हुए भी समष्टि की दृष्टि से वे सब एकरूपी हैं । सर्वज्ञत्व आदि के रूप में तो सबके सब शिव ही इस जगत् में वर्त्तमान है । सभी व्यापक है और सभी आत्मज्ञान से युक्त हैं ॥११९–१२०॥

एतस्यामप्यवस्थायां नामभेदो न विद्यते।
हतं केनैकरूपत्वं सामान्येऽपि व्यवस्थिते ॥१२१॥
शिवत्वे न विशेषोऽस्ति शावलेयादिवद्यथा।
तासु व्यक्तिषु, रूपादिसन्निवेशादिभेदतः ॥१२२॥
वैलक्षण्यं गवादीनां, न तथेहास्ति किञ्चन।
मुक्तेषु निर्विशेषत्वात् केनैक्यं तत्र वार्यते ॥१२३॥
युगपत् सर्वकार्याद्वा सम्मतत्वादमत्सरात्।
तावता विश्वसम्पत्तेः सर्वज्ञत्वादचित्रता ॥१२४॥

तत्र हेतुमाह—हतमित्यादिना। **सामान्ये** = शिवत्वे सर्वत्र **व्यवस्थितेऽपि**, सर्वस्य **एकरूपत्वं केन हतम्?** केनापि वारयितुं न शक्यते इति भावः। यथा **शावलेयादौ** शावलेयत्वेन न **विशेषः** = भेदः, तथैव, **तासु** = पृथक् पृथग् दृश्यमानासु, व्यक्तिषु शिवत्वेन न भेदः। **रूपादि** इत्यत्र आदिना रागः, **संनिवेशः** = अवयवसंरचना, आदिना संज्ञा ज्ञेया। एतस्य सर्वस्य भेदाद् भवतु नाम गवादीनां वैलक्षण्यं महिषादिभ्यः, किन्तु इह = मोक्षविषये तथा किञ्चनापि भिन्नत्वं नास्ति। **मुक्तेषु** = जीवात्मसु, **निर्विशेषत्वात्** = वैशिष्ट्याभावात् **तत्र** = मुक्तेषु, **ऐक्यम्** = साम्यम्, केन वार्यते? न केनापीत्यर्थः ॥११९–१२३॥

अधुना सर्वत्र भेदाभावे हेतून् प्रदर्शयति—**युगपदित्यादिना**। **युगपत्सर्वकार्यात्**—भोजनशयनासनादीनां सर्वैः सदा क्रियमाणत्वात्, **सम्मतत्वात्** = शास्त्रैः सिद्धमहात्मभिश्चानुमोदितत्वात्, **अमत्सरात्** = मात्सर्यस्याभावात्, एतावता विश्वसम्पत्तेः सर्वविधज्ञानत्वात् सर्वैः, **अचित्रता** = भेदाभावः सिद्ध इति शेषः।

शैवे = शिवमहिम्नि **नानात्मभावे** = विविधरूपेण वर्त्तमाने अथवा **शैवे** = शिवमयत्वे **अभेदवादिनि** = एकत्वे, **सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वात्मत्वं अवारितम्** = अखण्डितम्। यथा **पुष्पदन्तोक्तिः**—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह—
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

इस सर्वज्ञत्व व्यापकत्व आदि की अवस्था में नाम के कारण जीवों में परस्पर भेद नहीं है। जब सर्वसर्वज्ञत्व आदि के रूप में सामान्य अर्थात् सर्वशिवत्व की सिद्धि हो गई तब सबके एकरूपत्व का खण्डन कौन कर सकता है? जिस प्रकार शावलेय आदि में शावलेयत्वेन कोई भेद नहीं है उसकी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों

नानात्मभावे शैवे वा शैवे वाऽभेदवादिनि ।
सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वात्मत्वमवारितम् ॥१२५॥
अनन्तशक्तियोगित्वादलुप्तत्वात् स्वशक्तिषु ।
स्थितं शिवत्वं सर्वत्र विशेषाच्छैववादिनाम् ॥१२६॥
एकत्वेन ततो ज्ञेया शिवता सर्वगोचरा ।

अनन्तशक्तियोगित्वात् = शिवस्यानन्तशक्तियुक्तत्वात्, स्वशक्तिषु = आत्मशक्तेर्विषये तस्याः विमर्शशक्तेः अलुप्तत्वात् = अक्षीणत्वात् शैववादिनाम् = शैवमतावलम्बिनाम्, विशेषात् = विशेषरूपेण, सर्वत्र शिवत्वं स्थितम् । यथाह न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनः—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥'

तत् = तस्मात्, सर्वगोचरा = सर्वविषयिणी शिवता, एकत्वेन = एकरूपतया, ज्ञेया ।

इति श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिकृतायां श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ षष्ठमाह्निकम् ।

के शिवत्व में कोई भेद नहीं है । रूप संनिवेश आदि के भेद के कारण गाय आदि में भेद भले दिखाई पड़ता हो परन्तु मोक्ष के विषय में ऐसी स्थिति नहीं है । क्योंकि मुक्त पुरुषों में परस्पर कोई भेद न होने से वहाँ ऐक्य को कौन रोक सकता है ? ॥१२१–१२६॥

समस्त शास्त्रों और सिद्ध महात्माओं के द्वारा मुक्त पुरुषों का साम्य सम्मत होने से, एक साथ सभी कार्यों के होने से और मात्सर्य का अभाव होने से समस्त विश्व का सर्वविध ज्ञान होने से भेद के अभाव की सिद्धि होती है । चाहे शिव की महिमा को नानात्मभाव से देखें या उसे अभिन्नरूप में कहें इस संसार में सब कुछ सर्वस्वरूप है और सर्वात्मक है यह निर्विरोध मत है । चूँकि शिव अनन्त शक्ति से युक्त है, साथ ही अपनी शक्तियों के विषय में उसका ज्ञान या विमर्श लुप्त नहीं हुआ है इस कारण शैवमत के अनुयायियों के लिये तो सर्वत्र शिव स्थित ही हैं । इस कारण समस्त पदार्थों में वर्त्तमान एकशिवता जाननी चाहिए ।

●

सप्तममाह्निकम्

अथ स्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधुनोच्यते।
तस्मिञ्ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते शिवत्वमनिवारितम् ॥ १ ॥
वह्निर्ज्ञातोऽथवाऽज्ञातः प्रकाशं जनयेन्न किम्।
अज्ञातं न सुवर्णं किं तदा किमुपलं भवेत् ॥ २ ॥

वृत्तिः— पल्यङ्के मोदमाना हिमगिरितनया मस्तके प्रस्खलन्तीं
सासूयं जह्नुतनयामतिकुपितदृशाऽऽलोक्य रोषं वहन्ती।
स्नेहप्रस्कन्नदृष्ट्या विकसितवदना लालिता येन सद्यो
दिव्यैराराध्यमानः स भवतु भवतां भूतये चन्द्रचूडः ॥

प्रथमाह्निके शिवस्य विश्वमयत्वमुपपाद्याद्वितीयाह्निकादा च षष्ठमाह्निकं वैयाकरणबौद्धादिनानामतमतान्तराणि पूर्वपक्षतां नीत्वा तत्खण्डनं च विधायेदानीं पूर्णाहन्त्वं किं रूपम् ? कथं च तदवाप्तिः ? कथं चात्मनः शिवमयत्वलाभः ?—इत्यादिविषयैर्ग्रन्थमुपसंहर्त्तुकामः प्रस्तौति–अथेति। **सर्वदिक्केति**—सर्वा दिशो यस्य सः, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्; सर्वासु दिक्षु परिव्याप्त इत्यर्थः। सार्वतं त्रिकं पौर्वापर्यं विमृश्य शिवतत्त्वस्य सर्वव्यापित्वं च सिद्धान्तीकृत्येदानीमिदं प्रतिष्ठाप्यते यत् सर्वसमाहितं परमशिवतत्त्वं कश्चिज्जानातु न वा, स्वीकरोतु वा न वाः तत्तु शश्वदस्त्येव। तस्य सत्त्वं निषेद्धुमशक्यमित्यर्थः ॥१॥

उपर्युक्तं दृष्टान्तेन समर्थयति—**वह्निरिति**। यथा प्रकाशजनने वह्नेः स्वरूपकारणता न तु ज्ञातकारणता, तथैव विश्वस्यास्य प्रजनने स्थितौ संहृतौ वा शिवस्य स्वरूपकारणतैव। **किमिति** काक्वाऽऽवश्यकत्वस्याक्षेपः; अवश्यमेव जनयेदित्यर्थः। एवमेव सुवर्णमज्ञातं सत् न कदापि उपलं भवितुं शक्यते ॥२॥

चि०—जब सब ओर से सर्वत्र शिवतत्त्व की सत्ता स्थापित हो चुकी तो अब हम यह कहने जा रहे हैं कि चाहे शिवतत्त्व सबको मालुम हो या न मालुम हो वह निश्चित् रूप से सर्वत्र और सब समय वर्त्तमान है ॥१॥

अग्नि ज्ञात हो या अज्ञात, क्या प्रकाश उत्पन्न नहीं करता ? क्या सुवर्ण यदि ज्ञात हो तो सुवर्ण है और यदि ज्ञात न हो तो वह पत्थर हो जायगा ? ॥२॥

सत्यमेवं तथापीह सुवर्णं ज्ञातमात्रकम् ।
मूल्यादिनोपभोगाय दानार्थमुपयुज्यते ॥ ३ ॥
चिन्तामणिरविज्ञातो भवेच्चिन्तामणिः स्फुटम् ।
तथापि कार्यभोगार्थं स ज्ञातः केन वार्यते ॥ ४ ॥
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे हि भावना करणं व्रजेत् ।

अनुपायवर्णनम्

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ॥ ५ ॥

ननु सुवर्णस्य ज्ञानाज्ञानयोर्यदि न कोऽपि भेदस्ताभ्यां वा न काचिदुपलब्धिर्वा तर्हि कथं कश्चित् सुवर्णज्ञानाय प्रयतेत ?–इत्याशंकायामाह—**सत्यमेवमिति**—यद्यपि सुवर्णस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां न कश्चिद् भेदस्**तथापि इह** = अस्मिन् व्यवहारात्मके जगति, **सुवर्णम्**, ज्ञातमात्रमेव **ज्ञातमात्रकम्** = विज्ञातं सत् 'स्वार्थे कन्'; **मूल्यादिना** आदिपदेनाभूषणनिर्माणादिकं ज्ञेयम्, तद्द्वारा; **उपभोगाय** = उपभोगः सुखाद्यनुभूतिः तदर्थम्, **दानार्थं** वा **उपयुज्यते** । ज्ञानाभावे उपभोगदानादेरसम्भवात् ॥३॥

उदाहरणान्तरमाह—**चिन्तामणिरिति** । **चिन्तामणिः** = काल्पनिकं मनोकामनापूरकं रत्नम्, स यदि केनापि न ज्ञातः तदापि तस्य स्वरूपे न काचित् परिवृतिर्विकृतिर्वा स्यात्, तथापि **ज्ञातः** सन् **सः**; कार्यं च भोगश्चेति द्वन्द्वसमासः । कार्यार्थं भोगार्थं च भवन् केनावरोद्धुं शक्यते ? न केनापीत्यर्थः ॥४॥

दृष्टान्तमुपस्थाप्येदानीं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्ज्ञाने जाते फलभेदमाचक्षते—**सकृदिति** । 'सुवर्णं मूल्यवद् वस्तु' इत्येकवारमपि यदि ज्ञातं भवति तदा तज् ज्ञानं प्रेरयति पुमांसं तदर्जनायोपभोगाय च । यथा यथाऽर्जनाधिक्यं तथा तथा तल्लाभेऽधिगर्ध इत्यहो सुवर्णज्ञानस्यानवधि दुःखजनकत्वम् । तद्विपरीतं च शिव-

---

यद्यपि ज्ञाताज्ञात सुवर्ण में कोई अन्तर नहीं है यह सत्य है, तथापि यदि सुवर्ण ज्ञात है तो वह मूल्य आदि के द्वारा उपभोग के लिए है तथा दान के लिये उसका उपयोग होता है ॥३॥

चिन्तामणि अज्ञात रहने पर भी निःसन्देह चिन्तामणि ही रहेगा फिर भी ज्ञात होने पर वह कार्य एवं भोग के लिये किसके द्वारा रोका जा सकता है ? ॥४॥

एक बार सुवर्ण का ज्ञान होने पर उसकी भावना कार्यरूप में परिणत होती है अर्थात् सुवर्ण का अर्जन उसका आभूषणनिर्माण, पहनना आदि शुरू हो जाता है । किन्तु शिवतत्त्व का ज्ञान इसके विपरीत है । एक बार यदि किसी प्रमाण से,

ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाऽपि वा ॥ ६ ॥
ज्ञातेऽपि तरुभूम्यादिदाढर्चान्न करणादिकम् ।
भूतले प्रत्ययं याति न भावः करणं न च ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानमित्याह—**एकवारमिति** । **प्रमाणेन** = अनुमानेन । यथाह—**न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनः**—

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥" ५.१॥

"स एवं भगवान् श्रुतोऽनुमितश्च, कैश्चित् साक्षादपि दृश्यते; प्रमेयत्वादेः; घटवत् इत्यादि" ॥५.१७॥

शास्त्रात् = वेदोपनिषदादेः । यथा पुरुषसूक्ते—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥"

इति । **गुरुवाक्याद्वा** । यथा—'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति नारदेनावेदितो भगवान् सनत्कुमारः प्राह—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' 'यो वै भूमा तदमृतम्; 'स स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः यदि वा न महिम्नीति' । (छा० उ० ७.२३–२४) ।

सर्वस्मिन् तिष्ठतीति सर्वस्थः "सुपि स्थः" (पा० सू० ३.२.४) इति कप्रत्ययः । तस्मिन् **सर्वस्थे** = सर्वव्यापिनि विश्वमये **शिवत्वे ज्ञाते** = अनुभवपथं नीते सति; **प्रतिपत्त्या** = यथार्थज्ञानानन्तरं भूयो भूयो मननस्वरूपानुष्ठानात्; **दृढात्मना** = दृढ आत्मा यस्य स, तेन, दृढविश्वासयुक्तेन पुरुषेण सता, **करणेन भावनया वा** किमपि कर्त्तव्यमवशिष्टं न भवति । तथा चोक्तं भगवता श्रीमद्भगवद्गीतायाम्—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३.१७॥ इत्यादि ६॥

शास्त्र से अथवा गुरूपदेश के द्वारा शिवतत्त्व की सर्वत्र विद्यमानता ज्ञात हो जाती है तथा ज्ञान होने पर वह विश्वास दृढ़ हो जाता है तो उसके बाद न तो करण की आवश्यकता होती है और न भावना का कोई प्रयोजन होता है ॥५–६॥

व्यवहार जगत् में भी वृक्ष पृथ्वी आदि का ज्ञान दृढ़ होने पर करण आदि नहीं भी होते । भूतल का ज्ञान हो जाता है पर न तो उसकी भावना होती है और न वहाँ कोई कार्य होता है ॥७॥

तस्माच्छिवेऽप्यविज्ञाते ज्ञाते वा शिव एव ते।
सर्वमेवात एवैतद्भावनाकरणाच्च्युतम् ॥ ८ ॥
विज्ञातं जायते पुंसां यद्यप्येवमवस्थितम्।
तथापि चित्रकर्मार्थमुपायो वाच्य आदरात् ॥ ९ ॥

उदाहरणान्तरमाह—**ज्ञातेऽपीति**। यथा वृक्षपृथिव्यादिस्थावरजंगमपदार्थानां ज्ञानसद्भावेऽपि निष्प्रयोजनत्वात्तत्र किमपि कार्यं न क्रियते केनचित्, नापि क्रियमाणं दृश्यते, **यथा च भूतले** = पृथिव्याम्, **प्रत्ययम्**—प्रतीतिरनुभवः **याति** = भवति पदार्थानामिति शेषः। किन्तु तत्प्रत्ययमनुसृत्य न च भावना हृदय उल्लसति; नापि क्रिया भवति ॥७॥

उदाहरणात् किमायातम् ?-इति प्रकटयति—**तस्मादिति**। शिवतत्त्वस्य ज्ञानं भवतु, मा वा भूत् **ते** = तव संसारिणः **सर्वमेव** = निखिलमेव कर्तृत्वकर्मत्वादिकम्, **अत एव** = यतः परमार्थतस्त्वं शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो शिवोऽसीत्यतः, **एतद्भावना-करणात्** = एतस्य = शिवस्य, **भावना** = **सर्वभावाः शिवाकाराः, सोऽहं शिवः'** इत्यादिरूपा, तस्या **करणात्** = अनुष्ठानात्, **च्युतम्** = निरस्तम् भवति ॥८॥

ननु शिवतत्त्वस्याज्ञाने विज्ञाने वा वैशिष्ट्याभावाच्छास्त्राणां नैरर्थक्यं प्राप्तमिति ? तत्राह—**विज्ञातमिति**। यद्यपि **एवम्** = उक्तदिशा, **अवस्थितम्** = शश्वदेकरूपेण वर्त्तमानम् **पुंसाम्** = लोकानाम्, **विज्ञातं जायते** = जानन्त्येव जना यच्छिवोऽस्ति, **तथापि आदरात्** न तूपेक्षाबुद्धया **उपायो वाच्यः**। तत्र हेतुमाह—**चित्रकर्मार्थमिति**। यद्यपि शिवतत्त्वं सदा पार्श्वस्थमेवास्ति तथापि स्वग्रीवाधिनद्धविस्मृतग्रैवेयकमिव कार्ममायीयाणवमलैरावृतः सोऽविज्ञात इवात्मानं जानाति। शास्त्रीयैरन्यैर्वोपायैस्त्रिविधमलापसारणत्वमेव चित्रकर्मत्वम्। तदेव दृष्टान्तेन स्फोरयति—**तज्ज्ञानेति**। **तस्य** = त्रिविधमलैरावृतस्य, अत एवाज्ञातकल्पस्य शिवस्य यज्ज्ञानं तस्य **स्फुटता** = निर्मलता तस्याः हेतो, **उपायो वाच्य** इत्यध्याहार्यः। दृष्टान्तमाह—**चिन्तारत्नेति**। यथा चिन्तामणिः सुवर्णो वा ज्ञातः सन् व्यवहाराय भवति तथैव शिवोऽपि ज्ञातः सन्नप्राप्तकल्पस्य मोक्षस्य प्राप्तौ हेतुतां यातीति भावः ॥९–९½॥

इस कारण शिवतत्त्व के भी ज्ञात अथवा अज्ञात होने पर भी इसीलिए सब कुछ शिव की भावना करने से छूट जाता है ॥८॥

तज्ज्ञानस्फुटता हेतौ चिन्तारत्नसुवर्णवत् ।
वह्निर्यद्यपि विज्ञातः प्रकाशादि करोत्यसौ ॥१०॥
तथापि योजितो युक्त्या प्रकाशमधिकं गृहे ।
दीपेनान्यतमेनापि न तथा वह्निराशिना ॥११॥

शाम्भवोपायवर्णनम्

तस्मादुपायो वक्तव्यो दृष्टकार्यप्रसिद्धये ।
ततः स्वात्मक्रियौन्मुख्यमिच्छाप्रथमकोद्गमः ॥१२॥

यद्यपि रात्रौ प्रकाशं चिकीर्षुणा केनचित् पुरुषेण 'वह्निः प्रकाशादिकृत्' इति ज्ञानवता सता प्रदीप्तो वह्निः प्रकाशदाहादिकं करोत्येव तथापि स एव वर्त्तितैल-संयुक्तो दीपस्वरूपं गृह्णन् प्रकाशाधिक्यस्य हेतुर्भवति यावता परिमाणेन, न तावता राशित्वमुपपन्नः । एवमेव शिवोऽपि यद्यपि स्वरूपेण विश्वस्य कारणं, तथापि ज्ञातः सन् भवबन्धविमोक्षहेतुरिति सकलशास्त्रसिद्धपुरुषानुभवसम्मतमेव ॥१०–११॥

प्रास्ताविकं परिसमाप्य प्रस्तोतव्यमुपन्यस्यति—**तस्मादिति** । दृष्टम् = प्रत्यक्षं यत् कार्यं तस्य प्रसिद्धिस्तस्यै, इदं पुरो दृश्यमानं विश्वं तस्मात् परमशिवात् कथमाविरभूत् ? इति साधनाय उपायो वक्तव्यः । उपायमाह—**तत इति** । यदा स परमेश्वरः **'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय'** इत्यैक्षत ततः । **स्वात्मनि** = परमेश्वरे या **क्रिया** = ईक्षणम्, तस्या **औन्मुख्यम्** = अभिलाषमात्रविश्वरचनायोग्यतायाः प्रथमो विकासः, किञ्चिदुच्छूनता वा; स एव **इच्छायाः** = सिसृक्षायाः, प्रथम एव **प्रथमकः** तथाभूतः **उद्गमः** = आविर्भावः संजातः ॥१२॥

यद्यपि यह निश्चित है कि वह परमतत्त्व लोगों को ज्ञात रहता ही है तथापि चिन्तामणि अथवा सुवर्ण के समान उसके ज्ञान की ओर अधिक स्पष्टता के कारण चित्र कर्म के लिए आदर पूर्वक उपाय कहना चाहिए । यद्यपि अग्नि लोगों को ज्ञात रहता ही है और प्रकाश आदि करता ही है तथापि युक्तिपूर्वक संयोजित होने पर दीपक के द्वारा जितना प्रकाश करता है उतना राशि के द्वारा नहीं करता ॥१०–११॥

इसलिए दृष्टकार्य की प्रसिद्धि के लिए उपाय कहना चाहिए । परमेश्वर जब प्रारम्भ में अकेला अद्वैत रहा; उसके वाद उसकी आत्मा में क्रियौन्मुख्य अर्थात् इच्छा का प्रथम उल्लास हुआ । उस इच्छा के अन्दर उसके अनन्तर होने वाले समस्त चित्र-विचित्र कार्य छिपे हुए थे । उसकी आकृति शिविका (फली, छीमी)

समस्तचित्रकार्यान्तर्गर्भिणी शिबिकाऽऽकृतिः ।
स्वरूपाह्लादनिर्मुक्तिरहितेच्छोदयोद्गमः ॥१३॥
शवला चितिरुच्येत परस्य पररूपिणी ।
सा शक्तिः परमेशस्य संस्थिता द्रव्यकर्मवत् ॥१४॥
न द्रव्यव्यतिरिक्ताऽस्ति क्रिया न च न विद्यते ।
न तयाऽपि विना कार्यं किंचनापि हि जायते ॥१५॥

तदेदमात्मानमात्मना ज्ञातुं विश्वब्रह्माण्डरूपेणात्मानमाभासयितुं च यत्तस्येक्षणं सा एव चितिशक्तिः । सा च तदन्तर्हिता । तस्मात्तदभिन्न एव परमेश्वरः । सा च शक्तिः **समस्तचित्रकार्यान्तर्गर्भिणी** = समस्तानि च चित्रकार्याणि विश्वरूपाणि अन्तर्गर्भे यस्याः सा, तथाभूता । तस्या स्वरूपं दृष्टान्तयन्नाह—**शिबिकाकृतिरिति** । शिबिका—कलायादीनामावरणात्मिका त्वक्, फली छीमी इति व्यवहार्या । यथा शिबिका स्वाभ्यन्तरे कलायाद्यन्नकणानन्तर्धाप्य तिष्ठति तथैव सा चिच्छक्तिरपि विचित्रभावाभरणात्मकं जगद् आत्मनि पिधाय राजते । यदा स तादृगिच्छावान् भवति तदात्मानमात्मनः शक्त्या तिरोदधाति । फलतः स, **स्वरूपाह्लादस्य** = स्वात्मानन्दस्य या **निर्मुक्तिः** = निरर्गलप्रवाहः तया रहितः संजायते । तादृशस्य परमेश्वरस्येच्छाया **उदयोद्गमो** भवति ॥१३॥

सैवेच्छा, **परस्य** = परमेश्वरस्य परमशिवस्य, **पररूपिणी** = अपरा, **शबला** = अन्तश्चित्रविचित्रा, **चितिः उच्येत** । सैव **परमेशस्य** = परमशिवस्य, शक्तिः द्रव्येषु कर्म इव सम्यक् वर्त्तते । यथा घटादीनि द्रव्याणि जलाहरणादिक्रियावन्ति सन्त्येव यथा च 'क्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्' इति द्रव्यलक्षणं चोन्नीयते शास्त्रकृद्भिस्तथैव शक्तिरपि परमात्मनि निरूढाऽस्ति ॥१४॥

द्रव्यव्यतिरिक्ता=द्रव्यात् पृथक् । ननु यदि द्रव्यात् पृथङ् न दृश्यते क्रिया तर्हि तत्सत्तैव नास्ति? तत्राह—**न च न विद्यते** इति । अवश्यमेव सा अस्ति । 'नञ्द्वयं प्रकृत्यर्थं द्रढयति ' इति नयेन तस्या आवश्यकी सत्ता संसूच्यते । तथाचोक्तं भगवता गीतायाम्—'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्, इति । 'उत्सीदेयुरिमे

के समान थी । वह उत्पन्न इच्छा ऐसी थी जिसमें परमशिव को अपने रूप-आनन्द का ज्ञान नहीं था । वह चिति कही जाती है जो कि आभ्यन्तरतः शबल है । परमेश्वर की पररूपा वह चितिशक्ति द्रव्यों में वर्त्तमान कर्म के समान छिपी हुई स्थित थी ॥१२–१४॥

क्रिया द्रव्य को छोड़कर नहीं रहती । और यह भी नहीं है कि उसकी सत्ता नहीं है । न तो उसके बिना कोई कार्य ही होता है ॥१५॥

न चापि केवलाद् द्रव्यात् किंचनापि प्रवर्त्तते ।
तस्मादित्थमिह ज्ञेयं शाक्तं रूपमभेदवत् ॥१६॥

शाक्तोपायवर्णनम्

प्रथमोदय इच्छायाः सर्वभावै[क्य¹]देश्यता ।
स एव शाक्तबोधात्मस्वच्छावयवरूपवान् ॥१७॥

लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।' इति च । तदेवाह—**तया** क्रियया, **बिना**ऽस्मिन् जगति किमपि कर्त्तव्यं न भवति ॥१५॥

सृष्टिस्थितिसंहारात्मिकासु प्रवृत्तिषु द्रव्यमेव न कारणम्, तत्र क्रियाऽप्यावश्यिकी । **तस्मात्** कारणात् **इत्थम्** = उक्तप्रकारेण, **इह** = विश्वस्मिन्, **शाक्तम्** = शक्त्या निर्वृत्तम्, '**तेन निर्वृत्तम्**' इत्यण्, **रूपम्** = परशेश्वरस्य विश्वमयं रुपम्, **अभेदवज् ज्ञेयम्** ॥१६॥

यश्च परमात्मनि **इच्छायाः** प्राथमिक उन्मेषः स **सर्वभावैक्यदेश्यतारूपः** । विश्वस्य सर्वे स्थावरजंगमाः पदार्थाः मयूराण्डरसन्यायेन तस्मिन्नेकस्मिन्नेव परमशिवे तिष्ठन्ति निगूढाः । इदं च परमेश्वरस्य विश्वोत्तीर्णं रूपम् । तस्य च द्वितीयं रूपं विश्वमयम् । तदेव निर्वक्तुं प्रयतते—**स एवे**त्यादिना । सर्वे च ते भावाः सर्वभावाः; तेषामैक्यम्, सर्वभावैक्यम्, ईषद समाप्तं तत् इति सर्वभावैकयदेश्यं तस्य भावः **सर्वभावैक्यदेश्यता**=सर्वेषां पदार्थानां एकत्वं किञ्चित् परिसमाप्तमिव लक्ष्यते परमेश्वरे इत्यर्थः । ईषदसमाप्त्यर्थे सर्वभावैक्यशब्दाद् देश्यप्रत्ययः । चरमे भावार्थे 'तल्' । **स एव** = **इच्छाया प्रथमोदय** एव, **शाक्तबोधात्मस्वच्छावयवरूपवान्** । यदा स आत्मशक्त्याऽऽत्मनो बोधं करोति 'अहम्' इति, तदा स शाक्तबोधात्मा परमेष्ठी स्वच्छावयवरूपवान् भवति । न तत्र मललेशावकाश इत्यर्थः । तत्र विश्वरूपात्मत्वं विमृशति स केवलम् 'अहम्' इति ॥१७॥

केवल द्रव्य से किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती । इस कारण इसी रूप में शाक्तरूप को अभिन्न के समान जानना चाहिए ॥१६॥

यह इच्छा का प्रथम उदय समस्त पदार्थों की एकस्थानिता रूप है अर्थात् उस एक इच्छा में विश्वब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ ज्ञानरूप में सुप्त पड़े रहते हैं । वह प्रथम उदय ही शाक्तबोधवाला स्वच्छ अवयवरूप वाला है । अर्थात् वहाँ पृथक् स्थूल या सूक्ष्म अवयव आदि नहीं है ॥१७॥

---

१. का

स्वानन्दैकरसाह्लादी स्वकार्यार्थशरीरवान् ।
तथा स्थितस्य ध्यानेन बोधाद्वा तत्स्वरूपभाक् ॥१८॥
तस्येच्छास्पन्दनं पूर्वन्यग्भावो ह्लादसंगमः ।
भूपभूपतिशक्त्याभमग्र्यं तत्पूर्णचिल्लयात् ॥१९॥

परमेश्वरस्य शक्तिपञ्चकेषु चिच्छक्तिस्तस्यान्तरंगतमा । इच्छायाः प्रथमोदये तस्या एव चिच्छक्तेरुदयस्तस्मिन् शिवे जायते । तेन स 'अहम्' इत्यात्मानं विमृशति । चिच्छक्त्यपेक्षयाऽनन्दशक्तिर्बहिरङ्गा । 'अहम्' इति विमर्शानन्तरं यदा किञ्चिदुन्मेषो वर्धते तदा साऽऽनन्दशक्तिरपि जागर्ति । तदा तस्य स्वरूपं **स्वानन्दैकरसाह्लादि** भवति । तदवस्थायामहमाकारो विमर्शः प्रौढतामापन्नो भवति । यथोक्तं **महेश्वरानन्देन महार्थमंजर्याम्—**

'स एको विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्त्तुं चोन्मुखो भवन् ।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः ॥ (म०मं०१४) इति ।

तदा तस्य सृष्ट्याद्यात्मकं कार्यमेव **अर्थः** = प्रयोजनम्, तदेव तस्य शरीररूपी संजायते । तदा स आत्मानमेव ध्यायति 'अहम्' इति अवगच्छति वा तथैव ! तेन **ध्यानेनावबोधेन** वा स विश्वमयं स्वरूपं दधाति ॥१८॥

यदा तस्येच्छाया स्पन्दनं भवति तदा तस्य पूर्वावस्थातो **न्यग्भावः** = किञ्चित् चित्स्वरूपसंकोचः । तेन संकोचेन सहैव **ह्लादसंगमः** = स्वातन्त्र्ययुक्तता भवति । पूर्णचितः, **लयात्** = किञ्चित् संकोचात्, तस्य स्वरूपं **भूपः** = राजा, **भूपतिः** = सम्राट्, तयोः शक्तिरिव भवति ॥१९॥

वह प्रथम उदय अपने ही आनन्दैकरस से आनन्दमय है । उसका अपना कार्य-रूप प्रयोजन ही उसका शरीर है । अपने उस स्वरूप में उसीप्रकार स्थित वह परमेश्वर ध्यान से अथवा आत्मावबोध से उस प्रकार के स्वरूपवाला हो जाता है ॥१८॥

जब उसकी इच्छा का स्पन्दन होता है तब वह अपनी पूर्व अवस्था से थोड़ा निम्न कोटि का बन जाता है और आनन्द के साथ संश्लिष्ट हो जाता है । तब उसकी स्थिति राजा या सम्राट् जैसी हो जाती है । अर्थात् जैसे एक राजा या सम्राट् के दृश्यमान क्षुद्र शरीर में असीम शक्ति समाविष्ट रहती है और उसे उसका बोध भी रहता है उसी प्रकार । उसका वह स्पन्दन प्रथम पदार्थ है । उस समय उसका पूर्णचित्त्व किञ्चिन्मात्रा में उसकी ही इच्छा से तिरोहित हो जाता है ॥१९॥

याति व्याप्तिं तथाभूतां शाम्यदामोदसत्क्रियाम् ।
शान्तानन्दवपुः स्वच्छः उररीकृतदृक्क्रियः ॥२०॥
मध्यव्योमशान्तबोधभरलब्धोदयः शिवः ।
तस्यापि विद्युदालोकवदभेदवती चला ॥२१॥

तथाभूताम् = न्यग्भूताम्, चितः संकोचात्; **शाम्यती** = शान्तिं प्राप्नुवती, **आमोदसत्क्रिया** = आनन्दैकरसास्वादः, ताम् **व्याप्तिं याति** = व्याप्नोति । चितः संकोचात् 'अहम्' इति पूर्णानन्दैकरसास्वादः, तत्रानन्दास्वादेऽपि किञ्चित् संकुचिते यदा स 'अहम्' इति ज्ञानवान् भवति तदा स शान्तानन्दवपुः स्वच्छो भवति 'हृदय-त्रिकोणमधुमांसलोल्लासः' स्वरूपमानन्दोच्छलत्वं किञ्चिच्छान्तिमाप्नोति । तया विना इच्छादीनामनुदयात् । तस्मिन् काले तस्य हृदये इच्छाप्रधाने ज्ञानक्रिये उदितः । तदेवाह—**उररीकृतदृक्क्रिय** इति । दृक् = ज्ञानम् तस्य स्वरूपमन्यथा निर्वक्ति—**मध्यव्योमशान्तबोधभरलब्धोदय** इति । यथाकाशस्याभ्यन्तरीणो भागः शान्तो निरुपद्रवो भवति तथा तस्मिन् काले शिवोऽपि 'अहमस्मि' इति स्वात्मबोधस्य भारेणान्यस्वरूपं शान्तं लभते; तदेवाह—**लब्धोदय** इति । तस्य स्वरूपस्य किं नाम ? इति जिज्ञासायामुक्तम्—**शिव** इति । तदुक्तं **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे**—

'यदयमनुत्तरमूर्त्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥

इति (श्लोक १) २०–२०½॥

तस्यापि = शिवतत्त्वस्यापि, शैवी शक्तिः, **अवस्थिता** = शिवस्य अभ्यन्तरे वर्त्तमाना, **भासते** = शिवात् पृथक्तया निषेधव्यपाररूपा प्रतीयते । तस्या वैशिष्ट्यं विवृणोति—**विद्युदेति** । यथा सौदामिन्याः प्रकाशस्ततोऽभिन्नोऽपि भिन्न इव प्रतीयते, 'विद्युत आलोकः' इति लोके भेदव्यवहारात्; तथैव सा शक्तिरभिन्नाऽपि भिन्नेव दृश्यते । अथ च सा **चला** = चित्तत्त्वस्य क्रियाशीलता-गतिशीलता-रूपाऽस्ति । अन्यच्च सा भविष्यत्काले शिवात् स्वस्य भेदस्य भेदाच्च जायमानस्य सृष्टिस्थितिसंहार-निग्रहानुग्रहरूपपंचकृत्यस्य यज्ज्ञानं तस्य, **प्रौन्मुख्यवर्त्तिनी**=ज्ञानाभिमानिनी अस्ति ।

उस समय वह शाम्यदा अर्थात् शान्ति देने वाली आनन्दयुक्त उस प्रकार की सत्क्रिया से व्याप्त हो जाता है । तथा शान्ति और आनन्द उसका शरीर हो जाते हैं । वह स्वयं स्वच्छ तथा ज्ञान क्रिया वाला हो जाता है ॥२०॥

जब वह स्वच्छ आकाश के समान शान्त तथा बोध के भार से युक्त हो जाता है तब वह शिव कहलाता है । उसकी शैवी शक्ति विद्युत् और उसके प्रकाश के समान उस शिव से अभिन्न चल, भविष्य में होने वाले अपने भेदस्वरूप विस्तार और

भाविस्वभेदतत्कृत्यज्ञानप्रौन्मुख्यवर्त्तिनी ।
निजभावकृतसृष्टितदनुग्रहचेतना ॥२२॥
भासतेऽवस्थिता शक्तिः शैवी शैवार्थदायिका ।
ततः सैव स्वयं बाह्यकार्यप्राक्कलनात्मिका ॥२३॥
न्यग्भूतेच्छाज्ञानमयी स्पन्दनाविततांङ्गिनी ।
विद्यामन्त्रकलाकल्प्यदेहसम्पिण्डितोद्भवा ॥२४॥

निजभावेन = स्वस्याभ्यन्तरे विहितविचारेण, अन्तरेव, **कृतसृष्टिः** = विहितकाल्पनिकसृष्टिः **तदनुग्रहचेतना** = कृताया सृष्टेरुपरि मोक्षणाय विधास्यमानानुग्रहविचारवती कथिता तज्ज्ञैः । अन्ते च तस्याः स्वरूपमाह—**शैवार्थदायिकेति** । **शैवम्** = शिवतत्त्वस्याविर्भावसम्बन्धी **योऽर्थः** = प्रयोजनम् सृष्ट्यादि तस्य **दायिका** = प्रस्तोत्रीति गीयते ॥२१–२२½॥

शिवतत्त्वस्य स्वरूपनिर्वचनानन्तरं द्वितीयं शक्तितत्त्वं व्याख्यायेदानीं तृतीयं सदाशिवतत्त्वं व्याख्यातुमुपक्रमते—**तत** इति । महेश्वरानन्दप्रधाना शक्तिः । यथोक्तं—**क्षेमराजेन "आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना"** इति । **सैव** = शैवीशक्तिरेव, स्वयं बाह्यतया स्रक्ष्यमाणं जगत् प्रथममात्मन्याकलयति विश्वमीदृक्तया ईदृशं च स्रष्टव्यमिति । तदवस्थायां तस्या इच्छा **न्यग्भूता** = मलिनीभूता संकुचितेत्यर्थः । ज्ञानं च प्रस्फुटितं प्रधानं भवति । तदेवाह—**न्यग्भूतेच्छा** = न्यग्भूता इच्छा यस्याः सा । **ज्ञानमयी** इत्यत्र प्राचुर्यार्थे मयट्; प्रचुरज्ञानवती, ज्ञानप्रधाना-इत्यर्थः । एतदवश्यमवधेयं यदिदं ज्ञानं चैतन्यात् प्रादुर्भूतमपि ततः स्वरूपतो भिन्नम्, ज्ञानेऽस्मिन् विमर्शस्य प्राधान्यात् । **स्पन्दनाविततांङ्गिनी** = स्पन्दनेन आ समन्ताद् विततानि अङ्गानि यस्याः सा, आकलितपूर्णपरिस्पन्दा-इत्यर्थः । विद्यामन्त्रेति—**विद्या**= सद्विद्या शुद्धविद्या यत्र समाधृततुलापुटन्यायेन 'अहम' इदम्' इत्युभयमपि परामर्शः समानो भवति; **मन्त्राः** = अकारादिक्षान्तवर्णाः, **कला**=जीवस्य क्रियाशक्तेः संकोचकं

अपने कृत्य के ज्ञान के औन्मुख्य वाली, अपने अन्दर की गई काल्पनिक सृष्टि और शिव के ऊपर अनुग्रहज्ञान वाली, उल्लसित होती है। वह शैव अर्थ को देने वाली है ॥२१–२२½॥

तदुपरान्त वही शक्ति स्वयं बाह्य विश्वप्रपञ्च की अपने अन्द्रर स्वयं रचना करने वाली होती है। उस समय उसकी इच्छाशक्ति ओर ज्ञानशक्ति कुछ और घनीभूत हो जाती है स्पन्दन और बढ़ जाता है। उस समय विद्या मन्त्र और कला के रूप में कल्पित देह से सम्पिण्डित होकर वह उत्पन्न होती है जिस प्रकार आसमान में तेजःकण सूर्य आदि का प्रकार क्रमशः बढ़ता है उसी प्रकार वह भी क्रमशः

तेजःकणप्रसरवदुपलभ्या वियत्यलम् ।
स्थितिः सादाशिवी चासावधिकाराभिमानता ॥२५॥
समला तत्समाश्लेषात् सर्वेशित्वसमुद्गमः ।
तस्य शक्तिप्रदीपस्य किरणाभोद्यमप्रदा ॥२६॥
ततः स्थूलैर्मन्त्रमयैरङ्गैः सर्वक्रियापरा ।
भवतीश्वररूपेण स्वकार्याखिलरूपिणी ॥२७॥

तत्त्वानां सूक्ष्मं रूपम् एतैः कल्प्यो यो देहः, तस्य या सम्पिण्डितावस्था तत उद्भवो यस्याः सा । **वियति** = आकाशे, **तेजःकणप्रसरवत्** = सूर्यादिकिरणानां क्रमिकवर्द्धमानोत्तापवत्, **अलम्** = पर्याप्तरूपेण, **उपलभ्या** = प्राप्या । एषा शक्तिः सादाशिवी **अधिकाराभिमानता** = अनया शक्त्या संवलितः परमशिवः सदाशिव इति कथ्यते यस्मिन् अधिकाराभिमानित्वं बहिःस्फुटमिव किञ्चिद् भवति । अन्तर्निमेषस्तु प्रौढ़िमापन्नो भवति । यथोक्तम्—"**निमेषोऽन्तः सदाशिवः**" इति ॥२५॥

समला = यदा सोऽभिमानः आणवादिमलैः समाश्लिष्टो भवति तदा तस्यमलस्य **समाश्लेषात्** = संसर्गात्, **सर्वेशित्वसमुद्गमः** = तस्यामेव शक्तौ सादाशिव्याम्; सर्वेश्वरत्वस्योत्पत्तिर्भवति । '**सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं विश्वम्** ।' अत्रेश्वरतत्त्वे तु **वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः** । यथोक्तम्—'**ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः**' इति । यथा प्रज्वल्यमानप्रदीपस्य किरणाः प्रस्फुरन्तो दृश्यन्ते प्रदीपात्, तथैवात्रेश्वरतत्त्वेऽखिलं विश्वमिदन्तया स्फुटमेव प्रतीयते । 'इदम्, अहम्' इति तस्य परामर्शः । एतादृग्विमर्शेषु सर्वत्र पूर्वपदस्य प्राधान्यमवसेयम् । अस्मिन् सर्वेश्वरे ज्ञानस्य प्राधान्ये सत्यपि क्रियाया अपि प्रसरो भवति । यदाऽयं प्रसरो वेगवत्तां भजते तदा सा शक्तिः **स्थूलैः** = श्रुतिगोचरैः **मन्त्रमयैरङ्गैः** = अकारादिनिर्मितैरवयवैः **स्वकार्याखिलरूपिणी** = स्वरूप-

---

वर्धमानप्रसार वाली हो जाती है। यह शक्ति सदाशिव की है। यहाँ पर अधिकार और अभिमान की स्थिति प्रकट हो जाती है। इसका स्वरूप 'अहम् इदम्' है ॥२३-२५॥

अभिमान के संश्लेष से वह परमाशैवी मलयुक्त हो जाती है। और तब सर्वेश्वरत्व का उदय होता है। वह सर्वेश्वरी शक्ति उस शक्तिप्रदीप की किरण के समान होती है ॥२६॥

फिर स्थूलमन्त्रमय अंगोवाली, सब क्रियाओं से युक्त अपने समस्त कार्यों वाली वह शक्ति ईश्वर के रूप में बदल जाती है। इस ईश्वर की शक्ति विश्वरूप में उसी प्रकार छिपी रहती है जैसे घट मृत्पिण्ड में। यह विश्व, शक्ति के रूप में

तस्यापि शक्तिर्मृत्पिण्डघटवद् विश्वतां गता।
यावद्यावत्तरेद् विद्यामायादिघनपार्थिवम् ॥२८॥
तत्त्वं देवस्तथा तावद् भावशक्त्या घटादिके।
निजशक्तिसमाविष्टेरायान्ति शिवसम्पदः ॥२९॥
क्रियाशक्तिपरात्मत्वे क्वचित् पिण्डशिवात्मता।
क्वचिदन्तःकृतौ ज्ञानाद् भवेत् पदशिवात्मता ॥३०॥

कार्यरूपं निखिलं विश्वं दधाना **ईश्वररूपेण** = तदाख्यया सर्वक्रियापरा भवति। अत्रेश्वरतत्त्वे क्रियाशक्तिः प्रधानतयाऽभिव्यक्ता भवति। यथोक्तम्—'**बहिर्भावस्य क्रियाशक्तिमयस्य परत्वे** = उद्रेकाभासने सति **पारमेश्वरम्** = **परमेश्वरशब्दवाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम**।' (ई०प्र० वि० ३.१.२) **तस्यापि** = ईश्वरस्यापि, **शक्तिः**, यथा मृत्पिण्डे घटस्तथैव **विश्वताम्** = विश्वरूपताम्, गता। यथा मृत्पिण्डः प्रत्यक्षं दृश्यमानः स्वस्मिन् समाहितं घटमावेदयति तथैव विश्वमपि ईश्वरे समाहितमिवावेद्यते। एषा स्थितिस्तावत्कालं वर्त्तमाना राजते यावत् स एव **देवः** = ईश्वरः। **विद्यामायादिघनपार्थिवम्** = शुद्धविद्यामायादितः आरभ्य, **घनम्** = स्थूलम्, **पार्थिवम्** = पृथिवीसम्बन्धि वृक्षादिकं **तत्त्वम्** = द्वाविंशतिसंख्याकम्, **तरेत्** = प्रपञ्चतया विस्तृणोति। तावत्कालं च **भावशक्त्या** = आत्मनः पूर्णाहन्त्वभावनया **घटादिके** = समस्तविश्वे, **निजशक्तिसमाविष्टे** = आत्मनः शिवस्य शक्तेः समावेशात्, **शिवसम्पदः** = सर्वाकारयोगित्वं सर्वकर्त्तृत्वं वा सर्वज्ञत्वं पूर्णत्वं नित्यतृप्तत्वं वा, स्वातन्त्र्यं व्यापकत्वमिति पञ्चसंख्याकाः **आयान्ति** = आभासन्ते, शिवस्याभ्यन्तरे स्फुरन्तीत्यर्थः ॥२६-२९॥

चिदाह्लादयोः साम्यावस्थां गतयोः सतोः परमशिवः, न्यग्भूतचिदाविर्भूताह्लाद स्फुरदिच्छः स एवं शिवशक्ती; न्यग्भूताह्लादाविर्भूतेच्छः **उररीकृतदृक्क्रियः** स एव सदाशिवः; यदा ज्ञानं न्यग्भूतं क्रिया च तस्मिन् प्रधानीभूता तदा स ईश्वर इति विविच्येदानीं विलोमदिशा व्याख्यातुमुपक्रमते—**क्रियेत्यादिना**। यदा तस्मिन् क्रियाशक्तेः **परात्मत्वम्** = पूर्णव्यापकत्वं प्राधान्यमिति भावः, संजायते तदा स एव शिवः

ईश्वर में तब तक छिपा रहता है जब तक कि शुद्ध विद्या और माया की स्थिति को पार कर देव अर्थात् ईश्वर, प्रपञ्च को आगे नहीं बढ़ा देता ॥२७–२८॥

फिर भावशक्ति के द्वारा घट आदि में अपनी अपनी शक्ति के समावेश से शिव सम्पत्तियाँ आती हैं। क्रियाशक्ति की परात्मता अर्थात् पूर्णव्यापकता होने पर कहीं तो वही शिव बाह्य स्थूल पिण्ड अर्थात् अर्थ के रूप में और कहीं हृदय के अन्दर ज्ञान के उत्पन्न होने के कारण शब्द के रूप में प्रकट होता है ॥२९–३०॥

इच्छामात्रे रूपशिवस्तरङ्गे तदतीतता ।
कर्तृमात्रे सर्वभावव्यतीतशिवभावता ॥३१॥
दृढाङ्गुलिनिवेशेन दृढस्थूलनिरीक्षणात् ।
भ्रमतो भावचलनात् प्लवाच्च प्रेक्षणाक्षतेः ॥३२॥
पुरोऽणुपुञ्जभ्रान्त्याप्त्या चित्त्वलाभो जडेष्वपि ।
सर्वचित्क्षेपतः साम्यात् सर्वत्रेच्छाऽत्र ईदृशी ॥३३॥

क्वचित् = कदाचित् **पिण्डशिवात्मा** = कलाभुवनादिरूपेण दृश्यमानो बाह्यार्थरूपेण व्यवह्रियमाणः पिण्ड एव शिवस्यात्मत्वम् शिवस्वरूपत्वं व्रजति । एतस्य पूर्वावस्थां संकेतयति—**क्वचिदिति** । यदा स एव स्वस्याभ्यन्तरे ज्ञानप्राधान्यात् सदाशिव-रूपेण राजते तदा तस्यान्तःकरण एव विश्वमिदं घटपटमठादिपदरूपेण वर्त्तमानमास्ते; एषैव **पदशिवात्मता** । यदा च तस्याभ्यन्तरे क्रियाज्ञानयोः सर्वथाऽस्फूर्त्तिः, अस्ति चेच्छाप्रौढिस्तदा सः **रूपशिवः** = निर्विकल्पकं 'किञ्चित्' इति रूपमात्रेणैवात्मान-माकलय्य तिष्ठति । इच्छाया अति **तरंगे** = स्पन्दनमात्रे **तदतीतता** = रूपशिवातीता-वस्था भवति । यदा च तस्मिन् तरंगस्यापि भावो नास्ति, केवलं तरंगकर्तृत्वमेवाभासते तदा स समाहितशक्तिस्वरूपाह्लादोऽतिक्रान्तसर्वभावश्च विश्वोत्तीर्णः परमशिवः सन् राराजत इत्यर्थः ॥३०–३१॥

अतः परं तस्य विश्वमयत्वमुपपादयति **दृढाङ्गुलीत्यादिना** श्लोकद्वयेन—पिण्डीभूतघृतादीनां पात्रे अन्नादीनां भाण्डे वा, **दृढाङ्गुलिनिवेशेन** = सुदूरमङ्गुलीनां प्रवेशेन, **दृढस्थूलनिरीक्षणात्** = दृढम् = प्रामाणिकम्, **स्थूलम्** = मूढजनैरपि संवेद्यं निरीक्षणं, तस्मात् हेतोः, **चित्त्वलाभो**–इत्यादिना योज्यम् । हेत्वन्तरमाह—**भ्रमत** इति । भ्रमिं कुर्वतः पुरुषस्य दृष्टौ **भावचलनात्**=भावानां पदार्थानां घटपटादीनां भ्रमि-दर्शनात्; **प्लवाच्च** = नावादिष्वारूढैः पुंभिः, **प्रेक्षणाक्षतेः** = अवश्यमेव पलायमानानां

जब उसके अन्दर इच्छामात्र रहती है तो वह शिवाकार युक्त होता है । जब केवल इच्छा की तरंगमात्र रहती है इच्छा, पूर्णतः नहीं रहती तब वह इस रूप को छोड़कर रहता है । और जब तरंग से भी परे केवल उस तरंग का कर्तृ-भाव मात्र उसमें रहता है तब वह समस्त भावों से रहित केवल शिवमात्र रहता है ॥३१॥

किसी घृत आदि के वर्त्तन या अनाज के बोरे में काफी गहराई तक उँगली या हाथ डालने पर अधिक दूर तक वस्तु का पता लगता है; किसी चक्कर काटने वाले आदमी को सभी पदार्थ चक्कर काटते हुए दिखाई पड़ते हैं, नौका आदि से भी भागते हुए पेड़ आदि का प्रेक्षण निश्चित होता है; सामने छोटे-छोटे कण उड़ते

प्रतीत्युद्गमकाले तु सार्वभाव्यादसौ विभुः ।
सृष्टानुभवदो रूढेरमूर्त्तज्ञानचिल्लयात् ॥३४॥
ज्ञानयोगसमुद्युक्तिलीनत्वेन क्रियागमः ।
इच्छातः कान्तितेजोभिस्तत्कर्त्तृत्वमहेशता ॥३५॥

गृहवृक्षादीनां दर्शनात्, **पुरः** = समक्षम्, **अणुपुञ्जभ्रान्त्या** = प्रातःकाले जालान्तर्गते भानुभानुषु सूक्ष्मकणसमूहस्य भ्रान्तिदर्शनावाप्त्या, जडेष्वपि चैतन्यस्य प्रातिरुपलभ्यते निश्चीयत इत्यर्थः । परमार्थतः, **सर्वचित्क्षेपतः** = सर्वेष्वपि पदार्थेषु चितः प्रक्षेपस्य, **साम्यात्** = समरूपेण सत्त्वात् क्वचिदप्यभावाभावात्, इदमभिगम्यते यत् **अत्र** = अस्मिन् विषये विश्वेऽस्मिन् **सर्वत्र** = सर्वेष्वपि पदार्थेषु, परमेश्वरस्य **ईदृशीच्छा-**ऽस्तीति शेषः ॥३२–३३॥

यथोक्तं प्रथमाह्निकारम्भे ग्रन्थकर्त्रा—**'आत्मैव सर्वभावेषु···' 'यदा तु तस्य चिद्धर्म...'** इत्यादि, तदेवात्र विवृणोति—**प्रतीत्युद्गमकाले** इति । तदा तस्या इच्छाया प्रतीतिर्जायते तस्य, तदा असौ **विभुः** = व्यापकः परमात्मा, **सार्वभाव्यात्**= सर्वभावस्य ईश्वरत्वात् कारणत्वादित्यर्थः; 'तस्येश्वरः (पा० सू० ५.१.४२) इति सूत्रेण, सर्वभावशब्दादण्; ततः गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (पा० सू० ५.१.१४२) इति ष्यञ् । **रूढेः** = परम्पराऽनुसरणाद्धेतोः अमूर्त्तज्ञानस्वरूपस्य चितो लयात्, **सृष्टानुभवदः** = सृष्टानां = स्वयमेव निर्मितानां पदार्थानाम्, स्वात्मने एव अनुभवं ददातीति **अनुभवदः** = ज्ञानप्रदाता भवति । 'आतोऽनुपसर्गे कः (पा० सू० ३.२.३) इति 'क' प्रत्ययः । भवतीति शेषः ॥३४॥

स्वेच्छया पदार्थान् बुद्धावाकलप्य स्वयमेव तान् विजानन् सः प्रभुर्यदा तान् पदार्थान् स्थूलीकर्त्तुं वाञ्छति तदा **तस्यैवेच्छातः** = इच्छया, **ज्ञानस्य** = पदार्थानां

हुए व्याप्त दिखाई पड़ते हैं । इन सबसे ऐसा लगता है कि सामान्यतः जड़ प्रतीत होने वाले पदार्थों में भी चैतन्य है । सर्वत्र चैतन्य का प्रक्षेप समान होने से ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा की इच्छा ही सर्वत्र ऐसी है ॥३२–३३॥

जब उस इच्छा की उसकी प्रतीति होती है तब वह परमात्मा समस्त भावी जगत् का ईश्वर अर्थात् कारण होने से परम्परा के अनुसार स्वयं को ही सृज्यमान पदार्थो का ज्ञान कराता है । उस समय अमूर्त्तज्ञानस्वरूप उसका चित्त्व तिरोहित हो गया रहता है ॥३४॥

इस प्रतीतिस्वरूप ज्ञान का योगयुक्ति के द्वारा लय हो जाने पर क्रिया का उद्भव होता है । यह उद्भव भी उसकी इच्छा से ही होता है । और कान्ति अर्थात् इच्छा के तेज से वह क्रिया का कर्त्ता तथा महेश्वर हो जाता है ॥३५॥

संविद्देहतद्गतत्वे सवित्स्वातन्त्र्यमापतेत् ।
तोषे निर्वृतियोगो वा दाढर्चात् स्वातन्त्र्यमेतयोः ॥३६॥
दुःखासक्त्याऽन्यथासक्त्या सुखे निर्वृतिभूमिता ।
जडकायाङ्गनिचये मद्दाढर्चोचितचिन्तया ॥३७॥

स्फुरत्त्वस्य, **योगसमुद्युक्त्या** = योगयुक्त्या, **लीनत्वेन** = न्यग्भूतत्वेन, **क्रियाऽऽगमः** = क्रियाया उद्भवो भवति । इच्छया क्रियोद्भवे संजाते, **कान्तेः**=इच्छायाः **तेजोभिः** = प्रभावैः, तस्य **तत्कर्त्तृत्वस्य** = क्रियाकर्त्तृतायाः, **महेशता** = महेश्वरत्वं भवति । शिवतत्त्वे शक्तितत्त्वे वा वर्त्तमानाः, अभेदभूमौ विराजमानाः, अकल इति पदवीभाजः, आभासितपूर्णाहंतत्त्वाः, सर्वोत्कृष्टाः प्राणिनः शाम्भवाः शाक्ताः वेति कथ्यन्ते । ततोऽपकृष्टाः मन्त्रमहेश्वरा इत्यालप्यन्ते । ते भेदमिश्रिताभेदभूमौ राजन्ते । शुद्धसंवित्स्वरूपाणामेषां व्यवहार इच्छामात्रेणैव भवति । निग्रहानुग्रहरूपव्यवहारं प्रत्युन्मुखा इमे व्यवहारनिर्वाहाय स्वेच्छया यदा कदा सूक्ष्मशरीराण्यपि धारयन्ति; तेन कर्त्तार इति व्यपदिश्यन्ते । एतदेव तस्य परमेश्वरस्य महेश्वरत्वम् ॥३५॥

यदि **संविद्रूपदेहतत्त्व** एव **तद्गतत्वम्** = इच्छाया उद्गमः मन्यते तर्हि **संविदः स्वातन्त्र्यमापतेत्** । अपसिद्धान्तश्चैषः; शिवतत्त्वस्यैव स्वातन्त्र्यस्वीकारात् । **तोषः** = इच्छायाः शान्तिः, स्वीक्रियेच्चेत् ? **निर्वृतेः** = आनन्दलक्षणस्वप्रकाशस्वरूपविश्रान्तेः **योगः**=उपलब्धिः; स्यात् । तदा तु सृष्टयादीनां कल्पनैव न भवेत् । **दाढर्चात्** = दृढताविचारात् हेतोः **एतयोः** = शिवसंविदोः स्वातन्त्र्यम् । शैवमतावलम्बिनां कृते शिवस्य स्वातन्त्र्यम् । शाक्तानां च सिद्धान्ते संविदः, शक्तेरेव संवित्स्वरूपत्वादिति सर्वमवदातम् ॥३६॥

ननु **"प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा"**, **"इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः"** इति नीत्या परमात्मनः शिवस्य चिदामोदस्वरूपत्वान्निर्वृतचित्त्वाच्च, जगतश्च—

यदि संवित्स्वरूप देह में ही इच्छा का समुद्गम मान लें तो संवित् का स्वातन्त्र्य सिद्ध होने लगेगा जो कि अपसिद्धान्त है । वस्तुतः स्वातन्त्र्य शिव का है । और यदि तोष अर्थात् इच्छा की शान्ति मान लें तो फिर उस शिव का निर्वृति अर्थात् आनन्दलक्षणा स्वप्रकाशस्वरूप विश्रान्ति से योग होता है । दृढ़तर विचार करने पर इन दोनों शिव और संवित् का स्वातन्त्र्य है ॥३६॥

प्रश्न है कि यदि परमात्मा शिव का यह स्वभाव है कि वह निर्वृति से युक्त रहता है और संसार उसी का स्वरूप है तो फिर संसार में दुःख क्यों है ? उत्तर यह है—दुःख के प्रति भी उसकी आसक्ति अर्थात् इच्छा है । इस आसक्ति से यह

जडाशेषपदार्थात्मरूढेस्तद्बोधपूर्णता ।
निजाभिमानसंसृष्टे स्वशरीरे महोदयात् ॥३८॥

"चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥"
(ई० प्र० १.५.७)

इत्यनुसृत्य परमेश्वररूपत्वात् कथं दुःखमयत्वमस्य ? इत्याशंक्याह—**दुःखासक्त्येति** । **दुःखे** = प्रतिकूलवेदनीये, **आसक्तिः** = रागः, इच्छा वा, तथा, इदं प्रतीयते यत् स परमेश्वरः, **अन्यथा** = लौकिकसुखैश्वर्यादिभिन्नया, **आसक्त्या** = इच्छया, युक्तो भवतीति शेषः । यदस्माभिः संसारिपुरुषैर्दुःखमित्यनुभूयते प्रोच्यते च, तदपि तस्य लीलाविलास एव । **सुखे** = अनुकूलवेदनीये, तस्य **निर्वृतिभूमिता** = निर्वृतिः = अनवच्छिन्नानन्दः सा भूमिः = विश्रामस्थलं यस्य सः, तस्य भावः, तथा भवति ।

प्रथमश्लोकादारभ्य गतश्लोकं यावत् शिवतत्त्वस्य सर्वदिक्त्वं ततश्च जगतः प्राकट्यमुपवर्ण्यदानीं साधनापथमारूढस्य मुमुक्षोः पूर्णाहन्तालाभे तत्तद्भावनया तत्तदुपलब्धिं वर्णयितुमारमते—**जडकायांगनिचय** इत्यादिना । कायस्याङ्गनिश्चयस्य चोभयोर्जडत्वादुभयत्र, **मद्दार्ढ्योचितचिन्तया** = अहं शिव एवेदं सर्वमिति सम्यक् चिन्तनेन; अथवा जडेषु समस्तपदार्थेषु, **आत्मरूढेः** = अहमेवेतत्सकलम् **'मत्तः परतरं किञ्चिन्नान्यदस्ति'** इति भगवदुक्त्यनुसारं विचारे प्रौढिं गते, **तद्बोधपूर्णता** = आत्मबोधस्य पूर्णत्वं पूर्णाहन्तेत्यर्थः, भवतीति शेषः ॥३७–३७½॥

यथा **निजाभिमानसंसृष्टे**=अहं शिवोऽहं वा सर्वमिति स्वस्य विषये योऽभिमानः, तेन युक्ते, **स्वशरीरे**=आत्मशरीरे साधकस्य देहे—इत्यर्थः, **महोदयात्**=पूर्णाहन्तायाः समुदयो भवति, तथैव **अन्यदेहे** = कृमेरारभ्यमहत्तमशरीरं यावत् सर्वत्र, **तथावृत्ते** =

समझना चाहिए कि वह अन्यथा अर्थात् सुख से भिन्न, आसक्ति से युक्त है । और सुख में तो वह निर्वृति भूमि पर ही विश्राम करता है या स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है । अब आगे पूर्णाहन्ता की विशेषता बतलाते हैं । जड शरीर में अथवा अंगों के समूह में मेरी अर्थात् शिव की ही दृढता है–ऐसा सम्यक् चिन्तन करने से या इसी प्रकार समस्त जड पदार्थों में आत्मभाव के दृढ हो जाने से अहंबोध या आत्मबोध की पूर्णता प्राप्त हो जाती है । अपने अहंकार से युक्त अपने शरीर में भी पूर्ण अहंबोध का उदय होने से आत्मबोध की पूर्णता होती है । इसी प्रकार कुक्कुर शूकर आदि अन्य शरीरों में भी पूर्ण अहन्ता का महान् उदय होने से सर्वत्र उसी प्रकार अहंबुद्धि का ही वैशिष्ट्य रहता है ॥३७–३८½॥

अन्यदेहे तथावृत्तेस्तथा बुद्धिविशिष्टता ।
भावनातीतनिर्मूलसत्कार्यादिविसर्गवत् ॥३९॥
तत्तद्भावभराशक्तेस्तत्तन्निर्माणमानता ।
लसदग्रस्फुरत्तेजःकणसत्तोद्भवो महान् ॥४०॥
देवताहेमनिर्माणसन्निधानस्फुटार्थताः ।
साम्मुख्यवृत्तिदेहान्तरतिरागमहागुणाः ॥४१॥

पूर्णाहन्तायाः समुदयात्, **तथा** = सिद्धपुरुषस्य इव, **बुद्धिविशिष्टता** = अहं सर्वमित्याकारकबुद्धिवैशिष्ट्यम्, समायाति । योगिगतसृष्टिसामर्थ्यं सोदाहरणं वर्णयति—**भावनेत्यादिना** । **भावनातीतेति** = भावनामतीतः = **भावनातीतः** सृष्टिविषयकपूर्वविचाररहितः इति यावत्, अत एव, **निर्मूलः** = निराधारः, यो हि **सत्कार्यस्य** = विश्वब्रह्माण्डस्य, **विसर्गः** = सृष्टिः, तद्वत्; आकस्मिकस्वातन्त्र्योल्लासजनितसृष्टेरुत्पत्तिवत्, योगिहृदयेऽपि **तत्तद्भावभरासक्तेः** = सृष्टेः ये **तत्तद्भावाः** = भिन्नभिन्नपदार्थाः, तेषां **भरः** = समूहः तस्य **आसक्तेः** = तीव्राकांक्षया, **तत्तन्निर्माणमानता** = भिन्नभिन्नेप्सितपदार्थरचनाशक्तिसमुदयो, भवति । **लसदग्रेति**—लसन्तः शोभमानाः, अथ च **अग्रे** = योगिसमक्षे **स्फुरन्तः** = प्रकाशमाना ये **तेजकणाः** तेषां या **सत्ता** = अस्तित्वम्, तस्याः महान् **उद्भवो** भवति । यथेप्सितसृष्टिसामर्थ्यं महत्तेजःपुंजरूपेण योगिसमक्षे भासितुमारभते—इति भावः ॥३८–४०॥

देवताहेमेति—देवतासन्निधानं; हेमनिर्माणसन्निधानं, **स्फुटार्थता** = विषयाणां स्पष्टं ज्ञानम्; इष्टदेवतायाः साम्मुख्यवृत्तिः; देहान्ते = मरणे शरीरत्यागे, **रतिः** = आकर्षणम्, मृत्वा मृत्वा स्वेच्छया जन्मग्रहणशक्तिमत्त्वात्; **रागः** = उत्कृष्टविषयान् प्रत्याकर्षणम्; इत्येते महागुणाः योगिनि समागता भवन्ति । देहान्तरेषु = स्वशरीरं त्यक्त्वाऽन्यस्मिन् मृतशरीरे, **संक्रान्तिः** = गमनम्, **अपरेषु** = योगिना स्वशरीरं परित्यज्य संक्रान्तेषु अन्येषु, अथवा न पराणि इति अपराणि = स्वकीयानि स्वेनैव निर्मितानि शरीराणि तेषु विषये, **परित्यागः** = अनासक्तिः, **अन्तर्मुखे** = अन्तर्हृदय

जिस प्रकार परमेश्वर के अन्दर सृष्टि की भावना से परे निराधार सत्कार्य अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड का विसर्ग अर्थात् काल्पनिक सृष्टि का उल्लास, उत्पन्न होता है उसी प्रकार पूर्णअहन्तायुक्त योगी के अन्दर भी सृष्टि के भिन्न-भिन्न भावों अर्थात् पदार्थों के समूह के प्रति आसक्ति होने से उन-उन पदार्थों के निर्माण की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । एक ऐसी तेजःकणसत्ता का महान् उदय होता है जो सुन्दर आकर्षक और पहले से ही देदीप्यमान रहती है । देवता तथा सुवर्णनिर्माण की निकटवर्त्तिता तथा विषयों का स्पष्ट ज्ञान, देवता के सम्मुख होना, शरीरत्याग के

देहान्तरेषु संक्रातिः परित्यागोऽपरेष्वपि ।
अन्तर्मुखमुखाक्ष्यादिक्रमगोचरचिद्‌गतेः ॥४२॥
संस्पर्शतस्तदुद्‌बोध अन्यत्रापि तथा स्थितिः ।
स्वदेहे देवदृढता नागादिदमनार्हता ॥४३॥
तथा सकलरूपाणां भावनैव तथा स्वयम् ।
निजान्तःसृष्टिबाह्यस्थस्थूलसन्निधियोगतः ॥४४॥

एव, मुखाक्षिनासिकादीनां सकलशरीरावयवाः **क्रमेण** = चर्यया, क्रियायोगेन, **गोचराः** = प्रत्यक्षविषया यस्या इत्थंभूता या चिद्‌गतिः = मनसः शक्तिः तस्या **चिद्‌गतेः** प्राप्तिर्भवति योगिनः । **संस्पर्शतः** = योगसिद्धमहापुरुषेण कृतात् अन्यप्राकृतपुरुषशरीरस्पर्शात्, **तदुद्‌बोधः** = तस्य प्राकृतपुरुषस्यापि सकललोक-विज्ञानम्, आत्मविज्ञानं वा भवति । योगिद्वाराकृतशक्तिपातसंवलितस्य पुरुषस्य, **अन्यत्रापि** = देवताहेमनिर्माणसन्निधानादौ; **तथा स्थितिः** = योगिवत् शक्तिर्जायते । स्वशरीरे देवशरीरवत् दाढर्यमायाति तेन **नागानाम्** = मत्तमतङ्गजानाम् **दमने** = वशीकरणे; **अर्हता** = योग्यता बलं प्राप्यते ॥४१–४३॥

तथा = उपर्युक्तप्रकारेण, **सकलरूपाणाम्** = पदार्थाकृतीनाम् भावनैव **स्वयम्**= न परेण सहकृता; **तथा** = रूपवती भवति । रूपाणां भावनया योगी भावनागतरूपै-र्बहिर्गतस्थूलरूपैश्च सकलैः सान्निध्यं प्राप्नोतीति भावः । तदेवाह—**निजान्तः-सृष्ट्यादिना** । योगी भावनाद्वारा स्वहृदय एव सृष्टिं करोति, सा च बाह्यस्थेश्वरकृत-स्थूलसृष्टिसन्निधेर्योगं प्राप्नोति; तेन सा भावनात्मिका सृष्टिरपि तथैव भवति । एतत् सर्वं पूर्णाहन्ताबोधयुक्तात्मनो माहात्म्यं ज्ञेयम् । **ततः** = पूर्णाहन्तालाभानन्तरम्, **सृष्टेरनन्तता** प्रत्यक्षीभूता भवति योगिन इति शेषः । अथवा सृष्टेरनन्तता-

---

प्रति आकर्षण, उत्कृष्ट विषयों के प्रति राग आदि बड़े-बड़े गुण उस योगी में आ जाते हैं । अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, दूसरे शरीर को छोड़ देना, अपने शरीर में ही अपने मुख आँख आदि के स्वरूप के साक्षात्कार की शक्ति योगि-चित्त को प्राप्त हो जाती है ॥३९–४२॥

ऐसा महासाधक यदि किसी का स्पर्श कर दे तो उस व्यक्ति को भी आत्म-बोध होने लगता है । इसीप्रकार अन्य विषयों देवता हेमनिर्माण आदि में भी उस शक्तिपातसंवलित व्यक्ति की वैसी ही स्थिति हो जाती है । इस पूर्णअहन्तावाले योगी के अपने शरीर में देवता के शरीर जैसी दृढता आ जाती है और वह हाथी जैसे महान् शक्तिशाली पशुओं के दमन की क्षमता से युक्त हो जाता है । इसीप्रकार समस्तरूपों की भावना ही स्वयं, तथा अर्थात् रूपों वाली हो जाती है । अर्थात्

आत्मनो महिमा ज्ञेयस्ततः सृष्टेरनन्तता ।
स्थूलभावादविभ्रान्तदृष्टिपातात्तदेकताम् ॥४५॥
प्रापितो जगदैक्यं च समन्तादवकल्पते ।
यत्र तत्रापि विश्रान्तिली[ने[1]]शक्तिचतुष्टये ॥४६॥
विश्वमेकस्वरूपेण रूपेण प्रतिपद्यते ।
शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः ॥४७॥

विरचनाय शक्तिरुपलब्धा भवति । पूर्णाहन्ताया माहात्म्याद् योगिनो दृष्टिपातो-ऽविभ्रान्तः = भेदज्ञानरहितः, भवति, एवं च स **तदेकताम्** = जगदेकताम्, एकस्वरूपात्मतां प्रापितो भवति **समन्ताच्च जगदैक्यं** कल्पते, ज्ञातृज्ञेयज्ञानेतित्रिपुटी-परिशून्येन चित्तेन स सर्वं जगच्चिन्मयमेव पश्यतीत्यर्थः । **यत्र तत्रापि** = सर्वत्रैव **विश्रान्ति-शक्तिचतुष्टये** = आनन्देच्छाज्ञानक्रियरूपे परमशिवस्य चतुर्विधसामर्थ्ये, **लीने** = स्वातन्त्र्यवशादुल्लासं परित्यज्य शान्तिमवाप्ते, समग्रं **विश्वमेकस्वरूपेण रूपेण, प्रतिपद्यते** = ज्ञातं भवति योगिनः ॥४४–४६॥

तथा चोक्तं मातृकाचक्रविवेके—

मायाबलात् प्रथमभासि जडस्वभावं
विद्योदयादथ विकस्वरचिन्मयत्वम् ।
सुप्त्याह्वयं किमपि विश्रमणं विभाति
चित्रक्रमं चिदचिदेकरसस्वभावम् ॥ (२.१) इति ।

रूपों की भावना के द्वारा योगी अपने अन्दर की सृष्टि और बाहर वर्त्तमान स्थूल सृष्टि की संपूर्णता से सान्निध्य प्राप्त कर लेता है । यह सब पूर्णबोध से युक्त आत्मा की महिमा समझनी चाहिए । वह योगी पूर्णाहन्ता की प्राप्ति के साथ सृष्टि की अनन्तता का प्रत्यक्षकर्त्ता हो जाता है । या उसके अन्दर अनन्त सृष्टि करने की शक्ति भी पैदा हो जाती है ॥४३–४४½॥

इस प्रकार अविभ्रान्त दृष्टिपात अर्थात् जगत् को यथार्थतः शिवस्वरूप या आत्म-स्वरूप देखने के कारण यह संसार अपने स्थूलभाव अर्थात् भेदात्मकस्वरूप से हट कर एकरूपता को प्राप्त हो जाता है । और सब ओर एकता ही दिखाई पड़ती है । 'यह सर्वत्र शिव ही है', ऐसी भावनारूप ओषधि के द्वारा सृष्टि के विषय में मन के बद्ध अर्थात् नियमित हो जाने पर जब आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रियारूप शक्ति-चतुष्टय का विराम हो जाता है तो सर्वत्र यह समग्र विश्व एकस्वरूप में प्रतिभासित होने लगता है ॥४५–४७॥

१. क नं ।

काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ।
तत्तत्तत्त्वबलावेशात् सर्ववस्त्वेकरूपिणम् ॥४८॥
स्थैर्येणाभावभावानामात्मानं निर्मिणोति सः ।
स्वशरीरे दृढा शक्तिः प्राप्ताक्ष्यादिविधेयताम् ॥४९॥
तद्वदन्यत्र भावादौ स्वात्मशक्त्या किलाधिपः ।
सर्वभावेषु सद्योगात् सत्यत्वे शिवता स्थिता ॥५०॥

एकरूपप्रतिपत्तौ हेतुमाह—**शिवभावनयौषध्येति**—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥

इति शास्त्रोक्तदिशा 'सर्व शिवम्' इत्येवरूपा या **शिवभावना** तया **संसृतेः** = सृष्टेः विषये **मनसि, बद्धे** = नियमिते यदा आनन्दादिशक्तिचतुष्टयं नियमितं भवति तदा विश्वमेकरूपेण प्रतिभासते । अथवा **शिवभावनया मनसि बद्धे, संसृतेः** सृष्टेः यावन्तः पदार्थाः काष्ठकुड्यादयस्तेषु योगिना मनसि **क्षिप्ते** = शक्त्यावेशपूर्वकं नियोजिते, तेषु **रसवच्छिवहेमता** = रसः आनन्दः तेन परिपूर्णशिवस्य=कल्याणस्य **हेमता** = सुमेरुपर्वतत्वं, तथैव प्राप्यते यथा **शिवभावनया** = पारदस्य घर्षणादिना, **रसवतः** = पारदयुक्तस्य, **शिवस्य** = पशुबन्धनताम्रस्तम्भस्य **हेमता** = स्वर्णत्वं लभ्यते । **स्थैर्येण** = पूर्णाहन्ताया दार्ढ्येन, **तत्तत्तत्त्वानाम्** = भिन्नभिन्नजागतिक-सकलपदार्थानां **बलस्य** स्वस्मिन् **आवेशात्** = समाधानात्, **अभावभावानाम्** = अभावात्मकपदार्थानाम् आवश्यकत्वे **सः** = योगी **आत्मानमेव** = स्वकमेव, **सर्व-वस्त्वेकरूपिणम्** = समस्तपदार्थप्रधानस्वरूपिणम् **निर्मिणोति** = रचयति । स्वमेवा-

---

यहाँ तक कि यदि योगी काष्ठ अथवा दीवाल में भी मानसिक शक्ति का प्रक्षेप करे तो वहाँ आनन्दपूर्णकल्याण का पर्वत खड़ा हो जाता है । पूर्णाहन्ता की दृढ़ता के द्वारा, अभावात्मक पदार्थों में भी भिन्न-भिन्न तत्त्वों के बल का समावेश होने से वह योगी अपने आपको ही समस्त वस्तु के रुप में बना लेता है । उसके अपने शरीर में शक्ति इतनी दृढ़ हो जाती है कि अक्षि आदि इन्द्रियों को जिस किसी मुद्रा में जब तक चाहे वह रख सकता है । उसी प्रकार अन्य पदार्थ आदि के विषय में अपनी शक्ति के द्वारा वह उनका स्वामी बन जाता है । सभी पदार्थों में सत् का योग होने से उसकी शिवता सत्य में ही स्थित रहती है । इस प्रकार सर्वत्र शिवभावना के द्वारा पूर्णअहन्ता प्राप्त हो जाने के बाद ऐसे साधकों के लिए सर्वत्र ऐसी साधु शिवता का प्रसार होता है जो समस्त इच्छाओं को देने वाली होती है ।

सर्वकामदुघा साध्वी शिवता प्रसरेन्नृणाम् ।
पदस्यार्थः पदार्थत्वमित्थमर्थव्यवस्थितौ ॥५१॥

आणवोपायवर्णनम्

यस्मात् पदार्थता तुल्या चित्ताभावोद्भवो मुहुः ।
सर्वत्र चित्ताभावेन सत्याकारतया स्थितेः ॥५२॥
सर्वत्रानुभवावस्थाप्रसरः सारतो भवेत् ।
सर्वस्यैव स्थिरं रूपं सर्वाकारतदात्मना ॥५३॥

कांक्षिततत्तत्प्रमुखपदार्थरूपेण परिणमयति स्वयं च स्वेन रूपेणास्तेऽपि । योगिनः स्वशरीरे एतावती दृढा शक्तिरुत्पन्ना भवति यथा स प्राप्ताक्षादिविधेयताम्=यथाभिलषितशाम्भव्यादिमुद्रासु यथेष्टकालं तत्तदिन्द्रियाणां नियमनयोग्यता, ताम् प्राप्नोतीति शेषः । तद्वत् = एवमेव, अन्यत्र भावादौ=स्वशरीरातिरिक्तपदार्थादौ, स्वात्मशक्त्या स अधिपः स्वामी भवति । सर्वभावेषु = सर्वेष्वपि पदार्थेषु, सद्योगात् = सत्यत्वसम्बन्धात्, शिवता = शिवस्य भावः शिवत्वम्, स्थिता = वर्त्तमाना आस्ते । एवं च सति पूर्णाहन्त्वप्राप्तसाधकानां नृणां साध्वी शिवता सर्वत्र प्रसरेत् = विस्तृता भवति । सा च शिवता सर्वकामदुधा = सर्वेषां कामानां दोग्ध्री = प्रदायिनी भवति ॥४७–५०½॥

यदि पदार्थशब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थोऽयमस्ति यत् पदस्य अर्थ इति तर्हि पदार्थता पदेन तुल्या, पदपदार्थयोर्न किञ्चिद् भिन्नत्वम् । यथोक्तं रघुवंशे—वागर्थाविव-संपृक्तौ, इति । तस्मात् चित्तायाः = चैतन्यस्य पदस्य यो भावः = अर्थः तस्य उद्भवः = उत्पत्तिः मुहुः = वारम्वारं भवत्येव । तत्रोद्भवे हेतुमाह—सर्वत्रेत्यादिना । यस्मात् चित्ताभावेन = चैतन्येन सत्याकारतया = प्रातिभासिकव्यावहारिकसत्यस्वरूपेण, स्थितिरुपलब्धा तस्मात् स्थितेः कारणात् सर्वत्रोद्भवः । एवं च सारतया= तात्त्विकरूपेण, सर्वत्र = विश्वब्रह्माण्डेषु चित्तस्य अनुभवावस्थायाः=यद्यच्चिन्तयते चित्त तस्य सर्वस्यानुभूतेः प्रसरः = प्रकटता भवत्येव । सर्वाकारतदात्मना =

यदि पदार्थ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—पद का अर्थ, तो पदार्थता भी पद के समान होगी । ऐसा होने पर चित्ता पद का भी अर्थ चैतन्य होगा ही । चूँकि सर्वत्र चित्ताभाव अर्थात् चैतन्य की सत्ता सत्य के रूप में स्थित है इस कारण सब जगह बार-बार चैतन्यस्वरूप अर्थ का उद्भव अर्थात् प्रकाश हो ही रहा है और इस प्रकार तात्त्विक रूप में सर्वत्र चित्त की अनुभवावस्था का, अर्थात् जो-जो वह सोचता है सब का, प्रसर अर्थात् प्राकट्य देखा जाता है । सभी आकार-स्वरूप शिवात्मा के रूप में सब पदार्थों का स्वरूप स्थिर है ॥४८–५३॥

सर्वाकारे महाकाररचना रुचिराचिरात् ।
सर्वत्रैक्ये स्थिरा रूढिर्जन्या रागादिनाहता ॥५४॥
सर्वस्य श्रेयसो नूनं सत्यान्निर्गतता मता ।
मूले समर्थताऽऽवेशो मध्ये तुल्यत्वमेतयोः ॥५५॥

समस्तरूपस्य शिवात्मरूपेण सत्त्वात् **सर्वस्य** = जडाजडपदार्थस्य, **रूपम्** स्थिरमेव, न विनाशीत्यर्थः । यथोक्तं **परात्रीशिकाविवरणे**—

"**नरशक्तिशिवावेशि विश्वमेतत्सदा स्थिरम् ।**" इति ॥५१–५३॥

सर्वाकारे = विश्वस्य समस्तवस्तूनामाकारेऽहन्त्वभावनायां शिवत्वभावनायां वा सत्यां, **महाकाररचनारुचिः** = समष्टिरूपात्मकैकाकाररचनायां रुचिः, **आचिरात्** = दीर्घकालपर्यन्तम् जायते । **सर्वत्र** = समस्तसृष्टेर्विषये, **ऐक्ये** = 'सर्वं शिवमयं जगत्' 'अहमेव सर्वम्' इत्याकारकैकत्वे, **रूढिः** = दृढभावना, **स्थिरा** भवति । **रागादिना, जन्या** = उत्पन्ना भेदभावना, **हता** = नष्टा भवति । **सर्वस्य श्रेयसः**=सम्पूर्णमङ्गलस्य, **सत्यात् निर्गतता** = प्रकटता **मता** = अवबुद्धा भवति । **मूले** = मूलाधारे **आवेशश्चेत् समर्थता** । अयंभावः—आवेशो नाम वैयक्तिकचेतनायाः पारमार्थिकचेतनायां लयः । मूलाधारे ध्यानधारणासमाधिभिरावेशः = वैयक्तिकचेतनायाः तत्फलं च समर्थता = अद्भुतशक्तिमत्त्वम्, लभ्यते । **मध्ये** = चितिशक्तौ सुषुम्नायामावेशात् **एतयोः** = शिव-शक्त्योः, **तुल्यत्वम्** = तुल्यताया सामरस्यस्य वा बोधो भवति । एष चावबोधः

विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त आकार के विषय में अहन्ता की भावना पूर्ण होने पर महाकार अर्थात् समष्टिरूपात्मक एक आकार की रचना में दीर्घकालीन रुचि हो जाती है । इस प्रकार समस्त सृष्टि के विषय में 'सर्व शिवमयं जगत्' या 'अहमेव-सर्वम्' इस प्रकार की रूढ़ि अर्थात् दृढ़भावना स्थिर हो जाती है और राग आदि से उत्पन्न भेदभावना का नाश हो जाता है ।

समस्त श्रेय सत्य से निर्गत है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है । मूल अर्थात् मूलाधार में समर्थता का आवेश है । स्पष्टार्थ यह है कि मूलाधार में यदि चित्त को स्थिर किया जाय तो सामर्थ्य अर्थात् शक्ति का आवेश होता है । आवेश वैयक्तिक चेतना का पारमार्थिक चेतना में लय का दूसरा नाम है । मूलाधार में ध्यान धारणा और समाधि लगाने से वैयक्तिक चेतना का शक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है और जब मध्य अर्थात् सुषुम्ना में आवेश होता है तो इन दोनों की अर्थात् शिव और शक्ति की तुल्यता का बोध होता है । यह तुल्यता का बोध बिना शक्तिसमावेश के सम्भव नहीं । इसी लिए आगे के श्लोक में कहा गया है कि मूल में समावेश करना चाहिए ॥५४–५५॥

कार्यो मूलसमावेश इति ज्ञात्वा तथोदयः ।
सर्वामूर्त्तत्वतत्त्वास्थाबुद्धिदृष्टिप्रसक्तितः ॥५६॥
सम्यगुत्पद्यतेऽन्तर्धिरूपणं भक्तिनिर्गतिः ।
मतिर्ममत्वनिर्माणमनसां महतांतराम् ॥५७॥
प्रसरत्यस्ति विज्ञानं सर्वदिक्कमबाधितम् ।
ममत्वमानसे साधु साधूनां सक्तिमागते ॥५८॥

ऋते शक्तिसमावेशान्न सम्भवति । तस्मात् **मूलसमावेशः** कार्यः इति **ज्ञात्वा** = ज्ञानानन्तरम् यदा **तथोदयः** = मूले समावेशस्योदयो जायते तदा **भक्तिनिर्गतिः** = अशेषभक्तिलाभः, **सम्यक्** = यथोचितरूपेण, उत्पद्यते । सा च भक्तिः किं रूपा ?—तत्राह—**अन्तर्धिरूपण**मिति । अतर्ज्ञानरूपेत्यर्थः । मूलसमावेशस्योदये हेतुमाह—**सर्वामूर्त्तत्वेत्यादि**—सर्वाणि यानि अमूर्त्ततत्त्वानि ज्ञानरूपेण परिवर्त्तितानि, तेषु या आस्था बुद्धिः = आस्तिक्यमतिः तदनुकूलाया दृष्टेः प्रसक्तितः = प्राप्तेर्हेतोरिति । **महतांतराम्** = उत्कृष्टमहापुरुषाणाम्, समस्तब्रह्माण्डविषये, **ममत्वनिर्माणमनसाम्** = 'ममेदं विश्वम् 'अहमेवेदं सर्वम्' इति मनोयोगवताम्, **मतिः** **प्रसरति** = विस्तीर्णा भवति, तदा **सर्वदिक्कम्** = सार्वदेशिकं कालावस्थाऽबाधितं च, **विज्ञानं अस्ति** = उत्पन्नं भवति ॥५४–५७½॥

साधूनाम् = योगिनां साधकानां वा, **ममत्वमानसे** = सर्वस्मिन् विश्वे इद-महम्'इति ममत्वयुक्तचित्ते, **सक्तिर्** = आवेशम् आसक्ति, **आगते** = प्राप्ते, यदा साधूनां ममत्वयुक्तं मनः आसक्ति गतं भवति तदा । **साधु** = सम्यग्रूपेण । इदं **जगत् संकल्पप्रभवम्** = योगिनः साधोर्वा इच्छात उत्पन्नम्, **अनन्तकम्** = असीमं च भवति । इदं **सर्वं मम** = मत्तोऽभिन्नम्, इति **निर्व्यूढे** = दृढीभूते मनसि **भवः** = संसारः, **तदेकमयः** = स एव **एकः** = प्रधानः यत्र, तन्मयः **स्यात्** । **तथैव एषाम्**= साधूनाम्, **ममताभिनिवेशतः** = सर्वत्र ममत्वयुक्तत्वात्, **अभिमानात्** = साहङ्कार-

---

'मूल में समावेश करना चाहिए' ऐसा समझकर जब समस्त अमूर्त्त तत्त्वों से युक्त ज्ञानात्मक दृष्टि की प्राप्ति के कारण उस प्रकार का अर्थात् मूल में समावेश का, उदय हो जाता है तब अन्तर्ज्ञानरूपभक्तिप्रवाहतरल मति भलीभाँति उत्पन्न हो जाती है । फिर समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के प्रति ममत्व निर्माण वाले मन का जब अत्यधिक प्रसार हो जाता है तब सार्वदेशिक सार्वकालिक निर्बाधविज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥५६–५७½॥

इस प्रकार विराट् ममत्व से युक्त साधु का मन जब भलीभाँति आसक्ति को प्राप्त हो जाता है, तब यह समस्त अनन्तसंसार उस महात्मा के संकल्प से उत्पन्न

संकल्पप्रभवं सर्वं जगदेतदनन्तकम् ।
सर्वं ममेति निर्व्रूढे स्यात्तदेकमयो भवः ॥५९॥
अभिमानात्तथैवैषां भावसर्गः प्रवर्त्तते ।
प्रत्येकदेवग्रामस्य ममताभिनिवेशतः ॥६०॥
दिव्यानि तान्ययत्नेन प्रसरन्ति समन्तः ।
सामस्त्येन प्रसर्पन्तो निर्विशेषा हि केवलाः ॥६१॥
सदा क्रीडावशादेव कामाः स्युः सर्वगोचराः ।
विशेषममतावेशप्रवेशवशतो महान् ॥६२॥

संकल्पात्, **प्रत्येकदेवग्रामस्य** = भिन्नभिन्नदेवसमूहस्य देवपुरस्य वा, **भावसर्गः** = भावसृष्टिः, **प्रवर्त्तते** = उत्पद्यते । देवान् देवगन्धर्वनगराणि वा निर्मातुं सामर्थ्यं लभते योगीत्यर्थः । **दिव्यानि** = अलौकिकानि, **तानि** = देवनगराणि, **समन्ततः** = योगिनः साधोर्वा परितः, **अयत्नेन**—अप्रयासेनेषदिच्छामात्रेण, **प्रसरन्ति** । **सामस्त्येन** = यथाभिलाषम्, **प्रसर्पन्तः** = इतस्ततो विकिरन्तः, ते देवग्रामाः; **निर्विशेषाः** = निर्विकल्पकाः **केवलाः** अस्तितामात्रवर्त्तिन अत एव केवलं योगिप्रत्यक्षगम्या भवन्ति : **क्रीडावशादेव** = योगिनः शिवस्वरूपत्वात् यथा जगदिदं शिवस्य विलासः तथैव योगीच्छाऽपि कौतुकमात्रमेव, तद्वशात् एव नतु प्रयोजनान्तरवशात्, **कामाः** = अभिलाषाः, सदा **सर्वगोचराः** सर्वविषयाः, **स्युः** = भवन्ति ॥५८–६१½॥

इमं संसारं प्रति **विशेषममतायाः** य **आवेशः**=तादात्म्यभावना, तस्याः **प्रवेशवशात्**, **तनुस्वरूपनिर्माणापरिमाणभवोदयः** = स्वकीयशरीरानुरूपं यन्निर्माणमपरिसीमं तदिव निस्सीमसंसारस्योत्पत्तिर्भवति । स च उदयः महान् इति जायते । योगी उपासको वा यदा **स्वच्छाकलकलाकलसकलरूपे** **त्रिधाभूते** = त्रिविधरूपोपविभक्ते, **शिवतत्त्वे** **समासक्तः** = तादात्म्यवानभिनिवेशी वा भवति तदा तस्य, **तत्तद्रूपोपरूपणम्** = स्वच्छाकलादिरूपं तस्य भवति । तद्यथा—परमशिव एव लीला-

हुआ सा हो जाता है और जब 'यह सब मेरा है' यह ज्ञान दृढ़ हो जाता है तब यह संसार उस ज्ञानी के लिए एकमय हो जाता है ॥५८-५९॥

इस प्रकार का अभिमान होने से प्रत्येक देवग्राम की, ममता के अभिनिवेश के कारण, भावसृष्टि होती है ॥६०॥

ये दिव्य ग्राम आदि बिना प्रयास के चारो तरफ उस महात्मा के लिए फैल जाते हैं और वे सम्पूर्ण रूप से फैलते हुए निर्विशेष अर्थात् केवल रहते हैं ॥६१॥

उसकी क्रीडावश उसकी सारी इच्छायें सभी विषयों वाली हो जाती हैं । उसकी देह में प्रवेश होने के कारण एक महान् उदय होता है जो कि स्वशरीर के

तनुस्वरूपनिर्माणापरिमाणभवोदयः ।
शिवतत्त्वे त्रिधाभूते स्वच्छाकलकलाकले ॥६३॥
सकले च समासक्तस्तत्तद्रूपोपरूपणम् ।
सामर्थ्येऽखण्डसामर्थ्यं सतते ज्ञानवीर्यता ॥६४॥
ईशे समग्रकर्त्तृत्वं सरस्वत्या मनूत्तमः ।
प्रमेये ममतावेशान्निर्मिणोति नवं जगत् ॥६५॥

विलासादात्मानं संकोचयन्नानारूपेण कर्त्तृकर्मक्रियादिरूपेणात्मानं परिणमयति । आणवमायीयकार्ममलैरात्मानमावृत्य स विभिन्नप्राणिरूपेण क्रीडन्नास्ते । तेषु कश्चित् प्राणी एकस्यैव मलस्य पात्रं भवति, कश्चिन्मलद्वयस्य कश्चिच्च त्रिविध-स्यापि । कला शिवस्य पञ्चसु शक्तिषु प्रथमा शक्तिः सा च जीवस्य परिमितक्रिया-सामर्थ्यरूपा । स्वच्छाकलस्तावदाणवमलेनात्यल्पसंस्पृष्टः सर्वोत्कृष्टः प्राणी । स च शिवशक्त्योरभेदभूमिकायां तिष्ठति । शिवाभिन्नश्चेत् शाम्भव इति, शक्त्यभिन्नश्चेच्छाक्त इति चासौ कथ्यते । अतः परं कलाकलः; स च भेदाभेदभूमिमध्यास्ते । एष च वर्गो आणवमायीयमलद्वयेन युक्तो भवति । मन्त्रमहेश्वरमन्त्रेश्वरविद्येश्वरविज्ञाना-कलप्रलयाकलेति स्तरभेदेन षड्विधाः प्राणिनः कलाकलवर्गे समाविष्टाः । सकलश्चा-न्तिमो वर्गः । अत्रस्थाः प्राणिनः आणवमायीयकार्मेति त्रिभिरपि मलैर्युक्ता भेदभूमि-मधितिष्ठन्ति । इमे प्राणिनः संसारिजीवाः । शिवतत्त्वस्य **सामर्थ्ये** आवेशात् **अखण्डसामर्थ्यम्** = कदाप्यनश्वरशक्तिरालभ्यते योगिना । **सतते** = सामर्थ्ये आवे-शस्य नैरन्तर्ये सति, **ज्ञानवीर्यता** = ज्ञानेऽद्भुतशक्तिलाभः, भवति । **ईशे** = ईश्वर-तत्त्वे, समासक्तो योगी **समग्रकर्त्तृत्वं** लभते । **सरस्वत्या** = वाणीरूपसाधनेन, वाण्यां समावेशात्, **मनूत्तमः** = मनवः = मन्त्राः = विद्येश्वराः, तेषु उत्तमः = मनू-

---

स्वरूप के निर्माण के द्वारा अपरिमित संसार बनाता है अर्थात् सारा संसार उसकी अपरिमित शरीर के परिमाण का अर्थात् असीम हो जाता है ॥६२–६२½॥

जब उपासक, शिवतत्त्व के स्वच्छाकल, कलाकल, और सकल इन तीन रूपों में अपने को समासक्त करता है तब भिन्न-भिन्न रूप में उसका उपरूपण होता है । शिव के सामर्थ्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर योगी या उपासक के अन्दर अखण्ड सामर्थ्य हो जाता है । उक्त तादात्म्य की निरन्तरता होने पर ज्ञान की वृद्धि, ईश्वर के साथ तादात्म्य होने पर समग्रकर्त्तृत्व, सरस्वती अर्थात् वाणी के द्वारा अर्थात् वाणी में तादात्म्य या समावेश स्थापित होने पर मन्त्रेश्वरत्वलाभ प्राप्त होता है और प्रमेय जगत् के साथ ममता के आवेश से वह नूतन जगत् का निर्माण कर सकता है ॥६३–६५॥

कलने चिद्घनत्वं स्याद् वेदने सर्वचिद्गमः ।
स्नेहे तु सर्वकामत्वं कालात् सर्वर्तुवर्त्तनम् ॥६६॥
नियमे सर्वयमनं कैवल्यं प्रलयाकले ।
स्वात्मनो ह्यनिरुद्धार्था निरुपाधिविभूतिका ॥६७॥
सर्वाकाराभिमानेन ममेति दृढशक्तिना ।
सर्वाकारसमापत्तिरनन्तैवोपजायते ॥६८॥

त्तमः = मन्त्रेश्वरः, भवति योगीति शेषः । मन्त्रेश्वराश्च भेदाभेदनिष्ठेश्वरतत्त्वस्य प्राणिनः । **प्रमेये** = जागतिके निखिलपदार्थे, **समतावेशात्** = 'सर्वमिदमहम्' इति तादात्म्यात् स योगी नवं जगत् = नूतनां सृष्टिम्, **निर्मिणोति** = रचयति ॥६२-६५॥

इदानीं पारमेश्वरमायायाः पञ्चसु कञ्चुकेषु तादात्म्यस्थापनात् प्राप्तां विभूतिं वर्णयति—**कलनेत्यादिना** । तथा हि—पारमेश्वरमायायाः परिणामभूतानि कञ्चुकपञ्चकानि सन्ति कलाविद्यारागकालनियतयश्चेति । तत्र परमेश्वरस्य सर्वकर्त्तृत्वं संकोच्य तत्र किञ्चित्कर्त्तृत्वं स्थापयन्ती **कला** । यदा तस्य सर्वज्ञत्वं संकुचितं भूत्वा किञ्चिज्ज्ञत्वे परिणमते तदा सा **विद्या** । यया पूर्णतृप्तिः च संकोचमुपनीय भोगेष्वासक्तिः क्रियते सा शक्तिः **रागः** । येन च तस्य नित्यत्वं तिरोभूयातीतादिरूपेण परिच्छिद्यते स **कालः** । **नियतिश्च** तस्य स्वातन्त्र्यं व्यापत्वं च संकोचयन्ती कार्यकारणभावमापाद्य विशिष्टदेशेन परिच्छिनत्ति । **कलने**=कलायाम् तादात्म्यस्थापनात्, **चिद्घनत्वम्**=ज्ञानरूपवत्त्वम् । **वेदने**=विद्यायाम्, आवेशात्, **सर्वचिद्गमः**=सकलज्ञानाधिगमो भवति । **स्नेहे** = रागे; तादात्म्यात् **सर्वकामत्वम्**=सकलकामनावान् भवति योगी । **कालात्**= काले तादात्म्यात्, **सर्वर्त्तुवर्त्तनम्** = सर्वे ऋतवः योगिनः पार्श्वे तिष्ठन्ति । **नियमे** = नियतौ, समावेशात् **सर्वयमनम्** = सर्वेषां भूतानां पदार्थानां वा स्वायत्तीकरणम् । **प्रलयाकले** नियमनात् कैवल्यं लभते । प्रलयाकलश्च प्राणिविशेषः शुद्धप्रकाशं स्वरूप-

परमेश्वर की कला शक्ति के साथ तादात्म्य होने पर चिद्घनत्व, विद्या के साथ, समस्त चैतन्य की प्राप्ति, राग के साथ समावेश होने पर सर्वकामत्व, काल के साथ, ऋतुओं का एक साथ उसके यहाँ रहना, नियति के साथ तादात्म्य होने पर सबका नियमन करने की क्षमता योगी को प्राप्त हो जाती है । प्रलयाकल की स्थिति में कैवल्य प्राप्त होता है ॥६६–६६½॥

संसार के समस्त आकृतिमान् पदार्थों के प्रति 'ये मेरे हैं' ऐसी दृढ़ आसक्ति होने पर आत्मा की वह अनन्त समापत्ति अवस्था उपलब्ध होती है जिसमें समस्त पदार्थ अनिरुद्ध अर्थात् अबाध रूप से उपस्थित होते हैं तथा वह समापत्ति निरुपाधि विभूति वाली अर्थात् अहेतुक ऐश्वर्य वाली होती है ॥६७–६८॥

नैतच्छास्त्रं विना प्रोक्तं कायाकारेण कायिकम् ।
जलेन जलरूपं स्यादित्याद्यैर्वचनैः स्मृतम् ॥६९॥
सर्वव्याप्त्या स्नेहपूर्णं स्त्र्यादिकायात्मचिन्तनात् ।
जगद्विधेयतामेति किमुतैकशरीरकम् ॥७०॥

मजानन् जडात्मकं शून्यमेव अहमिति मन्यमानः प्रायः सुषुप्तिदशायां निमज्ज्य वर्त्तते । तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिन्याम्—"**प्रलयेन कृता अकलाः, कलातत्त्वोपलक्षितकरणकार्यरहिता अबोधरूपाः कर्त्तारश्च**" । इति । **सर्वाकाराभिमानेन** = संसारस्य सर्वासु आकृतिषु 'अहमेवेदं सर्वम्' इत्याकारकाभिमानसत्त्वात्, **ममेतिदृढशक्तिना**=इमाः सर्वा आकृतयो ममैवेति दृढसामर्थ्येन, **सर्वाकारसमापत्तिः** = समस्ताकृतिषु तत्स्थतदञ्जनता लभ्यते । सा च समापत्तिः **अनन्ता** भवति । इयं च समापत्तिः **स्वात्मनः** = जीवस्य, **अनिरुद्धार्था** = कालाकारदेशादिभिरनिरुद्धोऽर्थो यस्याः सा, सार्वकालिकसार्वदेशिकसर्वविधविषयवती, **निरुपाधिविभूतिका** = निष्कारणैश्वर्यसम्पन्नतावती भवति । बहुव्रीहौ कप् । लौकिकं राजादीनामैश्वर्यं सोपाधिकं भवति योगिनस्तु स्वाभाविकं निष्कारणं चेति स्पष्टार्थः ॥६६-६८॥

एतच्छास्त्रम् = तत्तदावेशात् तत्तदुपलब्धिवर्णनात्मकम्, **प्रोक्तं विना** = गुरुभिः, आगमेषु वा कथितं विना, न = नास्ति । शास्त्रेण गुरुपरम्परया वाऽवश्यमेवोक्तत्वात् । तत्र प्रमाणमाह—**कायाकारेणे**त्यादिना । **कायाकारेण** = यस्य कस्यापि शरीरिणः शरीरेण तादात्म्यस्थापने, **कायिकम्** = शरीरस्थाकारवद्रूपम्, **जलेन** तादात्म्यस्थापने **जलरूपं** च **स्यात्** इत्यादि क्वचिदुक्तवचनैः **स्मृतम्** । **सर्वव्याप्त्या** = योगशक्त्या योगिनि सर्वत्र व्याप्ते सति, **स्त्र्यादिकायात्मचिन्तनात्** = कामिन्यादिशरीरेषु 'अहमेवेयम्' इतिचिन्ताकरणात्, निखिलमेव जगत् **स्नेहपूर्णम्** = रागरञ्जितम् यथा स्यात् तथा **विधेयतामेति** = स्ववशे भवति, **किमुतैकशरीरकम्** का वार्त्ता एकस्य क्षुद्रशरीरस्य । क्षुद्रार्थे शरीरशब्दात् 'कन्' प्रत्ययः ॥६९-७०॥

यह शास्त्र विना प्रोक्त अर्थात् अनुक्त नहीं है । 'कायाकारेण कायिकम्' 'जलेन जलरूपम्' इत्यादि आगमिक वचनों से यह सिद्ध है । कायाकारेण इत्यादि का का तात्पर्य यह है कि जब योगी किसी शरीर के आकार से तादात्म्य स्थापित करता है तो वह उस शरीर का आकार प्राप्त करता है । उसी प्रकार जल से तादात्म्य स्थापित करने पर जलरूप हो जाता है । सर्वव्याप्ति से योगी या उपासक जब स्नेहपूर्ण रीति से स्त्री आदि की शरीर का आत्मवत् चिन्तन करता है तब सारा संसार उसका विधेय अर्थात् आज्ञाकारी हो जाता है फिर एक क्षुद्र शरीर-स्त्रीशरीर का क्या कहना ॥६९–७०॥

सर्वमस्मीति रुचिरं रूपमात्मनि चिन्तयन् ।
अहमेव मत्परो न भवेदाकर्षणक्रमः ॥७१॥
सर्वस्मिन् मयि कस्यापि कायं ध्यायन् जुगुप्सितम् ।
ममैवासौ च विद्वेष्यो विद्विष्टो जायते ततः ॥७२॥
व्यापकत्वे शत्रुदेहं स्वं भ्रमन्तं विचिन्तयेत् ।
विद्रुतं करभारूढं विश्वमुच्चाटितं भवेत् ॥७३॥
व्याप्तौ किञ्चिद् रिपोर्देहं मदीयं संहराम्यहम् ।
जडरूपो भवामीति चिन्तया मरणं स्थितम् ॥७४॥

एवमेव 'अहं सर्वमस्मि' इति आत्मनि विषये **रुचिरं रूपं चिन्तयन्** योगा ध्यायति 'अहमेव' 'न मत्परः' इति तदा स एव आकर्षणकेन्द्रं भवति । तदतिरिक्तं कुत्रापि '**आकर्षणक्रमः न भवेत्**=न जायते । एवमेव **सर्वस्मिन्** = सर्वात्मके, **मयि**= योगिशरीरे, कस्यापि, जुगुप्सितम् = घृणास्पदं द्रोहास्पदं, कायं विचिन्तयन् **असौ** घृणास्पदकायः, **ममैव** = योगिन एव, विद्वेष्यः इति चिन्तायां ततः=चिन्तासमनन्तरं **विद्विष्टो** = शत्रुः, **जायते** = भवति । ७१-७२॥

व्यापकत्वे = आत्मनः पूर्णाहन्तासत्त्वे, शत्रुदेहेऽप्यात्मत्वस्थापनायाम्, शत्रुदेहरूपं स्वं यदा योगी **भ्रमन्तं** पर्यटन्तम्, **विद्रुतम्**=पलायमानं अथवा **करभारूढम्** = उष्ट्रशावकपृष्ठे समासीनं चिन्तयेत् तदा तस्य शत्रोः कृते **विश्वमुच्चाटितं भवेत्** । उच्चाटनं नाम चित्तस्य कुत्रापि शान्तिलाभाभावः आत्मघाते प्रवृत्तिरुद्विग्नता वा । एवमेव **व्याप्तौ** सत्यां **किञ्चिद्रिपोः** = कस्यचिच्छत्रोः, **देहम्** 'मदीयम्' इति चिन्त-

---

इसी प्रकार जब 'मैं सब हूँ' इस प्रकार वह अपने अन्दर सुन्दर का चिन्तन करता है तथा यह सोचता है कि 'मैं स्वयं आत्माकर्षण वाला हूँ' तब वह किसी अन्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता ॥७१॥

सर्वात्मपूर्ण वह यदि अपने अन्दर किसी अन्य व्यक्ति के घृणास्पद शरीर का ध्यान करता है और यह सोचता है कि 'यह मेरा द्वेष्य है' तो वह व्यक्ति सचमुच उसका दुश्मन बन जाता है ॥७२॥

यदि योगी व्यापकता के कारण शत्रुदेहस्वरूप अपने को ऊँट या हाथी के बच्चे पर आरूढ़, घूमता या भागता हुआ, चिन्तन करता है तो उसके शत्रु के लिए समस्त संसार उच्चाटित हो जाता है ॥७३॥

इसी तरह पूर्णअहन्ता होने पर शत्रुशरीर के साथ तादात्म्य होने पर 'मैं अपना शरीर नष्ट करता हूँ' ऐसी धारणा कर 'मैं जड़ रूप हो जा रहा हूँ' ऐसा चिन्तन करने पर शत्रु का मरण निश्चित हो जाता है ॥७४॥

व्याप्तिदार्ढ्ये नक्तमेकं चन्द्रं वाऽऽत्मानमुत्थितम् ।
विचिन्त्य प्रस्रवन्तं के कस्याप्याप्यायनं भवेत् ॥७५॥
चित्तत्त्वं चिन्तयन् रूपं व्यापकं वाऽखिलात्मसु ।
अविनाश्येकपिण्डे वा स भवेदजरामरः ॥७६॥
स्रवत्कृष्णामृतं मेघमात्मोपरि निजात्मकम् ।
ध्यायतो बालमात्मानं सा जरा संप्रलीयते ॥७७॥
ध्यानं नामात्र यत्सर्वं सर्वाकारेण लक्ष्यते ।
भावनाचक्षुषा साध्वी सा चिन्ता सर्वदर्शिनी ॥७८॥

यन् यदा 'अहं संहरामि' इति, 'जडरूपो भवामि' इति वा चिन्तयति योगी, तदा उक्तचिन्तया शत्रोः **मरणम्** = मृत्युः, **स्थितम्** = निश्चितमेव भवति । तथैव **व्याप्ति-दार्ढ्ये नक्तम्** = रात्रौ, **एकं चन्द्रं** व्याप्त्या **आत्मानं वा उत्थितम्** = उदितम्, **विचिन्त्य, के** = जले, **प्रस्रवन्तम्** = द्रवन्तम् चिन्तयति यदि योगी तदा **कस्यापि** = जलस्यापि **आप्यायनम्** = वृद्धिः, भवेत् । नदीजलं तडागजलं वा वृद्धिमायाति । **चित्तत्त्वम्** = अपरिमितशुद्धपरिपूर्णस्वतन्त्रसंवित् या परमशिवस्वरूपेण स्फुरति ताम्, अथवा **अखिलात्मसु** = सर्वेष्वात्मसु **व्यापकं रूपं अविनाश्येकपिण्डे**=नित्ये एकशरीरे चिन्तयन् यदा भवति, तदा **सः** = योगी, **अजरामरः** = जरामरणहीनोऽमरो भवति ॥७३-७६॥

निजात्मकम् = व्याप्त्या तादात्म्यस्थापनात् स्वीयम्, **कृष्णामृतं मेघम्** = नन्दसूनुस्वरूपमविनाशिकादम्बिनीम्, **आत्मोपरि** = स्वस्योपरि, **स्रवत्** = वर्षन्तम् **ध्यायतः**, अत एव **आत्मानम्** = स्वम्, **बालम्** = बालकृष्णरूपम्, ध्यायतो योगिनः,

---

पूर्णअहन्ता की दृढ़ता होने पर रात्रि के समय एक चन्द्र को उदित देखकर उसको तालाब या नदी के जल में चलता या पिघलता हुआ सोचने के बाद उस जल में बाढ़ आ जाती है ॥७५॥

चित् तत्त्व को समस्त आत्माओं में व्यापक रूप में सोचता हुआ, या एक ही पिण्ड में अविनाशित्व को सोचता हुआ उपासक अजरामर हो जाता है ॥७६॥

उपासक अपने ऊपर अपने ही कृष्णामृत रूप मेघ के प्रस्रवण का जब चिन्तन करता है और अपने को शिशु रूप में समझता है, तब उसका बुढ़ापा समाप्त हो जाता है ॥७७॥

भावनारूपा अन्तर्दृष्टि के द्वारा जब इस संसार में सब कुछ सब के आकार में परिलक्षित होने लगता है तब वही वास्तविक ध्यान है। वही साधु सर्वदर्शी चिन्तन है ॥७८॥

येन येनेन्द्रियेणार्थो गृह्यते तत्र तत्र सा।
शिवता लक्षिता सत्या तद्ध्यानमपि वर्ण्यते ॥७९॥
यस्यां यस्यां प्रतीतौ तु शिवोऽस्मीति मनोगमः।
तस्यां तथैव चिन्तायां तद्ध्यानमपि जल्पितम् ॥८०॥
यस्मिन्नर्थे सदा त्यागो गच्छतस्तिष्ठतोऽपि वा।
धावतः खादतो वाऽपि स योगः परयोगिनः ॥८१॥
भावितेऽभाविते वापि शिवत्वे शिवतैव मे।
सर्वदा पितृमात्रादितौल्यदाढर्येन योगिता ॥८२॥

सा = पूर्वस्वशरीरे वर्त्तमाना, **जरा सम्प्रलीयते** = लुप्ततां याति। **भावनाचक्षुषा**= भावनात्मकान्तर्दृष्ट्या, **अत्र** = योगे, **ध्यानं नाम** तदेव कथ्यते **यत्** = यदा **सर्वम्** = चराचरात्मकम्, **सर्वाकारेण लक्ष्यते** = परिदृश्यते। **सा** = एतादृशी, **चिन्ता** = ध्यानम्, **साध्वी** = युक्ततरा **सर्वदर्शिनी** चेति गीयते। **येन येनेन्द्रियेण, अर्थः** = विषयः, **गृह्यते** = प्रत्यक्षीक्रियते, **तत्र तत्र** = तेषु तेष्विन्द्रियेषु **सा शिवता सत्या लक्षिता**। अधुना **तद्ध्यानम्** = शिवत्वचिन्तनमपि **वर्ण्यते**। **यस्यां यस्यां प्रतीतौ**= अनुभवे, अहं **शिवोऽस्मीति, मनोगमः** = मानसिकः प्रवाहो भवति, **तस्यां** प्रतीतौ **तथैव, चिन्तायाम्** = चिन्तने **तद्ध्यानम्** = तादृग्विचारस्य सततप्रवाहोऽपि **जल्पितम्** = कथितः। **गच्छतः** = गमनादिनानाक्रियां कुर्वतः **यस्मिन् अर्थे** = अर्थस्य विषये योगिनः **सदा** = अपुनरावर्त्ती, **त्यागः** = विप्रलिप्साऽभावः, **स** एव, **परयोगिनः** = उत्कृष्टसाधकस्य, **योगः** कथ्यते। शिवत्वे, **भाविते ऽभाविते वा** = ज्ञातेऽज्ञाते वा, **सर्वदा पितृमात्रादितौल्यदार्ढ्येन** = यथा शिशोर्हृदये 'इयं मे माता' अयं मे पिता' इति दृढो विश्वासो भवति तथैव, **शिवतैव मे** = 'अहं सर्वं शिवः' इति दृढो विश्वास एव **योगिता** = योगः। न त्वस्थिरो विश्वासः ॥७७–८२॥

जिस-जिस इन्द्रिय से विषय का ग्रहण होता है उस-उस इन्द्रिय तथा विषय म शिवता सत्यतः लक्षित होती है। अब उस प्रकार के ध्यान का वर्णन किया जा रहा ॥७९॥

जिस-जिस अनुभव में 'मैं शिव हूँ' ऐसी मन की धारा चलती है उस अनुभव में उसी प्रकार के चिन्तन का सातत्य उसका ध्यान कहा गया है ॥८०॥

जाते, रुकते, दौड़ते, खाते समय जिस विषय में व्यक्ति की सदा त्यागभावना रहती है वही परम योगी का योग है ॥८१॥

चाहे शिवत्व की भावना हुई हो या न हुई हो, जैसे बालक को पिता-माता के विषय में 'यह मेरी माँ है' 'यह मेरे पिता हैं' ऐसा अडिग विश्वास रहता है उसी प्रकार सदा सर्वत्र 'यह शिव है' ऐसा दृढ़ विश्वास ही योग है ॥८२॥

तथा हि कोशहेमादिसादृश्यं योगसत्यता ।
शिवोऽस्मीति मदिच्छातः सर्वभावप्रवर्त्तनम् ॥८३॥
अत एव शिवः सर्वमिति योगोऽथ चेतसि ।
सन्ततं शक्तिसन्तानप्रसरेण सदैव मे ॥८४॥
अनिरुद्धो जपोऽस्त्येव सर्वावस्थास्वसौ जपः ।
नानाकारैः सदा कुर्वन्नुदयन् सर्ववस्तुगः ॥८५॥
अभ्यासेनास्मि सोऽप्यत्र जपः परम उच्यते ।
संकल्पाञ्जनयन्नस्मि स्थितः शब्दानथो मुखे ॥८६॥

यथा व्यावहारिके जगति **कोशहेमादिसादृश्यम्** = कोशः = भाण्डारः, हेम = सुवर्णम् तदादेः सर्वस्यैव वस्तुनः, **सादृश्यम्** = सत्येन तुल्यत्वम्, न तु परमार्थतस्तत्सत्यम्, **तथा हि** = तथैव, **योगसत्यता**=सर्वत्र शिवभावनाया योगस्य पारमार्थिकसत्यत्वं वर्तते । अहमेतत् सर्वं **शिवोऽस्मि, मदिच्छातः, सर्वभावप्रवर्त्तनम्** = सर्वे पदार्थाः क्रियावन्तः सन्ति । **अत एव सर्वमिदं शिवः इति योगः शक्तिसन्तानप्रसरेण** = परमशक्तिविस्तारप्रभावेण सह **मे चेतसि सन्ततं** वर्त्तते । 'शिवः सर्वम्' 'शिवोऽहम्' इति सन्ततभावना एव **अनिरुद्धो जपः** अव्यवहितो जपः । **असौ जपः सर्वावस्थासु** = कायिकवाचिकमानसिकशौचाशौचेषु प्रवर्त्तितुं शक्यते प्रवर्त्तते च । **नानाकारैः** = अनेकप्रकारेण, उक्तरूपं जपं सदा कुर्वन् पुरुषः,**उदयन्** = उन्नतिं प्राप्नुवन्, **सर्ववस्तुगः** = सकलपदार्थप्रापको तेषां वेत्ता वा भवति ॥८३-८५॥

शिवभावनया भावितस्य पुंसोऽवस्थां निर्वर्ण्यदानीं तद्भावनाभ्यासरतस्य पुरुषस्य स्वरूपं वर्णयति—**अभ्यासेनेत्यादिना** । अहं **अभ्यासेन** = शिवोऽस्मीति भावनां

जिस प्रकार व्यवहार जगत् में कोश या शिव सत्य समझा जाता है उसी प्रकार सर्वत्र शिवभावना का योग सत्य है । 'मैं शिव हूँ'; मेरी इच्छा से सारे पदार्थ सक्रिय हैं; इसीलिए सब कुछ शिव ही है' इस प्रकार का योग शक्ति के विस्तार के प्रभाव से मन में सदा आरूढ़ हो जायगा ॥८३–८४॥

यही 'शिवः सर्वम्' भावना अनिरुद्ध जप है । यह सभी अवस्थाओं में होने वाला जप है । भिन्न-भिन्न आकार प्रकार से इसका सदा अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति सब पदार्थों को प्राप्त करने वाला या जानने वाला होता है ॥८५॥

जब यह भावना रहती है कि मैं जप का अभ्यास कर रहा हूँ तब भी यह परम जप कहलाता है । और जब यह भावना होती है कि 'मैं स्थिर चित्त वाला होकर मनःसंकल्प से ही शब्दों को मुख में उत्पन्न कर रहा हूँ । तो यह भी जप ही जानना चाहिए । यह सत्य आदि तीन प्रकार का है ॥८६½॥

सो हि नाम जपो ज्ञेयः सत्यादिस्त्रिविधो हि सः ।
न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ ॥८७॥
प्रतिपत्त्याऽनया स्नानं निर्मलीकरणं मतम् ।
दुःखे वापि सुखे वापि सर्वासु प्रतिपत्तिषु ॥८८॥

मुहुर्मुहुः क्रियमाणया प्रक्रियया सह वर्त्तमान अस्मि, **सोऽपि** = एतादृशोऽपि अभ्यासः **परमो जप उच्यते** । यदा चेयं भावना भवति यत् अहं **स्थितः** = स्थिरचित्तः सन् मनसैव **संकल्पान्** = सर्वशिवात्मकदृढविचारान् जनयन् **मुखे** च 'शिवोऽहम्' इति **शब्दान् जनयन्** अस्मि तदा सोऽपि जप एव । **स** हि जपः **सत्यादिस्त्रिविधः**, भवति । तथा हि—जपस्त्रिविधः—असत्यः, सत्यासत्यः सत्यश्चेति । मनुस्मृत्यादिषूक्ताः वाचिकोपांशुमानसिकजपभेदा असत्याः; त्रिष्वपि भेदेषु 'अहं जपं करोमि' इति अहंभावनाया अक्षुण्णतया विद्यमानत्वात्; एष च जपः कण्ठादारभ्य हृदयं यावद् भवति । इमे च वाचिकादयो जपा वैखर्या एवावान्तरभेदाः । यदा कण्ठावरोधो जायते, नाड्यश्च कर्मकारिण्योंऽशतो निरुद्धा भवन्ति तदा जपः स्वयमेव प्रचलति । अत्राहंभावनाया लोपात् एष स्वाभाविको जप इति कथ्यते । अस्य स्थानं नाभिः । वाणीक्रमे एष जपः पश्यन्तीति कथितुं शक्यते । एष च सत्यासत्यः । असत्यस्य वर्णभेदात्मकत्वस्य विकल्पस्य वा लोपेन सह अस्य नादस्वरूपसत्योन्मुखत्वात् । यदा च मूलाधारे जपो भवितुं प्रारभ्यते तदा स सत्यो जपः । परावाचः स्थानं मूलाधार एव । अत्र व्यष्टिभावनाया सर्वथाऽभावः । एषा परावाक् चिन्मयी परमाव्यक्ताऽक्षरा च । परावागेव शब्दस्य चरमा गतिः, अस्यां स्वाभाविकी भावनैव सत्यो जपः ॥८६–८६½॥

यथा बाह्ये जगति स्नानपूजादिकं क्रियते तथा भावजगत्यपि केन रूपेण कर्त्तुं शक्यते ?–इति वर्णयितुमारभते—**न मे बन्ध** इति । मे = मम, बन्धो **मोक्षश्चो**भयमपि नास्ति यतः तौ **मलत्वेन** = मलरूपेण, **संस्थितौ** = अस्मिन् जगति वर्त्तमानौ स्तः । परमार्थतस्तु तयोरभाव एव । मललक्षणं यथा **मालिनीविजयतन्त्रे**—

"मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।" (१-२३) इति । **तन्त्रालोके**ऽपि—**'अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् । ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ।'**(१-२५) । **शैवदर्शने** अज्ञानं नाम न ज्ञानाभावोऽपि तु अपूर्णं सङ्कु-

---

'न मेरा बन्धन है न मोक्ष, क्योंकि वे दोनों मल के रूप में हैं' इस प्रकार की भावना से स्नान का नाम निर्मलीकरण है । दुःख में अथवा सुख में अथवा सभी-प्रकार के अनुभवों में 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार मन की प्रसन्नता उत्कृष्ट जल-स्नान है ॥८८½॥

शिवोऽस्मीति मनोह्लादो जलस्नानं परं मतम् ।
चिन्निर्मला तन्मयं हि जगदस्मि तथाविधः ॥८९॥
इत्यास्था जलशौचेन शुद्धिस्नानं तथोदितम् ।
सर्वभावाः शिवाकारा अन्तर्भूताः शिवानले ॥९०॥
सोऽहं शिवः सुतृप्तोऽस्मि होम इत्युदितः परः ।
अत्राकारे न यन्मेऽस्ति तदाकारान्तरेऽस्ति मे ॥९१॥

चितं ज्ञानं ज्ञानसंकोचो वा मल इति कथ्यते । तथा **चेश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्–स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य** स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता । द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः । भिन्न-वेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं । इति (२-२-४५) बन्धमोक्षौ मलौ इ**त्यनया प्रतिपत्त्या** = विश्वासेन, **स्नानम्** = शौचम्, निर्मलीकरणं न च त्वौषधादिना बाह्यम् । एवमेव दुःखात्मिकासु सुखात्मिकासु वा सर्वासु **प्रतिपत्तिषु** = अनुभवेषु, **शिवोऽस्म्यहमिति** बुद्धया **मनोह्लादः** = मानसी प्रसन्नता स एव **परं जलस्नानम्** । **चित्** = अपरिमितं शुद्धं स्वातन्त्र्यं परमात्मनः, निर्मला = ज्ञानसंकोचाभाववती वर्त्तते, **तन्मयं तथाविधः** = निर्मलः, जगत् स्वरूपोऽहमस्मि इत्याकारिका या **आस्था** = विश्वासः तदेव जलम् तेन सम्पादितं शौचम् तेन **शुद्धिस्नानम् तथा** = परम्, **उदितम्** = कथितम् ॥८७–८९½॥

सर्वभावा = सर्वे पदार्था जडचेतनाः, **शिवाकाराः** न तु यथा दृश्यन्ते तथा, ते च **शिवानले** = शिवस्वरूपाग्नौ, **अन्तर्भूताः** = निहिताः सन्ति न तु तेषां क्वचिदन्यत्र संस्थितिः एवं विचारयन् योगी ध्यायति यत् **सोऽहं शिवः सुतृप्तोऽस्मि एष एव परो होमः** न त्वग्नौ द्रव्यप्रक्षेपः । **यत्** = सुखदुःखादिको विषयानुभवः, **मे** = मम, **अत्राकारे** = अस्मिन् देवदत्तात्मके शरीरे नास्ति **तत् मे आकारान्तरे**=यज्ञदत्तनामके शरीरे अस्त्यनुभवः **तस्मात्** = एवं भूतभावनया सर्वत्र तत्तद्विषयाननुभवन् **निराकाङ्क्षः** संवृत्तोऽस्म्यहमिति **तृप्त्या ईदृशः अन्यः**=भिन्नप्रकारको होमः कथितः ।

'चित् निर्मला है मैं भी उसी प्रकार का निर्मल विश्वमय हूँ' इस प्रकार की विचारधारा से युक्त जल से स्नान शुद्धिस्नान कहा गया है ॥८९½॥

समस्त पदार्थ शिव के आकार वाले ही है और वे शिवस्वरूप अग्नि में अन्तर्भूत हो रहे हैं, वह शिव मैं सुतृप्त हूँ' यह भावना उत्कृष्ट कोटि का होम है ॥९०½॥

सब कुछ शिवाकार है ऐसा सिद्ध होने पर जब यह भावना होती है कि जो मेरे इस आकार अर्थात् शरीर में नहीं है वह मेरे दूसरे आकार में है इस कारण तृप्ति के द्वारा मैं निराकाङ्क्ष हूँ । इस प्रकार का एक अन्य होम है ॥९१½॥

तस्मादस्मि निराकाङ्क्षस्तृप्त्यान्यो होम ईदृशः ।
पूजनान्नास्ति मे तुष्टिर्नास्ति खेदो ह्यपूजनात् ॥९२॥
पूजकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम् ।
अत्राकारे च मे पूजा या स्यात् सादाशिवात्मनि ॥९३॥
लिङ्गादिके पूजितोऽस्मि सदा पूजेति वा स्थिता ।
पूजकः पूजनं पूज्यमिति सर्वं शिवः स्थितः ॥९४॥
किमेतेनात्मभावेन तृप्त्या वा परपूजनम् ।
सर्वाकारेषु भोग्येन यजनं मम वर्त्तते ॥९५॥
भुञ्जेऽहं यत्र तत्रापि भोगलग्नः प्रतीतितः ।
शिवोऽस्मि साधनाऽऽविष्टः शिवोऽहं याजकोऽप्यहम् ॥९६॥

यदा कश्चिन्मम पूजां करोति तदा मे तुष्टिर्नास्ति, अन्याकारस्य पूजनाभावात् । एवमेव **अपूजनात् खेदोऽपि नास्ति** । तत्र हेतुमाह—**पूजकैरि**ति । यत्र क्वचित् पूजकाः सन्ति तैरभिन्नत्वेनाहं सदा सर्वत्र पूजां कुर्वन्नस्मि इति पूजाऽभावस्य प्रश्न एव नास्ति तदेवाह—**सदा पूजेति पूजनमि**ति ।

सदाशिव एव सादाशिवः, स्वार्थेऽण्, स आत्मा यस्य तस्मिन् **अत्राकारे** = मदीये शरीरे **मे या पूजा स्यात्** शिवलिङ्गादिके च **पूजितोऽस्मि**, तत्र तादात्म्यात् । आदिना मूर्त्तिर्ग्राह्या । अथवा लिङ्गस्वरूपतैव **सदा पूजा स्थिता** । **पूजकः** = कर्त्ता, **पूजनम्** = क्रिया, **पूज्यम्**=कर्म इति सर्वं **शिव एव स्थितः** = वर्त्तते । अथवा **आत्मभावेन** = तादात्म्येनावेशेन वा, **तृप्त्या** वोपर्युक्तया किम् ? एतत् सर्वमपि सातिशयम् । निरतिशयं तु एतदेव यत् **सर्वाकारेषु** भोग्यरूपेण वर्त्तमानत्वं एव **मम यजनं वर्त्तते** । **यत्र तत्रापि** सर्वत्र **भोगलग्नः** = शिवरूपतया भोगेषु प्रसक्तः, **प्रतीतितः** = भावनाद्वारा, **अहं भुञ्जे**=भोगं सम्पादयामि । **साधनाविष्टः** = सर्वं शिवम्,

---

न तो मैं पूजन से तुष्ट हूँ और न पूजा न होने से मुझे खेद है । पूजको के साथ तादात्म्य होने से सदा पूजा ही मेरा पूजन है ॥९२$\frac{1}{2}$॥

इस प्रकार सदाशिवात्मक आकार में जो मेरी पूजा हो रही है या शिवलिङ्ग आदि में जो तादात्म्य होने के कारण मैं पूजित हो रहा हूँ वही मेरी सदा स्थायी पूजा है ॥९३$\frac{1}{2}$॥

पूजक पूज्य और पूजन इन सभी रूपों में शिव स्थित है । इस तादात्म्यभावना अथवा तृप्ति से होने वाले परपूजन का भी क्या महत्त्व है ? ॥९४$\frac{1}{2}$॥

रूपवान् समस्त पदार्थों में भोग्य के रूप में मेरा ही पूजन हो रहा है । यत्रतत्र सर्वत्र भोग में लगा हुआ, भावना के द्वारा मैं भोग कर रहा हूँ ॥९५$\frac{1}{2}$॥

शिव एवानया स्थित्या सत्यया याग उत्तमः ।
येन येन यत्र यत्र वैर्यैर्यदिह चेज्यते ॥९७॥
स मया क्रियते यागः शिवत्वाद्याग उत्तमः ।
शिवं यामि शिवो यामि शिवेन शिवसाधनः ॥९८॥
भिन्नोऽप्यभिन्न एवास्मि शिव इत्थं विचेष्टनम् ।
शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधनः ॥९९॥
भुक्त्वोदेति शिवावस्था स्थितेत्थं भोक्तृरूपता ।
शिवः कर्त्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः ॥१००॥

सर्वमहम्, शिवोऽहम्, इति साधनालग्नः, शिव एवाहम् । इज्यः शिवोऽहम्; याजकः **शिवोऽप्यहम्** शिव एव च अनया सत्यया स्थित्या वर्त्तमान आस्ते स एवोत्तमः **यागः येन** येन = कर्त्रा, यत्र यत्र = देशे, वैर्यैः = साधनैः द्रव्यैर्देवताभिश्च यत् = क्रियारूपम्, इह = अस्मिन् संसारे इज्यते = यागः क्रियते, स शिवत्वात् = शिवेन सह तादात्म्यावेशात् उत्तमो यागः ममैव क्रियते ॥९२–९७½॥

सर्वशिवभावनामेव प्रकारान्तरेण कथयति–**शिवं यामीत्यादिना । शिवं यामि**= गमनानुकूलव्यापारस्य फलं कर्म शिवः; **शिवो यामि** = गमनानुकूलव्यापारवान् कर्त्ता-शिवः । **शिवेन** = गमनहेतुः प्रयोजनमपि शिवः । **सिवसाधनः** = गमनक्रियाजनक-साधनोऽपि शिवः । व्यावहारिकदृष्ट्या **भिन्नो**ऽपि परमार्थत **अभिन्न एवास्मि** अहं शिवरूपः । शिवः एव **इत्थम्** = उपर्युक्तप्रकारकम्; **विचेष्टनम्** = विविधाश्चेष्टा अपि । **भोक्ता** = तत्तत्पदार्थगतरूपरसादीनामनुभविता **शिव एव । भोज्यम्** = द्रव्यगुणादिकम्, शिव एव । भोगस्य साधनमपि शिव एव । तदाह— **शिवसाधनः** इति । बहुव्रीहिसमासः । **शिवेषु** इति भोगस्याधिकरणमपि शिव एवेति सूच्यते । **भुक्त्वा** = भोगानन्तरम्, **शिवावस्थोदेति । इत्थं** भोक्तृरूपताऽपि शिवस्य, **स्थिता**= असन्दिग्धा । यत्कर्तृकर्मकरणादिकं मयि अन्यस्मिन् वा पुरुषे प्रतीयते व्यवहारदृष्ट्या,

---

साधना में लगा मैं शिव हूँ । याजक भी मैं शिव हूँ । शिव ही इस सत्य स्थिति से उत्तम याग भी है । जिस-जिस साधन के द्वारा जहाँ-जहाँ जिस-जिस व्यक्ति के द्वारा इस संसार में यज्ञ किया जाता है शिवत्व के कारण वह उत्तम याग मेरे ही द्वारा किया जाता है ९७½॥

शिव के द्वारा शिव की सहायता से मैं शिव को प्राप्त हो रहा हूँ ॥९८॥

मैं भिन्न होते हुए भी अभिन्न शिव हूँ । इस प्रकार की चेष्टा विशिष्टचेष्टा है । अथवा इस प्रकार की विशिष्टचेष्टा भी शिव ही है । शिव रूपी आधार में शिव के द्वारा शिव हो शिव का भोग करते हैं । भोग करने के पश्चात् भी शिवावस्था

शिव एव फलावस्था व्यापार इति साधुषु ।
भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः ॥१०१॥
यथा तथा प्रतिष्ठामः प्रबुद्धस्येति वर्त्तनम् ।
यद् दृश्यं यच्च संस्पृश्यं यद् घ्रेयं रस्यमेव यत् ॥१०२॥
यच्छ्राव्यं तच्छिवव्यक्तेस्तच्छिवत्वेन संश्रितः ।
गम्ये ग्राह्ये तथा वाच्ये सुखादावपि सर्वदा ॥१०३॥
स्थिते शिवत्वे बद्धास्थो भवेत् सर्वगतः शिवः ।
मन्तव्ये चाभिमातव्ये बोद्धव्ये धृतिसंगमात् ॥१०४॥

तदपि शिव एवेत्याह—**शिवः कर्त्ता** इत्यादिना । **फलावस्था** = फलम् । **भावनाकरणाभ्यामिति**—भावना नाम चिन्तनात्मिका मानसिकी क्रिया । करणं च चेष्टाख्यः कायिको व्यापारः, उभयथापि । **साधुषु** = साधकेषु महात्मसु विषये **सततम्** = निरन्तरं सर्वदा **उदितं** यस्य तस्य सततवर्त्तमानस्य **शिवस्य** भावनाकरणाभ्यां **किम्** = को लाभः । यदा साधकेषु शिवस्य शाश्वती प्रतिष्ठा वर्त्तमानास्ति तदा शिवात्मकभावनाकरणादिकमपि व्यर्थम् । **प्रबुद्धस्य** = सतत्ज्ञानमयस्य शिवस्य **यथा** = येन प्रकारेण, **वर्त्तनम्** = इच्छाज्ञानक्रियात्मकस्फुरत्ता, **तथा** वयमपि, **प्रतिष्ठामः** = शिवस्वरूपे वर्त्तामहे ॥९८–१०१½॥

मानसिककायिकव्यापारस्य शिवत्वं संसाध्येदानीं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां विष्या अपि शिव एवेति द्योतयन्नाह—**यद्दृश्यमिति । दृश्यम्** = चक्षुर्विषयं रूपं रूपिद्रव्यं वा, एवमेव **संस्पृश्यमित्यादिपदैः** त्वग्घ्राणरसनाश्रोत्रेन्द्रियाणां विषया ज्ञेयाः । ते सर्वे **शिवव्यक्तेः** = शिवस्यैव स्फुरत्तायाः; कारणात् सन्ति । **तत्** = दृश्यादिकम्, **शिवत्वेन** = शिवभावनया, **संश्रितः** = उपभोक्ता भवेत् साधुः । एवमेव कर्मेन्द्रियाणां

उदित होती है । इस प्रकार शिव की भोक्तृरूपता भी है । शिव ही कर्त्ता वही कर्म, करण भी वही और वही फलावस्था तथा व्यापार हैं । इस प्रकार महात्माओं के अन्दर शिव की प्रतिष्ठा होने पर, भावना एवं करण से क्या फायदा ? जिस प्रकार प्रबुद्ध उस शिव की भावना तथा प्रतिष्ठा है उसी प्रकार हम लोग भी प्रतिष्ठित है, यही परम वर्त्तन है ॥१०१½॥

जो दृश्य, स्पृश्य, घ्रेय, रस्य, तथा श्राव्य है वह शिव की ही अभिव्यक्ति के कारण हैं । उसी शिवरूप में गम्य, ग्राह्य, वाच्य सुख भोग आदि में भी शिवत्व-सम्बन्धी दृढ़ आस्था रखकर सर्वत्र शिववाला हो जाना चाहिए । मनन, अभिमान, बोध के विषय में ध्यान योग के साथ, सुख दुःख मोह में भी 'मैं परमशिव हूँ' ऐसी अस्था रखनी चाहिए ।

सुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः ।
प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम् ॥१०५॥
न स्वबुद्धया शिवो दाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः ।
इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं
जगदुदितमहेशाङ्घ्रयाज्ञया स्वप्नभाजा ।
यदधिगमबलेन प्राप्य सम्यग् विकासं
भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः ॥१०६॥

पादादीनां विषयेषु गम्यादिष्वपि **सर्वदा शिवत्वे स्थिते सर्वगतः** = सर्वेष्वपि कालेषु सर्वत्र वर्त्तमानः, **शिवः** अस्ति इति **बद्धास्थो भवेत्** । **मन्तव्ये** = मनसो विषये सुखादिषु, **अभिमातव्ये** = अहंकारस्य विषये, **बोद्धव्ये** = बुद्धेर्विषये सुखे दुःखे च मोहे च **धृतिसंगमात्** = ध्यानयोगेन सह वर्त्तमानत्वात् **अहं परमः शिवः स्थितः** । ध्यानयोगश्च तावत्—आणवोपायस्योच्चतमा धारणा । यदा प्रमाणप्रमेयप्रमात्रिति त्रिपुटीज्ञानस्यैकाकारसंविदग्निरूपेण भावनां करोति साधुः; ग्राह्यविषयांश्च तस्मिन्नेव संविदग्नौ प्रक्षिप्य, इदं सर्वं संविद एवाभिव्यक्तिरिति भावनां करोति तदा स ध्यानयोग इति भण्यते । **एतावत्** = उपरिवर्णितम् **सर्वमेव शिवात्मकम्** इति **प्रतिपादितम्** । एतच्च प्रतिपादनं **न स्वबुद्धयाऽ**पि तु **शिवो दाता** = शिव एव ज्ञानप्रदाता, **शिवो भोक्ता** = अनुभविता इति **शास्त्रतः** = पूर्वोक्तात् शास्त्रसिद्धान्तात् प्रतिपादितम् ।

इति = एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, स्वप्नं भजतीति स्वप्नभाक् तया **स्वप्नभाजा** = स्वप्नगतया, **जगदुदितमहेशाङ्घ्रयाज्ञया** = जगति = संसारे, उदितः = प्रसिद्धः, महेशः तस्य अङ्घ्री = पादौ, तयोः आज्ञया = आदेशेन, **अशेषं विश्वं शैवरूपेण** = शिवात्मकम्, **कथितम्** । **यदधिगमबलेन** = यस्य ज्ञानबलात्, **सर्वः** = लोकः, **सर्वभावेन** = सम्यग्रूपेण, **सम्यगविकासम्** = पूर्णताप्रत्यभिज्ञाम्; **प्राप्य शिवमयात्मा**= शिवस्वरूपो भवति ।

इस प्रकार सब कुछ शिवात्मक है यह बात मैंने अपनी बुद्धि से नहीं बल्कि 'शिव ही दाता और शिव ही भोक्ता है इस शास्त्र के अनुसार कही है ॥१०५½॥

इस प्रकार संसार में प्रसिद्ध भगवान् शंकर की, स्वप्न में प्राप्त, चरणकमलों की आज्ञा के द्वारा मैंने समस्त विश्व को शिवस्वरूप सिद्ध कर दिया । जिससे ज्ञान के बल से सम्यक् विकास को प्राप्त कर यह शिवमयी आत्मा सर्वभाव अर्थात् पूर्ण अहन्ता के द्वारा सर्वमय हो जाती है ॥१०६॥

त्र्यम्बकशैवदर्शनोद्भववर्णनम्

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥१॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे ।
कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने ॥२॥
कैलाशाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥३॥
मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥४॥
ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नवान् ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ॥५॥

रहस्यानि = गोपनीयतया पठ्यपाठ्यमानानि शास्त्राणि । **पूर्वम्** = कृतयुगादौ । **अनुग्रहक्रिया** = गुरोःसकाशात्श्रुतिपूर्वकं ग्रहणम् = पठनम् **अनुग्रहः** तस्य **क्रिया** = परिपाटी परम्परा । **तेष्वेव** = ऋषिष्वेव न तु सार्वजनीनेषु लोकेषु । **तेषु**=रहस्येषु । **दुर्गमगोचरे** = दुर्गमः = अलभ्यः गोचरः = विषयः दर्शनादिरूपः यस्य सः, तस्मिन् अप्रत्यक्षतया लोकैरनवाप्ये । **शासने**=शैवागमशास्त्रे, **समुच्छिन्ने** = लोकतोऽप्रत्यक्षतां याते; लोके पठनपाठनाभावे सतीत्यर्थ । **देवः** = शिवः । **अनुग्रहाय** = शैवशास्त्राध्ययनाभ्यासद्वारामोक्षलाभं कुर्युः मानवा इति करुणापूर्णदृष्ट्या, **अवतीर्णः** = मनुष्यशरीरेणाविर्भूतः । **भगवान्** = श्रीकण्ठः । '**नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम्**' इति श्रीकण्ठस्य दुर्वाससे चोदना । **स भगवान्** = दुर्वासाः । **तन्नाम्ना चिह्नितम्** = त्र्यम्बकादित्ये (द्वितीये-) ति नाम्ना ज्ञेयम् । एवंक्रमेण शैवं रहस्यं

शैवागम के रहस्य प्राचीनकाल में महात्मा ऋषियों के मुख में स्थित थे । और अनुग्रह क्रिया भी उन्हीं के पास थी ॥१॥

कलिकाल का प्रारम्भ होने पर जब वे रहस्य दुर्गम विषय बन गये तथा कलापीप्रमुखग्राम का शासन उच्छिन्न हो गया; तब देवाधिदेव भगवान् शंकर, कैलाश पर्वत पर घूमते हुए अनुग्रह के लिए श्रीकण्ठ के रूप में, अवतीर्ण हुए । उन्होंने इस धराधाम पर ऊर्ध्वरेता मुनि दुर्वासा को आदेश दिया कि जिस प्रकार यह शास्त्र समुच्छिन्न न हो, वैसी रहस्यपरम्परा तैयार करो ॥२–४॥

तत्पश्चात् उस भगवान् दुर्वासा ने देवाधिदेव से आदेश प्राप्त कर प्रयत्नपूर्वक त्र्यम्बकादित्य नामक मानस पुत्र को पैदा किया और उनके अन्दर शैवागमरहस्य

तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः ।
सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक्त्र्यम्बकाख्यां ततः परम् ॥६॥
तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम् ।
खमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा ॥७॥
सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश ।
यावत् पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥८॥
स कदाचिल्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः ।
बहिर्मुखस्य तस्याथ ब्राह्मणी काचिदेव हि ॥९॥
रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम् ।
दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः ॥१०॥
सधर्मचारिणीं सम्यग्गत्वा तत्पितरं स्वयम् ।
अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः ॥११॥
ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः ।
तेन यः स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन् ॥१२॥

स्वस्वपितुरवाप्याधीत्य वा सिद्धा भूत्वा तद्वंशपरम्परायां चतुर्दश पुरुषा दिवं गता । तावत्कालं न लोकेष्वस्य शैवागमस्य प्रचारोऽभूदित्यर्थः । पञ्चदशः पुत्रः सोऽपि त्र्यम्बकादित्यनामैव । लोकयात्राम् = तीर्थयात्रायाम् । आसीनः = प्रवृत्तः भ्रमन्नित्यर्थः । प्रेक्षते संसारिजनान् । बहिर्मुखस्य = बाह्यविषयेषु रूपादिष्वासक्तचित्तस्य । रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा = रूपादिगुणैः मनोहरा । तत्पितरम् = तस्याः = दृष्टिं गतायाः कन्यायाः पितरम् । ब्राह्मणेन विवाहेन—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ (३.२१)

को संक्रान्त करा दिया । वे त्र्यम्बकादित्य भी त्र्यम्बका नामक गुफा में जाकर उन्हीं के नाम से अंकित मानस पुत्र को उत्पन्न किया । वह पुत्र भी सिद्ध होकर आकाश में चला गया । इस प्रकार मानसी सृष्टि के चौदह पुत्र क्रमशः उसी प्रकार सिद्ध हो-होकर आकाश में उड़ते चले गये । किन्तु पन्द्रहवाँ पुत्र जो कि सभी शास्त्रों में पारंगत था, कभी लोकयात्रा में आसीन था । उस समय बहिर्मुख उसके समक्ष रूप-यौवन-सौभाग्य से युक्त कोई ब्राह्मणी दृष्टिगत हुई ॥५–१०॥

त्र्यम्बकादित्य के पन्द्रहवें पुत्र सुलक्षणों से युक्त उस कन्या को देखकर तथा अपनी सहधर्मचारिणी के योग्य समझकर, उस कन्या के पिता के पास जाकर उस ब्राह्मणी को माँग कर अपने घर ले आये ॥११–१२॥

नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः।
तस्याप्यभूत्स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ॥१३॥
आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः।
तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ॥१४॥
करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम्।
एवमेषा त्र्यम्बकाख्या तेरम्बादेशभाषया ॥१५॥
स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता।
तदेवमेतद् विहितं मया प्रकरणं मनाक् ॥१६॥
प्रार्थ्यन्तेऽस्मिन् प्रयुक्तेऽपि गुरवो ग्रहणं प्रति।

इति मनूक्ताष्टास्वपि विवाहविधिषु ब्राह्मविवाहविधिना। **तथाविधः** = सपत्नीकः। **उद्बभूव** = उदपद्यत। **तथाविधः** = पितृतुल्यः। **करोमि स्म** = कृतवान्। **एषा** = शिवदृष्टिः, **त्र्यम्बकाख्या** = त्र्यम्बकानामधेया, शिवदृष्टेरिदं नाम। **तेरम्बादेशभाषया**; **स्थिता** = अत्र कश्मीरे पठनपाठनपरम्परायां वर्त्तमानाऽऽसीत्। अथवा त्र्यम्बकाख्या या मठिका कैलाशे स्थिताऽसीत्पूर्वम्, सा कश्मीरेष्वागता। देशभाषया च 'तेरम्बा' इत्याख्यां जगाम। सा चात्र स्थिता तेरम्बा त्र्यम्बका वा, **मठिकोदिता** = मठिका इति उदिम् = कथितम् = नाम यस्याः सा, मठिका नाम्ना प्रसिद्धा त्र्यम्बका; **शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा**। अथवा मठिकोदिता = मठिकासु उदिता कथिता प्रादुर्भूता वा इयं शिवदृष्टिः शिष्यप्रशिष्याद्यैर्नानादेशेषु नानासमयेषु च विस्तीर्णा। **मनाक्** = अल्पकलेवरम्। **अस्मिन्** = शिवदृष्टिप्रकरणे, **प्रयुक्ते** = निर्मितेऽपि, **ग्रहणम्** = ज्ञानं प्रति सम्यग्ज्ञानाधिगमाय गुरवः प्रार्थ्यन्ते = गुरूणामावश्यकता भवत्येव। यथोक्तं **श्रीहर्षेण नैषधीये** सम्यग्ज्ञानाधिगमप्रयुक्तगुरुसुश्रूषणस्यावश्यकत्वम्—

ब्राह्मविवाह के बाद वे घूमते घामते कश्मीर में आये और संगमादित्य नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके पुत्र वर्षादित्य और उनके पुत्र अरुणादित्य हुए। अरुणादित्य से आनन्द और आनन्द से मैं सोमानन्द उत्पन्न हुआ हूं। मैंने त्र्यम्बका नाम वाले शिवदृष्टि नामक प्रकरण की रचना की ॥१३–१५॥

शिष्य प्रशिष्यों में परम्परागत रूप में प्रचलित तथा मठिकाओं (पाठशालाओं) में तेरम्बा देशभाषा के माध्यम से यह शिवदृष्टि पठन-पाठन के रूप में चलती रही। इस प्रकार मैंने यह शिवदृष्टिनामक छोटा प्रकरण बताया। इसके बन जाने के बाद भी इसके सम्यक् ज्ञान के लिए गुरुओं की आवश्यकता पड़ती ही है ॥१६॥

॥ श्राराधेश्यामचतुर्वेदीकृतचिन्मयी व्याख्या समाप्त ॥

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाऽऽराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥१६॥

॥ इति शम् ॥

नेत्रवेदखनेत्रेऽस्मिन् वर्षे, भौमे च वासरे ।
पञ्चम्यां नागपूर्वायां गुरूणां कृपया मया ॥
कृता वृत्तिरियं पूर्णा मुरलीधरसूनुना ।
सकलाकुक्षिजातेन राधेश्यामेन वेदिना ॥
शिवो मच्छिवरूपेण शिवभावनया सह ।
शिवदृष्टि पुनः प्रेक्ष्य नीतो नूत्नतां स्वयम् ॥
शिवरूपा त्वियं दृष्टिर्विदुषां शिवरूपिणाम् ।
भूयान्मुदे शिवायाथ सैषास्ति शिवकामना ॥

यच्चात्रास्त्यसमीहितं परमतेऽनावश्यकं खेदकृत्
तत्सच्छास्त्रनिषेवणैकनिशितप्रज्ञैरवज्ञायताम् ।
उद्दामोत्कलिकापरागपरमामोदार्थिनः कानने
किं वाञ्छन्ति कठोरकण्टकव्यथां तत्रस्थितां षट्पदाः ॥

इति श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिकृतायां श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ सप्तममाह्निकम् ।

•

समाप्ता चेयं श्रीशिवदृष्टिः

कृतिः श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यसोमानन्दप्रभुपादानाम् ॥

अथ

शिवदृष्टिश्लोकानुक्रमणिका